प्रकाशन संख्या : के०हिं०नि०/73
2000

मूल्य : 17 रुपए अथवा 1.99 पौंड या 6 डालर 12 सेंट ।

प्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय नासिक, द्वारा मुद्रित तथा निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय (शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय) भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित, 1973 ।

हिंदी भाषाविज्ञान विशेषांक

परिकल्पना और रूपरेखा

- डॉ० गोपाल शर्मा
- डॉ० रवींद्र श्रीवास्तव
- श्रीमती तारा तिक्कू

संपादन

- डॉ० नरेन्द्र व्यास
- श्री रामकिशोर शर्मा (सहायक)

सज्जा

श्री मनोहरलाल ओबराय



अनुक्रम

संपादकीय ix

स्वनप्रक्रिया 1–108

- बच्चे का पहला शब्द — रमेशचंद्र महरोत्रा 3
- हिंदी स्वर-स्वनिमों के प्रभेदक अभिलक्षण — शारदा जग्गी 11
- हिंदी व्यंजन-स्वनिमों के प्रभेदक अभिलक्षण — रमेशचंद्र गर्ग 24
- हिंदी में व्यंजन+य गुच्छ — सूरजभान सिंह 40
- हिंदी की आक्षरिक संरचना — कैलाशचंद्र भाटिया 49
- हिंदी में शब्द-बलाघात — आर० एस० गुप्त 60
- हिंदी स्वनविज्ञान में महाप्राणत्व की समस्या — मंजरी ओहाला, जोन ओहाला 67
- हिंदी में संहिता — कृपाशंकर सिंह 73
- हिंदी भाषा के नासिक्य स्वन — मालारविंदम् चतुर्वेदी 78
- संस्कार तत्त्व और हिंदी स्वनों का वर्गीकरण — अनूप चंदोला 94
- हिंदी की अपनी संधियाँ — वीना श्रीवास्तव 102

रूपप्रक्रिया तथा वाक्यविन्यास 109–338

- हिंदी में शब्द, पद और पदबंध — अनिल विद्यालंकार 111
- हिंदी में रूपिम निर्धारण की कुछ समस्याएँ — जगदेव सिंह 123
- हिंदी के संज्ञा प्रातिपदिकों का रूपप्रक्रियात्मक वर्गीकरण — लक्ष्मीनारायण मित्तल 138
- हिंदी संज्ञा — महावीरसरन जैन 142
- हिंदी संज्ञा पदबंध — महेंद्र 153
- 'आप' और 'अपना' — देवीशंकर द्विवेदी 161
- कारक-सिद्धांत — वी० लक्ष्मीबाई 168
- हिंदी परसर्ग और पदबंध संरचना — कैलाशचंद्र अग्रवाल 184

० हिंदी के कृदंत विशेषण पद	यमना काचरू	190
० काल और पक्ष	रवींद्रनाथ श्रीवास्तव	199
० हिंदी की प्रेरणार्थक क्रियाएँ	सुधा कालरा	211
० हिंदी यौगिक क्रिया	भोलानाथ तिवारी	224
० हिंदी की विशेष क्रिया : होना	धर्मपाल गांधी	233
० 'लगना' क्रिया	विजय गंभीर	242
० व्याकरण एवं प्रयोग की दृष्टि से 'जाना' क्रिया का विवेचन	कृष्णा चतुर्वेदी	249
० हिंदी क्रियाविशेषण पदबंधों की संरचना	चाँदवाला	258
० क्रियापरक : एक व्याकरणिक कोटि	अशोक कालरा, सुधा कालरा	264
० हिंदी वाक्य संरचना : एक संवृत अधिक्रम व्यवस्था	व्लादिमीर मिल्तनेर	275
० हिंदी वाक्यों में अन्विति व्यवस्था	शशिकुमार शर्मा	283
० ज-प्रकार के संमिश्र वाक्यों में विशेषीकरण	वी० रा० जगन्नाथन	303
० हिंदी में निजवाचकता रचनांतरण	करुमूरि वी० सुब्बाराव	310
० व्यतिरेकी विश्लेषण	शिवेंद्रकिशोर वर्मा	333

शब्दार्थविज्ञान तथा कोशविज्ञान 339–396

० हिंदी समापिका क्रियारूपों का अर्थतात्त्विक विवचन	कालीचरण बहल	341
० हिंदी क्रिया शब्दों की आर्थी व्याख्या	कृष्णगोपाल रस्तोगी	366
० शब्द निःसत्त्वता	शिवनंदन कपूर	376
० हिंदी पारिभाषिक शब्दावली की समस्याएँ	गोपाल शर्मा	382

हिंदी-शिक्षण 397–434

० हिंदी-शिक्षण की कुछ समस्याएँ	विन्त्सेन्त्स पौर्जीज्का	399
० अहिंदी भारतीयों के लिए हिंदी उच्चारण-शिक्षण	अशोक रामचंद्र केळकर	402

- विदेशी भाषा के रूप में हिंदी : शिक्षण के संदर्भ में — अमरबहादुर सिंह 414

विविध 435–470

- हिंदी की अनुलेखन पद्धति — कृष्णकुमार गोस्वामी 437
- हिंदी में समधिकता — अजीतलाल गुलाटी 446
- हिंदी और अवधी का भाषा कालक्रमवैज्ञानिक अध्ययन — नरेंद्रदेव वर्मा 454
- आधुनिक आर्यभाषा हिंदी तथा उसकी बोलियाँ : ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में — ठाकुरदास 462

निकष 471–530

- स्टडीज इन हिंदी-उर्दू पार्ट-1 इंट्रोडक्शन एंड वर्ड फोनोलोजी (अशोक आर० केळकर) — विश्वजीत 473
- हिंदी-मुहावरे (प्रतिभा अग्रवाल) — भोलानाथ तिवारी 477
- मानक अंग्रेज़ी-हिंदी कोश (हिंदी साहित्य सम्मेलन) — महेंद्र चतुर्वेदी 481
- मानक हिंदी कोश (पाँच खंड) (हिंदी साहित्य सम्मेलन) — पूर्णसिंह डबास 493
- सिलैबिक स्ट्रक्चर ऑफ हिंदी-पंजाबी (डी० डी० शर्मा) — वंश्ना जग्गी 510
- 1. भाषा और संवेदना (रामस्वरूप चतुर्वेदी) — कृष्णकुमार गोस्वामी 518

  2. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका (रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव)

परिशिष्ट 531–540

- विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली (हिंदी-अंग्रेज़ी) 531
- लेखक-परिचय 537

संपादकीय

भारत में ईसा पूर्व कई शताब्दियों से भाषा-चिंतन, विश्लेषण एवं व्याकरणिक विवरण की एक सुदीर्घ तथा समृद्ध परंपरा मिलती है। वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र इसके सूत्र बिखरे पड़े हैं। ऋग्वेद-संहिता में भाषा-चिंतन के दार्शनिक पक्ष के साथ-साथ शब्द-निर्वचन विषयक अभिव्यक्ति-कौशल स्पष्ट परिलक्षित होता है। अथर्वसंहिता में तो व्युत्पत्ति पक्ष अधिक स्पष्ट है ही। आगे चलकर ब्राह्मण ग्रंथों में शब्द और अर्थ निर्वचन के बहुविध रूप ही नहीं मिलते, अपितु व्युत्पत्तिपरक विश्लेषण तो इतना समृद्ध हो गया था कि उसे पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या करने वाला एक समर्थ साधन माना जा सकता है। कालांतर में तो इस क्षेत्र में एक नई परंपरा ने ही जन्म ले लिया। वैदिक वाङ्मय के शब्दों का चयन और संकलन किया जाने लगा, उनकी नानाविध व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या प्रस्तुत की जाने लगी। निघंटु ग्रंथों की रचना इसी चयन-संकलन का परिणाम है जिसका व्याख्या पक्ष यास्क के निरुक्त में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया प्रतीत होता है। आज की कोश-परंपरा का उत्स इन्हीं निघंटुओं और निरुक्तों में खोजा जा सकता है।

वेदांग छह माने जाते हैं। भाषा-रसिकों के लिए सुखद आश्चर्य की बात तो यह है कि इनमें से चार शास्त्र भाषा-चिंतन से संबंधित हैं। ये हैं—शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छंद। शिक्षा-ग्रंथ स्वनविज्ञान विषयक हैं जिनमें वैदिक ऋचाओं या शब्दों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा दी गई है। इन शिक्षा ग्रंथों में विशुद्ध सैद्धांतिक विवेचन हुआ है। इसके विपरीत प्रातिशाख्य अनुप्रयुक्त स्वनविज्ञान से संबंधित हैं जबकि उनका प्रणयन भी शुद्ध उच्चारण सिखाने के लिए ही हुआ था। आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने इन ग्रंथों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है क्योंकि आज स्वनविज्ञान और स्वनिमविज्ञान विषयक चिंतन-विश्लेषण में जो आशातीत प्रगति हुई है उसमें इन शिक्षा-ग्रंथों और प्रातिशाख्यों का अप्रत्यक्ष हाथ है। व्याकरण शास्त्र की परंपरा के सुमेरु तो पाणिनि हैं। उनसे पहले भी कुछ महान् वैयाकरण हुए हैं जिनका स्मरण पाणिनि और यास्क दोनों ने किया है। इनमें से कुछ का तो मात्र उल्लेख मिलता है और कुछ की रचनाएँ आज भी उपलब्ध

हैं। पाणिनिपूर्व वैयाकरणों में इन्द्र, शाकटायन और औदुम्बरायण प्रमुख हैं। इन्द्र का ऐन्द्र व्याकरण उपलब्ध व्याकरणों में प्राचीनतम है। शाकटायन महान् भाषाशास्त्री थे। प्रातिशाख्य, निरुक्त और व्याकरण इन तीनों क्षेत्रों में उनकी देन स्मरणीय है। औदुम्बरायण संभवत: ऐसे सर्वप्रथम भाषाशास्त्री हैं जिन्होंने वाक्यविज्ञान और भाषा के दार्शनिक पक्ष पर कार्य किया है। पाणिनि-व्याकरण पर यहाँ विस्तार से चर्चा करना आवश्यक नहीं है क्योंकि भाषाविज्ञान का प्रत्येक भारतीय या पाश्चात्य जिज्ञासु उसके महत्त्व से सुपरिचित है। उनकी 'अष्टाध्यायी' प्राचीन भारतीय परंपरा ही नहीं अर्वाचीन पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों या मान्यताओं की साध्य और आराध्य दोनों रही है। आज हम जिस व्युत्पादक या रचनांतरण व्याकरण की चर्चा बड़े गर्व से करते हैं और जिसका अनुसरण आधुनिक भाषाविज्ञान के सद्धांतिक और अनुप्रयुक्त दोनों क्षेत्रों में बड़ी उपलब्धि मानी जाने लगी है उसका बीज ही नहीं अपितु पूरा का पूरा विशाल वटवृक्ष जैसा स्वरूप पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में दिखाई देता है। पाणिनि का व्याकरण गणितीय विश्लेपण और उत्कृष्ट निरूपण पद्धति का एक ज्वलंत आदर्श है। यही ग्रंथ एसा है जिसकी सभी पाश्चात्य भाषाविज्ञानियों ने एक स्वर से प्रशंसा की है और जिसके 'मॉडल' का अनुकरण सभी संप्रदायों (स्कूलों) का लक्ष्य रहा है। भारत में प्राचीन काल में इसी व्याकरण-ग्रंथ को आधार बनाकर कात्यायन ने अपने वार्तिकों की रचना की तथा पतंजलि ने 'शब्दानुशासन' नाम से प्रसिद्ध महाभाष्य का प्रणयन किया। इसीलिए तो पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि मिलकर 'मुनित्रय' कहलाते हैं और इनके ग्रंथ 'वृहत्त्रयी'। इस प्रकार शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छन्द इन चारों शास्त्रों में जहाँ तत्कालीन भाषा संस्कृत का वृहत् परिवेश में भाषावैज्ञानिक अध्ययन हुआ था अर्थात् उसकी स्वनप्रक्रिया, रूपप्रक्रिया, वाक्यविन्यास, रागात्मक अभिलक्षणों, शब्द और अथ निर्वचन तथा कोशनिर्माण प्रक्रिया आदि का वर्णन-विश्लेपण मिलता है वहाँ साथ-साथ स्वतंत्र भाषाचिंतन विपयक सिद्धांतों का भी पर्याप्त प्रासंगिक उल्लेख मिल जाता है। यहां नहीं तत्कालीन अन्य दार्शनिक ग्रंथों में भी शब्द, पद और वाक्य तथा उनके अर्थ की नित्यता-अनित्यता जैसे तार्किक प्रसंग भरे पड़ हैं। इससे तत्कालीन भाषाविषयक चिंतन की लोकप्रियता सिद्ध होती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि उपर्युक्त सारा का सारा चिंतन-मनन और विश्लेषण-विवेचन ईसापूर्व शताब्दियों में ही हो गया था।

ईसवी सदी के आरंभ से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक पाणिनि का व्याकरण ही अध्ययन का केंद्र रहा और उसकी असंख्य टीकाएँ और टीकाओं की टीकाएँ लिखी गईं। इनमें प्रमुख हैं—वामन और जयादित्य की काशिका (7वीं), रामचंद्राचार्य कृत प्रक्रिया-कौमुदी (15 वीं), कैयट का प्रदीप (16 वीं), भट्टोजि दीक्षित की सिद्धांत कौमुदी (17 वीं) और उसकी प्रौढ़मनोरमा और बालमनोरमा आदि टीकाएँ तथा नागेश भट्ट की उद्योत टीका और वैयाकरण सिद्धांत मंजूषा (18 वीं)। यही नहीं इस अवधि के दौरान ऐसे अनेक वैयाकरण भी हुए जिन्होंने या तो स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की या पाणिनि-परंपरा को पुष्ट किया। सर्वाधिक प्रसिद्ध वैयाकरणों के नाम हैं—कलाप (कातंत्र व्याकरण), शाकटायन, भोज, हेमचंद्र सूरि, भर्तृहरि (वाक्यपदीय, त्रिपदी)। अब

तक उल्लिखित सभी रचनाएं संस्कृत भाषा से संबंधित हैं। पालि और प्राकृत व्याकरणों की भी समानांतर परंपरा मिलती है। कच्चान व्याकरण, मोग्गलान व्याकरण, अग्गवंस कृत सद्द नीति; चंदकृत प्राकृत लक्षण (3-5 वीं), वररुचि कृत प्राकृत प्रकाश, हेमचंद्र कृत सिद्ध हेमशब्दानुशासन (11-12 वीं), पुरुषोत्तम रचित प्राकृतानुशासन (12 वीं), त्रिविक्रम (13 वीं), सिंहराज (15 वीं), रामशर्मा (17 वीं), मार्कंडेय (17 वीं), रघुनाथ (18 वीं)। प्राकृत व्याकरणों के बारे में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ये सब ग्रंथ संस्कृत भाषा में ही लिखे गए, किसी प्राकृत भाषा में नहीं। हेमचंद्र का व्याकरण तो एक साथ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का व्याकरण है। यही नहीं, मौलिक तथा उत्कृष्ट व्याकरणों की एक सुदीर्घ परंपरा का यह अंतिम उदाहरण माना जा सकता है। यह व्याकरण भाषाविज्ञान ही नहीं, तत्कालीन साहित्य और इतिहास सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

अब तक जो कुछ कहा गया है वह इस बात का प्रमाण है कि भारत में व्याकरण विषयक विवेचन की बारीकियों के साथ सैद्धांतिक भाषाचिंतन की उपलब्धियों की लगभग 2,500 वर्षों की एक सुदीर्घ और समृद्ध परंपरा रही है। वर्ण्य विषय, विवेचन पद्धति, परिमाण, सूक्ष्मचिंतन, वैज्ञानिकता और गणितीय तर्क सभी दृष्टियों से इसका महत्त्व सर्वोपरि है।

संस्कृत, पालि और प्राकृत व्याकरणों की परंपरा के अवसान के साथ ही साथ हिंदी व्याकरण परंपरा का उदय होता है। हिंदी व्याकरण का इतिहास 18 वीं शताब्दी के प्रारंभ से माना जा सकता है। जान जोशुआ केटलेर का 'लिंगुआ हिंदुस्तानिका' नामक व्याकरण और शब्दावली से संबंधित ग्रंथ इस विषय का पहला महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। इस शताब्दी की अन्य प्रसिद्ध कृतियों में गिलक्राइस्ट का 'ए ग्रामर आफ द हिंदुस्तानी लैंग्वेज' है।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदी व्याकरण पर पर्याप्त सामग्री मिलती है। महत्त्वपूर्ण कृतियाँ ये हैं—लेबिदेफ का 'हिंदुस्तानी भाषा का व्याकरण', चार्ल्स स्टुअर्ट का 'एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ हिंदुस्तानी लैंग्वेज', लल्लूलाल और जान टेलर द्वारा लिखित 'हिंदी और ब्रजभाषा का व्याकरण', येट्स का 'हिंदुस्तानी ग्रामर', आदम का 'हिंदी भाषा का व्याकरण', गार्सादतासी का व्याकरण, डंकन फोर्ब्स का 'ग्रामर ऑफ द हिंदुस्तानी लैंग्वेज', नवीनचंद्र राय कृत 'नवीन चंद्रोदय', हरिगोपाल पाध्ये का 'भाषातत्त्व दीपिका', एथरिंगटन का 'भाषा भास्कर', प्लेट्स का 'ए ग्रामर आफ द हिंदुस्तानी-उर्दू लैंग्वेज', शिवप्रसाद सितारे हिंद का 'हिंदी व्याकरण', भारतेंदु का 'हिंदी व्याकरण'। इस शताब्दी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और चर्चित कृति है कैलॉग की 'ए ग्रामर आफ द हिंदी लैंग्वेज'। इसमें हिंदी की बोलियों के रूप भी तुलनात्मक दृष्टिकोण से दिए गए हैं।

बीसवीं शताब्दी के पहले दशक की जिन रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, वे हैं—केशवराम भट्ट का हिंदी व्याकरण, श्यामसुंदरदास का 'हिंदी उर्दू की ग्रामर', गंगा प्रसाद का हिंदी व्याकरण और रामावतार शर्मा कृत 'हिंदी व्याकरण सार'। ये कृतियाँ और सन् 1916 में प्रकाशित ग्रियर्सन के 'भारतीय

भाषा सर्वेक्षण' का पश्चिमी हिंदी से संबंधित खंड (जिल्द 9, खंड 1) आगे चल-कर सर्वाधिक उल्लेखनीय और चर्चित कामताप्रसाद गुरु के 'हिंदी व्याकरण' का आधार बने। गुरु जी का यह व्याकरण 1920 में प्रकाशित हुआ था और आज भी इसका महत्व सर्वोपरि है। इसमें सैद्धांतिक और प्रायोगिक दोनों दृष्टियों से और हिंदी व्याकरण के प्रत्येक अंग का विस्तृत विवेचन मिलता है। आधुनिक दृष्टिकोण से बहुत सी कमियों के बावजूद यह ग्रंथ आज भी समादृत है। गुरुजी के पश्चात् हिंदी व्याकरणिक समस्याओं पर बाबू श्यामसुंदर दास, डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डा० धीरेंद्र वर्मा, आचार्य किशोरी दास वाजपेयी, प्रो० दुनी-चंद आदि ने भी पुस्तकें लिखीं। इनमें वाजपेयी जी का 'हिंदी शब्दानुशासन' कथ्य की नवीनता और शैली की रोचकता दोनों दृष्टियों से काफी समय तक चर्चित रहा। इनके अतिरिक्त अद्यावधि निगमानंद परमहंस का 'राष्ट्रभाषा का व्याक-रण', भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'ए बेसिक ग्रामर ऑफ मॉडर्न हिंदी', रूसी विद्वान् दीमशित्स का 'हिंदी व्याकरण की रूपरेखा', मैग्रेअर का हिंदी व्याकरण और चैक विद्वान व्लादिमीर मिल्तनेर का 'थियरी ऑफ हिंदी सिंटेक्स' अन्य उल्लेखनीय प्रकाशन हैं।

भाषाविज्ञान का क्षेत्र अन्य विषयों की अपेक्षा नया है। इसका अनुप्रयुक्त पक्ष जैसे भाषा-शिक्षण आदि तो पिछले कुछ वर्षों में ही उन्नत और विकसित हुआ है। आधुनिक पाश्चात्य भाषाविज्ञान के संस्थापक द सस्युर माने जाते हैं। ब्लूमफील्ड और सपीर वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के जनक हैं; साथ ही इन्होंने अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान के अध्ययन का मार्ग भी प्रशस्त किया है। आगे चलकर संरचनात्मक भाषाविज्ञान ने तो सद्धांतिक भाषाविज्ञान ही नहीं, भाषा-शिक्षण जैसे अनुप्रयुक्त क्षेत्र में भी क्रांति कर दी। हैरिस इसके प्रमुख स्तंभ माने जाते हैं। इसके बाद तो भाषावैज्ञानिक विश्लेषण-विवेचन के नये-नये सिद्धांत विकसित होने लगे। पुराने सिद्धांतों में जो दोष दृष्टिगत हुए उनके निराकरण का कार्य इन सिद्धांतों ने किया। इन सिद्धांतों में चॉम्स्की का रचनांतरण सिद्धांत, पाइक का बंधिम सिद्धांत, हैलिडे का व्यवस्थापरक सिद्धांत, लैंब का स्टेटिफि-केशन सिद्धांत उल्लेखनीय हैं। फ़िलमोर का कारक-सिद्धांत अभी विकास की अवस्था में है।

भारतीय भाषाविदों का पाश्चात्य भाषाविज्ञान से प्रत्यक्ष संपर्क इस शताब्दी के छठे दशक के उत्तरार्ध में होना शुरू हुआ। तब से लेकर अब तक पश्चिम में विकसित इन सिद्धांतों के अनुसार हिंदी के भाषावैज्ञानिक पक्षों पर काफी काम हुआ है। पर यह सच है कि जिस तरह पश्चिम में भाषाचिंतन के विभिन्न संप्रदाय विकसित हुए हैं वैसी परंपरा अभी भारत में विकसित नहीं हो पाई है। विभिन्न पाश्चात्य संप्रदायों में दीक्षित भारतीय विद्वान उन्हीं संप्रदायों की सैद्-धांतिक परिपाटी के परिप्रेक्ष्य में हिंदी भाषा की समस्याओं पर विचार कर उनका समाधान प्रस्तुत करने का यत्न कर रहे हैं। पुस्तकाकार रूप में तो पर्याप्त कार्य अभी नहीं हुआ है पर विभिन्न अभिनंदन-ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं में छिट-पुट लेखों के रूप में यह कार्य सामने आ रहा है। 'हिंदी अनुशीलन' का धीरेंद्र वर्मा विशेषांक, 'टंडन अभिनंदन ग्रंथ', 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', 'भाषा' त्रैमासिक, 'अनुवाद', 'भाषिकी', 'गवेषणा' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। उपर्युक्त पाश्चात्य

संप्रदायों के अनुसार पुस्तकाकार रूप में जो कार्य हुए हैं उनके लेखकों में श्रीमती यमुना काचरू, कालीचरण बहल, शिवेंद्र किशोर वर्मा, सुधा कालरा (हिंदी वाक्यविन्यास) और न० वी० राजगोपालन् प्रमुख हैं जिनमें अंतिम दो की पुस्तकें हिंदी में हैं, शेष सभी की रचनाएँ अंग्रेजी में हैं। कोपेनहेगन संप्रदाय जिसे ग्लॉसेमेटिक्स स्कूल भी कहते हैं और ट्रुबेट्स्कॉय और मैथेसियस द्वारा प्रतिष्ठित प्राग स्कूल तथा लेनिनग्राद संप्रदाय आदि का अनुसरण भारत में उतना नहीं हुआ है जितना अमेरिका में विकसित संप्रदायों का या लंदन स्कूल के फर्थ और डेनियल जोन्स द्वारा समर्थित परंपराओं का हुआ है। फर्थ की परिपाटी का अनुकरण करने वालों में डॉ० विश्वनाथ प्रसाद और डेनियल जोन्स का अनुसरण करने वालों में डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा रहे हैं। पाश्चात्य भाषाविज्ञान के सुस्थापन से पहले हिंदी व्याकरण और सद्धांतिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जिन लोगों का उल्लेख किया जा सकता है उनमें बाबू श्यामसुंदरदास (भाषाविज्ञान), मंगलदेव शास्त्री (तुलनात्मक भाषाशास्त्र), सीताराम चतुर्वेदी, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और डॉ० भोलानाथ तिवारी प्रमुख हैं।

भाषाविज्ञान के नये-नये सिद्धांतों के विकास के साथ-साथ भाषा-शिक्षण की नई नई पद्धतियाँ विकसित हुई हैं। ग्राहम बेली, हॉर्ने, हॉनिग्जवाल्ड की कृतियों के बाद आधुनिक शिक्षण-पद्धतियों पर द्वितीय भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण से संबंधित जो पुस्तकें निकली हैं, उनमें प्रमुख ये हैं—फेयरबैंक्स तथा पंडित की 'हिंदी—ए स्पोकन एप्रोच' (1965), फेयरबैंक्स तथा मिश्र की 'बोलचाल की तथा लिखित हिंदी' (1965-66) तथा पटनायक की 'इंटेंसिव कोर्स इन हिंदी' (1967-68), हैरिस तथा रामनाथ शर्मा की 'हिंदी बेसिक रीडर', अशोक आर० केळकर की 'स्टडीज इन हिंदी-उर्दू-पार्ट I' (1968), कृत्से तथा बहादुर सिंह की 'द्वितीय भाषा के रूप में हिंदी' (1970) तथा जगन्नाथन तथा बाहरी की 'इंट्रोडक्टरी कोर्स इन स्पोकन हिंदी' (1972)। केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा ने गहन हिंदी शिक्षण पाठ्यक्रम और बेसिक हिंदी कोर्स पर पुस्तकें तैयार की हैं तथा पत्राचार के माध्यम से हिंदी सिखाने के लिए केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने पर्याप्त साहित्य तैयार किया है। यूरोप की चैक, रोमानियन और रूसी आदि भाषाओं में भी हिंदी-शिक्षण से संबंधित अच्छी पाठ्यपुस्तकें मिलती हैं।

शब्दविज्ञान और कोशविज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हो चुका है। हिंदी और अन्य भाषाओं की तुलनात्मक शब्दावलियाँ केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा और केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने प्रकाशित की हैं। श्री कैलाशचंद्र भाटिया की 'हिंदी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषातात्त्विक अध्ययन' और केशवराम पाल की 'हिंदी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थ-परिवर्तन' इस विषय की अच्छी पुस्तकें हैं। एकभाषा, द्विभाषा और त्रिभाषा-कोश तथा लोकोक्ति कोश, मुहावरा कोश आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। हिंदी अर्थविज्ञान के क्षेत्र में हरदेव बाहरी और डॉ० बाबूराम सक्सेना के नाम उल्लेखनीय हैं। हिंदी भाषा के इतिहास और हिंदी की बोलियों के वर्णनात्मक विश्लेषण पर भी काफी काम हो चुका है।

हिंदी समास-रचना और प्रत्यय-विचार पर भी पुस्तकें प्राप्त हैं। इस तरह विशुद्ध भाषाविज्ञान, हिंदी व्याकरण और अन्य संबंधित विषयों में काफी कार्य हुआ है और हो रहा है।

संविधान के अनुच्छेद 351 और सन् 60 के राष्ट्रपति-आदेश के अनुसार हिंदी के प्रचार और प्रसार का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर आया उसके परिणामस्वरूप केंद्रीय हिंदी निदेशालय के तत्त्वावधान में 'भाषा' त्रैमासिक पिछले बारह वर्षों से हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के विकास, प्रसार और उनके बीच परस्पर समानता की खोज के उद्देश्य को लेकर नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है। इसके प्रकाशन के दसवें वर्ष की समाप्ति पर यह विचार किया गया कि इसका एक विशेषांक निकाला जाए जो हिंदी भाषाविज्ञान को समर्पित हो; अर्थात् जिसमें भाषाविज्ञान की अधुनातन विकसित पद्धतियों के अनुसार हिंदी के सभी भाषावैज्ञानिक पक्षों पर लेख प्रकाशित हों। इसके लिए हिंदी पर काम करने वाले सभी स्वदेशी और विदेशी विद्वानों से संपर्क स्थापित किया गया। अधिकांश प्रतिष्ठाशील और नवउत्साही चिंतकों ने अपने अपनेलेख भेजकर इस यज्ञ को संपन्न करने में आहुतियाँ दी हैं। मूर्धन्य और स्थापित भाषाविदों ने तो इस यज्ञ की सफलता के लिए केवल अपना मूक आशीर्वाद भेजा है। 'भाषा' संपादक मंडल उन सबका आभार मानता है और उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है।

प्रस्तुत विशेषांक में हिंदी भाषा की लगभग सभी प्रक्रियाओं पर लेख हैं। पहला अनुच्छेद स्वनप्रक्रिया से संबंधित है। इसमें बच्चे द्वारा उच्चरित पहले शब्द के विश्लेषण-विवेचन से शुरु कर सभी महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करते हुए हिंदी स्वनों के संस्कार तत्त्व का दिग्दर्शन कराया गया है। जिस तरह मानव जीवन में संस्कारों की प्रबलता निर्विवाद है, उसी तरह मानव द्वारा उच्चरित भाषा में भी यह तत्त्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण और प्रभावी होता है। संभवत: हिंदी में इस विषय पर यह प्रथम लेख है जो इस विशेषांक में जा रहा है। मनोविज्ञान, समाजविज्ञान आदि के मेल से तो भाषाविज्ञान के अलग-अलग शास्त्र बन ही गए हैं किंतु संगीत और भाषाविज्ञान के योग से बने 'म्यूज़िकोलिंग्विस्टिक्स' नामक नये अध्ययन क्षेत्र का पता भी इस लेख से चलता है।

अगला अनुच्छेद व्याकरणिक विवेचन से संबंधित है जिसमें रूपप्रक्रिया और वाक्यविन्यास दोनों सम्मिलित हैं। भाषावैज्ञानिक विवेचन में अब पदबंधों का महत्त्व अच्छी तरह से पहचान लिया गया है। इस दृष्टि से हिंदी वाक्यों में पदबंधों की रचना-प्रक्रिया को पर्याप्त विस्तार से उद्घाटित किया गया है। आजकल विश्लेषण की नई-नई पद्धतियाँ विकसित हो रही हैं जिनमें संरचनात्मक, रचनांतरणमूलक, व्यतिरेकी, कारक-सिद्धांत आदि-आदि प्रमुख हैं। इन सभी दृष्टिकोणों से हिंदी वाक्यों के विश्लेषण से संबंधित लेख इस अनुच्छेद में संगृहीत हैं। काल और पक्ष जैसी व्याकरणिक कोटियों पर भी सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त होना लगना, जाना जैसी बहुप्रकार्यात्मक क्रियाओं का विस्तार से विवेचन मिलेगा।

शब्दार्थविज्ञान और कोशविज्ञान एवं हिंदी-शिक्षण को दो लघु अनुच्छेद समर्पित हैं। अन्य ऐसे महत्त्वपूर्ण लेख जिन्हें अलग-अलग स्तंभों में बांटना आकार-प्रकार की दृष्टि से उचित नहीं होता, 'विविध' नामक स्तंभ में संकलित कर लिए गए हैं। यों तो हिंदी की बोलियों के विवेचन से संबंधित एक अलग अनुच्छेद आवश्यक समझा गया था, किंतु सभी महत्त्वपूर्ण बोलियों पर सामग्री संकलन के अभाव में इसका विचार त्याग दिया गया।

अंतिम अनुच्छेद में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की सविस्तर समीक्षा प्रकाशित की जा रही है। हिंदी-अंग्रेज़ी में लिखी हिंदी भाषाविज्ञान से संबंधित कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियों की समीक्षा का कार्य अधिकारी विद्वानों को सौंपा गया था किंतु समीक्षा प्राप्त न हो सकने से उनका अभाव अवश्य खटकता है।

भारत सरकार के शब्दावली आयोग ने भाषाविज्ञान की हिंदी पारिभाषिक शब्दावली को अंतिम रूप दे दिया है। इस अंक में संकलित सभी लखों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों में यथासंभव एकरूपता लाने का अप्रिय प्रयत्न किया गया है। अप्रिय इसलिए कि प्रत्येक लेखक को अपने-अपने शब्दों से प्रयोग-मोह होता है। पर यह एकरूपता हमारे लिए परम अनिवार्य थी। पारिभाषिक शब्दावली विषयक एकरूपता विभिन्न लेखकों द्वारा प्रतिपादित विषयों को तत्काल हृदयंगम कराने में अवश्य सहायक होगी, ऐसा विश्वास है। जिन लोगों के लिए शब्दावली-आयोग द्वारा निर्मित शब्द नए हो सकते हैं, उनके उपयोग के लिए परिशिष्ट में इस अंक में प्रयुक्त हिंदी-अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दावली जोड़ दी गई है।

इस अंक की योजना बनाने से लेकर इसके प्रकाशन तक दिल्ली विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान विभाग के रीडर डा० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का पदे-पदे निरंतर सहयोग प्राप्त होता रहा है। डा० श्रीवास्तव ने न केवल योजना के निर्माण, विषयों के निर्धारण और लेखकों के निश्चयन में सत्परामर्श देने की कृपा की है या कि लेखकों द्वारा सहयोग प्राप्त करने में साधिकार आग्रह किया है अपितु उन्होंने भाषाविज्ञान के उदीयमान लेखकों के लेखों को न जाने कितनी बार पढ़-पढ़ कर इस अंक में प्रकाशन योग्य बनाया है। उनके इस परिश्रम का अनुमान लेखकों द्वारा पाद-टिप्पणियों में प्रकट किए गए आभार-प्रदर्शन से सहज ही लग जाता है। डा० श्रीवास्तव के इस सक्रिय सहयोग के लिए संपादक-मंडल उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है और आशा करता है कि भविष्य में भी उनका सहयोग 'भाषा' को निरंतर मिलता रहेगा। डा० भोलानाथ तिवारी, रीडर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय और डा० कैलाशचंद्र भाटिया, प्रोफसर, हिंदी एवं प्रादेशिक भाषाएं, लाल बहादुरशास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी से भी समय-समय पर सहयोग मिलता रहा है अतः उनके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना हमारा कर्तव्य है। 'भाषा' की भूतपूर्व संपादिका श्रीमती तारा तिक्कू ने इस विशेषांक की परिकल्पना और रूपरेखा तैयार करने में जो परिश्रम किया था उसके लिए वे साधुवाद की पात्र हैं। हिंदी निदेशालय के निदेशक और वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के अध्यक्ष डा० गोपाल शर्मा ने

अंक की परिकल्पना और रूपरेखा-निर्माण से लेकर इसके प्रकाशन तक जो सतत प्रेरणा, प्रोत्साहन और विषयोचित मार्गदर्शन दिया है उसके लिए मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। भाषाविज्ञान से संबंधित सामग्री की छपाई में कितनी कठिनाई होती है, इसे कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है। नासिक स्थित सरकारी मुद्रणालय के निर्माण मैनेजर श्री वी० एन० दत्त और मुद्रण मैनेजर एवं अन्य अज्ञातनामा कार्यकर्ताओं ने जिस लगन और उत्साह से इस कठिन कार्य को संपन्न करने में परिश्रम किया है उसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ। संपादन विभाग के सभी सहयोगियों के पूर्ण सहयोग से ही यह कार्य संपन्न हो सका है जिसके लिए वे धन्यवाद से अधिक बधाई के पात्र हैं।

'भाषा' की दशाब्दि-पूर्ति के उपलक्ष्य में इस विशेषांक की परिकल्पना की गई और भारतीय स्वतंत्रता के रजत जयंती वर्ष में यह कार्य पूरा हुआ—यह दुहरी प्रसन्नता की बात है। इसलिए यह अंक भारतीय स्वतंत्रता को उसकी 25 वीं वर्षगाँठ के अवसर पर समर्पित है। ❁

नरेंद्र व्यास

स्वनप्रक्रिया

2—7 C. H. D. (N.D.)/72



बच्चे का पहला शब्द

रमेशचंद्र महरोत्रा

बच्चे के विकास का अध्ययन अनेकानेक पहलुओं से किया जाता रहा है, जिनमें से भाषा सीखने के पहलू की ओर सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसा इसलिए है कि भाषा कितनी भी दुर्बोध क्यों न हो, बच्चा उसे इतनी सरलता और शीघ्रता से अपने वश में कर लेता है कि उसके प्रति कौतूहल होना प्रत्येक जिज्ञासु के लिए स्वाभाविक है। भाषा इतनी अधिक पेचीदी वस्तु है कि उसके सिद्धांत बनाने, उसके तथ्यों का वर्णन करने, तथा उसके इतिहास, दर्शन और अमूर्त पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए भाषाविज्ञानी और अन्य विद्वान सदा जूझते रहे हैं, लेकिन बच्चा उसे जितने कमाल से सीख डालता है, यह ज्ञान और विज्ञान के लिए सचमुच चुनौती की बात है। बच्चे के द्वारा भाषा सीखने को एक नितांत सामान्य घटना मानने वाले लोगों का भी ध्यान बच्चे की भाषा के दिलचस्प अंशों की ओर निश्चित रूप से खिंच जाता है। वैज्ञानिक हो या अवैज्ञानिक, साहित्यकार हो या असाहित्यिक, भाषाविज्ञानी हो या अभाषाविज्ञानी, बच्चे की भाषा के विषय में वह कभी-कभी जरूर सोचता है। इसके विधिवत् अध्ययन की ओर भी विभिन्न क्षेत्रों के विद्वान् उन्मुख हुए हैं, जिनमें मनोविज्ञानी अग्रणी हैं। इस अध्ययन में प्रवृत्त होने वालों में शिक्षाशास्त्रियों का स्थान भी काफी आगे है। भाषाविज्ञानी इसमें उतनी रुचि नहीं ले सके हैं, जितनी उनसे अपेक्षा की जाती है। उपर्युक्त तीन विषयवेत्ताओं के अतिरिक्त दर्शनशास्त्री, मानवशास्त्री, जीवशास्त्री, चिकित्साशास्त्री, विधिवेत्ता, और खगोलशास्त्री भी बच्चे की भाषा पर लेखनी चला चुके हैं। बहुत से मनोविज्ञानियों के लिए तो बच्चे के द्वारा भाषा का बोलना और समझना सीखा जाना उसके स्वभाव से संबंधित अनेक मूल समस्याओं की कुंजी ही है। शिक्षाशास्त्रियों के लिए बच्चे की भाषा प्रत्यक्ष आधार-सामग्री का काम इसलिए करती है कि उनके प्रमुख कार्यों में से एक बच्चे और उसकी भाषा में सुधार करना है; और अनेक भाषाविज्ञानियों के लिए भाषा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी होने वाले परिवर्तनों के पीछे किसी सीमा तक बड़ों और बच्चों के बीच विद्यमान बोली-भेद का हाथ रहता है।

बच्चे की भाषा पर शोध करने वालों के द्वारा इस विषय पर चाहे जितना लिखा गया है, उससे यह निर्णय नहीं निकल पाता कि उसके संबंध में सामान्य नियम क्या हैं। संपन्न कार्यों में कोई भी दो सूचियाँ इतनी अधिक नहीं मिलतीं कि उनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि बच्चे में भाषा के प्रवेश का कोई सामान्य स्थिर क्रम होता है। नियम निकलते हैं, लेकिन बहुत ही स्थूल, और अपवादों से घिरे। उदाहरण के लिए, बच्चे अनुकरण करने के आरंभिक दिनों में मुँह के भीतरी भाग में बोले जाने वाले व्यंजनों की तुलना में मुँह के बाहरी भाग में बोले जाने वाले, अर्थात् अग्र व्यंजनों को प्राथमिकता देते हैं। इसे विभिन्न प्रकार से पुष्ट किया गया है, जैसे अग्र व्यंजनों की उच्चारण क्रिया को आँख से देखा जा सकता है; ओठ और जिह्वानोक जिह्वापश्च आदि की अपेक्षा अधिक गतिशील हैं; बच्चे के ओठों और जिह्वानोक को दुग्धपान के कारण बिल्कुल आरंभ से ही अधिक हिलने-डुलने का अभ्यास रहता है; अग्र व्यंजनों, उदाहरणार्थ [प्] और [त्] के बीच अंतर अधिक स्पष्ट रहता है; इत्यादि। बच्चे सामान्यतया द्व्योष्ठ्य स्पर्श सर्वप्रथम और सही बना लेते हैं; दंत्य स्पर्श उसके बाद बनाते हैं; और कोमलतालव्य स्पर्श उसके भी बाद, जिनके स्थान पर प्रायः दंत्य स्पर्शों का प्रयोग सुनने को मिलता है। लेकिन इसके विपरीत दंत्य स्पर्शों के स्थान पर कोमलतालव्य स्पर्शों के प्रयोग के भी यथेष्ट उदाहरण मिलते हैं। प्रमाणों के अनुसार प्रत्येक बच्चे में भाषा के प्रारंभ और उसके विकास की एक निराली पद्धति रहती है।

बच्चे में भाषा के प्रवेश और उसके विकास के अध्ययन का मतलब है उन तथ्यों का वैज्ञानिक वर्णन कर देना, जो बच्चे के द्वारा क्रमपूर्वक ग्रहण किए जा रहे हैं। यहाँ 'सही' और 'गलत' का प्रश्न नहीं उठता। लेकिन भाषा-विशेष के संदर्भ में उसकी भाषा की बड़ों की भाषा से तुलना करते चलना अध्ययन का व्यावहारिक पहलू है। उसे क्या बोलना चाहिए था, जिसके स्थान पर उसने वस्तुतः क्या बोला—इन दो स्थितियों की परस्पर तुलना भाषा के सामाजिक और स्वाभाविक रूपों के भेद पर प्रकाश डाल सकती है। उसकी स्वबोली, अर्थात् निजी भाषिक व्यवस्था के प्रत्येक उच्चार का विश्लेषण-वर्णन करते हुए बड़ों की भाषा तक पहुँचने के उसके हर पग, हर सीढ़ी, और हर मंज़िल के आकार-प्रकार को बताना उसकी भाषा का इतिहास जान लेना है। बच्चे के मुँह से ध्वनियाँ उत्पन्न होनी पहले ही दिन से आरंभ हो जाती हैं, लेकिन उसमें भाषा का प्रवेश कई महीनों तक नहीं होता। इसके बावजूद भाषा से पहले की उसकी ध्वनियों का अध्ययन इस दृष्टि से उपयोगी रहता है कि वे ध्वनियाँ उसमें भाषा के प्रवेश की थोड़ी बहुत भूमिका अवश्य बनाती हैं। यदि बच्चे के जन्म से ही उसके वाग्यंत्रों से निःसृत ध्वनियों पर अध्ययन-दृष्टि रखी जाए, तो यह गुत्थी सुलझते देर नहीं लगती कि बच्चा भाषा के मामले में प्राकृतिक से सामाजिक कैसे बन जाता है।

कुछ अन्वेषकों की इस स्पष्ट घोषणा के लिए कि प्रत्येक बच्चे की भाषा उसकी निजी भाषा होती है और उसे सीखने का निजी क्रम होता है, संभवतः यह वास्तविकता उत्तरदायी है कि किन्हीं भी दो बच्चों की परिस्थितियाँ

बिल्कुल एकसमान नहीं हो सकतीं। हर बच्चा—सामान्य स्थितियों में हर सामान्य आदमी की भाँति—केवल ऐसी अनुक्रियाओं के प्रति उन्मुख रहता है और केवल उन्हीं को सीखता और याद रखता है, जिनका उसे कुछ अच्छा परिणाम मिलता है या मिलने वाला होता है, या मिलने की आशा रहती है। मिलर और डोलार्ड का कथन है कि बच्चे में स्वभाव का अनुकरण करने की कोई सहज वृत्ति नहीं होती, लेकिन वह भाषा-विकास की आरंभिक अवस्थाओं में ही अनुकरण करना सीख जाता है, बशर्ते उसे उसका अच्छा प्रतिदान मिले। उन्होंने अपने अध्ययन में इसका भी संकेत किया है कि बच्चे को अनुकरण से केवल इस बात में सहायता मिलती है कि वह ऐसी अनुक्रियाओं के नए संयोग और क्रम बना सके, जिन्हें वह अन्य साधनों से पहले ही सीख चुका है। बच्चे को अच्छे प्रतिदान मिलने के संबंध में मोरेर के विचार भी दर्शनीय हैं। उनका कहना है कि बच्चा किलकारने की अवस्था में ही यह भावनात्मक पारितोषिक पाने लगता है कि उसे अपनी आवाज़ में अपनी माँ की आवाज़-जैसी प्रतीति होती है।

बच्चों की भाषा का अध्ययन एक तो उनमें भाषा-विकास के स्थूल पक्षों को दिखाने के लिए एक ही समय में एक-साथ विभिन्न अवस्थाओं वाले अनेक बच्चों की भाषिक सामग्री लेकर किया जा सकता है। शिरले द्वारा 25 शिशुओं की भाषा पर किया गया (1933 में प्रकाशित) कार्य और टेंपलिन द्वारा 3 से 8 वर्ष के 240 बच्चों की भाषा पर किया गया (1957 में प्रकाशित) कार्य इसी प्रकार के अध्ययन हैं। ऐसे सामूहिक अन्वेषण तुलनात्मक एवं समान-असमान भाषिक लक्षणों का अच्छा उद्घाटन कर सकते हैं।

बच्चों की भाषा पर किए जाने वाले अध्ययन का दूसरा प्रकार वह है, जिसमें भाषा-विकास के सूक्ष्म पक्षों को दिखाने के लिए केवल एक बच्चे की भाषा के विकास की किसी विशेष अवस्था या भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का यथातथ्य वर्णन प्रस्तुत करना होता है। वेल्टेन द्वारा शिशु भाषा पर किया गया (1943 में प्रकाशित) कार्य और लियोपोल्ड द्वारा एक द्विभाषी बच्चे के भाषा-विकास पर (1939 से 1947 तक) 8 वर्षों के विस्तार में किया गया कार्य इस प्रकार के अध्ययन हैं। इसके लिए यदि मात्र एक समय चुना गया, तब तो वह ठीक किसी नई बोली को विश्लेषित करने के समान होकर रह जाएगा, लेकिन यदि अध्ययन का लक्ष्य एक लंबे समय की भाषा का क्रमिक विकास हो, तो वह आत्मकथात्मक होगा, जिसमें भाषिक परिवर्तनों का भी लेखा होना आवश्यक रहेगा। ऐसे ही अध्ययनों से इस प्रकार की सामग्री मिल सकती है जिससे बच्चे के द्वारा विभिन्न अवस्थाओं में भाषा के भेदक तत्त्वों के ग्रहण से संबंधित तथ्य सामने आएँ। ऐसे अध्ययन में इकाइयाँ गिनाने के साथ-साथ यह बताया जाना अत्यंत आवश्यक है कि बच्चे ने किन-किन इकाइयों के मध्य कब और किस क्रम से भेदकता हासिल की। केवल यह बता देना पर्याप्त नहीं है कि बच्चा क्या बोलता है; यह बताया जाना अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह क्या समझता है और क्या समझकर बोलता है। इसका पता अर्थ-भेदकता देती है।

बच्चों की भाषा पर किए गए सामूहिक अन्वेषणों की तुलना में उनकी एकाकी भाषिक जीवनियों के अध्ययन क्रमिक विकास की दृष्टि से अधिक अच्छे प्रस्तुत हुए हैं। ये प्रायः सभी प्रस्तुतकर्त्ताओं द्वारा अपने ही बच्चों

पर किए गए प्रयास हैं, जिसका कारण एकदम स्पष्ट है कि ऐसे अध्ययन के लिए आवश्यक संपूर्ण और सूक्ष्म विवरणयुक्त सामग्री-संकलन जन्म से लेकर आरंभिक अनेक वर्षों तक निरंतर साथ रहने वाले बच्चे की ही भाषा का संभव है। इस प्रकार के अध्ययन का एक अंश नमूने के लिए अत्यंत संक्षेप में इस प्रकार है :—

"लियोपोल्ड की बच्ची के आरंभिक सप्ताहों के सभी स्वर अग्रोन्मुख तथा विवृत थे। उसके बाद उसने अग्र विवृत, मध्य विवृत, तथा पश्च संवृत स्वर बोले। पश्च संवृत स्वरों के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के ऐसे पश्च व्यंजनों का भी उच्चारण सुनाई पड़ता था, जो बच्ची को अपने चारों ओर के लोगों से सुनने को नहीं मिलते थे। उसने अग्र संवृत स्वरों का व्यवहार आरंभ नहीं किया था।"

बच्चे के जन्म से लेकर भाषा पर कामचलाऊ अधिकार कर लेने तक के भाषिक विकास को विभिन्न अवस्थाओं में विभाजित करने की सर्वमान्य स्थापना रही है। येस्पर्सन ने ऐसी तीन अवस्थाएँ गिनाई हैं—रोने-चिल्लाने की, किलकारने की और बात करने की। अंतिम अवस्था दीर्घ होने के कारण पुनः दो अवस्थाओं में विभाजित की गई हैं। वे हैं—बच्चे की निजी भाषा वाली और उसके समुदाय की भाषा वाली। कैरोल ने इन अवस्थाओं को निम्नलिखित उपशीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया है—आरंभिक कुछ महीने, किलकारने की अवस्था, भाषा समझने का आरंभ, प्रतीकात्मक वार्तालाप का आरंभ, भेदक वार्तालाप का आरंभ, और परवर्ती अवस्थाएँ।

आगे एक हिंदी-भाषी बच्ची का उसके द्वारा सर्वप्रथम शब्द बोलने तक का भाषिक विकास विविध टिप्पणों के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

'हिंदा' ने उत्पन्न होने के चार सप्ताह के भीतर ही स्वर का धारावाहिक उच्चारण करना आरंभ कर दिया था। (यहाँ रोने की ध्वनि को स्वरवत् नहीं स्वीकार किया गया है, जिसका आरंभ, सभी बच्चों की भाँति, जन्म लेते ही हो चुका था।) उपर्युक्त उच्चारण में प्रयुक्त स्वर अग्र या पश्च, तथा संवृत या विवृत न होकर मध्य अर्धविवृत से कुछ ऊंचा था, जिसके लिए उच्चारण-अवयवों की स्थिति उदासीन कही जाती है। जब यह स्वर मुँह से निकलता था, तो निकले ही चला जाता था। बीच में विराम भी आते थे। इस विशेष दीर्घ मात्रा वाले [अ] का सुर कुछ समय के लिए एक सा ऊँचा भी रहता था और उसमें परिवर्तन भी होता रहता था। यह कभी-कभी अत्यंत ऊंचा सुर अर्थात् बहुत पतली आवाज़ वाला हो जाता था। स्वन की निरंतरता बनाए रखते हुए यदा-कदा मुँह अधिक खल जाने पर यह स्वर क्रमशः विवृत होता हुआ [आ] तक भी पहुँच जाता था। उल्लेखनीय बात यह है कि उच्चारण का आरंभ [अ] से ही होता था, [आ] से कभी नहीं। नीचे सुर का प्रयोग उन दिनों कभी नहीं सुनाई दिया। सुर का बदलना भी ऊँचे सुरों के बीच ही होता था।

यह सब शुद्ध और सरल कसरत थी, जो इस बात से स्पष्ट है कि बहरे-गूंगे भी अपनी इन ध्वनियों में आनंद लेते हैं। ये ध्वनियाँ, और आगे भी कुछ

महीनों तक बोली जाने वाली ध्वनियाँ, 'भाषित' होने पर भी भाषा नहीं होतीं । डार्विन ने बच्चे के मानसिक विकास पर लिखते हुए उसके आरंभिक उच्चारों का भी विवरण दिया है । इन उच्चारों का संबंध भविष्य के उच्चारों से इस रूप में रहता है कि यदि शिशु अपनी भाषाहीन और भाषापूर्व अवस्थाओं में इन उच्चारों का प्रयोग न करे, तो एक तो उसके भाषिक उच्चारों का आधार दुर्बल हो जाएगा, और दूसरे, उसका बौद्धिक, सामाजिक, और भाषिक विकास विलंब से होगा । स्पष्ट है कि बच्चे में भाषा से पहले की ध्वनियों पर भी विचार करना उसके सामान्य विकास की दृष्टि से वांछनीय है । याकोब्सन ने किलकारने को भाषिक विश्लेषण से छोड़ दिया है, क्योंकि उस अवस्था में स्वनिमीय अंतरों की बात नहीं आती, और स्वनिमीय अंतरों की अनुपस्थिति में ध्वनियों का अध्ययन व्यवस्थित दिशा की ओर नहीं बढ़ता । लेकिन लियोपोल्ड ने किलकारने की अवस्था में भी पूर्ण विवृत स्वर [आ] और पूर्ण संवृत व्यंजन [ब्] के मध्य स्वनिमीय अंतर माना है और उसे यह कह कर पुष्ट किया है कि वह संभवतः आगामी स्वनिमीय अंतरों की व्यवस्था का पूर्वाभ्यास है । [बाबाबा] का निरर्थक उच्चारण तथा इसमें प्रयुक्त व्यंजन-स्वर का व्यवस्थित अक्षर-क्रम ही आगे चल कर सीधे सार्थक उच्चारण में प्रविष्ट हो जाता है ।

हिंदा [अ] और [आ] के कुछ ही बाद [म्] बोली । येस्पर्सन ने लिखा है कि सबसे पहले एकाकी स्वर का प्रयोग होता है अथवा व्यंजन-स्वर के क्रम का । लेकिन चूंकि यह स्थिति उन्होंने उस समय के लिए लिखी है, जब बच्चे के उच्चारण-अवयवों की हरकतें व्यवस्थित हो चुकती हैं, इसलिए उसमें उच्चारण की आरंभिक स्थिति की यथावत् प्राप्ति होना आवश्यक नहीं है । हाँ, व्यंजन-स्वनों में सबसे पहले द्व्योष्ठ्य स्वन के मुँह से निकलने के विषय में रामविलास शर्मा का यह कथन विशेष महत्त्व का है—'संभवतः मस्तिष्क में भाषण-केंद्र-स्थल की न्यूनतम प्ररणा से ओठ हिल सकते हैं, ज़बान लौटाने में अधिक प्रयास आवश्यक होता है । संसार की प्रायः सभी भाषाओं में प, ब, म वर्णों ला सर्वाधिक प्रसार है ।' येस्पर्सन ने आरंभिक स्वनों के विषय में यह लिखा है कि यों तो सरलतम स्वन पहले उत्पन्न होते हैं, किंतु विभिन्न लेखकों ने स्वनों की सूचियाँ विभिन्न क्रमों में प्रस्तुत की हैं । लेकिन एक बात पर सभी सहमत हैं कि [प्], [ब्], [म्] यदि सबसे पहले व्यंजन-स्वन नहीं, तो आरंभिक व्यंजन-स्वन अवश्य हैं । इसका कारण इतने छोटे शिशु के द्वारा माँ के बोलते हुए ओठों को देखा जाना न होकर संभवतः माँ का दूध पीने में उसके ओठों का अभ्यास होना चाहिए । इसमें कोई संदेह नहीं कि बच्चे की बिल्कुल आरंभिक ध्वनियाँ भाषा की इकाइयाँ नहीं होतीं, किंतु बहुधा इन ध्वनियों में से ही बहुत से स्वन आगे चलकर भाषा की व्यवस्था में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाते हैं, इस दृष्टि से हिंदा के प्रथम तीन स्वनों [अ], [आ] और [म्] की तुलना पुष्पलता ठाकुर के एकवर्षीय सूचक की भाषा से की जा सकती है, जिसमें उन्होंने केवल तीन स्वनिमों/अ/, /आ/ और /म्/ की ही विद्यमानता लिखी है । यहाँ उल्लेखनीय है कि द्व्योष्ठ्य स्वनिम इतने अधिक सामान्य होने पर भी ओनीदा, सेनेका, चेरोकी और तिल्लामूक आदि भाषाओं में प्राप्त नहीं होते ।

किलकारने की अवस्था में बच्चे के पास ध्वनियों का भारी भंडार जमा हो जाता है, किंतु जब भाषा का आरंभ होता है, तब उस भंडार की अनेक ध्वनियों का उसकी भाषा में उपयोग नहीं हुआ करता। यद्यपि ऊपर दिए गए तीनों स्वन आगे चल कर हिंदी-भाषी बच्चे के लिए उपयोगी सिद्ध होने वाले है, पर सामान्य धारणा यह है कि जब बच्चा किलकारने की अवस्था के बाद यथार्थ भाषा सीखना आरंभ करता है, तो वह उसे नए सिरे से ही आरंभ करता है। इसके पक्ष में ये तर्क दिए जाते हैं कि कभी-कभी वह भाषा सीखने के दिनों में ऐसे स्वनों को बनाना भूल जाता है, जिन्हें वह अपने किलकारने के दिनों में बना चुका था, तथा किलकारने के दिनों में वह एसे स्वन भी बना डालता है, जिनका उसकी मातृभाषा से दूर-दूर तक संबंध नहीं होता। हिंदा के चौथे और पाँचवें स्वन ऐसे ही थे। ये ह—सघोष अलिजिह्व लुंठित (जो, उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी में मिलता है) तथा सघोष आलजिह्व संघर्षी (जो, उदाहरणार्थ, अरबी में मिलता है)। ऐसे पश्च व्यंजन-स्वनों का प्रयोग शिशुओं में असामान्य नहीं है। लियोपोल्ड ने दो महीने के बच्चे के स्वनों में स्वरों को गिनाने के साथ अनेक प्रकार के पश्च व्यंजनों की उपस्थिति के कारण ही इस अवस्था का नाम 'Cooing phase' अर्थात्, 'गुटुरगूँ वाली अवस्था' पुष्ट किया है। उनके अनुसार इस अवस्था के ये पश्च व्यंजन ही हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर विश्लेषकगण कहा करते हैं कि बच्चे विभिन्न प्रकार की ऐसी ध्वनियों में बोलना आरंभ करते हैं, जिनका व्यवहार उनके चारों ओर की भाषा में नहीं होता। येस्पर्सन ने 'Cooing' के साथ 'Crowing' शब्द का भी प्रयोग किया है, जिसका आशय ही यह (अर्थात् 'काँव-काँव') निकलता है कि स्वनों में ऐसे पश्च व्यंजन सम्मिलित हैं, जो अपनी भाषा में उपलब्ध नहीं हैं।

हिंदा का छठा स्वन पहला अघोष, पहला काकल्य, और पहला संघर्षी स्वन था। इस और पिछले दो स्वनों का एकदम पश्च व्यंजन होना ईर्विन द्वारा प्रस्तुत 1 से 2 महीने के बच्चों के व्यंजनों के चार्ट से पर्याप्त रुचिकर साम्य दिखाता है, जिसमें केवल कोमलतालव्य और काकल्य स्वनों का समावेश है।

हिंदा ने अगले स्वन [प्] और [ऊ] मिला कर बोले। इस स्वन-क्रम [पू] का उच्चारण चार महीने सत्रह दिन की उम्र में हुआ। बच्चे के स्वनों के भेदक अध्ययन के अंतर्गत बेरको और ब्राउन ने याकोब्सन और हाल के इस विश्वास के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं कि बच्चा स्वनिमिक अंतर "ओष्ठ्य स्थिति" से आरंभ करता है, जबकि उसके पास केवल एक उच्चार /पा/ होता है। यहाँ व्यंजन और स्वर के मध्य स्वनिमिक वैषम्य की स्थापना हो जाती है। यह वैषम्य एक ही अक्षर के दो स्वनों के बीच मिलने वाला सर्वप्रथम वैषम्य होता है।

हिंदा का नवाँ स्वन [ओ] था। जिह्वा के अग्र भाग का उपयोग अगले स्वन से आरंभ हुआ। यह स्वन बहिर्गामी न होकर अंतर्गामी था और इस वर्त्स्य कोमलतालव्य द्विस्पर्श का उच्चारण कुछ खाने या पीने के बाद स्वाद लेने के लिए बने चटख़ारे-जैसा सुनाई पड़ता था। आगामी स्वन भी अंतर्गामी

कोमलतालव्य द्विस्पर्श स्वन था, जिसका उच्चारण-स्थान ओष्ठ था । चुंबन वाली इस ध्वनि के वाद सुना गया नया स्वन भी पिछले दो स्वनों की भाँति हिंदी की स्वन-व्यवस्था से वाहर का था, जिसे स्वनिक शब्दावली में 'सघोष द्व्योष्ठ्य लुंठित' कहा जाता है ।

उपर्युक्त वारहवें स्वन के उच्चारण तक, अर्थात् हिंदा की साढ़े पाँच महीने की उम्र तक, चाहे किसी स्वन की कितनी भी कम या अधिक पुनरुक्ति हुई हो, केवल एक निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि स्वनों का उत्पादन वच्चे के लिए शारीरिक अनिवार्यता है । आरंभ में मानव-शिशु भाषा के मामले में पशु-शावक से अधिक भिन्न नहीं होता । उच्चारण का आरंभ भाषा के लिए न होकर केवल अवयवों की कसरत के लिए होता है । उस समय वच्चे के मन में स्वनों को जान-वूझकर वनाने और उनकी सहायता से अपने किसी आशय को स्पष्ट करने का लक्ष्य विल्कुल भी नहीं होता । जिस दिन स्वनों की इस सहज स्वाभाविकता के वीच यदृच्छा का प्रवेश हो जाए, वही दिन वच्चे में भाषा के प्रवेश का दिन मानना चाहिए, और जिस स्वन या स्वनक्रम के माध्यम से ऐसे प्रयोग का आरंभ हो, उसे उसकी भाषा का प्रथम शब्द मानना चाहिए। यह शब्द प्रायः भाषा-विशेष का न होकर वच्चे का निजी शब्द होता है, जिसका अर्थ उसके साथ रहने वाले व्यक्ति वखूवी समझ लेते हैं । यहाँ स्वन का उच्चारण कार्यपरक हो जाता है, जवकि किलकारने में वह शुद्ध आनंदपरक रहता है (किलकारने के पूर्व की ध्वनियाँ प्रतिवर्त होती हैं, क्योंकि वच्चे के द्वारा उनमें आनंद लिया जाना सिद्ध नहीं है) ।

हिंदा ने, अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के भाव को स्वन से साढ़े पाँच महीने की उम्र के वाद जोड़ा । संभव है कि अन्यों को स्वयं से या परस्पर वात करते देख कर उसे यह भान हुआ हो कि उच्चरित स्वनों के माध्यम से ही भाव-विनिमय हुआ करता है । इस प्रकार, अपने सामने के व्यक्ति का ध्यान खींचने, उसे संवोधित करके वात करने के लिए प्रेरित करने, उस पर अपना कोई भी अव्यक्त भाव व्यक्त करने, या उसे पहचान भर लेने की हुंकारी देने के लिए हिंदा तीन उच्चार प्रयुक्त करती थी —

(1) दीर्घ [म्], (2) दीर्घ [म्ह्], और (3) [हूँ] । स्वनों के क्रम के हिसाव से [म्] कोई नया स्वन नहीं था, [म्ह्] तेरहवाँ स्वन था, और [हूँ] में [ह्] और [ऊँ] क्रमशः चौदहवें और पंद्रहवें स्वन थे । इन उच्चारों का प्रयोग अनायास और अर्थहीन न हो कर सायास और अर्थ सापेक्ष होता था, यह इससे सिद्ध है कि सामने वाला व्यक्ति जैसे ही हिंदा के सामने से हटता था, वैसे ही उसका वोलना वंद हो जाता था, और व्यक्ति के पुनः सामने पड़ते ही वह फिर आरंभ हो जाता था। इन उच्चारों की अर्थ-भेदकता इनकी अनुपस्थिति से थी । इन्हें 'शब्द' माना जाए या नहीं, इस पर विवाद हो सकता है, क्योंकि डार्ले और विनित्ज़ के अनुसार अधिकतर वच्चे अपने प्रारंभिक शब्द लगभग एक वर्ष की उम्र में वोलना आरंभ करते हैं । इन्हें शब्द मानने के पक्ष में मेरा तर्क यही है कि ये विशिष्ट स्वन भाषाभाषियों के वीच यादृच्छिक और भाव-विनिमय करने वाले हो चुके थे । यहाँ उल्लेखनीय है कि हिंदी में संवोधनार्थक 'ए' और 'ओ' शब्द हैं, जिनका व्यवहार ध्यानाकर्षण के लिए ही किया

जाता है । अपनी उपर्युक्त मान्यता में इस वात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि बच्चे का पहला शब्द बड़ों की भाषा में नहीं मिलता, या उसके काफ़ी दिनों वाद तक कोई अन्य शब्द उसके द्वारा प्रयुक्त नहीं किया जाता । वस्तुत: बच्चे का कोई-कोई आरंभिक शब्द तो अर्थ और स्वन दोनों की दृष्टि से बड़ों की भाषा से दूर, कई वर्ष की उम्र तक शब्दाभास ही रहता है; दूसरे, उस अवस्था में वच्चे के द्वारा सीखे जाने वाले शब्दों की चाल वहुत ही धीमी और उनकी संख्या भी वेहद कम होती है । देलोव ने लिखा है कि पहले वर्ष के अंत तक वच्चा चार-पाँच शब्द वोलने लगता है । केवल चार-पाँच (जव कि अगले वर्ष के अंत तक वह दो-सौ से चार-सौ तक शब्दों का व्यवहार करने लगता है) ।

भाषा-पूर्व की तथा भाषा-प्राप्ति की अवस्थाओं के वीच कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती । विनित्ज़ ने लिखा है कि बच्चा अपनी प्रथम वर्षगाँठ मनाने के साथ-साथ अपने को भाषा और भाषाहीन संसार के बीच लड़खड़ाता हुआ पाता है । इसका मतलब यह है कि उसके द्वारा गिने-चुने आरंभिक शब्दों को प्राप्त कर लेने के वाद भी उस पर भाषाहीन अवस्था छाई रहती है । उस समय की भाषिक इकाइयाँ स्वनिमों या शब्दों के रूप में विद्यमान रहती हैं और भाषिकेतर इकाइयाँ मात्र ध्वनियाँ कही जाती ह । प्रस्तुत संदर्भ में ऊपर वर्णित एकाकी भाषिक इकाई के तीन रूपों का निरंतर प्रयोग तव तक एकछत्र रूप में होता रहा, जब तक हिंदा ने अपनी उम्र दस महीने पूरे होते-होते दूसरी भाषिक इकाई नहीं वोली । यह इकाई न 'मामा' थी, न 'पापा' और न 'वावा' । यह शब्द था शुद्ध अनुकरण पर सीखकर, लेकिन एक दिन अचानक स्वत: बोला गया 'ता', जिसका अर्थ है 'ओट से चेहरे को वाहर निकाल कर झाँकना (और 'ता' कह कर) छिप जाना' । ●

हिंदी स्वर-स्वनिमों के प्रभेदक अभिलक्षण*

शारदा जग्गी

0.1 हिंदी भाषा के सभी पक्षों का अनेक विद्वानों ने विभिन्न प्ररूपों में भाषावैज्ञानिक अध्ययन किया है, किंतु हिंदी स्वन-प्रक्रिया का विश्लेषण उसके स्वनिम, उपस्वन और उनके वितरण तक ही सीमित है ; जबकि स्वनिमविज्ञान की आधुनिक प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट हो चुका है कि स्वनप्रक्रिया के स्तर पर न्यूनतम इकाई स्वनिम नहीं बल्कि उसके अवयव प्रभेदक अभिलक्षण हैं ।[1]

भाषावैज्ञानिक अध्ययन में, विशेषकर दो भाषाओं के व्यतिरेकी अध्ययन तथा भाषा-शिक्षण के लिए विश्लेषण में प्रभेदक अभिलक्षणों की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए मान लीजिए दो भाषाओं 'क' और 'ख' का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए और देखा जाए कि 'क' भाषा में 10 महाप्राण स्वन हैं और 'ख' में कोई महाप्राण स्वन नहीं है, तो यह कहना कि 'ख' भाषा में एक अभिलक्षण 'महाप्राणत्व' नहीं है, या दोनों भाषाओं में केवल एक अभिलक्षण की उपस्थिति/अनुपस्थिति का अंतर है, अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है , बजाए यह कहने के कि इन दो भाषाओं में 10 स्वनिमों का अंतर है । इसी प्रकार अन्य भाषा-शिक्षण में भी यदि दो व्यक्तियों को एक ऐसी प्रत्यक्षण परीक्षा दी जाए जिसमें 50% महाप्राण स्वन तथा अन्य अभिलक्षण 10–10 % हों और परीक्षा का परिणाम इस प्रकार हो—

क :	ख :
महाप्राण—>अल्पप्राण	मुर्धन्य—>दंत्य
	नासिक्य—>अनासिक्य
	अनुघर्षी—>संघर्षी

---

*मैं डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, भाषाविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, के प्रति अत्यंत आभारी हूं, जिनके निर्देशन में यह लेख लिखा गया ।

तो स्वनिम को इकाई मानते हुए 'क' व्यक्ति की अशुद्धियाँ या कठिनाई-क्षेत्र पचास प्रतिशत होगा और दूसरे व्यक्ति का तीस प्रतिशत, जबकि वास्तव में दूसरे व्यक्ति का कठिनाई-क्षेत्र अधिक बड़ा और कठिन है ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वनिम को लघुतम इकाई न मान कर किसी भी भाषा के स्वनों का अध्ययन उसके प्रभेदक लक्षणों के आधार पर किया जाए तभी वह भाषा-शिक्षण तथा अन्य क्षेत्रों में उपयोगी होगा ।

0.2 स्वनप्रक्रियात्मक व्यवस्था के प्रभेदक अभिलक्षणों में विश्लेषण की एक विस्तृत रूपरेखा चॉम्स्की और हाले के 'साऊंड पैटर्न आफ़ इंगलिश' में मिलती है । इसमें स्वनप्रक्रिया का दो स्तरों पर अध्ययन किया गया है ––

(1) व्यवस्थित स्वनिमिक स्तर और

(2) व्यवस्थित स्वनिक स्तर पर ।[2]

व्यवस्थित स्वनिमिक स्तर पर शब्दकोष को दो रूपों में प्रस्तुत किया जाता है : एक––कोषीय अभिव्यक्ति और दूसरा––स्वनिमिक अभिव्यक्ति । कोषीय अभिव्यक्ति की इकाई, आर्की-स्वनिम के रूप में सिद्ध रह सकती है, जिसमें जो अभिलक्षण अनुमेय सिद्ध हैं, उन्हें अभिव्यक्त नहीं किया जाता । इन अनुमेय सिद्ध अभिलक्षणों को रूपिम संरचना नियमों के द्वारा स्वनिमिक अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है, जिसकी इकाई अनुमेय सहित होने के कारण पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होती है ।

व्यवस्थित स्वनिमिक स्तर पर प्रत्येक शब्द के अवयव-स्वनिमों को एक आधात्री के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है :––एक ओर (रूपावली की दृष्टि से) सभी प्रभेदक अभिलक्षण और दूसरी ओर (विन्यासक्रमात्मक रूप में) स्वन दिए जाते हैं । प्रत्येक स्वन में अभिलक्षण का धनात्मक और ऋणात्मक मूल्य क्रमशः + और –– चिह्नों से दर्शाया जाता है, लेकिन किसी भी स्वन में सभी अवयव अभिलक्षण प्रभेदक नहीं होते । कई अभिलक्षण पूर्वानुमेय होते हैं । ऐसे समधिक अभिलक्षणों के स्थान पर कोषीय अभिव्यक्ति में 0 तथा स्वनिमिक अभिव्यक्ति में उनके मूल्य को रूपिम संरचना नियमों की सहायता से अभिव्यक्त किया जाता है । रूपिम संरचना नियम दो प्रकार के हैं ––

(क) खंड संरचना नियम जो बताते हैं कि किसी खंडात्मक स्वनिम में कौन-कौन से अभिलक्षण संभव हो सकते हैं ;

(ख) अनुक्रम संरचना नियम जो रूपिम में स्वनिमों के संभव अनुक्रमों का द्योतन करते हैं ।[3]

(क) **खंड संरचना नियम** : ये नियम इस रूप में व्यक्त होते हैं––

[+आक्षरिक] ⟶ [+मुखरित]

इससे तात्पर्य यह है कि कोई स्वन, जिसमें आक्षरिक अभिलक्षण हो उसमें मुखरित अभिलक्षण भी अवश्य होगा । (किंतु इससे यह तात्पर्य नहीं कि जिसमें आक्षरिक

अभिलक्षण न हो उसमें मुखरित अभिलक्षण भी नहीं होगा।) इस प्रकार के खंड संरचना नियम के लिए किसी निश्चित परिवेश की आवश्यकता नहीं है।

(ख) **अनुक्रम संरचना नियम** : ये परिवेश सापेक्ष हैं, अतः इनका रूप इस प्रकार है :

{ +व्यंजनात्मक, +नासिक्य } ⟶ [+दंत्य] / . . . [+दंत्य]

इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी स्वन में व्यंजनात्मक और नासिक्य अभिलक्षण उपस्थित हों और रूपिम में उसके वाद आने वाले स्वन में दंत्य अभिलक्षण हो तो उसमें भी दंत्य अभिलक्षण होगा।

इस प्रकार के रूपिम संरचना नियमों को अधिक सरल और संक्षिप्त बनाने के लिए कुछ विशेष कोष्ठकों और चिह्नों का प्रयोग किया जाता है। ये चिह्न हैं :—

[ ] इस प्रकार के कोष्ठक में दिए गए सभी अभिलक्षण मिलकर एक इकाई बनाते हैं, जैसे

[+ आक्षरिक, + मुखरित, — व्यंजनात्मक] इसका अभिप्राय है ऐसे किसी स्वन से जिसमें आक्षरिक और मुखरित अभिलक्षण हों किंतु व्यंजनात्मक अभिलक्षण न हों।

{ } इस प्रकार के कोष्ठक में से, नियम में इसके स्थान पर कोई भी एक अभिलक्षण होने पर नियम लागू हो सकता है।

( ) इस प्रकार के कोष्ठक में दिए गए अभिलक्षणों की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है, वे सभी वैकल्पिक होते हैं।

< > इसका प्रयोग ⟶ चिह्न के दोनों ओर किया जाता है— और इसे दो ऐसे नियमों को मिलाने के लिए प्रयोग किया जाता है, जिनमें से एक में इस कोष्ठक के अंदर दिए अभिलक्षणों की आवश्यकता हो और दूसरे में नहीं। जैसे—

[+व्यंजनात्मक, <+उच्च>] ⟶ [— निम्न, — वर्तुलित, < +पश्च, —पूर्वजिह्वीय >]

इस नियम में निम्नलिखित दो नियमों को मिलाया गया है—

$$[+\text{व्यंजनात्मक}] \longrightarrow \begin{bmatrix} -\text{निम्न} \\ -\text{वर्तुलित} \end{bmatrix}$$

$$\begin{bmatrix} +\text{व्यंजनात्मक} \\ +\text{उच्च} \end{bmatrix} \longrightarrow \begin{bmatrix} -\text{निम्न} \\ -\text{वर्तुलित} \\ +\text{पश्च} \\ -\text{पूर्वजिह्वीय} \end{bmatrix}$$

α β γ, इन चिह्नों का मूल्य + या — कुछ भी हो सकता है। ये चिह्न भी दो या अधिक आंशिक समान नियमों को मिलाने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरण के लिए—

$$\begin{bmatrix} -\text{निम्न} \\ \alpha\ \text{पश्च} \end{bmatrix} \longrightarrow [\alpha\ \text{वर्तुलित}]$$

जिसमें निम्नलिखित दो नियमों को मिलाया गया है —

(i) $$\begin{bmatrix} -\text{निम्न} \\ +\text{पश्च} \end{bmatrix} \longrightarrow [+\text{वर्तुलित}]$$

(ii) $$\begin{bmatrix} -\text{निम्न} \\ -\text{पश्च} \end{bmatrix} \longrightarrow [-\text{वर्तुलित}]$$

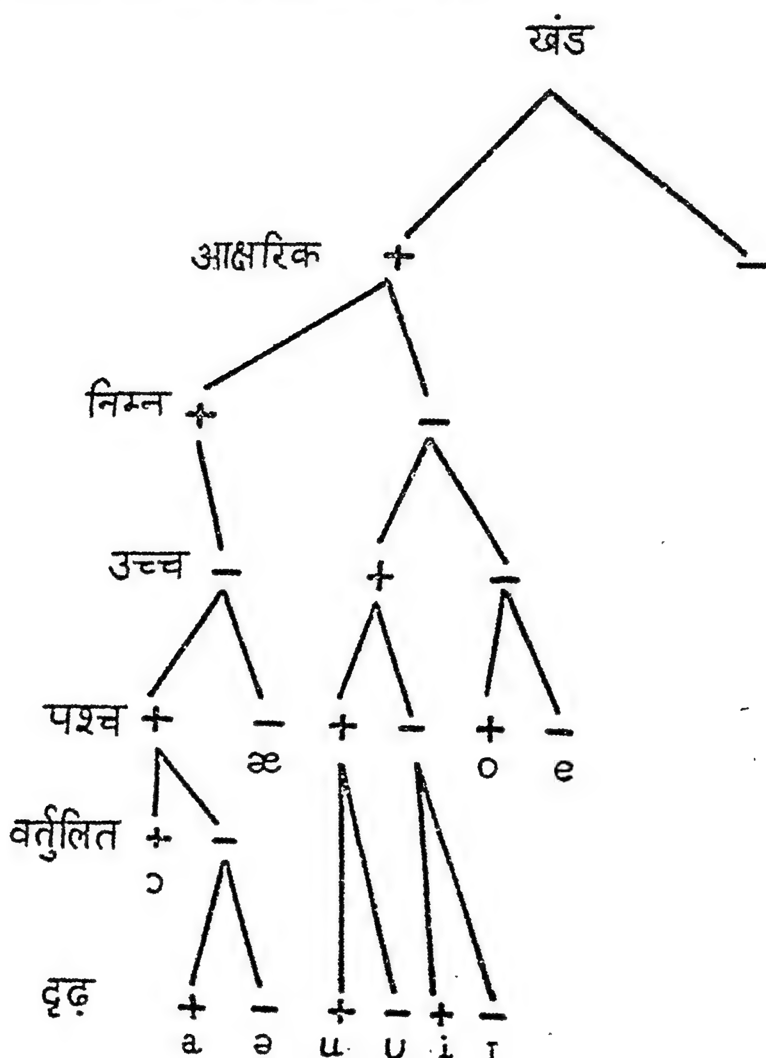
इसी नियम में यदि पश्च और वर्तुलित अभिलक्षणों का मूल्य समान न हो, अर्थात् पश्च + हो तो वर्तुलित —, पश्च — हो तो वर्तुलित +, तो दोनों में से एक स्थान पर — α का प्रयोग किया जा सकता है।

इन रूपिम संरचना नियमों के आधार पर पूर्ण अभिव्यक्त आधात्री को ही स्वनिमिक अभिव्यक्ति कहा जाता है। इसी स्वनिमिक अभिव्यक्ति पर

स्वनप्रक्रिया-नियम लागू होते हैं और परिणाम स्वनिम अभिव्यक्ति के रूप में सामने आता है। इस पर निम्नस्तरीय स्वनिक नियम लागू होते हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप उच्चार का वास्तविक स्वनिक रूप प्राप्त होता है। चॉम्स्की और हाले द्वारा 18 सर्वभाषा अभिलक्षण दिए गए हैं, जो धनात्मक (+) या ऋणात्मक (—) हो सकते हैं, ये अभिलक्षण हैं :—

(1) स्वरात्मक या आक्षरिक (2) मुखरित (3) व्यंजनात्मक (4) नासिक्य (5) निम्न (6) उच्च (7) पश्च (8) पूर्वजिह्वीय (9) जिह्वाफलकीय (10) वर्तुलित (11) दृढ़ (12) सघोष (13) प्रवाही (14) महाप्राण (15) तात्कालिक मोचन (16) संघर्षण (17) विस्तृत (18) पार्श्विक।

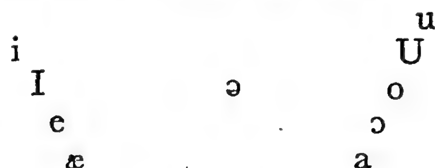
भाषा के सभी स्वनों को जिस प्रकार प्राकृतिक वर्गों में बाँटा गया है, उसी वर्गीकरण को ध्यान में रखते हुए अभिलक्षणों को एक निश्चित क्रम में रखा गया है। यह वर्गीकरण स्वर स्वनों के लिए इस प्रकार है —



1.0 प्रस्तुत लेख में हिंदी के स्वर स्वनिमों का विश्लेषण इसी (ऊपरउ-लिखित) प्रारूप में किया गया है। आधात्री 1 में हिंदी स्वरों की कोषीय अभिव्यक्ति में उनका प्रभदक अभिलक्षण संघटन दिखाया गया है, जिसमें प्रभेदक अभिलक्षणों का धनात्मक और ऋणात्मक मूल्य क्रमशः + और — चिह्नों से दिखाया गया है और समधिक अभिलक्षणों का स्थान खाली छोड़ दिया गया है। इन समधिक अभिलक्षणों का मूल्य अभिव्यक्त करने के लिए 1.2 में रूपिम संरचना नियम दिए गए हैं, जो केवल खंड संरचना तक ही सीमित हैं। इन नियमों के आधार पर आधात्री 2 में हिंदी स्वरों के सभी अवयव-अभिलक्षणों का मूल्य अभिव्यक्त करते हुए व्यवस्थित स्वनिमिक अभिव्यक्ति प्रस्तुत की गई है।

1.1 हिंदी के स्वर – स्वनिम :*

हिदी में निम्नलिखित 10 स्वर स्वनिम हैं और दसों के नासिक्य रूप भी मिलते हैं, लेकिन नासिक्य स्वरों के मूलाधार रूप स्वर + नासिक्य व्यंजन ही हैं।[4] अत: नासिक्य स्वरों को अलग स्वनिम न मान कर केवल 10 स्वर स्वनिमों का व्यवस्थित स्वनिमिक स्तर पर अध्ययन किया गया है।



1.2 हिंदी स्वर स्वनिमों को कोषीय अभिव्यक्ति

व्यवस्थित स्वनिमों का प्रभदक अभिलक्षण संघटन

	i	I	e	æ	ə	a	ɔ	o	U	u
आक्षरिक . .	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+
निम्न . .	—	—	—	+	+	+	+	—	—	—
उच्च . .	+	+	—					—	+	+

*चूंकि प्रस्तुत लेख में स्वर स्वनिमों का विश्लेषण व्यवस्थित स्वनिमिक स्तर तक ही सीमित है, अतः स्वनिमिक रूप से स्वनिक रूप की व्युत्पत्ति दिखाने के लिए केवल एक उदाहरण 1.4 में दिया गया है। स्वनिक स्तर पर विश्लेषण करने के लिए हमें शब्द और वाक्य के स्तर पर भी अध्ययन करना होगा।

पश्च . .	—	—	—	—	+	+	+	+	+	+
वर्तुलित . .					—	—	+			
दृढ़ . . .	+	—			—	+			—	+

आधाती 1

1.3 रूपिम संरचना नियम :

(i) [+निम्न] → [—उच्च]

(ii) [—निम्न, ∝ पश्च] → [∝ वर्तुलित]

विस्तार में—

(क) [—निम्न, +पश्च] → [+वर्तुलित]

(ख) [—निम्न, +पश्च] → [—वर्तुलित]

(iii) [+निम्न, —पश्च] → [—वर्तुलित]

[—उच्च, {—पश्च, +वर्तुलित}] → [+दृढ़]

विस्तार में—

(क) $\begin{bmatrix} -\text{उच्च} \\ -\text{पश्च} \end{bmatrix} \longrightarrow [+\text{दृढ़}]$

(ख) $\begin{bmatrix} -\text{उच्च} \\ +\text{वर्तुलित} \end{bmatrix} \longrightarrow [+\text{दृढ़}]$

1.4 व्यवस्थित स्वनिमिक अभिव्यक्ति :

1.2 में दी गई आधात्री में 1.3 में दिए गए रूपिम संरचना नियमों का प्रयोग करने पर व्यवस्थित स्वनिमिक अभिव्यक्ति आधात्री 2 के रूप में व्यक्त होती है ।

आधात्री 2

	i	I	e	æ	ə	ɛ	ɔ	o	U	u
आक्षरिक . .	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+
निम्न . .	—	—	—	+	+	+	+	—	—	—
उच्च . .	+	+	—	—	—	—	—	—	+	+
पश्च . .	—	—	—	—	+	+	+	+	+	+
वर्तुलित . .	—	—	—	—	—	—	+	+	+	+
दृढ़ . .	+	—	+	+	—	+	+	+	—	+

1.5 स्वनिमिक रूप से स्वनिक रूप की व्युत्पत्ति के लिए एक उदाहरण 'दंत' शब्द का लिया जा सकता है, जिसके दो स्वनिक रूप मिलते हैं, 'दंत' और 'दाँत' ।

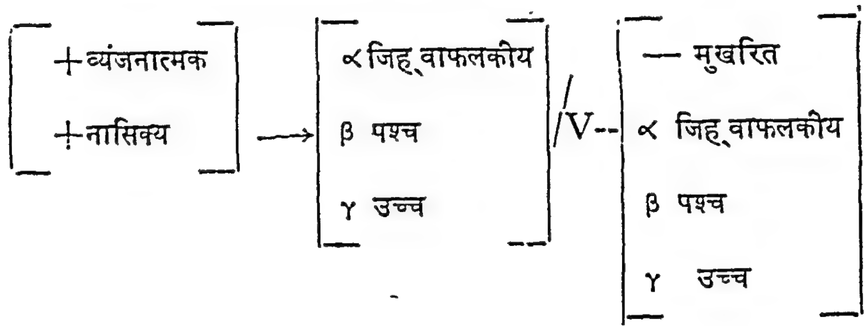
कोपीय स्तर पर इसका रूप है—

	d	ə	N	t
आक्षरिक . . .	—	+	—	—
मुखरित . . .	—		+	—
व्यंजनात्मक . . .			+	
नासिक्य . . .		—	+	
निम्न . . .		+		
उच्च . . .	—			—
पश्च . . .		+		
जिह्वाफलकीय . .	+			+
वर्तुलित . . .		—		
दृढ़ . . .	—	—		—
घोष . . .	+			—
प्रवाही . . .				—
तात्कालिक मोचन . .				
पार्श्विक . . .				

रूपिम संरचना नियम लागू होने पर इसका स्वनप्रक्रियात्मक रूप इस प्रकार का हो जाता है—

	d	ə	N	t
आक्षरिक	−	+	−	−
मुखरित	−	+	+	−
व्यंजनात्मक	+	−	+	+
नासिक्य	−	−	+	−
निम्न	−	+		−
उच्च	−	−		−
पश्च	−	+		−
जिह्वाफलकीय	+			+
वर्तुलित	−	−		−
दृढ़	−	−		−
घोष	+	+		−
प्रवाही	−	+		−
तात्कालिक मोचन	−			−
पार्श्विक	−			−

इस रूप पर निम्नलिखित स्वनप्रक्रिया नियम लागू होता है :—



इसके अनुसार N खंड में ये सभी अभिलक्षण अनिवार्य हो जाते हैं जो इसके वाद के खंड में हों। अतः उपर्युक्त शव्द का यह स्वनिक रूप प्राप्त होता है :—

	d	ə	N	t
आक्षरिक . . .	—	+	—	—
मुखरित . . .	—	+	+	—
व्यंजनात्मक . . .	+	—	+	+
नासिक्य . . .	—	—	+	—
निम्न . . .	—	+	—	—
उच्च . . .	—	—	—	—
पश्च . . .	—	+	—	—
जिह्वाफलकीय . .	+		+	+
वर्तुलित . . .	—	—	—	—

दृढ़ . . .	—	—	—	—
घोष . . .	+	+	+	—
प्रवाही . . .	—	+	—	—
तात्कालिक मोचन . .	—		—	—
पार्श्विक . . .	—		—	—

इसे स्वनिक लिप्यंकन में [dənt] लिखा जा सकता है। इस रूप में 'दंत' और 'दाँत' रूपों की व्युत्पत्ति निम्नलिखित नियम के द्वारा होती है :—

$$\breve{V}NC \longrightarrow \left\{ \begin{array}{ll} \tilde{\bar{V}}C / & \left[+ \overline{\text{देशी}} \right] \\ \breve{V}_{N}C / & \left[\begin{array}{l} - \overline{\text{देशी}} \\ + \text{संस्कृत} \end{array} \right] \end{array} \right\}$$

इस नियम के अनुसार नासिक्य स्वन यदि + देशी हो तो वह अनुनासिक में परिवर्तित हो जाता है और यदि $\left[\begin{array}{l} -\text{देशी} \\ +\text{संस्कृत} \end{array} \right]$ हो तो अनुस्वार में।[5]

इसी नियम के द्वारा

दंत ⟶ दाँत

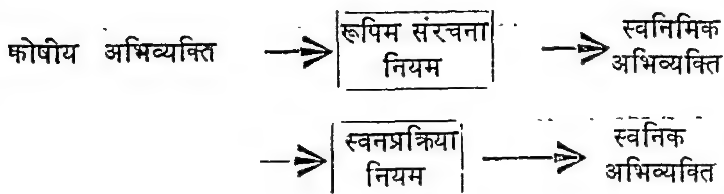
पंच ⟶ पाँच

कंप ⟶ काँप

चंद्र ⟶ चाँद

आदि शब्दों के व्यवस्थित स्वनिक रूप अभिव्यक्त होते हैं।

संक्षेप में स्वनप्रक्रिया के विश्लेषण का यह प्ररूप इस प्रकार है :—



टिप्पणियाँ :—

1. Morris Halle: 'Phonology in Generative Grammer' in Fodor and Katz (ed.) 1964: The Structure of Language

2. (i) Chomsky N. and Halle, M: 1968—Sound Pattern of English

   (ii) Postal, P. M.: 1968—Aspects of Phonological Theory

3. (i) Stanley, R. 1967—'Redundancy Rules in Phonology' Language : 43; 393-436

   (ii) Paul Schachter and Victoria Fromkin : 1968—A Phonology of Akan (WPP UCLA)

4. (i) Narang & Baker : 'Aspiration and Nazalization in the Generative Phonology of Hindi-Urdu, Language : Vol. 47, No. 3, 1971

   (ii) Srivastava, R. N. 1970—'A Search for Panchronic Features of Indo-Aryan Nazals', in Papers & Talks (CIIL, Mysore)

5. Srivastava, R. N. 1969—'Review of A. R. Kelkar's Studies in Hindi and Urdu (I) Introduction and Word Phonology', in Language, Vol. 45, No. 4

हिंदी व्यंजन-स्वनिमों के प्रभेदक अभिलक्षण*

रमेशचंद्र गर्ग

इस लेख में हिंदी भाषा के मूल व्यंजनों[1] का विश्लेषण चॉम्स्की और हाले (1968) द्वारा प्रस्तुत प्ररूप के आधार पर किया गया है। वैसे यह प्रजनक स्वनप्रक्रिया को आधार मानकर लिखा जाने वाला पहला विश्लेषण नहीं है। एलिज़ारेन्कोवा और दीक्षित ने भी हिंदी के व्यंजन स्वनिमों का याकोब्सन द्वारा प्रस्तावित अभिलक्षण और प्रणाली के आधार पर वर्णन किया है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि परंपरागत स्वनिमिक विश्लेषण विशेषत: व्यंजन स्वनिमों से संबद्ध, स्वनिम और स्वनिक वास्तविकता को ग्रहण करने में सफल नहीं रहे हैं। यह अनिवार्य नहीं कि श्रोता द्वारा गृहीत स्वन-खंड तथा परंपरागत स्वनिम-विज्ञान द्वारा प्रस्तावित कोटियाँ पूर्णतया अनुरूप ही हों। परंपरागत स्वनिम-विज्ञान स्वनिक सामग्री को स्वनिम की सीमा तक सीमित करता है और उससे स्वनिक सामग्री को मुक्त कर आगे नहीं बढ़ने देता (चेफ़ 1970)। इसका परिणाम यह हुआ कि परंपरागत स्वनिमविज्ञान अपने आपको एक पूर्णतया वैज्ञानिक रूप नहीं दे पाया है।

चॉम्स्की और हाले द्वारा प्रस्तावित प्रजनक उपागम शैलीगत परिवर्तनों को भी कुछ विविध उपनियमों के आधार पर उचित रूप से व्यक्त करने में सक्षम है। इन विभिन्न शैलीगत विभेदों के मूल में एक ही स्वनिमिक अभिव्यक्ति को यह प्ररूप स्वीकार करता है। इसके विपरीत परंपरागत स्वनिमविज्ञान में एक भाषा के विभिन्न स्तरों को अलग-अलग स्वीकृति मिलती है।

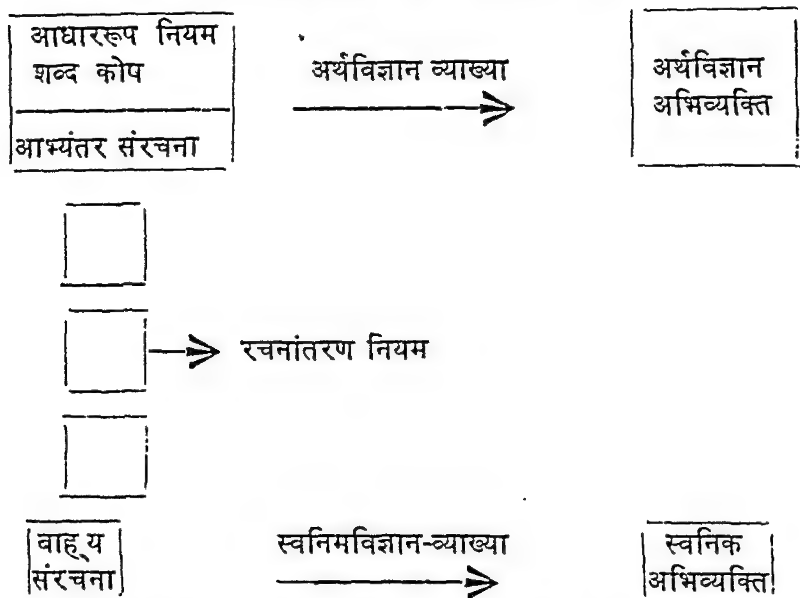
चॉम्स्की और हाले के प्ररूप में तीन घटकों की स्थापना है—वाक्यविन्यास-विज्ञान, अर्थविज्ञान और स्वनिमविज्ञान। अर्थविज्ञान और स्वनिमविज्ञान दोनों केवल व्याख्यात्मक घटक हैं जबकि वाक्यविन्यासविज्ञान वह आधारभूत घटक है जो प्रजनक-शक्ति युक्त है।

---

*मैं डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के प्रति आभारी हूँ, जिनके सहयोग से यह लेख लिखा गया है।

वाक्यविन्यास घटक को आधाररूप नियमों, शब्द-कोष और रचनांतरण नियमों में विभाजित किया जाता है। आभ्यंतर संरचना के दो अंग हैं—आधार-रूप नियम और शब्द कोष। आधार रूप नियम एक वाक्य की आभ्यंतर संरचना व्यक्त करते हैं, जिसकी निर्गत माला शब्द कोष में दिए हुए रूपिम होते हैं। रचनांतरण नियम आभ्यंतर संरचना पर लागू होते हैं और उसको वाह्य संरचना के रूप में व्यक्त करते हैं। इस वाह्‌य संरचना पर स्वनप्रक्रिया नियम लागू होते हैं।

यह प्ररूप निम्नलिखित चित्र द्‌वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है :—

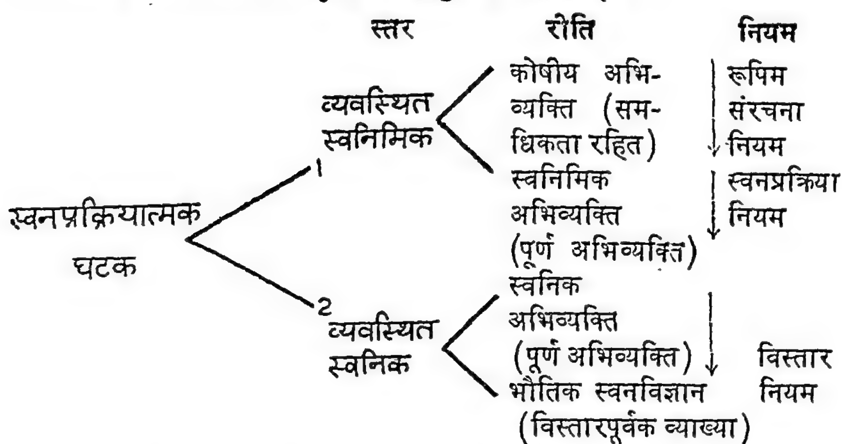


जहाँ तक स्वनप्रक्रिया का प्रश्न है, रूपिम शब्दकोष में एक स्वनिमिक खंडों के अनुक्रम में दिए जाते हैं। एक स्वनिमिक खंड स्वनिमिक अभिलक्षणों का एक समुच्चय वर्णन है। उदाहरण के लिए /त/ अनाक्षरिक, व्यंजनात्मक, जिह्‌वा-फलकीय, अघोष आदि है। व्यवस्थित स्वनिमिक स्तर पर ये अभिलक्षण वर्गकारी हैं। प्रत्येक अभिलक्षण का धनात्मक और ऋणात्मक मूल्य होता है जिसे '+' और '—' चिह्‌नों से व्यंजित किया जाता है।

प्रजनक स्वनप्रक्रिया में एक खंड विशेष के लक्षण यदि स्वनप्रक्रिया द्‌वारा पूर्वानुमेय न हों तो वे व्यावर्तक होते हैं। स्वनिमिक और स्वनिक अभि-व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध स्वनप्रक्रिया नियमों के समुच्चय के द्‌वारा स्थापित किया जाता है। ये अभिलक्षणों को वदलने वाले नियम हैं।

यह प्रजनक स्वनप्रक्रिया अभिव्यक्ति के दो स्तर और वर्णन की चार रीतियों को स्थापित करती है। व्यवस्थित स्वनिमिक, व्यवस्थित स्वनिक और भौतिक स्वनिक के रूप में तीन रीतियां हैं, चौथी रीति व्यवस्थित स्वनिमिक रीति की ही पूर्वानुमेय संदर्भित कोषीय रीति है। व्यवस्थित स्वनिमिक स्तर और व्यवस्थित स्वनिक स्तर गुणात्मक रूप में एक दूसरे से भिन्न हैं। इन दोनों स्तरों पर खंड को

पूर्ण अभिव्यक्त आधारों में व्यक्त किया जाता है। कोषीय अभिव्यक्ति में समधिकता रहित अभिलक्षण ही होते हैं। जो अभिलक्षण समधिक हैं उन्हें रूपिम संरचना नियमों द्वारा व्यवस्थित स्वनिमिक स्तर पर पूर्ण रूप से अभिव्यक्त किया जाता है। इस प्रकार रूपिम संरचना नियम कोषीय अभिव्यक्ति और व्यवस्थित स्वनिमिक स्तरों को संबद्ध करता है। स्वनप्रक्रिया नियम व्यवस्थित स्वनिमिक अभिव्यक्ति को सर्वभाषा स्वनिक लक्षणों में परिवर्तित करते हैं। व्यवस्थित स्तर पर प्राप्य अभिव्यक्ति को अधिक सूक्ष्मता प्रदान करने के लिए विस्तार नियमों का प्रयोग किया जाता है, और जो अभिव्यक्ति इस रूप में दृष्टिगोचर होती है उसे भौतिक स्वनविज्ञान कहा जाता है। इन स्तरों और रीतियों को निम्नलिखित अनुक्रम में प्रस्तुत कर सकते हैं :—



जहाँ तक इन नियमों के कार्य विशेष का प्रश्न है, ये भिन्न प्रकार के नियम स्वयमेव यह परिलक्षित करते हैं कि ये दो भिन्न-भिन्न तरीकों से व्यक्त होते हैं। स्वनप्रक्रिया नियम अनिवार्यतः अभिलक्षणों के मूल्यों को बदलते हैं (अभिप्राय यह है कि धनात्मक मूल्यों को ऋणात्मक और ऋणात्मक मूल्यों को धनात्मक बना देते हैं, अथवा एक पूरे खंड का आगम लोप कर सकते हैं या उनके क्रम में परिवर्तन कर सकते हैं और नए अभिलक्षणों का प्रवेश कर सकते हैं)। रूपिम संरचना नियम मूलतः समधिकता नियम हैं जो कि उपयुक्त मूल्य (धनात्मक, ऋणात्मक) द्वारा खाली स्थानों की पूर्ति करते हैं। विस्तार नियम स्वनविज्ञान का विस्तार में वर्णन करते हैं। स्वनप्रक्रिया नियम द्विचर रूप में व्यक्त होते हैं। लेकिन विस्तार नियम ऐसे खंड व्यक्त करता है जिनके मूल्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे द्विचर ही हों। वे द्विचर से भी अधिक अवयवों में व्यक्त हो सकते हैं। उदाहरणतः अँग्रेज़ी भाषा में दो स्वन हैं [आ] और [ऑ]। दोनों ही [+पश्च] हैं। विस्तार नियम [ऑ] को [आ] की तुलना में अधिक पश्च मूल्य निर्दिष्ट करेगा। इस प्रकार हम एक नियम मान सकते हैं जो [ऑ] को [+2 पश्च] और [आ] को [+1 पश्च] व्यक्त करे। इसी प्रकार से व्यवस्थित स्वनिक स्तर पर हमें केवल यह मालूम होता है कि एक स्वनिक खंड सघोष है या अघोष। जबकि भौतिक स्वनविज्ञान यह बतलाता है कि एक भाषा विशेष (अँग्रेज़ी) के आदि स्पर्श स्वन 15 प्रतिशत सघोष हैं; दूसरी भाषा (हिंदी) के ये स्वन 45 प्रतिशत, और तीसरी भाषा (फ्रेंच) के 60 प्रतिशत सघोष हैं।

हिंदी के व्यंजन स्वनिम :

हिंदी की मूल व्यवस्था में 28 व्यवस्थित व्यंजन स्वनिम हैं। जिनमें से तीन विसर्पी हैं –/य, व, ह/ ; दो नासिक्य हैं–/म, न /; और दो तरल हैं—/ल, र/। इन स्वनिमों को व्यक्त करने के लिए 11 खंडात्मक द्विचर अभिलक्षणों की आवश्यकता है। ये इस प्रकार हैं :—मुखरित, व्यंजनात्मक, नासिक्य, उच्च, पश्च, जिह्वाफलकीय, प्रवाही, तात्कालिक मोचन, सघोष, महाप्राण पार्श्विक। इन 11 प्रभेदक अभिलक्षणों के अतिरिक्त निम्नलिखित 6 अभिलक्षण समधिक हैं—आक्षरिक, निम्न, पूर्वजिह्वीय, वर्तुलित, विस्तृत, संघर्षण। आधात्री 1 में हिंदी व्यंजनों के सभी अवयव-अभिलक्षणों का मूल्य पूर्ण अभिव्यक्त स्वनिमों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अन्य भाषाओं की भाँति, हिंदी व्यंजनों में भी काफ़ी मात्रा में समधिकता है। इस लेख में स्वनिमिक समधिकता व्यक्त करने के लिए रूपिम संरचना स्थितियों का प्रयोग किया गया है। समधिक अभिलक्षणों के नियम केवल खंड संरचना तक सीमित हैं, जिन्हें खंड संरचना स्थितियाँ कहा है। सब खंड संरचना स्थितियाँ 'यदि' (य) और 'तब' (त) ('If' and 'then') स्थितियाँ हैं। एक यदि-तब स्थिति के दो भाग होते हैं। 'यदि' भाग कोषीय आधात्री का संरचनात्मक वर्णन व्यक्त करता है, जिस पर एक स्थिति लागू होती है और 'तब' भाग संरचनात्मक परिवर्तन का द्योतन करता है। अगर हमें यह प्रदर्शित करना हो कि हिंदी भाषा के व्यवस्थित मूल व्यंजनों के मूलाधार रूप में कोई भी सघोष संघर्षी स्वन नहीं है तो हम इसको एक खंड संरचना स्थिति द्वारा य-त स्थिति से इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।

यदि : [— मुखरित
+प्रवाही]

⇓

तब : [— सघोष]

इस स्थिति की व्याख्या इस प्रकार है। यदि एक खंड मूलत: व्यंजन है और इसके साथ-साथ +प्रवाही भी है तब वह [— सघोष] है।

अब हम हिंदी व्यंजनों की कुछ खंड संरचना स्थितियाँ प्रस्तुत करते हैं।

(1) य [+मुखरित
— व्यंजनात्मक] ⇒ त { —नासिक्य
—पूर्वजिह्वीय
— जिह्वाफलकीय
+प्रवाही
+तात्कालिक मोचन
+सघोष
—महाप्राण }

(2) य [+मुखरित, —व्यंजनात्मक, ∝उच्च] ⇒ त [∝निम्न]

विस्तार में

(क) य [+मुखरित, —व्यंजनात्मक, +उच्च] ⇒ त [—निम्न]

(ख) य [+मुखरित, —व्यंजनात्मक, —उच्च] ⇒ त [+निम्न]

(3) य [+मुखरित, —व्यंजनात्मक, +उच्च, ∝पश्च] ⇒ त [∝वर्तुलित]

विस्तार में

(क) य [+मुखरित, —व्यंजनात्मक, +उच्च, +पश्च] ⇒ त [+वर्तुलित]

(ख) य [+मुखरित, —व्यंजनात्मक, +उच्च, —पश्च] ⇒ त [—वर्तुलित]

(4) य [+मुखरित, —व्यंजनात्मक, —उच्च] ⇒ त [+पश्च, —वर्तुलित]

स्थितियां 1 से 4 तक विसर्पी स्वनिमों पर लागू होती हैं।

(5) य [+मुखरित, +व्यंजनात्मक, —नासिक्य] ⇒ त [—उच्च, —निम्न, —पश्च, +पूर्वजिह्वीय, +जिह्वाफलकीय, +प्रवाही, +तात्कालिक मोचन, +सघोष, —महाप्राण]

यह स्थिति तरल स्वनिमों पर लागू होती है।

(6)	य	[+मुखरित +व्यंजनात्मक +नासिक्य]	त ⇒	[—उच्च —निम्न —पश्च +पूर्वजिह्‌वीय —प्रवाही +तात्कालिक मोचन +सघोष —महाप्राण]

यह स्थिति नासिक्य व्यंजन स्वनिमों पर लागू होती है।

(7)	य	[(व्यंजन) —मुखरित]	त ⇒	[+व्यंजनात्मक —नासिक्य]

(8)	य	[—उच्च —जिह्‌वाफलकीय]	त ⇒	[—निम्न —पश्च +पूर्वजिह्‌वीय —प्रवाही +तात्कालिक मोचन]

(9)	य	[—उच्च +जिह्‌वाफलकीय —प्रवाही]	त ⇒	[—निम्न —पश्च +पूर्वजिह्‌वीय +तात्कालिक मोचन +विस्तृत]

(10)	य	[+उच्च —पश्च +तात्कालिक मोचन]	त ⇒	[—निम्न —पूवजिह्‌वीय +जिह्‌वाफलकीय —प्रवाही —विस्तृत]

(11)	य	[+उच्च —पश्च —तात्कालिक मोचन]	त ⇒	[—निम्न —पूर्वजिह्‌वीय +जिह्‌वाफलकीय —प्रवाही +संघर्षण]

(12)	य	[+उच्च +पश्च]	त ⇒	[—निम्न —पूर्वजिह्‌वीय —जिह्‌वाफलकीय —प्रवाही +तात्कालिक मोचन]

(13) य $\begin{bmatrix} -\text{मुखरित} \\ +\text{प्रवाही} \end{bmatrix}$ ⟹ त $\begin{bmatrix} -\text{निम्न} \\ -\text{पश्च} \\ +\text{पूर्वजिह्वीय} \\ +\text{तात्कालिक मोचन} \\ +\text{संघर्षण} \\ -\text{सघोष} \\ -\text{महाप्राण} \end{bmatrix}$

स्थितियाँ 1 से 13 तक विसर्पी, नासिक्य और तरल स्वनिमों के अतिरिक्त जो व्यंजन स्वनिम हैं उन पर लागू होती हैं।

इन खंड संरचना स्थितियों के आधार पर आधात्री 2 में हिंदी व्यंजनों की कोषीय अभिव्यक्ति प्रस्तुत की गई है, जिसमें प्रभेदक अभिलक्षणों का धनात्मक और ऋणात्मक मूल्य क्रमशः + और — चिह्नों से दिखाया गया है और समधिक अभिलक्षणों का स्थान खाली है।

आधात्री 1 पर टिप्पणी :—

(1) पार्श्विक अभिलक्षण हिंदी में केवल निम्न अभिलक्षण वाले स्वनिमों के लिए आवश्यक है और बाकी स्वनिमों के लिए पूर्वानुमेय है।

$\begin{bmatrix} +\text{मुखरित} \\ +\text{व्यंजनात्मक} \\ -\text{नासिक्य} \end{bmatrix}$

(2) संघर्षण अभिलक्षण केवल संघर्षी और स्पर्श-संघर्षी स्वनिमों तक ही सीमित है। (चॉम्स्की 1968 : 329)

(3) विस्तृत अभिलक्षण उन स्पर्श स्वनिमों तक सीमित है जो जिह्वाफलकीय है। (चॉम्स्की 1968 : 312)

(4) इस प्रकार आधात्री 1 में खाली स्थान एक खंड का ऋणात्मक मूल्य व्यक्त नहीं करते हैं बल्कि वह मूल्य जो एक खंड में निहित लक्षण है और दूसरे खंडों में परिभाषा द्वारा वर्जित हो जाता है, उसका निर्देशन करते हैं, (और उसकी ओर इंगित करते हैं)।

(5) आक्षरिक अभिलक्षण व्यंजनों के लिए परिभाषा के अनुसार पूर्वानुमेय है, फिर भी उसको आधात्री में एक अभिलक्षण के मूल्य के रूप में केवल प्रस्तुत करने मात्र हेतु दिखलाया गया है।

आधात्री 1 और 2 क्रमशः पृष्ठ संख्या 31–34 और 35–38 पर दी जा रही हैं।

हिंदी व्यंजन स्वनिमों की व्यवस्थित स्वनिमिक अभिव्यक्ति

(पूर्ण अभिव्यक्ति)

	प	फ	ब	भ	त	थ	द	ध	ट	ठ	ड	ढ	च	छ
1. आक्षरिक	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
2. मुखरित	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
3. व्यंजनात्मक	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+
4. नासिक्य	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
5. उच्च	—	—	—	—	—	—	—	—	—	+	+	+	+	+
6. निम्न	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
7. पश्च	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

*इस पर टिप्पणी मूल लेख के अंत में दे दी गई है (देखें पृष्ठ 30)।

(आघाती 1—जारी)

	प	फ	ब	भ	त	थ	द	ध	ट	ठ	ड	ढ	च	छ
8. पूर्वजिह्वीय	+	+	+	+	+	+	+	+	−	−	−	−	−	−
9. जिह्वाफलकीय	−	−	−	−	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+
10. वर्तुलित														
11. प्रवाही	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−
12. तात्कालिक मोचन	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	−	−
13. विस्तृत					+	+	+	+	−	−	−	−		
14. संघर्षण													+	+
15. सघोष	−	−	+	+	−	−	+	+	−	−	+	+	−	−
16. महाप्राण	−	+	−	+	−	+	−	+	−	+	−	+	−	+
17. पार्श्विक														

(आघाती 1—जारी)

हिंदी व्यंजन स्वनिमों की व्यवस्थित स्वनिमिक अभिव्यक्ति

(पूर्ण अभिव्यक्ति)

	ज	झ	क	ख	ग	घ	स	ल	र	म	न	व	य	ह
1. आक्षरिक	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−
2. मुखरित	−	−	−	−	−	−	−	+	+	+	+	+	+	+
3. व्यंजनात्मक	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	−	−	−
4. नासिक्य	−	−	−	−	−	−	−	−	−	+	+	−	−	−
5. उच्च	+	+	+	+	+	+	−	−	−	−	−	+	+	−
6. निम्न	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	+
7. पश्च	−	−	+	+	+	+	−	−	−	−	−	+	−	+

4—7 C H.D.(ND)/72

(आघाती 1—जारी)

	ज	झ	क	ख	ग	घ	स	ल	र	म	न	व	य	ह
8. पूर्वजिह्वीय	−	−	−	−	−	−	+	+	+	+	+	−	−	−
9. जिह्वाफलकीय	+	+	−	−	−	−	+	+	+	−	+	−	−	−
10. वर्तुलित												+	−	−
11. प्रवाही	−	−	−	−	−	−	+	+	+	−	−	+	+	+
12. तात्कालिक मोचन	−	−	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+
13. विस्तृत														
14. संघर्षण	+	+					+							
15. सघोष	+	+	−	−	+	+	−	+	+	+	+	+	+	+
16. महाप्राण	−	+	−	+	−	+	−	−	−	−	−	−	−	−
17. पार्श्विक								+	−					

आधात्री 2

हिंदी व्यंजन स्वनिमों की कोषीय अभिव्यक्ति

(व्यवस्थित व्यंजन स्वनिमों के प्रभेदक अभिलक्षण)

	प	फ	ब	भ	त	थ	द	ध	ट	ठ	ड	ढ	च	छ
1. आक्षरिक	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−	−
2. मुखरित														
3. व्यंजनात्मक														
4. नासिक्य	−	−	−	−	−	−	−	−	+	+	+	+	+	+
5. उच्च														
6. निम्न									−	−	−	−	−	−
7. पश्च														

(आधात्री 2—जारी)

	प	फ	ब	भ	त	थ	द	ध	ट	ठ	ड	ढ	च	छ
8. पूर्वजिह्वीय														
9. जिह्वाफलकीय	—	—	—	—	+	+	+	+						
10. वर्तुलित														
11. प्रवाही					—	—	—	—						
12. तात्कालिक मोचन									+	+	+	+	—	—
13. विस्तृत														
14. संघर्षण														
15. सघोष	—	—	+	+	—	—	+	+	—	—	+	+	—	—
16. महाप्राण	—	+	—	+	—	+	—	+	—	+	—	+	—	+
17. पार्श्विक														

(आघाती 2—जारी)

हिंदी व्यंजन स्वनिमों की कोषीय अभिव्यक्ति

(व्यवस्थित व्यंजन स्वनिमों के प्रभेदक अभिलक्षण)

	ज	झ	क	ख	ग	घ	स	ल	र	म	न	व	य	ह
1. आक्षरिक														
2. मुखरित	—	—	—	—	—	—	—	+	+	+	+	+	+	+
3. व्यंजनात्मक								+	+	+	+	—	—	—
4. नासिक्य								—	—	+	+			
5. उच्च	+	+	+	+	+	+						+	+	—
6 निम्न														
7. पश्च	—	—	+	+	+	+						+	—	

आधात्री 2 (जारी)

					ज	झ	क	ख	ग	घ	स	ल	र	म	न	व	'य	ह
8. पूर्वजिह्वीय	.	.	.	.														
9. जिह्वाफलकीय	.	.	.	.							+			—	+			
10. वर्तुलित	.	.	.	.														
11. प्रवाही	.	.	.	.							+							
12. तात्कालिक मोचन	.	.	.	.	—	—												
13. विस्तृत	.	.	.	.														
14. संघर्षण	.	.	.	.														
15. सघोष	.	.	.	.	+	+	—	—	+	+								
16. महाप्राण	.	.	.	.	—	+	—	+	—	+								
17. पार्श्विक	.	.	.	.								+	—					

टिप्पणी

1. मूल व्यवस्था में/क़, ख़, ग़, फ़, ज़/स्वनों को, जो कि अरबी-फ़ारसी से लिए गए हैं,/श/जो अरबी-फ़ारसी, संस्कृत और अंग्रेज़ी तीनों स्रोतों से ग्रहण किया गया है, /ण/जो कुछ संस्कृत शब्दों में प्रयुक्त होता है, नहीं लिए गए हैं । /ल्ह, म्ह, न्ह/का भी समावेश नहीं किया है क्योंकि इनका प्रयोग बाहुल्य नहीं है । हिंदी की देशज शब्दावली में ड ~ ड़ तथा ढ ~ ढ़ का भी वैषम्य नहीं मिलता, इसलिए [ड़, ढ़] को/ ड, ढ/ के उपस्वन माना है ।

* * *

संदर्भ--सूची :

Chafe, Wallace L. 1970. Meaning and the Structure of Language, London, University of Chicago Press.

Chomsky, Noam, and Morris Halle. 1968. The Sound Pattern of English. New York : Harper and Row.

Dixit, R. P. 1963. The Segmental Phonemes of Contemporary Hindi. Austin : University of Texas Master's thesis.

Elizarenkova, T. Y. 1961. Distinctive Features of Consonantal Phonemes of Hindi (in Russian) Problems of Linguistics 5.

Postal, M. P. 1968. Aspects of Phonological Theory. New York : Harper and Row.

Schacter, Paul and Victoria Fromkin, 1968. A Phonology of Akan : AKUAPEM, ASANTE, FANTE. California : Working Papers in Phonetics 9.

Srivastava, R. N. 1968. Theory of monophonematics and aspirated phonemes of Hindi. Acta Linguistica 18.363-73.

Stanley R. 1967. Redundancy Rules in Phonology. Language 43 : 393-437.

हिंदी में व्यंजन + य गुच्छ

सूरजभान सिंह

हिंदी में **य** जिन व्यंजनों के साथ द्‌वितीय अवयव के रूप में जुड़कर व्यंजन-गुच्छों का निर्माण करता है, उनकी संख्या 28 है। ये गुच्छ शब्द की आदि-मध्य-अंत तीनों ही स्थितियों में आ सकते हैं पर अंत की स्थिति में आने वाले गुच्छों की संख्या सर्वाधिक है।

ये गुच्छ न केवल संख्या की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण हैं, बल्कि इसलिए भी कि इस अर्धस्वर से पूर्व जुड़ने वाले व्यंजन के उच्चारण में भी प्रायः एक विशेष प्रकार का परिवर्तन आ जाता है, अर्थात **य** के पूर्ववर्ती व्यंजन का दीर्घीकरण या द्‌वित्व हो जाता है। जब इस प्रकार के गुच्छ मध्य स्थिति में होते हैं तो इसका प्रभाव अक्षर-विभाजन पर भी पड़ता है। हिंदी में व्यंजन-गुच्छ की इस स्वनात्मक विशेषता एवं इसके कारण अक्षर-विभाजन पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर संभवतः विद्‌वानों का विशेष ध्यान नहीं गया है। विदेशियों को हिंदी का सही उच्चारण सिखाने, वाक-स्वनों का सूक्ष्म स्वनिक लिप्यंकन करने तथा हिंदी के आक्षरिक विन्यास को समझने में इस प्रकार का अध्ययन अधिक उपयोगी सिद्‌ध हो सकता है।

व्यंजन+य के व्यंजन गुच्छ :

संलग्न तालिका में व्यंजन+**य** के गुच्छों की हिंदी पद-रचना में विभिन्न स्थितियाँ बताई गई हैं।

व्यंजन+य के गुच्छ

	व्यंजन-गुच्छ	आद्य व्यंजन-गुच्छ	अंत्य व्यंजन-गुच्छ	मध्य व्यंजन-गुच्छ (या-व्यंजन-अनुक्रम)	टिप्पणी
	1	2	3	4	
1.	प्+य्	प्यास	प्राप्य	प्राप्यता	
2.	त्+य्	त्याग	सत्य (दंत्य)*	सत्यता (अंत्याक्षरी)*	
3.	ट्+य्	—	अकाट्य	—	
4.	क्+य्	क्या	वाक्य	वाक्यांश	
5.	व्+य्	व्याह	—	अनव्याही	
6.	द्+य्	द्युति	वाद्य (निंद्य)*	विद्यार्थी	
7.	ड्+य्	ड्योढ़ी	दंड्य	—	
8.	ग्+य्	ज्ञान	अभिज्ञ	अभिज्ञान	हिंदी में प्राय: ज्ञ का उच्चारण ग्य की तरह होता है ।
9.	म्+य्	म्यान	साम्य	सौम्यता	
10.	न्+य्	न्याय	अन्य	उपन्यास	
11.	ण्+य	—	पुण्य	पुण्यात्मा	
12.	थ्+य्	—	पथ्य (स्वास्थ्य)*	मिथ्याचार	
13.	ठ्+य्	—	पाठ्य (कंठ्य)*	पाठ्यक्रम	

	1	2	3	4	
14.	ख्+य्	ख्याति	सख्य (असंख्य)*	विख्यात (संख्या)*	
15.	भ्+य्	—	सभ्य	सभ्यता	
16.	ध्+य्	ध्यान	वाध्य	बाध्यता (संध्या)*	
17.	ढ्+य्	—	धनाढ्य	—	
18.	घ्+य्	—	श्लाघ्य	दुर्लघ्य	
19.	व्+य्	व्यास	दिव्य	भव्यता	
20.	स्+य्	स्याही	हास्य (मत्स्य)*	हास्यास्पद	
21.	श्+य्	श्याम	वैश्य (लक्ष्य)*	आवश्यक	
22.	च्+य्	च्युत	वाच्य	वाच्यार्थ	
23.	ज्+य्	ज्योति	पूज्य	राज्याधिकार	
24.	ह्+य्	—	सह्य	वाह्याकार	
25.	ल्+य्	—	मूल्य	तुल्यता	
26.	र्+य्	—	आर्य (स्वातंत्र्य)*	पर्याय	
27.	ज़्+य्	ज़्यादा	—	—	केवल अरबी-फ़ारसी व्यंजन-गुच्छों में
28.	ख़्+य्	ख़्याल	—	—	"

*कोष्ठक में दिए गए इन व्यंजन-गुच्छों में (व्यंजन दीर्घीकरण के अतिरिक्त) तीन व्यंजन हैं, जबकि शेष में दो ।

तालिका में दी गई सामग्री से कई तथ्य स्पष्ट होते हैं : —

(क) जिन व्यंजनों के साथ **य** के व्यंजन गुच्छ नहीं बनते, वे हैं :

छ्+य्   झ्+य्   ़फ्+य्   फ्+य्   य्+य्

टिप्पणी (i) य्+य् के गुच्छ की संभावना **शय्या, न्याय्य** जैसे शब्दों में हो सकती थी पर इस स्थिति में प्रथम **य** के स्थान पर श्रुति के रूप में इ का ही उच्चारण होता है जैसे शय्या : शइया (Səiya :)। परंतु **न्याय्य** में शब्द के पूर्ववर्ती अक्षर पर बलाघात होने के कारण किसी-किसी उच्चारण में द्वित्व अर्धस्वर सुना जा सकता है। परंतु प्रायः इसका उच्चारण भी **न्याइय्** (nya:iy) ही किया जाता है। ऐसी स्थिति में इस शब्द में दो अक्षर स्वीकार किए जाने चाहिए– nya:- iy।

(ii) ङ, ञ, ड़, ढ़, प, उपस्वन हैं और इनका अंतर्भाव संबंधित स्वनिम में हो जाता है, अतएव पूरक वितरण के नियम के अधीन ही **य** के साथ इनके व्यंजन-गुच्छ बनते हैं।

(ख) आद्य व्यंजन-गुच्छ के रूप में **य** के जो व्यंजन-गुच्छ हिंदी में नहीं मिलते, वे इस प्रकार हैं :

ट्+य्   (अंग्रेजी से गृहीत शब्दों को छोड़कर)
ण्+य्   थ्+य्   ठ्+य्
ढ्+य्   भ्+य्   घ्+य्
ह्+य्   ल्+य्   र्+य्

(ग) अंत्य व्यंजन-गुच्छ के रूप में **य** के व्यंजन-गुच्छों की संख्या सबसे अधिक (28) है। वस्तुतः व्यंजन+य के सभी संभाव्य गुच्छों के उदाहरण इस अंत्य स्थिति में उपलब्ध हैं। केवल ब्+य के उदाहरण अंत्य स्थिति में नहीं मिलते।*

(घ) जहाँ तक मध्य स्थिति में इन व्यंजन-गुच्छों का संबंध है, संधि अथवा रूपात्मक प्रक्रिया द्वारा हिंदी में इस प्रकार के लगभग सभी गुच्छ किसी न किसी सीमा तक बनाए जा सकते हैं। जैसे, पाठ्य=पाठ्यक्रम, बाध्य=बाध्यता, बाह्य=बाह्याकार। परंतु फिर भी प्रचलित भाषा में मध्य स्थिति में कुछ व्यंजन-गुच्छ प्रायः नहीं मिलेंगे, जैसे

ट्+य् (अंग्रेजी से गृहीत शब्दों को छोड़कर)
ड्+य्   ,,

---

*आंचलिक प्रयोग के रूप में 'व्य' के स्थान पर 'ब्य' (काव्य : काब्य) का उच्चारण करने की प्रवृत्ति को मानक नहीं माना जा सकता।

द+य्

ध्+य्

य के पूर्ववर्ती व्यंजन का दीर्घीकरण

यदि व्यंजन + य के गुच्छ (i) अंत्य, एवं (ii) मध्य स्थिति में आएँ तो सामान्यतः प्रथम व्यंजन का दीर्घीकरण या द्‌वित्व हो जाएगा– यह हिंदी के उच्चारण की निजी विशेषता है। लिखित वर्ण प्रणाली में भले ही इसका संकेत न मिलता हो परंतु तथाकथित परिनिष्ठित हिंदी उच्चारण में इस स्थिति में व्यंजन का द्‌वित्व हो जाना प्रायः निश्चित-सा है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यह **नियम** दो व्यंजनों से मिलकर बनने वाले गुच्छों पर ही लागू होता है (इसका एकाध अपवाद है जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा)। उदाहरण के लिए, जब हम **अन्य** शब्द का उच्चारण करते हैं तो मात्रा की दृष्टि से न् का उच्चारण वहाँ नहीं होता जो अन्त शब्द के न् का होता है। वस्तुतः **अन्य** शब्द के न् का उच्चारण लगभग वैसा ही होता है जैसा अन्न में **न्न्** का, अर्थात्

अन्न =	अन्न्	(ənn)
अन्य =	अन्न्य	(ənny)
अन्त =	अन्त	(ənt)

इसी प्रकार जब **उपन्यास** शब्द में न्य् मध्य स्थिति में आता है तब भी **न** का दीर्घीकरण या द्‌वित्व हो जाएगा जैसे उपन्न्यास (upənnya:s)। परंतु यहाँ भी यदि **य** के स्थान पर कोई और व्यंजन हो तो न् में दीर्घीकरण नहीं होगा, जैसे संताप=सन्ताप (sənta:p)। यही कारण है कि हिंदी उच्चारण की इस विचित्रता से अनभिज्ञ, पंजाब आदि प्रांतों के कुछ लोग स्थानीय प्रभाव के कारण जब **उपन्यास** शब्द का उच्चारण करते हैं तो इस दीर्घीकरण का ध्यान नहीं रख पाते और इसका उच्चारण उप्-न्यास् (upnya : s) करते हैं।

व्यंजन दीर्घीकरण के कतिपय और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

सत्य	sətty
साम्य	sa : mmy
अभिज्ञान	əbhiggya :n
प्राप्यता	pra : ppyəta

जहाँ पर गुच्छ का प्रथम व्यंजन महाप्राण होगा वहाँ द्‌वित्व का प्रथम व्यंजन अल्पप्राण हो जाएगा। (जैसा कि संस्कृत व हिंदी का सर्वविदित नियम

है कि दो महाप्राण व्यंजन-गुच्छ के रूप में उच्चरित नहीं किए जा सकते)।
उदाहरणार्थ—

सभ्यता	səbbhyəta :
कथ्य	kətthy
वाध्य	ba : ddhy

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यदि ये व्यंजन-गुच्छ तीन या अधिक व्यंजनों से मिलकर बनते हैं तो दीर्घीकरण की यह प्रक्रिया घटित नहीं होती, उदाहरणार्थ—

संध्या	səndhya :	(sənddhya : नहीं)
निंद्य	nindy	ninddy नहीं)
स्वास्थ्य	sva : sthy	(sva : stthy नहीं)
मत्स्य	mətsy	(mətssy नहीं)

अपवाद :

(i) र्+य् गुच्छ के उच्चारण में प्रायः वह दीर्घीकरण की प्रक्रिया नहीं मिलती, जसे आर्य में, यद्यपि इसमें भी र् का किंचित् दीर्घीकरण अवश्य होता है, जो मर्द के र् के उच्चारण की तुलना में अवश्य दीर्घ रहता है, परंतु फिर भी इस दीर्घीकरण का स्वरूप वह नहीं जो वर्रा शब्द के र् र् का है। अतः इसे सही अर्थों में दीर्घीकरण मानना उचित नहीं। स्पष्टतः इसका कारण द्वित्व र् तथा य् को एक साथ उच्चरित न कर सकने की असुविधा है।

(ii) ह्+य् गुच्छ के उच्चारण में भी यह दीर्घीकरण की प्रक्रिया इस रूप में नहीं मिलती। वस्तुतः शय्या या न्याय्य की भाँति वाह्य आदि शब्दों में भी सही अर्थों में व्यंजन-गुच्छ स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि **य** से पूर्व **ह** का उच्चारण हि (hi) के समान होता है, जैसे

वाह्य ba : hiy

सह्य səhiy

वाह्याकार ba:hiya:ka:r

इसका स्पष्ट कारण ह पर **य** का पूर्ववर्ती प्रभाव है क्योंकि **य** के उच्चारण में जिह्वा प्रारंभ में इ की स्थिति में होती है। इसीलिए आह्वान में, जहाँ ह्+व का गुच्छ है, ह् का उच्चारण हि जैसा नहीं होता।

उपर्युक्त स्थिति में वाह्य, सह्य आदि शब्दों में दो अक्षरों की संभावना हो जाती है : (bə-hiy, sə-hiy) यहाँ यह द्रष्टव्य है कि hi में इ का पूर्ण स्वरूप नहीं ढूंढ़ा जा सकता। यहाँ इसे इस दृष्टि से इ

का आभास मात्र कहा जा सकता है, तथा सूक्ष्म स्वनिक लिप्यंकन में इसे hⁱ या hᶦ चिह्न द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। कुछ उच्चारणों में **बाह्य** के इस इ का स्वरूप और भी अधिक क्षीण हो सकता है जो शुद्ध **ह्य** के अधिक निकट होगा। इसीलिए यहाँ पर इसे मूलत: व्यंजन-गुच्छ ही स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत **शय्या** एवं **न्याय्य** में इ का स्वर अधिक मुखर है क्योंकि यहाँ एक नहीं, दो-दो **य** मिलकर इ की प्रवृत्ति को योग देते हैं। इसीलिए यहाँ य+य को व्यंजन-गुच्छ स्वीकार नहीं किया गया है।

(ग) व्यंजन+य् के ऐसे गुच्छों में, जिनसे पूर्व रूपात्मक उपसर्ग लगे होते हैं, इस प्रकार की दीर्घीकरण की प्रवृत्ति कभी-कभी नहीं दिखाई देती, जैसे अनभ्याही (ənbhya : hi:), सुज्योति (sujyoti) । इस संबंध में तीन तथ्य स्मरणीय हैं :

(क) एसे बहु प्रचलित शब्द जिनमें उपसर्ग शब्द के अभिन्न अंग के रूप में समाविष्ट हो गए हों, दीर्घीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देगी, जैसे **अन्याय**, (ənnya : y)
अभिज्ञान (əbhiggya : n) ।

(ख) कुछ गुच्छों को वक्ता अपने भाषामूलक संस्कार के अनुसार या तो दीर्घीकरण के साथ उच्चारित करता है या बिना दीर्घीकरण के, अर्थात् ऐसे शब्दों के दोनों उच्चारण परिनिष्ठित हिंदी में प्रचलित हैं, जैसे—

अच्युत əcyut, accyut

गृहत्याग grihtya: g, grihttya:g

य के अतिरिक्त अन्य व्यंजन-गुच्छों में भी, मुख्यत: संस्कृत के प्रभाव से, इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यधिक प्रचलित है, जैसे—

ओतप्रोत Otprot, otəpprot

हतप्रभ hətprəbh, hətəpprəbh

(iii) कुछ कम प्रचलित शब्दों में, जिनमें व्यंजन+य् गुच्छ से पूर्व उपसर्ग लगे होते हैं, दीर्घीकरण की यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती; क्योंकि दोनों के बीच प्राय: संहिता का व्यवधान होता है, तथा उपसर्ग आरोपित-सा प्रतीत होता है, जैसे—

अनभ्याही ən+bhya : hi

कुध्यान Ku+dhya : n

भाषावैज्ञानिक कारण :

व्यंजन-दीर्घीकरण की इस प्रवृत्ति के पीछे मुख-सुख प्रधान कारण है, इसमें संदेह नहीं; परंतु मुख-सुख स्वयं एक सापेक्षिक प्रवृत्ति है। हिंदी-भाषी के लिए जो प्रवृत्ति मुख-सुख हो सकती है, वही अँग्रेज़ी भाषी के लिए भी हो, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं। अतः मुख-सुख के पीछे भी भाषा की अपनी प्रकृति का बहुत बड़ा योग होता है। प्रस्तुत संदर्भ में इस व्यंजन-दीर्घीकरण का संबंध हिंदी की आक्षरिक प्रणाली से ही स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी आक्षरिक प्रणाली के आधार पर हिंदी भाषा की इस विशिष्ट मुख-सुख प्रवृत्ति का विकास हुआ है, जिसका एक उदाहरण विवेच्य व्यंजन दीर्घीकरण है। समान स्थिति में अँग्रेज़ी तथा हिंदी के व्यंजन + य् गुच्छों की तुलना से यह और अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

Communist = K'ɔmyunist	सौम्यता	Saummyəta
Immune = imyu':n	सत्यता	Səttyəta :

अँग्रेज़ी में व्यंजन दीर्घीकरण की प्रवत्ति नहीं मिलती। ऐसे शब्दों में भी जहाँ लिपि में व्यंजन चिह्न प्रयुक्त होते हैं वहाँ एक ही व्यंजन का उच्चारण होता है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में। हिंदी में इसके विपरीत, न केवल व्यंजन-दीर्घता या द्वित्व-व्यंजन का स्वनिमिक महत्व है, बल्कि जहाँ परंपरागत लिपि-चिह्नों में केवल एक ही व्यंजन की व्यवस्था है वहाँ भी कुछ स्थितियों में अन्यथा कारणों से व्यंजन-दीर्घता का प्रवेश हो जाता है, जैसे व्यंजन + य् गुच्छों के उपर्युक्त उदाहरणों में।

चूंकि हिंदी आक्षरिक भाषा है तथा अँग्रेज़ी बलाघात-प्रधान, इसलिए हिंदी में प्रायः प्रत्येक स्वन या अक्षर का पूर्ण या लगभग पूर्ण उच्चारण किया जाता है। अँग्रेज़ी में प्रत्येक स्वन या अक्षर का पूर्ण या लगभग पूर्ण उच्चारण न कर बीच-बीच में कई स्वनों का अत्यंत क्षीण या सांकेतिक उच्चारण किया जाता है। पर इसकी क्षतिपूर्ति बलाघात द्वारा हो जाती है। फलस्वरूप अक्षरों के उच्चारण में मुख-सुख के लिए हिंदी में जिस प्रवृत्ति का विकास हुआ वह अँग्रेज़ी या अन्य बलाघात प्रधान भाषाओं की मुख-सुख जनित प्रवृत्तियों से भिन्न है।

उच्चारण-अवयवों की किन जटिलताओं के कारण हिंदी के विवेच्य व्यंजन-गुच्छों में व्यंजन-दीर्घीकरण आवश्यक हो जाता है, तथा उन्हीं स्थितियों में अन्य भाषा-भाषी किस प्रकार वहाँ उच्चारण करने में असुविधा का अनुभव करते हैं, इसका स्पष्ट निर्धारण यंत्रों की सहायता से ही संभव है, जो पृथक् अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

अक्षर-विभाजन पर व्यंजन-दीर्घीकरण का प्रभाव :

हिंदी के अक्षर विभाजन पर भी व्यंजन-दीर्घीकरण का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जब व्यंजन-गुच्छ मध्य स्थिति में इस प्रकार आते हैं कि गुच्छ का एक व्यंजन किसी एक

अक्षर का अंग बन जाता है तथा दूसरा व्यंजन किसी दूसरे अक्षर का, तो ऐसी स्थिति में व्यंजन-गुच्छ भंग हो जाता है । कुछ विद्वान इस प्रकार के खंडित गुच्छ को व्यंजन-अनुक्रम की संज्ञा देते हैं । स्पष्टता के लिए यह भेद करना आवश्यक भी है ।

व्यंजन+य् के जिन गुच्छों में हमने व्यंजन-दीर्घीकरण या द्वित्व स्वीकार किया है वहाँ पर ये द्वित्व व्यंजन वस्तुतः व्यंजन अनुक्रम बन जाते हैं, अर्थात्, इन द्वित्व व्यंजनों के बीच से ही दो अक्षर विभाजित होते हैं, जैसे

उपन्यास	U-pən-nya:s	(U-pə-nya:s नहीं)
सभ्यता	Səb-bhyta:	(Səa-bhyta: नहीं)
वाक्यांश	Va:k-kya:n~	(Va:kya:n~ नहीं)

जहाँ तक य के अंत्य गुच्छों का संबंध है, अक्षर-विभाजन पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता । परंतु एक अक्षर के अंतर्गत आने वाले स्वनों की संख्या में इसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा । उदाहरणार्थ—

साम्य	Sa : mmy	(Sa : my नहीं)
सख्य	Səkkhy	(Səkhy नहीं)

दोनों ही शब्द एकाक्षरी हैं तथा दोनों ही में पाँच-पाँच स्वन हैं (चार नहीं जैसा कि प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है ।

आद्य स्थिति में आने वाले व्यंजन + य् गुच्छों का व्यंजन-दीर्घीकर नहीं होता, अतः व इस आक्षरिक प्रभाव से मुक्त हैं ।●

हिंदी की आक्षरिक संरचना

कैलाशचंद्र भाटिया

शाब्दिक दृष्टि से 'अक्षर' का अर्थ है—जो घटता नहीं, जिसका क्षरण नहीं होता। जिसका उच्चारण हम करते हैं वह स्वन यद्यपि विनाशी है तो भी उस स्वन के द्वारा सूचित किया जाने वाला स्फोट रूप अक्षर नित्य अर्थात् अविनाशी ही है। उक्त दोनों व्युत्पत्तियों के मूल में दो धातुएँ हैं :

√क्षि
√क्षर् } दोनों से ही अविनाशी अर्थ की सिद्धि होती है।

'अक्षर' की दो व्युत्पत्तियां यास्क ने सुझाई हैं :

अ + √क्षर्,

अक्ष + र

इनमें से प्रथम व्युत्पत्ति की दृष्टि निषेधात्मक है (जिसका क्षरण नहीं होता)। इस पर पर्याप्त विवेचन मिलता है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार 'अक्षर' का मूलाधार 'अक्ष' कहा गया है—'धुरी' जिस प्रकार रथचक्र का आधार होती है उसी प्रकार वाक्-स्वनों का मूलाधार 'अक्षर' है। आज इसका समानार्थक अंग्रेजी शब्द 'syllable' है जो मूलतः ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ भी इसके आसपास 'एक में बंधा या रखा हुआ' किया गया है।

प्रातिशाख्यों में अक्षर के अस्तित्व में 'स्वर' का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। 'स्वरोऽक्षरम्' कई प्रातिशाख्यों में स्वीकार किया गया है। आज 'अक्षर' से तात्पर्य उस स्वन या स्वन समुदाय (स्वनिम, स्वनिमों) से लिया जाता है जो एक आघात या झटके में बोला जाता है, जिसमें एक स्वर या स्वरवत् व्यंजन रहता है। उसी स्वर के पूर्वांग या परांग बनकर अनेक व्यंजन रह सकते हैं। अक्षर का मेरुदंड स्वर है। स्वर

ही अक्षर का स्पंदन घोषित करता है । इस प्रकार एक अक्षर से स्वर को न तो अलग ही किया जा सकता है और न बिना स्वर या स्वरवत् व्यंजन के अक्षर के निर्माण की कल्पना ही की जा सकती है । नारद शिक्षा के अनुसार 'व्यंजन' किसी भी भाषा में मोतियों के तुल्य हैं जबकि स्वर वह सूत्र है जिसमें सभी मोती पिरोए रहते हैं । 'स्वर' अक्षर का निर्माण करता है, वह तो स्वतः शासित होता है 'स्वयं राजते' । ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार 'अक्षर' कोरा स्वर, स्वर तथा व्यंजन, अनुस्वार के साथ स्वर या व्यंजन तथा अनुस्वार के साथ स्वर रूप में हो सकता है । आदि व्यंजन आगे के स्वर और अंत्य व्यंजन का संबंध पूर्व स्वर के साथ होता है, मध्य में दो व्यंजन हों, तो एक का पूर्व या दूसरे का पर से होता है । अक्षर गुरु तथा लघु भी होते हैं ।

अक्षर की दृष्टि से सभी वाक्-स्वन दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं :

आक्षरिक : वे स्वर तथा व्यंजन स्वन जो सर्वाधिक मुखरता के कारण 'अक्षर शीर्ष' बनाते हैं । ये आक्षरिक स्वन भी बहुशः आक्षरिक तथा स्वल्पाक्षरिक हो सकते हैं । बहुशः आक्षरिक स्वनों में स्वर आते हैं और स्वल्पाक्षरिक में व्यंजन स्वन आते हैं जिनमें नासिक्य तथा पार्श्विक सर्वाधिक मुखर स्वन प्रधान हैं ।

अनाक्षरिक : वे स्वर तथा व्यंजन स्वन हैं जो अपेक्षाकृत कम मुखर या निम्नतम मुखरता के कारण 'अक्षर शीर्ष' के पूर्व या पर विद्यमान रहते हैं । स्पर्श, संघर्षी स्वन भी मुखरता के साथ आने पर आक्षरिक हो सकते हैं । संध्यक्षर स्वरों में एक स्वर अनाक्षरिक ही होता है ।

सामान्यतः जिस शब्द में जितने स्वर होते हैं उतने ही अक्षर स्वीकार कर लिए जाते हैं । स्वर का अस्तित्व निश्चित करना ही प्रधान कार्य है । फिर भी हम कह सकते हैं कि "केंद्रक रूप स्वर इकाई से युक्त स्वनिमों के संयोजन का वह न्यूनतम साँचा अक्षर है जो पूर्वा-पर किसी एक व्यंजन स्वन या स्वीकृत व्यंजन-गुच्छ से युक्त हो अथवा न भी हो ।" इस प्रधान तत्व को शिखर का रूप दिया जा सकता है । एक शब्द में जितने शिखर होंगे उतने ही अक्षर कहलाएंगे, जैसे,

	अ	
कम—क् अ म्	क्∧म्	= 1 अक्षर

	अ अ	
कमर—क् अ म् अ र्	क् ∧म् ∧र्	= 2 अक्षर

अ   अ
कमरख—क् अ म् र् अ ख्   क् ∧ म्   र् ∧ ख् = 2 अक्षर

अ   आ   आ
वताशा—व् अ त् आ श् आ   व् ∧ त   ∧ श् ∧   = 3 अक्षर

अक्षरों के मध्य सीमा-निर्धारण का कार्य दुष्कर है। दो व्यंजनों में से कौनसा व्यंजन किस स्वर के साथ जा रहा है यह पहचानना यंत्रों से भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। डॉ० बाबूराम सक्सेना द्वारा सुझाई गई विधि इस प्रकार है, "इस रुकने का स्थान उन दो अक्षरों के बीच की मौन स्थिति (स्पर्श वर्ण का द्वितीय अवयव) या श्रव्यता की अल्पता होती है। स्वरत्व ही अधिक मात्रा में स्वरों में, उससे कम अंतःस्थों में, फिर संघर्षी वर्णों में और कम-से-कम स्पर्श वर्णों में होता है। जैसे वगड़ दो पहाड़ियों के अलग-अलग अस्तित्व को जताती है, उसी प्रकार स्वरत्व की अल्पता दो अक्षरों की सीमा निर्धारित करती है। जैसे दो वगड़ों के बीच के भाग को हम पहाड़ी कहते हैं उसी प्रकार दो अल्प स्वरत्व वाली ध्वनियों के बीच के ध्वनि-समूह को हम अक्षर कहते हैं।"

अक्षर प्रायः स्वनात्मक होते हैं, कभी-कभी अक्षर के स्वनात्मक तथा स्वनिमात्मक स्वरूप में भेद होने से अर्थ-भेद हो जाता है, जैसे मराठी में डॉ० अशोक केळकर के अनुसार इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

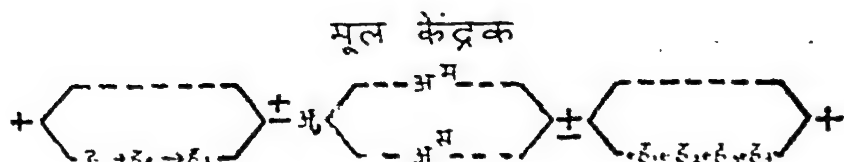
गाइ = 1 अक्षर = गाय

गाई = 2 अक्षर = गायें

यंत्र भी अक्षर-सीमा निर्धारण में सहायक हो सकते हैं पर प्रायः हम अक्षर-निर्धारण, जैसा प्रायः सुनाई देता है अथवा जिस उच्चारण को सुन कर हम अर्थ समझ लेते हैं (मानक के अति समीप) उसके आधार पर करते हैं।

हिंदी अक्षर का स्वरूप

मूल केंद्रक



उक्त रेखाचित्र में मूल केंद्रक स्वर है जिसका होना आवश्यक है। इसके पूर्व कोई व्यंजन या व्यंजन-गुच्छ (दो या तीन व्यंजनों का) हो भी सकता है

और नहीं भी। इसी प्रकार मूल केंद्रक के परे कोई एक व्यंजन अथवा व्यंजन-गुच्छ (दो या तीन व्यंजनों का; कभी-कभी चार व्यंजनों का भी) हो भी सकता है और नहीं भी। अधिकांशतः व्यंजन-गुच्छों से रहित शब्द ही उच्चारण में सरल होते हैं फिर भी मूल केंद्रक के पूर्व या बाद में व्यंजन-गुच्छ आ सकते हैं।

$अ_1$ = कोई भी स्वर

$अ^{म}$ = स्वर की मात्रा

$अ^{स}$ = संध्यक्षर स्वर का दूसरा अनाक्षरिक स्वर

$ह^1$ ⟶ = वे व्यंजन जो अक्षर के प्रारंभ में आ सकते हैं।
(ष, ङ, ड़, ढ़, व् को छोड़ कर शेष सभी)

$ह^2$ ⟶ = वे व्यंजन-गुच्छ जिनमें दो व्यंजन हों। इनकी सूची पृथक् से चा' संख्या 1 में दी जा रही है।

$ह^3$ ⟶ = तीन व्यंजनों का आद्य स्थिति में गुच्छ।

⟵ $ह^1$ = वे व्यंजन जो मूल केंद्रक के बाद आ सकते हैं।

⟵ $ह^2$ = $ह_1$ के साथ $ह_2$ के व्यंजन-गुच्छों का चार्ट पृथक् से (संख्या 2) दिया जा रहा है।

⟵ $ह^3$ = $ह_1$ $ह_2$ के साथ तीन व्यंजनों का गुच्छ

⟵ $ह^4$ = $ह_1$ $ह_2$ $ह_3$ के साथ गुच्छ। इस कोटि में कुछ शब्द हैं जिनका शुद्ध उच्चारण भी सरल नहीं।

1- हिंदी व्यंजन-गुच्छ

	प्	त्	ट्	क्	ब्	द्	ड्	ग्	म्	न्	ण्	ङ्	फ्	थ्	ठ्	ख्	भ्	ध्	ढ्	घ्	फ़्	व्	स्	ज़्	श्	च्	ज्	छ्	झ्	य्	ह्	ल्	र्	क़्	ख़्	ग़्
प																														X		X	X			
त																						X								X			X			
ट																						E								E			E			
क																						X			⊗					X		X	X			
ब																														X		E	X			
द																						X								X			X			
ड																														X			E			
ग																						X								X		X	X			
म																														X		X	X			
न																														X	X					
ण																																				
ङ																																				
फ																																				
थ																																	E			
ठ																																				
ख																														X						
भ																																	X			
ध																						X								X			X			
ढ																																				
घ																																	X			
फ़																														E		E	E			
व																														X			X			
स	X	X	E	X					X	X			X	X		X						X								X		E	X			
ज़																																				
श																														X			X			
च																														X						
ज																						X								X						
छ																																				
झ																																				
य																																				
ह																														X			X			
ल																																				
र																														X						
क़																																				
ख़																						※								※						
ग़																																				

संकेत

X	व्यंजन-गुच्छ
※	अरबी-फ़ारसी के व्यंजन गुच्छ

⊗	[श] में मूर्धन्यता आ जाती है
E	अंग्रेज़ी के व्यंजन गुच्छ

2- हिंदी व्यंजन-गुच्छ

	प्	त्	ट्	क्	ब्	द्	ड्	ग्	म्	न्	ण्	ङ्	फ्	थ्	ठ्	ख्	भ्	ध्	ढ्	घ्	फ़्	व्	स्	ज़्	श्	च्	ज्	छ्	झ्	य्	ह्	ल्	र्	क़्	ख़्	ग़्
प्	×	×																					E							×			×			
त्		×							×	×				×							※	×	×							×	※	※	×			
ट्			×												×															×						
क्		×	E	×					×							×						×	E		⊗					×		×	×			
ब्		※				×												×						※			×						※			
द्						×			×									×												×			×			
ड्							×																							×						
ग्									×	×								×												×			×			
म्	×				×	※							×																	×		×	×			
न्		×				×			×	×				×				×					×		×	⊠	⊠	⊠	⊠	×	×					
ण्			×				×				×				×							×								×						
ङ्				×				×								×				×																
फ्																																				
थ्																														×						
ठ्																														×						
ख्																														×						
भ्																														×						
ध्																						×								×			×			
ढ्																														×						
घ्										×																				×						
फ़्		※	E							※																						※	※			
व्																														×			×			
स्				×					×	※												×								×		※	×			
ज़्									※																								※			
श्	⊗	※	⊗	※					※	×	⊗				⊗							×				×				×				※		
च्																										×		×		×						
ज्																											×			×			×			
छ्																																				
झ्																																				
य्																																				
ह्									×	×												×								×						
ल्	×		E	×		※			×				×				×				※									×	×	×				
र्	×	×		×	×	×		×	×		×						×	×		×	※E	×	E	※	×	×				×		E		※	※	
क़्		※				※																		※							※	※				
ख़्		※							※														※									※	※			
ग़्									※															※												

- संकेत -

× व्यंजन-गुच्छ

※ अरबी - फ़ारसी के व्यंजन-गुच्छ

⊗ [श] में मूर्धन्यता आ जाती है

⊠ [न] का तालव्यीकृत रूप [ञ]

E अंग्रेजी के व्यंजन-गुच्छ

दिनों = द्इ—न्ओं		वहीं अंत में अनु-नासिकता के साथ
नीति = न्ई—त्इ		प्रथम दीर्घ तथा द्वितीय ह्रस्व

त्र्यक्षरात्मक

अवधि	= अ—व्अ—घ्इ	तीनों स्वर ह्रस्व
उपाधि	= उ—प्आ—धइ	मध्य में दीर्घ स्वर
गुड़िया	= ग्उ—ड़्इ—य्आ	अंतिम दीर्घ
उजाला	= उ—ज्आ—ल्आ	अंतिम दो दीर्घ
वाटिका	= व्आ—ट्इ—क्आ	आदि तथा अंत में दीर्घ
झूमेगा	= झ्ऊ—म्ए—ग्आ	तीनों दीर्घ

नोट : 1. अंतिम ह्रस्व स्वर अब प्राय: उच्चारण में दीर्घांत होते जा रहे हैं। जो कुछ थोड़े बहुत शब्द मिलते हैं वे संस्कृत के ह जिनमें वर्तनी मात्र में शुद्धता स्थिर है, जैसे—

उपाधि— "उपाधी" उच्चरित होता है।

2. जब मध्य का अक्षर ह्रस्व स्वरांत हो तो प्राय: यह देखा गया है कि उसके ह्रस्व स्वर का लोप हो जाता है और द्वितीय अक्षर का व्यंजन प्रथम अक्षर के साथ उच्चरित होता है। इसके फलस्वरूप त्र्यक्षरात्मक शब्द द्व्यक्षरी रह जाता है, जैसे,

गिरिजा = गिर्जा, गिर्—जा

गिरिराज = गिर्राज, गिर्—राज् (गिर्राज)

व्यंजनांत अक्षर : अक्षर के अंत में व्यंजन रहने से इसे बंदाक्षर भी कह सकते हैं।

एकाक्षर

ह्रस्व स्वर के साथ, जैसे	उस = उस्
दीर्घ स्वर के साथ, जैसे	ईख = ईख्
ह्रस्व स्वर-युक्त व्यंजन के साथ, जैसे	चल = चल्
दीर्घ स्वर-युक्त व्यंजन के साथ जैसे,	कोल = कोल्

द्व्यक्षर

प्रथम बंदाक्षर के साथ :

अ ह —हअ, जैसे, इनसे	= इन्—से
अँ ह —हआ, जैसे, उँगली	= उँग्—ली
आह —हआ, जैसे, एकता	= एक्—ता

द्वितीय वंदाक्षर के साथ :

अ	— ह अ ह,	जैसे, इधर	= इ—धर्
अ	— ह आ ह,	जैसे, अनाज	= अ—नाज्
आ	— ह अ ह,	जैसे, आपस	= आ–पस्
आँ	— ह अ ह,	जैसे, आँगन	= आँ—गन्
आ	— ह आ ह,	जैसे, आकाश	= आ—काश
अ	— ह अ हह,	जैसे, अगस्त	= अ—गस्त
अ	— ह आ ह ह,	जैसे, अपूर्व	= अ—पूर्व्
आ	— ह अ ह ह,	जैसे, आनंद	= आ—नंद्
आ	— ह ह अ ह,	जैसे, आश्रम	= आ—श्रम

नोट : जब दूसरे अक्षर के आदि में व्यंजन-गुच्छ हो, तो उसका प्रथम व्यंजन (व्यंजनांश) प्रथम अक्षर के साथ भी उच्चरित होता है और गुच्छ रूप में दूसरे अक्षर के आदि में भी, जैसे,

आश्रम	= आश्–श्रम्,	दो अक्षर
अद्वितीय	= अत्—द्वितीय्,	तीन अक्षर
अध्यापक	= अद्—ध्यापक्,	तीन अक्षर
अत्याचार	= अत्—त्याचार,	तीन अक्षर
शत्रुओं	= शत्—त्रुओं,	तीन अक्षर

दोनों वंदाक्षर :

अह	— हअह,	जैसे, अंतिम	= अन्—तिम्
अह	— हआह,	जैसे, उपदेश	= उप्—देश्
आह	— हअह,	जैसे, आचरण	= आच्—रण्
आह	— हआह,	जैसे, आसमान	= आस्—मान्
अह	— हअहह,	जैसे, अरविंद	= अर्—विंद्

अंतिम अक्षर यदि व्यंजन के साथ मुक्ताक्षर (दीर्घ) है तो उससे पूर्व व्यंजन (उपांत्य अक्षर का ह्रस्व स्वर लुप्त हो जाने के फलस्वरूप) अक्षर के साथ जड़कर वंदाक्षर का निर्माण करता है, जैसे,

सपना	= सप्—ना
गरमी (गर्मी)	= गर—मी
देवता	= देव्—ता
हँसता	= हँस्—ता

बोलना = बोल्—ना
सूचना = सूच्—ना
चाँदनी = चाँद्—नी
घोंसला = घौंस—ला

यदि अंतिम अक्षर केवल दीर्घ स्वर हो तो उपांत्य अक्षर का ह्रस्व स्वर बना रहता है जिसके फलस्वरूप एक अक्षर कम नहीं होता, जैसे,

कलई, क – ल – ई (न कि "कल् – ई")
बढ़ई, ब – ढ़ – ई (न कि "बढ़् – ई")
बटुआ, ब – टु – आ (न कि "बट् – आ")

हाँ, एक भिन्न प्रकार का उच्चारण अवश्य सुनाई देता है जो शीघ्रता में स्वाभाविक है, जैसे,

कलई = क –लई

यदि दोनों अक्षर दीर्घ हों तो प्रथम अक्षर का स्वर उतना दीर्घ नहीं होता जितना द्वितीय अक्षर का स्वर, जैसे,

तालाब = ता – लाऽब् [त्आ—ल्आऽब्]
दीवार = दी –वाऽर् [द्ई —वाऽर]
[ऽ=अपेक्षाकृत अधिक दीर्घता]

मूल धातु से व्युत्पन्न शब्दों में यह आवश्यक नहीं कि मूल धातु का आक्षरिक स्वरूप बना ही रहे। प्रत्ययों के जुड़ते ही अक्षर-सीमा बदलती रहती है, जैसे,

हिल् : हिलोर : : हिल् : हि—लोर्
बच् : बचत : : बच् : ब—चत्

"अक्षर" का स्वरूप बदलने पर भी अक्षर-संख्या समान बनी रहती है, जैसे,

फट् = 1 अक्षर
फटक = 2 अक्षर, फ—टक्
फटकन = 2 अक्षर, फट्—कन्

किसी भी भाषा में आक्षरिक संरचना का विशेष महत्त्व है। अक्षर के निर्माण में बलाघात, स्वराघात (सुर), संहिता (संक्रमण) आदि का विशेष प्रभाव होता है। स्थानाभाव से यहाँ इनकी चर्चा संभव नहीं है। अक्षर सीमा पर, महाप्राणत्व तथा सघोषता पर प्रभाव पड़ता है। आक्षरिक साँचों में ही नए शब्दों का निर्माण करना चाहिए तथा रिक्त स्थानों को अन्य भाषाओं के उपयुक्त शब्दों से भरना चाहिए। परिनिष्ठित उच्चारण सिखाने में आक्षरिक संरचना का विशेष महत्त्व है। अब समय आ गया है जबकि कोशों में "अक्षर-सीमाएँ" भी प्रदर्शित की जाएँ। ●

हिंदी में शब्द-बलाघात

आर० एस० गुप्त

1.0 यह लेख इस आशय से लिखा गया है कि भाषाविज्ञानियों द्वारा हिंदी के शाब्दिक बलाघात पर अब तक किए गए कार्य का सर्वेक्षण किया जाए, तथा उसमें जो भी त्रुटियाँ हैं उनका उल्लेख करते हुए इस विषय पर भविष्य में होने वाले शोधकार्य के लिए कुछ संभावित क्षेत्रों की ओर इंगित किया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस लेख को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में हिंदी बलाघात पर आज तक किए गए भाषावैज्ञानिक कार्य का विवेचन किया गया है। दूसरे भाग में इस विषय पर भविष्य में होने वाले शोध कार्य के कुछ संकेत दिए गए हैं।

2.0 किसी भी भाषा के शाब्दिक बलाघात का अध्ययन करने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम बलाघात की वास्तविक प्रकृति तथा उसके प्रकार्य को भली प्रकार समझ लें। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो हमारा अध्ययन अपूर्ण ही नहीं अपितु त्रुटिपूर्ण भी रहेगा। प्रयोगात्मक स्वनविज्ञानियों ने पिछले कुछ वर्षों में इस दिशा में काफ़ी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन विद्वानों ने बलाघात की जटिल प्रकृति पर प्रकाश डाला है तथा यह सिद्ध कर दिया है कि जो कुछ हम "सापेक्षिक आक्षरिक उत्कर्ष" के रूप में सुनते हैं, उसके पीछे कई कारण हैं। ये कारण दो प्रकार के होते हैं : उच्चारणात्मक तथा ध्वनिक। कुछ वर्ष पूर्व तक स्वनविज्ञानियों का मत था कि बलाघात "श्वास शक्ति के आधिक्य" के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जब किसी अक्षर के उच्चारण में श्वास शक्ति का आधिक्य होता है तो वह अक्षर उस शब्द के अन्य अक्षरों की अपेक्षा उत्कर्षी सुनाई देता है और हम कहते हैं कि उस अक्षर पर बलाघात है। किंतु कुछ समयोपरांत इन विद्वानों ने अनुभव किया कि बलाघात के संबंध में यह मत नितांत भ्रामक था। कोलमैन (1911), मायस्कान्ज़ (1931), स्कॉट (1939) तथा कुछेक और स्वनविज्ञानियों ने अपनें प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि बलाघात में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान स्वराघात का है तथा स्वराघात के परिवर्तन से ही बलाघात में परिवर्तन आता है। लॉरेंस (1952), बोलिंजर (1958), लाइबरमन (1960), मैंटिंगले (1966), रोज़न्बर्ग (1969) तथा कुछ अन्य

स्वनविज्ञानियों ने इसी मत को आधार मानकर कुछ और शोधात्मक प्रयोग किए तथा यह सिद्ध कर दिया कि वलाघात के कारणों में केवल स्वराघात ही नहीं अपितु कालमात्रा, स्वर-गुण तथा स्वर-तीव्रता भी है। वोलिजर (1958) ने यह भी कहा कि वलाघात का सीधा संवंध अनुतान से है, न कि स्वराघात से। वोलिजर के अनुसार एक और वात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि किसी भी अक्षर की वलाघात ग्रहण करने की क्षमता तथा अक्षर पर वास्तविक वलाघात होने में वहुत वड़ा अंतर है। जव भी हम शाब्दिक वलाघात की वात करते हैं तो वस्तुतः हम अक्षर की वलाघात ग्रहण करने की क्षमता की ओर इंगित करते हैं, न कि किसी अक्षर पर वास्तविक वलाघात की ओर। इस "क्षमता" तथा "वास्तविकता" के अंतर को समझ लेने पर ही वलाघात की वास्तविक प्रकृति तथा उसके प्रकार्य को समझा जा सकता है। यहाँ पर यह कह देना असंगत न होगा कि जव भी हम किसी भाषा के शाब्दिक वलाघात के नियम प्रतिपादित करते हैं, तव हम अक्षरों की वलाघात ग्रहण करने की क्षमता को ही आधार मान कर चलते है। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक है कि "वास्तविक वलाघात" किसी भी संदर्भ विशेष में अपना स्थान एक अक्षर से दूसरे अक्षर पर परिवर्तित कर सकता है।

3.0 कुछ समय पूर्व तक भाषाविज्ञानियों का विचार था (आज भी कुछ भाषाविज्ञानी एसा मानते ह) कि वक्ता द्वारा उच्चरित वाक्य (या संदेश) को समझने के लिए श्रोता व्याकरणिक तथा शाब्दिक संकेतों को ही आधार मानकर चलता है तथा संदेश को समझने की प्रक्रिया में वलाघात का कोई योगदान नहीं है, क्योंकि वलाघात तो केवल एक "प्रत्यक्षगृहीत इकाई" है जिसे वक्ता किसी विशेष मंतव्य से अपने संदेश में नहीं जोड़ता। इस मत के अनसार वलाघात एक निरर्थक तथा प्रकार्यविहीन इकाई है जो कि श्रोता के संदेश समझने में कोई भी सहायता नहीं करती। वस्तुतः अव यह सिद्ध हो कि चुका है कि बलाघात उच्चारणात्मक तथा ध्वनिक कारणों से उत्पन्न एक तथ्य है तथा वक्ता द्वारा प्रेषित संदेश का एक अर्थपूर्ण तथा अभिन्न अंग है। इस नई खोज के प्रकाश में वलाघात के वास्तविक रूप तथा प्रकार्य को समझना सहज हो जाता है। श्रोता अपनी भाषा के शाब्दिक वलाघात के नियमों को उसी प्रकार सहज ही ग्रहण कर चुका होता है जिस प्रकार वह भाषा के व्याकरणिक नियमों को ग्रहण कर लेता है। जव वह कोई नया वाक्य सुनता है तो यह अनुमान नहीं लगा सकता कि वलाघात वास्तव में किन-किन अक्षरों पर होगा, इस कारण उसे पूरे ध्यान से नया वाक्य सुनना पड़ता है। तभी वह यह निर्णय कर सकता है कि वलाघात किस-किस अक्षर पर है। वक्ता जिस शब्द या शब्दांश को अधिक महत्त्वपूर्ण अथवा "सूचनापूर्ण" मानता है उसी पर वलाघात डालता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वलाघात निरर्थक नहीं अपितु सार्थक इकाई है तथा वक्ता द्वारा प्रेषित संदेश का महत्त्वपूर्ण सूचनात्मक अंग है। उदाहरण के लिए हिंदी के दो वाक्य लीजिए :

1. जहाज उड़ा (ˈJəhaz ˈUɽa)—सामान्य निश्चयार्थक

2. जहाज उड़ा (Jəˈhaz ˈUɽa)—आज्ञार्थक

इन दोनों वाक्यों में शाब्दिक तथा व्याकरणिक सूचना संकेत एक ही हैं किंतु बला-घात के स्थान-परिवतन के कारण दोनों वाक्यों के अथ भिन्न ह । पहले वाक्य में केवल किसी जहाज के उड़ने की चर्चा की गई है, किंतु दूसरे वाक्य में किसी व्यक्ति-विशष को जहाज़ उड़ाने का आदेश है । इस अर्थ-भिन्नता का संकेत मिलता है वला घात के स्थान-परिवर्तन से । पहले वाक्य में "उड़ा" शव्द के प्रथमाक्षर पर बला-घात है किंतु दूसरे वाक्य में वलाघात इसी शव्द के दूसरे अक्षर पर है । इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वलाघात एक सार्थक तथा प्रकार्यात्मक इकाई है ।

4.0 वलाघात की प्रकृति तथा उसके प्रकार्य के संवंध में उपर्युक्त विवेचन के वाद ही अव हिंदी के शाब्दिक वलाघात के विषय को लेना उचित है । उपर्युक्त विवेचन से यह वात तो स्पष्ट हो गई है कि जव किसी भाषा के शाब्दिक वलाघात के नियम दिए जाते हैं तो वे नियम अक्षरों की वलाघात ग्रहण करने की क्षमता पर आधारित होते हैं, न कि अक्षरों के वास्तविक वलाघात पर । कई संदर्भों में "क्षमता" तथा "वास्तविकता" में अंतर हो सकता है ।

4.1 यह आश्चर्य का विषय ही तो है कि जव हिंदी भाषा के अन्य पहलुओं पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से काफ़ी कार्य किया जा चुका है, शाब्दिक वलाघात का विषय एक तरह से कोरा ही रहा है । हिंदी शाब्दिक वलाघात पर कोई भी "पूर्ण" भाषावैज्ञानिक विश्लेषण उपलव्ध नहीं है । यत्र-तत्र अन्य संदर्भों में हिंदी के शाब्दिक वलाघात का वर्णन मिलता है जो कि या तो "अपूर्ण" है अथवा त्रुटिपूर्ण तथा भ्रामक । हिंदी वलाघात के नियम देने का पहला सुविचारित प्रयत्न किया आर्येंद्र शर्मा ने (1958) । तत्पश्चात् कुछ और प्रयत्न किए गए, जैसे कि महरोत्रा (1960), चतुर्वेदी (1966), तिवारी (1966) तथा केलकर (1968) । इनमें से केलकर का प्रयत्न ही सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । प्रस्तुत लेख में केवल आर्येंद्र शर्मा तथा अशोक केलकर के प्रयत्नों का ही विवेचन किया जाएगा । ये दोनों "स्वनिक शव्द" को आधार मान कर वलाघात के नियम देते हैं, जव कि एक और लेख में रुदिन तथा श्रीवास्तव (1958) "स्वनिमिक शव्द" को आधार मानते हैं तथा व्याकरणिक संकेतों का भी उपयोग करते हैं । केलकर तथा आर्येंद्र शर्मा के नियमों के विवेचन के पश्चात् उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों का तुलनात्मक विवेचन किया जाएगा ।

4.2 भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय द्वारा प्रकाशित पुस्तक "ए वेसिक ग्रामर ऑफ हिंदी" (1958) में आर्येंद्र शर्मा ने हिंदी में शाब्दिक वलाघात के कुछ नियम दिए हैं । शर्मा के अनुसार हिंदी में अक्षर दो प्रकार के होते हैं— ह्रस्व तथा दीर्घ । ह्रस्व अक्षर वे हैं जिनमें अंत्य स्वर ह्रस्व हो । दीर्घ अक्षर वे हैं जिनमें अंत्य स्वर दीर्घ हो अथवा एक ह्रस्व स्वर के उपरांत एक या एक से अधिक व्यंजन हों, अथवा एक दीर्घ स्वर के उपरांत एक या एक से अधिक व्यंजन हों । शर्मा द्वारा दिए गए वलाघात के नियम निम्नलिखित हैं :—

1. एक शव्द में एक ही अक्षर पर वलाघात होता है ।
2. यदि शव्द के दो या दो से अधिक अक्षरों में से केवल एक ही दीर्घाक्षर है तो उसी पर वलाघात होगा ।

उदाहरण :—

चिता (CiTa), इंदु, (Indu), अनुमेय (ənUmeyə) तथा अनुभवी (ənUbhəvi) इत्यादि ।

3. यदि शब्द में एक से अधिक दीर्घाक्षर हैं तो उपांत्य दीर्घाक्षर पर बलाघात होगा ।

उदाहरण :—

जाना (Jana), किराया (Kiraya), इंद्राणी (Indrani), इत्यादि । इस प्रकार बलाघात निर्धारित करने में ह्रस्व अक्षरों को छोड़कर ही दीर्घाक्षर का स्थान देखा जाएगा ।

4. यदि शब्द में केवल ह्रस्व अक्षर ही हैं तो उपांत्य ह्रस्व अक्षर पर बलाघात होगा ।

उदाहरण :—

रुचि (rUci), सुरभि (SUrəbhi), सुरुचि (SUrUci), इत्यादि ।

4.3 केलकर ने अपनी पुस्तक (1968) में ह्रस्व तथा दीर्घ अक्षर के तत्त्व को गुरुत्व की धारणा से संबद्ध करके बलाघात के नियम दिए हैं । उनके अनुसार हिंदी में तीन प्रकार के अक्षर होते हैं । लघु, मध्यम तथा गुरु । इस वर्गीकरण में लघु अक्षर तो वे ही हैं जिन्हें शर्मा ने ह्रस्व अक्षर कहा है । (देखिए ऊपर 4.2), मध्यम अक्षर वे हैं जिनमें अंत्य स्वर दीर्घ हो अथवा एक ह्रस्व स्वर के पश्चात् एक व्यंजन हो । शेष सब अक्षर गुरु वर्ग में आते हैं । केलकर द्वारा दिए गए बलाघात के नियम निम्नलिखित हैं ।

(1) यदि शब्द में केवल एक ही महत्तम गुरु अक्षर है तो उस पर बलाघात होगा ।

(2) यदि शब्द में एक से अधिक महत्तम गुरु अक्षर हों तो इन अक्षरों में से उपांत्य अक्षर पर बलाघात होगा ।

उपर्युक्त नियमों के अनुसार कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं :—

मन (mən), किधर (KIdhər), जनाब (Jənab) साँवला (Savla), समिति (Səmiti), संस्कार (Sənskar) इत्यादि ।

4.4 शर्मा तथा केलकर के नियमों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि केलकर का अक्षरों का त्रिवर्गीय विभाजन बलाघात के नियमों को अधिक सरल तथा सुव्यवस्थित बना देता है। साथ ही मध्यम तथा गुरु अक्षरों में अंतर करने से एक से अधिक दीर्घाक्षरों वाले शब्दों में बलाघात निर्धारित करने की प्रक्रिया को भी सरल बना देता है। शर्मा के द्विवर्गीय विभाजन में मध्यम तथा गुरु अक्षरों में कोई भेद न होने के कारण शाब्दिक बलाघात निर्धारित करने में कठिनाई होती थी जो कि केलकर के त्रिवर्गीय विभाजन से दूर हो गई है। इसका यह अर्थ नहीं कि केलकर के नियमों में कोई भी त्रुटि नहीं है। उदाहरण के लिए केलकर के अनुसार यदि एक शब्द में मध्यम तथा गुरु अक्षर हों तो बलाघात गुरु अक्षर पर होगा। किंतु कई हिंदी शब्द ऐसे हैं जिन पर यह नियम लागू नहीं होता, जैसे "मांधाता", "गांधारी" इत्यादि। इन शब्दों में बलाघात मध्यम अक्षर पर है, न कि गुरु अक्षर पर। वस्तुत: इस प्रकार की त्रुटि होने पर भी केलकर के नियम ही अधिकाधिक हिंदी शब्दों में बलाघात का नियमन कर देते हैं।

5.0 केलकर तथा शर्मा के बलाघात संबंधी नियमों में जो सबसे बड़ी त्रुटि है वह यह कि ये दोनों 'स्वनिक शब्द' को ही आधार मानते हैं। इन्होंने स्वनिमिक शब्दों की ओर किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं दिया है। यह त्रुटि रुदिन तथा श्रीवास्तव के अप्रकाशित लेख (1958) में नहीं दिखाई देती। इस लेख में 'स्वनिमिक शब्द' को आधार मानकर ही बलाघात के नियम बनाए गए हैं। साथ ही बलाघात के नियम बनाते समय व्याकरणिक संकेतों को भी ध्यान में रखा गया है। भिन्न-भिन्न संदर्भों में एक ही शब्द में बलाघात का स्थान-परिवर्तन ही अर्थ-परिवर्तन का द्योतक होता है। रुदिन तथा श्रीवास्तव ने उन शब्दों का भी अध्ययन किया है, जिनमें या तो प्रत्यय लगे हों अथवा जो संयुक्त शब्द हों। निम्नलिखित कुछ उदाहरण देखिए :—

1. 'चाल ढाल,' 'नक कटा,' 'किताब फरोश' इत्यादि।

इन संयुक्त शब्दों में दूसरे भाग पर प्राथमिक बलाघात होता है जब कि प्रथम भाग पर गौण बलाघात।

2. किसी भी शब्द के साथ 'कर' लगने पर भी बलाघात का स्थान-परिवर्तन हो जाता है। जैसे :—

बना (ˈbəna), किंतु बनाकर (bəˈna+ker)

सुना (ˈsUna), किंतु सुनाकर ('sUˈna+Kər)

6.0 तात्पर्य यह है कि शर्मा तथा केलकर के प्रयत्न सराहनीय होते हुए भी त्रुटिपूर्ण हैं। अभी हिंदी शाब्दिक बलाघात पर काफ़ी अर्थपूर्ण तथा उपयोगी भाषावैज्ञानिक कार्य किया जा सकता है। इसके लिए हमें निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिए :—

(1) बलाघात केवल एक प्रत्यक्ष गृहित इकाई ही नहीं है, अपितु जो कुछ हम बलाघात के रूप में सुनते हैं वह कई कारणों से उत्पन्न ध्वनिक तथ्य है। ये कारण हैं स्वर-गुण, स्वराघात-स्तर, कालमात्रा तथा तीव्रता।

(2) बलाघात एक निरर्थक इकाई नहीं है। वह तो भाषा में किसी भी संदेश को समझने के लिए एक प्रकार्यात्मक तथा सार्थक इकाई का काम करती है।

(3) शब्द-बलाघात के नियम बनाते समय अक्षर की बलाघात ग्रहण करने की क्षमता तथा अक्षर पर वास्तविक बलाघात के अंतर को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। शाब्दिक बलाधात से संबंधित नियम केवल अक्षर की बलाघात ग्रहण करने की क्षमता पर ही आधारित होने चाहिए।

(4) शाब्दिक बलाघात के सुव्यवस्थित तथा सरल नियम बनाने के लिए "स्वनिमिक शब्द" को आधार मानना चाहिए न कि "स्वनिक शब्द" को।

(5) शाब्दिक बलाघात के नियम देने के पूर्व व्याकरणिक संकेतों का अध्ययन भी अपेक्षित है जिससे कि प्रतिपादित नियम बलाघात की वास्तविक प्रकृति तथा प्रकार्यक्षमता का बोध करा सकें तथा व्यापक रूप से बलाघात के प्रयोग का सरलतापूर्वक वर्णन कर सकें।

* * *

संदर्भ ग्रंथ सूची :

एबरक्रॉम्बी, डी० (1967), एलिमेंट्स ऑफ जनरल फोनेटिक्स, शिकागो : ऐलडाइन।

बोलिन्ज़र, डी० एल० (1958), ए थ्योरी ऑफ पिच ऐक्सेंट इन इंगलिश, वर्ड 14 : 109-49

चतुर्वेदी, एम० जी० (1969) ए कंट्रास्टिव स्टडी ऑफ हिंदी-इंगलिश स्ट्रैस ऐक्सट, भाषा शिक्षण तथा भाषाविज्ञान, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।

चॉम्स्की तथा हाले, (1968) साऊंड पैटर्न ऑफ इंगलिश, न्यूयार्क : हार्पर एंड रो।

कोलमैन, एच० ओ० (1914) इंटोनेशन एंड ऐम्फैसिस, मिसलेनिया फोनेटिका 1:6-26

फ्रॉमकिन, वी० तथा पी० लाडेफोजेड (1959) इलेक्ट्रोमायोग्राफी इन स्पीच रिसर्च, फोनेटिका 15 : 219 : 42

केलकर, अशोक, आर० (1968), स्टडीज़ इन हिंदी-उर्दू, पार्ट I, पूना।

लाडेफोजेड, पी० (1967) थ्री एरियाज़ ऑफ ऐक्सपैरिमैंटल फोनेटिक्स, ओ० यू० पी०, लंदन।

लाइवरमैन, पी० (1967) इंटोनेशन, परसप्शन एंड लग्वेज, कैंब्रिज, एम० आई० टी० प्रेस ।

मैटिंगले, आई०जी० (1966), सियासिस वाई रूल ऑफ प्रॉज़ोडिक फीचर्ज़, लैंग्वेज एंड स्पीच 9 : 1 : 13

मेहरोत्रा, आर० सी० (1960), हिंदी में बलाघात और सुरलहर, राजर्षि अभिनंदन ग्रंथ, पृ० 453

मायस्कन्ज़, जे० एच० (1932) एन एनेलिसिस ऑफ़ ऐक्सेंट इन इंगलिश फ्राम काइमोग्राफ रिकॉर्ड्ज़, वॉक्स 17 : 2 : 55-65

ओहाला, जॉन (1970), आस्पेक्ट्स ऑफ़ द कंट्रोल एंड प्रोडक्शन ऑफ स्पीच, यू० सी० एल० ए० वर्किंग पेपर्ज़ इन फोनेटिक्स ।

रूबिन, एच० जे० (1963) एक्सपैरिमटल स्टडीज़ ऑन वोकल पिच एंड इंटैंसिटि इन फोनेशन, लैरिंगोस्कोप 73 : 973–1015

रुदिन तथा श्रीवास्तव (1958) सम फोनेटिक प्रॉबलेम्ज़ ऑफ़ हिंदी लैंग्वेज, वोस्तोकोवेदेनिया 13 : 232 : —65

स्कॉट, एन० सी० (1939) एन एक्सपैरिमेंट ऑन स्ट्रेस परसेप्शन, ले मेत्र फोनेतीक 1939 : 44–45

शर्मा, आर्येंद्र (1958) ए बेसिक ग्रामर ऑफ हिंदी, शिक्षा-मंत्रालय, नई दिल्ली ।

स्टैटसन, आर० एच० (1951) मोटर फोनेटिक्स, एमस्टरडम ।

तिवारी, बी० एन० (1966) हिंदी भाषा, किताब महल, इलाहाबाद ।



हिंदी स्वनविज्ञान में महाप्राणत्व की समस्या

मंजरी ओहाला
जौन ओहाला

प्रस्तावना :

हिंदी तथा कुछ अन्य आर्य भाषाएं (जैसे मराठी) दुनिया की भाषाओं में अनोखी हैं क्योंकि उनमें अघोष तथा सघोष दोनों प्रकार के स्पर्श व्यंजनों में अल्प-प्राण तथा महाप्राण का विरोध पाया जाता है, अर्थात् "प" "फ" "ब" "भ" ये चारों विरोध में हैं (हम पवर्ग का उदाहरण दे रहे हैं, लेकिन ये बातें बाकी वर्गों के स्पर्श व्यंजनों के लिए भी सही हैं)। इन महाप्राण व्यंजनों के ठीक-ठीक शारीरिक संबंधों का पता लगाना भाषाविज्ञानियों के लिए कई सौ सालों से कौतुक का विषय रहा है। इस लेख में हम हिंदी के महाप्राण व्यंजनों के बारे में चॉम्स्की और हाले (Sound Patterns of English, 1968) के कुछ प्रस्तावों की परीक्षा करेंगे।

समस्या :

हिंदी का दृष्टांत देते हुए चॉम्स्की और हाले कहते हैं कि काकल के नीचे का बढ़ा हुआ वायु-दबाव महाप्राण (दोनों अघोष तथा सघोष) व्यंजनों का आवश्यक लक्षण है। अघोष अल्पप्राण व्यंजनों (अर्थात "प" आदि) का भी यह लक्षण हो सकता है, लेकिन इनके लिए यह आवश्यक लक्षण नहीं है। सघोष अल्पप्राण व्यंजन अर्थात् "ब" आदि के लिए काकल के नीचे के बढ़े हुए वायु-दबाव की अनुपस्थिति आवश्यक है।

काकल के नीचे के बढ़े हुए वायु-दबाव को अनाश्रित लक्षण मानने के लिए चॉम्स्की और हाले को यह स्वीकार करना पड़ा है कि काकल के नीचे के वायु-दबाव का बढ़ना स्वर-तंत्री या स्वर-तंत्री से ऊपर के उच्चारण-अवयवों से प्रभावित नहीं है। चॉम्स्की और हाले के अनुमान की जांच हमने आगे लिखे तरीके से की है :—

प्रायोगिक विधि :

एक हिंदी मातृभाषी (सूचक मंजरी ओहाला थीं) के काकल के नीचे के वायु-दवाव का निरीक्षण हिंदी के कुछ चुने हुए वाक्यों को बोलते समय किया गया। इस निरीक्षण के लिए एक बड़ी सुई (सुई का अंदरी व्यास 0.8 मिलीमीटर था) सूचक की क्राइकोथाइरौइड झिल्ली के भीतर से कंठनली में घुसाई गई। सुई का जो हिस्सा कंठनली में था वह स्वर-तंत्री से एक सेंटिमीटर नीचे था (चित्र 1 देखिए)। कंठनली में सुई लोकल एनस्थेटिक देकर डॉक्टर हाजिमे हिरोसे ने घुसाई।[1] सुई का बाहरी हिस्सा, अर्थात् जो हिस्सा गले के बाहर था, एक प्रेशर ट्रान्स्ड्यूसर से जोड़ा गया, और इस ट्रान्स्ड्यूसर से बिजली का सिगनल FM टेपरिकार्डर पर अभिलेखित किया गया। इस टेपरिकार्डर पर सूचक की आवाज़ भी माइक्रोफ़ोन द्वारा अभिलेखित की गई। ये अभिलेखित सिगनल बाद में स्याही से लिखने वाले ओसिलोग्राफ़ द्वारा कागज़ पर लिखे गए।[2]

हिंदी के जिन निरर्थक वाक्यों का इस अध्ययन में प्रयोग किया गया, वे नीचे तालिका में दिए गए हैं :—

तालिका

1.	वो आमा लाया	(1)
2.	लाला लाभ आया	(3)
3.	लाला माल आया	(2)
4.	लाला पाल आया	(2)
5.	लाला लाह् आया	(3)
6.	लाला भाल आया	(3)
7.	वो आवा लाया	(3)
8.	वो आफा लाया	(3)
9.	वो आभा लाया	(2)
10.	वो आपा लाया	(1)
11.	वो आला लाया	(1)
12.	लाला लाफ आया	(3)
13.	वो आहा लाया	(2)
14.	लाला हाल आया	(3)
15.	लाला लाम आया	(4)
16.	लाला लाव आया	(3)

17. लाला लाप आया (3)

18. लाला वाल आया (2)

19. लाला फाल आया (5)

इन वाक्यों की रचना इस प्रकार की गई है कि "प", "फ", "व", "भ", "म", "ल" और "ह" ये स्वन शब्द के आदि, मध्य तथा अंत—तीनों स्थानों में हों तथा इनके आगे तथा पीछे "आ" स्वर हो। इन वाक्यों का तालिका में दिया हुआ क्रम रैंडोमाइज्ड क्रम है। इन वाक्यों को पाँच वार दुहराया गया। रिकार्डिंग के वाद हमे पता चला की कभी-कभी सुई के छेद में कफ़ भर जाने के कारण इन वाक्यों के कुछ उदाहरण हमारे काम के लायक नहीं हैं। ऊपर दी हुई तालिका में हर एक वाक्य के वाद दिए हुए नंवर से संकेतित किया गया है कि उस वाक्य के पाँच में से कितने उदाहरण काम के निकले। उदाहरणार्थ वाक्य नंवर दो के तीन उदाहरण ठीक थे।

नतीजा :

कुछ नतीजों के लिए चित्र 2 को देखिए। हम देखते हैं कि महाप्राण व्यंजनों के अवरोध के समय कभी-कभी काकल के नीचे का वढ़ा हुआ वायु-दवाव मिलता तो है (चित्र 2 B के चिह्न 3 को देखिए) लेकिन स्थिर रूपसे नहीं, अर्थात हमेशा नहीं मिलता (चित्र 2A के चिह्न 1 को देखिए)। सिर्फ इतना ही नहीं, काकल के नीचेका वढ़ा हुआ वायु-दवाव कभी-कभी सघोष अल्पप्राण "व" के लिए भी मिलता है (चित्र 2 C के चिह्न 5 को देखिए) जवकि चॉम्स्की और हाले के अनुसार नहीं मिलना चाहिए। "भ" तथा "फ" के प्रसंग में जो विशेषता हमें हमेशा दिखाई दी वह यह है कि अवरोध के उन्मोचन के समय काकल के नीचे का वायु-दवाव एकाएक घट जाता है। (देखिए चित्र 2 A और 2 B के चिह्न 2 और 4), और इसी तरह का वायु-दवाव का घट जाना हमें हमेशा "ह" के उच्चारण में भी मिला। वाकी अंशों में हमारी आधार सामग्री अन्य भाषाओं के लिए जो सामग्री प्राप्त हुई है, उससे मिलती-जुलती है।[3]

व्याख्या :

चॉम्स्की और हाले का कथन कि काकल के नीचे का वढ़ा हुआ वायु-दवाव महाप्राण व्यंजनों का आवश्यक लक्षण है, प्रमाणित नहीं हुआ। सच तो यह है कि महाप्राणत्व के समय, अर्थात् अवरोध के उन्मोचन के समय वायु-दवाव घट जाता है। और यही वात "ह" (जिसका लक्षण मुख से अधिक वायु-प्रवाह है) के लिए भी सही है। इतना ही नहीं, काकल के नीचे का वढ़ा हुआ वायु-दवाव हमें अस्थिरता से (अर्थात् कभी-कभी) महाप्राण व्यंजन तथा सघोष अल्पप्राण "व" दोनों ही के अवरोध के समय मिलता है, जवकि "व" के लिए चॉम्स्की और हाले का स्पष्ट कथन है कि यह वढ़ा हुआ वायु-दवाव नहीं मिलना चाहिए।

असल में हमें चॉम्स्की और हाले के उपर्युक्त कथन कुछ विचित्र से लगते हैं क्योंकि पुराने या नए किसी भी स्वन विज्ञान-साहित्य से यह आभास नहीं होता कि काकल के नीचे का वढ़ा हुआ वायु-दवाव महाप्राणत्व का लक्षण है। इसके विपरीत अंग्रेजी के अघोष महाप्राण तथा सघोष स्वनों के काकल के नीचे के वायु-दवाव के

हाल में किए गए दो अध्ययनों में यह दिखाया गया है कि इन दोनों प्रकार के स्वनों के (अघोष महाप्राण तथा सघोष अल्पप्राण के) उच्चारण के समय काकल के नीचे के वायु-दवाव में कोई विशेष अंतर नहीं है ।[4]

हमारे विचार में महाप्राण व्यंजनों के साथ मिलने वाले वढ़े हुए वायु-प्रवाह का कारण काकल के नीचे की श्वासेंद्रिय की वढ़ी हुई कार्रवाई नहीं है अपितु इसका कारण यह है कि महाप्राण व्यंजनों के उच्चारण में (अन्य स्वनों के उच्चारण के असदृश) एक समय ऐसा आता है जव कि फेफड़ों की दवाव-युक्त वायु को निकलने में वहुत कम रुकावट मिलती है । अवरोधी व्यंजनों के उच्चारण में वायु मुंह में अवरोध के द्वारा रोकी जाती है, और सामान्य घोषत्व के समय—जैसे कि स्वरों तथा अवरोधी व्यंजनों के समय—हवा स्वरतंत्री द्वारा आंशिक रूप में रोकी जाती है । किंतु "ह" के उच्चारण में तथा महाप्राण व्यंजनों के स्फोट के समय एक पल ऐसा आता है जव कि मुंह में कोई अवरोध नहीं होता और स्वर-तंत्री का अवरोध भी सामान्य घोषत्व के समय के अवरोध से वहुत कम होता है । इस तरह से जव फेफड़ों की हवा को इतनी कम रुकावट मिलती है तो वह वहुत तेज़ी से वाहर निकलती है, और इस वजह से फेफड़ों का वायु-दवाव क्षण भर के लिए घट जाता है ।

स्पर्श व्यंजनों के अवरोध के समय कभी-कभी जो काकल के नीचे का वढ़ा हुआ वायु-दवाव मिलता है, उसका कारण भी हम काकल के नीचे की श्वासेंद्रिय की वढ़ी हुई कार्रवाई को विना स्वीकृत किए वतला सकते हैं । मान लीजिए कि काकल के नीचे की श्वासेंद्रियों का कार्य फेफड़ों की हवा को भरसक स्थिर दवाव देना है। लेकिन कुछ हवा फेफड़ों में से हमेशा छूटती रहती है—कम से कम अन-वरोधी व्यंजनों तथा स्वरों के समय—इसलिए इस दवाव को स्थिर रखने के लिए छाती के आयतन को समान रूप से घटते रहना पड़ता है। लेकिन जव हवा विल्कुल रोक दी जाती है, जैसे कि स्पर्श व्यंजनों के अवरोध के समय, तव फेफड़ों के आय-तन का घटते रहना काकल के नीचे के वायु-दवाव को क्षण भर के लिए वढ़ा देता है।

निष्कर्ष :

"ह" तथा महाप्राण व्यंजनों का भेदक लक्षण चॉम्स्की और हाले द्वारा प्रस्तावित काकल के नीचे का वढ़ा हुआ वायु-दवाव नहीं है, वल्कि इनका भेदक लक्षण है, इनके उच्चारण में स्वर-तंत्री में प्रतिरोध की कमी के साथ-साथ ही मुंह में भी अवरोध का न होना । कभी-कभी स्पर्श व्यंजनों के अवरोध के समय—चाहे वे महाप्राण हों या नहीं—जो काकल के नीचे का वढ़ा हुआ वायु-दवाव मिलता है उसका कारण भी हम काकल के नीचे की श्वासेंद्रिय की वढ़ी हुई सक्रियता का सहारा लिए विना ही वता सकते हैं । ⊙

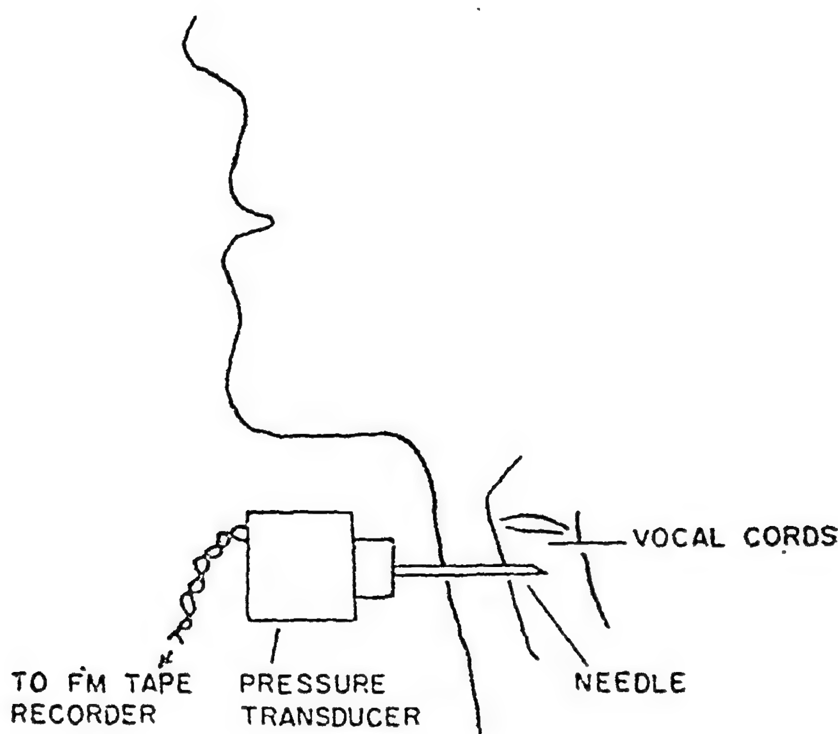
पाद-टिप्पणियां :

1. इस सहायता के लिए हम डाक्टर हिरोसे, (Research Institute of Logopedics and Phoniatrics, University of Tokyo से संवंधित मेडिकल डाक्टर) के वहुत आभारी हैं ।

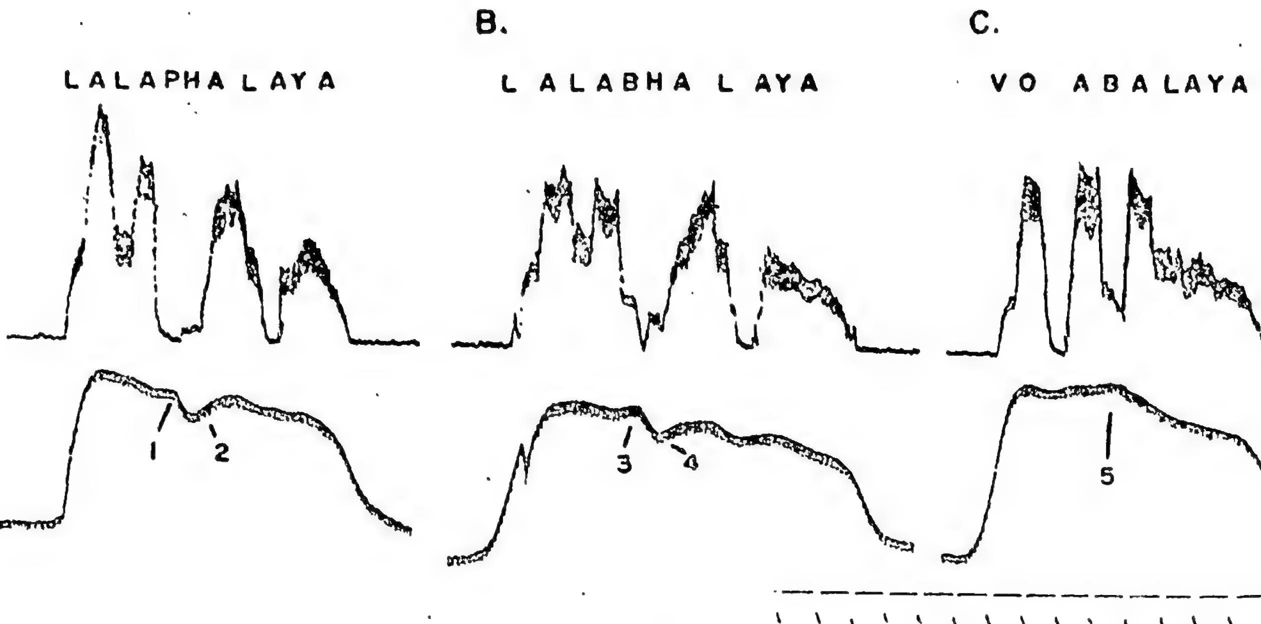
2. यह ओसिलोग्राफ फोनोलोजी लेबोरेट्री, केलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में है, तथा इसके इस्तेमाल की सहायता के लिए हम रोबर्ट क्रोनस के बहुत आभारी हैं ।

3. देखिए : J. Ohala (1970) Aspects of the Control and Production of Speech, Working papers in Phonetics No. 15 UCLA.

4. McGlone and Shipp (1971) Comparison of subglottal air pressures associated with/p/and/b/Journal of the Accoustic Society of America; Netsell (1969) Subglottal and intra oral air pressures during the intervocalic contrast of/t/and d/ Phonetica).



चित्र 1 : इस अध्ययन के प्रयोग में इस्तेमाल किए गए सा न : काकल के नीचे का वायु-दबाव सूचक की क्राकोथाइरोइड झिल्ली के भीतर से कंठ नली में घुसाई हुई बड़ी सुई द्वारा अभिलेखित किया गया। सुई का बाहरी हिस्सा एक प्रेशर ट्रान्स्ड्यूसर से जोड़ा गया और इस ट्रान्स्डयूसर से सिगनल FM टेपरिकार्डर पर अभिलेखित किया गया ।



चित्र 2—इस अध्ययन में प्राप्त हुए संकेत। ऊपर—माइक्रोफ़ोन का rectified और integrated audio signal है। नीचे–काकल के नीचे का वायु-दबाव। वाक्य है : (A) : लाला फाल आया। (B) : लाला भाल आया। (C) : वो आवा लाया।

हिंदी में संहिता

कृपाशंकर सिंह

1. उच्चार केवल व्यंजनों, स्वरों और स्वराघातों का सम्मेलन मात्र नहीं है, उसके प्रत्यक्षण के लिए सीमाओं का स्पष्ट होना आवश्यक होता है। सीमाओं की स्पष्टता के अभाव में भाषाई अव्यवस्था की संभावना बढ़ जाती है। स्वन-प्रक्रियात्मक व्यवस्था में सीमाओं को संकेतित करने वाले तत्त्वों को सीमा-संकेत कह सकते हैं। ये सीमा-संकेत संहिता हैं।

उच्चार के अंत में आने वाली संहिता को अंत्य संहिता कह सकते हैं और इसके तीन भेद[1] हो सकते हैं—(1) उपरिमुखी—जो उच्चार के अंत्य के स्वराघात के ऊँचे उठने से संबंधित है, जैसा कि प्रश्नकथन में सुनाई पड़ता है। जसे, तू कल आई है क्या? (2) अधोमुखी—जो वक्तव्य उच्चारों में मिलता है। जैसे, वे रोज मिनिस्टर से मिल आते हैं। (3) सम—जो उच्चार के अधूरे छोड़ दिए जाने पर दिखाई पड़ता है। जैसे, जल-सा स्थिर...। इन अंत्य संहिताओं के लिए आमतौर पर क्रमशः /‖/, /#/ तथा /|/ चिह्नों का प्रयोग किया जाता है।

इन तीन प्रकारों के अतिरिक्त संहिता का एक और प्रकार है जिसका प्रयोग उच्चार के मध्य में होता है। इसे आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता या अवग्रह कह सकते हैं। यहाँ इसी आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता को स्वनिम के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके द्योतन के लिए /+/ चिह्न का प्रयोग होता है।

2. यहाँ इस बात की ओर संकेत कर देना असामयिक न होगा कि भाषा-विज्ञानियों में संहिता के नाम और प्रयोग की सीमाओं को लेकर कहीं-कहीं मतभेद दिखाई पड़ता है। संभवतः जार्ज एल० ट्रेगर ने सबसे पहले संहिता अर्थ में "जंक्चर" शब्द का प्रयोग 1939 में बर्नार्ड ब्लाख के साथ एक पत्र-व्यवहार में किया था।[2] बाद में बर्नार्ड ब्लाख और ट्रेगर ने अपने एक निबंध[3] में "जंक्चर" के लिए "ट्रान्जिशन" शब्द भी प्रयुक्त किया था, और इसके चिह्न के रूप में "हाइफन" देकर इसे "हाइफन जंक्चर" कहा था। ब्लाख और ट्रेगर

की पुस्तक[4] में "जंक्चर" को तीसरे प्रकार का स्वनगुणिमिक अभिलक्षण माना गया है और इसे स्वनिम के रूप में विप्रकृष्ट संहिता कहा गया है। सन्निकृष्ट संहिता को व्यतिरेक में ग्रहण करके इसे "ट्रान्जिशन" कहा गया। बाद में ट्रेगर ने इसे "प्लस जंक्चर स्वनिम" कहा और इसके द्योतन के लिए + चिह्न का प्रयोग किया।

हाकेट[5] ने "शार्प ट्रांजिशन" और "मडी ट्रांजिशन" में व्यतिरेक को दिखाते हुए, बृहत् खंड के मध्य शार्प ट्रांजिशन मिलने पर उसे "जंक्चर" कहा है और इस स्वनिम को व्यक्त करने के लिए + चिह्न का व्यवहार किया है।

हिल[6] ने अंत्यसंहिता के तीन भेद अप टर्न, डाउन टर्न और लेवल के रूप में किए हैं और फ़्रेज के मध्य में आने वाली संहिता को आंतरिक या घन संहिता का नाम दिया है। + चिह्न द्योतक के रूप में माना है।

ए० ई० शार्प[7] ने पूर्वविराम और परविराम स्थितियों को वाह्य विप्रकृष्ट संहिता और मध्य के विराम को आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता कहा है। वाह्य विप्रकृष्ट संहिता ही तीन अंत्य संहिताओं के रूप- में व्यवहृत होती है। शार्प ने आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता को केवल "जंक्चर" या "प्लस जंक्चर" भी कहा है।

गंपर्ज[8] के अनुसार उच्चार में दो तरह की संहिताएँ मिलती हैं— "नार्मल ट्रांजिशन" और "वर्ड जंक्चर"। वर्ड जंक्चर एक खंड से दूसरे पर जाने के दौरान थोड़े विराम या हल्की झिझक को व्यक्त करता है।

3. संहिता और अक्षरविभाजन—ऊपर से देखने पर ऐसा भी लग सकता है कि संहिता के अल्पतम युग्मों के अंतर का रहस्य अक्षर-विभाजन में निहित है। अर्थात् कुछ स्वन युग्म के एक भाग में जिस अक्षर के साथ होते हैं, दूसरे भाग में दूसरे अक्षर के साथ जुड़ जाते हैं और इस तरह दोनों भागों में अंतर दिखाई पड़ता है। यह व्याख्या अपने ढंग से सही होने पर भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि युग्म के एक भाग से दूसरे भाग में स्वनों के स्थानांतरण में स्वनों की समयवृद्धि को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। इसी से संहिता विवेचित होती है।

4. अल्पतम युग्म—हिंदी में आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता की स्थिति स्वनिमीय है। आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता और उसकी अनुपस्थिति का व्यतिरेक निम्नलिखित है :—

4.1 व्यंजन और स्वर के मध्य मिलने वाली संहिता—

(1) पार्श्विक+स्वर / ल+आ /

1. वे रोज मिनिस्टर से मिल+आते हैं।
वे लेफ्ट राइट करते कदम से कदम मिलाते चल रहे थे।

2. अब तू दौड़ कर बाहर निकल+आ ।
दौड़ कर बाहर निकला तो देखता हूँ कि बेशुमार लोगों की प्रभात फेरी निकली है ।

(2) लोड़ित+स्वर / ड़+आ /

3. तू किससे लड़+आया ?
तूने किसे लड़ाया ?
/ढ़+आ /

4. सेना जानबूझ कर बढ़+आई है ।
कीमतें जानबूझकर बढ़ाई गई हैं ।

(3) कंपित+स्वर / र+आ /

5. शिकार+आ पड़ा है ।
टूटा शिकारा पड़ा है ।

(4) संघर्षी+स्वर / स+आ /

6. तुम खूब हँस+आया करो ।
तुम खूब हँसाया करो ।

(5) नासिक्य+स्वर / म+आ /

7. हम+आरा लिए हैं ।
हमारा घर आप ने लिया है ।

(6) स्पर्श+स्वर / क+आ /

8. परदा अपने आप सरक+आया ।
उसने धीरे से परदा सरकाया ।
/ ग+आ /

9. घास फिर से उग+आई है ।
घास फिर से उगाई है ।
/ झ+आ /

10. पहले तुम स्वयं समझ+आया करो ।
उसे तुम स्वयं समझाया करो ।

4.2 व्यंजन और व्यंजन के मध्य मिलने वाली संहिता--

(1) पार्श्विक+संघर्षी / ल+स /

11. जल+सा स्थिर लग रहा है ।
जलसा स्थिर लग रहा है ।

(2) पार्श्विक+स्पर्श / ल+क /

12. हल+की मूंठ ठीक है ।
हलकी चोट ठीक है ।

(3) नासिक्य+स्पर्श / न+क /

13. उन+काम तलब लोगों से कुछ न कहो ।
उनका मतलब क्या था, कुछ न कहो ।
/ म+ब /

14. सम+बल वालों की लड़ाई ही अच्छी होती है ।
संबल देने वालों की उन्हें तलाश है ।

(4) स्पर्श+स्पर्श /ख+त /

15. देख+ताऊ तू नाहक बीच में मत पड़ ।
ठहर! तुझ मैं अभी देखता हूँ ।

4.3 **स्वर और अर्धस्वर के मध्य मिलने वाली संहिता—**
स्वर+अर्धस्वर / ई+य /

16. उसने पुस्तक दी+या नहीं ?
यह दीया नहीं है ?

4.4 **स्वर और व्यंजन के मध्य मिलने वाली संहिता—**
स्वर+कंपित / आ+र /

17. इसी का+रण में कौशल देखने लायक होता है ।
इसी कारण बेटों के जुल्म से क्षुब्ध होकर बापों ने बाप सिंडीकेट की स्थापना की है ।

18. इसका+रणनीति पर बुरा असर पड़ेगा ।
इस कारण नीति पर बुरा असर पड़ेगा ।●

पाद टिप्पणियाँ :—

1. A. A. Hill—Introduction to Linguistic Structures.
2. SIL Vol. 16, 1962 p. 15.
3. The Syllabic phonemes of English-Lang. 17, 233-46, 1941.
4. Outline of Linguistic Analysis—Baltimore, Md. LSA 1942.
5. A Course in Modern Lingutstics. p. 55.
6. Introduction to Linguistic Structures.
7. The Analysis of Stress and Juncture in English. Trans. ph. Sc. pp. 104-5.

8. The Phonology of a North Indian village dialect; the use of Phonetic data in dialectology—Indian Linguistics 1955.

9. प्रस्तुत निबंध में (च छ ज झ) को तथाकथित स्पर्शसंघर्षी के स्थान पर स्पर्श वर्ग के अंतर्गत माना गया है क्योंकि हिंदी स्वनप्रक्रियात्मक संरचना में इनका वितरण और इनकी बनावट स्पर्शों के लगभग समान है। यदि हम महाप्राण मोचन वाले स्वनों को स्पर्शों के अंतर्गत रख सकते हैं तो स्पर्शसंघर्षी मोचन (affricate release) वाले स्वनों को स्पर्श के अंतर्गत रखने में कोई सैद्धांतिक बाधा दिखाई नहीं पड़ती।

*　　　*　　　*

संदर्भ ग्रंथ-सूची :-

1. A. E. Sharp—The Analysis of stress and juncture in English —Transactions of the Philological Society, 1960.

2. Charles F. Hockett—A Course in Modern Linguistics. The Macmillan Company, New York 1958.

3. Archihald A. Hill—Juncture and Syllable Division in Latin-Language Vol. 30, 1954.

4. — Introduction to Linguistic structures. Harcourt, Brace and Co., New York, 1958.

5. Kenneth L. Pike—Language in Relation to a Unified Theory of the Structure of Human Behaviour—Mouton & Co. the Hague 1967.

6. John J. Gumperz—The Phonology of a North Indian Village Dialect, the use of a Phonetic Data in Dialectology. Indian Linguistics—Suniti Kumar Chatterji jubilee volume, 1955.

7. George L. Trager—Some Thoughts on 'Juncture' SIL vol. 16, No I, 1962.

8. George L. Trager and Bernard Block—The Syllabic Phonemes of English Language 17, 1941.

9. Bernard Block & George L. Trager—Outline of Linguistic Analysis—Baltimore, Md. LSA 1942.

10. Ramesh Chandra Mehrotra—Hindi Phonemes—Indian Linguistics—Baburam Saxena felicitation volume. vol. 25-1964.

हिंदी भाषा के नासिक्य स्वन

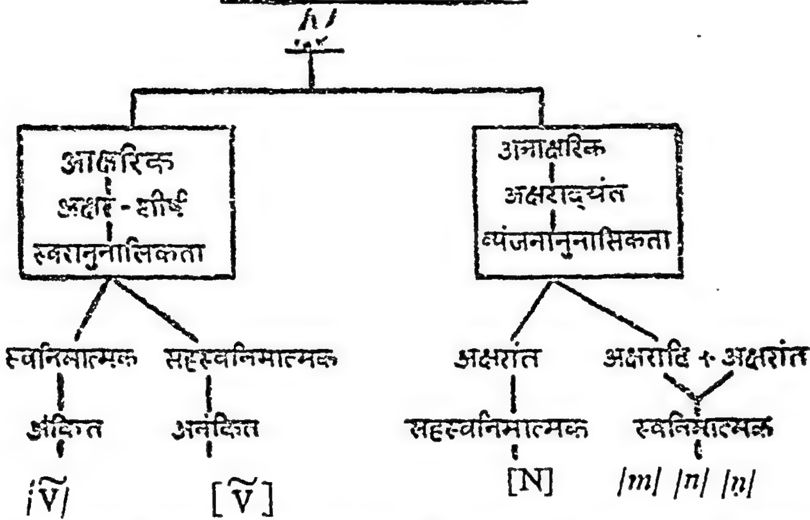
मालारविंदम् चतुर्वेदी

हिंदी संसार की उन भाषाओंमें से एक है जिन में नासिक्य स्वनों का न केवल बाहुल्य है अपितु सामान्य अनुनासिकता एक ऐसा व्यापक तत्त्व है जो भाषा की संरचना के सभी स्तरों पर प्रभावी है । कहने का तात्पर्य यह है कि हिंदी में अनुनासिकता एक ऐसा स्वनिक उपलक्षण है जिसके आधार पर उसकी स्वन-व्यवस्था की विविध इकाइयों का पार्थक्य सिद्ध होता है, साथ ही वह व्याकरणिक प्रक्रिया में प्रभावी है और कोशीय आर्थी स्तर पर भी महत्त्वपूर्ण है । दूसरे शब्दों में हिंदी में अनुनासिकता भाषिक अभिव्यक्ति के ऊपरी स्वनिमात्मक स्तर पर व्यतिरेकात्मक होने के साथ-साथ उसकी आंतरिक संरचना की व्याकरणिक प्रक्रिया और आर्थी व्यवस्था की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है । यद्यपि नितांत सतही स्तर पर हिंदी में अनुनासिकता की अभिव्यक्ति केवल स्वनों के नासिक्य उच्चारण तथा लेखन में विशिष्ट लेखिमों के माध्यम से ही होती है, किंतु चूंकि वह स्वनिमों, पदिमों, और शब्दिमों की स्वरूप-सिद्धि और प्रभदन की आधार-भूमि भी है, अतः स्वनप्रक्रिया के साथ-साथ व्याकरण और कोश में भी उसकी सत्ता और महत्ता स्वीकृत की जाती है । शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से भी हिंदी काव्य और काव्यशास्त्रीय परंपरा में नासिक्य स्वनों का विशेष महत्त्व सामान्यतः मान्य है तथा चूंकि हिंदी में अनुनासिकता का अध्ययन स्वन, स्वनिम, पदिम, शब्दिम तथा शैलीगत उपलक्षण के रूप में किया जा सकता है, अतः केवल स्वन-व्यवस्था के संदर्भ में ही नहीं, अपितु उसकी समग्र भाषिक संरचना की दृष्टि से भी नासिक्य स्वनों का विशेष महत्त्व माना जा सकता है ।

आशय यह है कि हिंदी में अनुनासिकता की व्याप्ति तथा महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है यद्यपि इस तथ्य को सभी स्वीकार करते ह, किंतु हिंदी के नासिक्य स्वनों या स्वनिक इकाइयों की संख्या, रूप तथा उनके परस्पर संबंध और वितरण के विषय में विद्वानों में मतभेद है । हाँ, इस विषय में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है कि हिंदी में अनुनासिकता—मूलतः आक्षरिक स्वनिक उपलक्षण —स्वर तथा अनाक्षरिक स्वनिक उपलक्षण—व्यंजन तथा अर्धव्यंजन/स्वर के रूप में प्राप्त होती है जिसका वर्णन आधुनिक भाषावैज्ञानिक दृष्टि से स्वन, उपस्वन,

स्वनिम और रूपस्वन के रूप में किया जा सकता है। वस्तुतः हिंदी में अनुनासिकता घोषत्व, प्राणत्व, आदि स्वनिक उपलक्षणों की तुलना में अधिक व्यापक उपलक्षण है, क्योंकि उसके अभाव-सद्भाव के आधार पर हिंदी स्वन-व्यवस्था की लगभग सभी स्वनिक इकाई-कोटियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। अर्थात् जैसे हिंदी में सानुनासिक/निरनुनासिक स्वर स्वनिम हैं, उसी प्रकार हिंदी में सानुनासिक/निरनुनासिक स्पर्श, संघर्षी, स्पर्शहीन-संघर्षी आदि व्यंजन रूप भी हैं। अतः सानुनासिक/निरनुनासिक का व्यतिरेक हिंदी स्वन-व्यवस्था की प्रत्येक कोटि व स्तर पर स्वीकार किया जा सकता है। हिंदी में अनुनासिकता के विषय में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि उसकी स्वनिक अभिव्यक्ति के अनेक रूप—स्वर, व्यंजन, अर्धस्वर/व्यंजन आदि हैं, किंतु भाषिक संरचना तथा उसके इतिहास की दृष्टि से हिंदी अनुनासिकता के सभी रूप इस प्रकार परस्पर संबद्ध हैं कि अनुनासिकता को मूलतः एक ही स्वनात्मक तत्व या उपलक्षण माना जा सकता है। आशय यह है कि हिंदी में नासिक्य स्वरों, व्यंजनों तथा अर्ध स्वरों/व्यंजनों की परस्पर परिवर्तनशीलता के आधार पर हिंदी में अनुनासिकता (अर्थात् मूल मौखिक स्वनों के नासिक्य उच्चारण) को एक स्वनात्मक इकाई <u>N</u> माना जा सकता है तथा उसकी स्वनिक अभिव्यक्ति के विविध रूपों को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है :

हिंदी की अनुनासिकता



[इस चार्ट में 'सहस्वनिमात्मक' शब्द के स्थान पर 'उपस्वनात्मक' शब्द पढ़ा जाए—संपादक]

हिंदी भाषा मूलतः आक्षरिक भाषा है, अतः उसकी स्वन-व्यवस्था के विवेचन की मूल इकाई के रूप में अक्षर को स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही हिंदी के नासिक्य स्वनों के वितरण को स्पष्टतः समझने के लिए उसकी आक्षरिक संरचना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि आक्षरिक संरचना के आधार पर हिंदी में उपलब्ध संपूर्ण नासिक्यता या नासिक्य उच्चारण की सभी सार्थक इकाइयों का स्वरूपाख्यान अधिक तर्कसंगत रीति से किया जा सकता है। स्वरूपात्मक दृष्टि से हिंदी के अक्षर को मूलतः निम्नलिखित चार प्रकार का

कहा जा सकता है, यद्‌यपि अक्षरादि तथा अक्षरांत के व्यंजनात्मक विस्तार के आधार पर उसके अन्य रूप भी संभव हैं : –

1. V केवल अक्षर शीर्ष
2. CV अक्षरादि+अक्षरशीर्ष
3. CVC अक्षरादि+अक्षरशीर्ष+अक्षरांत
4. VC अक्षरशीर्ष+अक्षरशीर्ष

इस प्रकार हिंदी की आक्षरिक संरचना के मूल में दो प्रकार के स्वनिक उपलक्षण स्वीकार किए जा सकते हैं, एक स्वतंत्र और दूसरा परतंत्र । प्रथम प्रकार के स्वनिक उपलक्षण नियमतः अक्षरशीर्ष होते हैं, तथा अक्षरादि तथा अक्षरांत के अभाव में भी स्वयं स्वतंत्र अक्षर के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं । सामान्यतः इन्हें स्वर कहा जाता है । द्‌वितीय प्रकार के स्वनिक उपलक्षण 'अक्षरादि और अक्षरांत' के रूप में आ सकते हैं । परंतु इनमें कुछ उपलक्षण ऐसे हैं जो अक्षरादि तथा अक्षरांत दोनों स्थितियों में संभव होते हैं, जबकि कुछ ऐसे हैं जो केवल अक्षरांत में ही आते हैं । इन दोनों प्रकार के उपलक्षणों को क्रमशः व्यंजन तथा अर्ध व्यंजन कहा जा सकता है । अर्थात् हिंदी के नासिक्य स्वनों को तीन भागों में विभक्त करके समझा जा सकता है :

1. अक्षर शीर्षात्मक नासिक्य स्वन—नासिक्य स्वर— /Ṽ/
2. अक्षराद्‌यात्मक नासिक्य स्वन—नासिक्य व्यंजन— /m, n, ṇ/,
3. अक्षरांतात्मक नासिक्य स्वन—अनुस्वार या वर्गीय सवर्ण नासिक्य स्वन—/N/

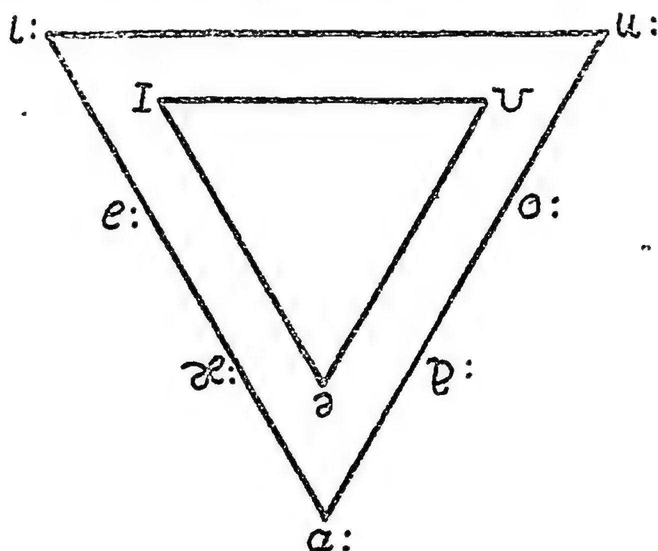
वस्तुतः हिंदी स्वन व्यवस्था की आंतरिक संरचना के स्तर पर /Ṽ/, /m/, /n/, /ṇ/, यथा /N/ मौलिक नासिक्य स्वन इकाइयों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ; क्योंकि कुछ स्वनांतरण नियमों के आधार पर इन्हीं से उच्चारित हिंदी में उपलब्ध सभी व्यष्टि स्वनों को निष्पन्न किया जा सकता है । आगे उक्त तीनों प्रकार के नासिक्य स्वनों का विवेचन अलग-अलग किया जा सकता है ।

1. नासिक्य स्वर या स्वरानुनासिकता :—

परंपरानसार लिखित हिंदी में हिंदी के उक्त नासिक्य अक्षर शीर्षों या नासिक्य स्वर-स्वनिमों के लिए स्वर लेखिमों पर ँ/ॅ चिह्न प्रयुक्त होते हैं, तथा स्वनात्मक लिप्यंकन में /~/ का प्रयोग होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि हिंदी में स्वरात्मक अनुनासिकता एक एसा तत्व है जो किसी भी स्वर-स्वनिम के साथ आ सकता है । वस्तुतः हिंदी के सभी नासिक्य स्वरों के पर्याय के रूप में एक सामान्य स्वरानु-नासिकता को स्वीकार किया जाता है, जो सभी मौखिक स्वरों के साथ उच्चरित होती है । निश्चित ही स्वनात्मक स्तर पर इस सामान्य स्वरानुनासिकता का

रूप आश्रयभूत मौखिक स्वर-स्वनिम की उच्चारण प्रक्रिया आदि के अनुरूप होगा । अतः स्वनात्मक स्तर पर जितने स्वर-स्वनिम रूप हिंदी में स्वीकार किए जाएंगे, उतने ही प्रकार की स्वरानुनासिकता भी स्वीकृत करनी होगी । इस प्रकार हिंदी के सभी मौखिक स्वर स्वनिमों के समानांतर उनके नासिक्य रूपों को स्वीकार किया जा सकता है ।

हिंदी के स्वर स्वनिमों की संख्या आदि के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । किंतु सामान्य रूप से निम्नलिखित स्वर स्वनिमों को हिंदी के मूल मौखिक स्वरों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है :—



/i:, I, e:, æ:, ə, a:, ɐ:, o:, U, u: /

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ आधुनिक विद्वानों ने हिंदी के उक्त स्वर स्वनिमों के अतिरिक्त कुछ नवीन स्वर स्वनिम स्वीकार किए हैं; किंतु उपरोक्त स्वर स्वनिमों को सामान्यतः सभी स्वीकार करते हैं । आधुनिक विद्वानों ने हिंदी में और जो अतिरिक्त स्वर स्वनिम स्वीकार किए हैं, उन्हें अंग्रेजीविद् आधुनिक हिंदी भाषियों की उच्चारित हिंदी में ही माना जा सकता है; क्योंकि सामान्यतः इनके मूल में अंग्रेज़ी भाषा के प्रभाव को स्वीकार किया जाता है तथा इनकी स्थिति कुछ अंग्रेजी से आगत शब्दों में ही मानी जाती है । वस्तुतः आधुनिक हिंदी में भी /ɛ/ या (ऍ), /ɔ:/ (ऑ) आदि अतिरिक्त स्वर स्वनिमों को स्वीकार करने के लिए कोई पुष्ट आधार प्रतीत नहीं होता; क्योंकि न तो ये स्वनिम सामान्य हिंदी भाषी की बोली में उपलब्ध होते हैं, और न ही कतिपय उच्चरित अंग्रेज़ी के ज्ञाता हिंदी भाषियों की हिंदी में अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग तथा अंग्रेजी जैसे उच्चारण में उपलब्ध होने से उनके भाषा में स्थायित्व प्राप्त करने की कोई तर्कसंगत संभावना ही दृष्टिगोचर होती है ।

हिंदी की स्वरानुनासिकता की चर्चा के प्रसंग में इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि अंग्रेज़ी के प्रभाव के कारण आए तथाकथित नवीन स्वर स्वनिमों के नासिक्य रूपों की चर्चा सामान्यतः नहीं मिलती और न

ही उनके नासिक्य रूपों की हिंदी में प्रयोग की काइ तर्कसंगत संभावना ही मानी जा सकती है; क्योंकि हिंदी के समान अँग्रेज़ी में नासिक्य स्वर नहीं हैं । अतः हिंदी भाषा की सामान्य स्वन-व्यवस्था में उक्त विदेशी स्वर स्वनों को स्वीकार करने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता ।

जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है, हिंदी में स्वरानुनासिकता के विविध रूप (या विविध नासिक्य स्वर) अपने मूलवर्ती मौखिक स्वरों की विशेषताओं से मुक्त होते हैं । फलतः उनमें अनुनासिकता की मात्रा मूलवर्ती मौखिक स्वरों के अनुसार रहती है । आशय यह कि हिंदी में स्वरानुसिकता मूलतः मौखिक स्वरों पर आश्रित होने के कारण तत्तत् स्वर के स्थान, प्रयत्न आदि के अनुसार उतने ही प्रकार और रूप की हो सकती है जितने प्रकार और रूप के मौखिक स्वर हिंदी में हैं । जैसा कि कहा जा चुका है हिंदी में दस मौखिक स्वर स्वनिम सामान्यतः माने जाते हैं, अतः इस प्रकार की स्वरानुनासिकता या दस नासिक्य स्वर स्वीकृत किए जा सकते हैं तथा इन्हें भी स्थान, प्रयत्न, काल आदि की दृष्टि से मौखिक स्वरों के समान स्वतंत्र स्वर स्वनिम भी माना जा सकता है ।

हिंदी के उक्त दस मौखिक स्वरों का जो भी स्वनवैज्ञानिक वर्णन किया जाए, उसमें ह्रस्व स्वरों, अर्थात् आंतरिक स्वर त्रिकोण के / I,a,U / के साथ स्वल्प अनुनासिकता तथा दीर्घ स्वरों अर्थात् वाहरी स्वर त्रिकोण के /i: e: æ: ɑ: ɒ: u:/स्वरों के साथ गुरु अनुनासिकता के अतिरिक्त योग के द्वारा हिंदी के नासिक्य-स्वरों का स्वनवैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है । आशय यह कि हिंदी में स्वरानुनासिकता दो प्रकार की मानी जा सकती है– "स्वल्प अनुनासिकता—ह्रस्व स्वरों के साथ, तथा गुरु अनुनासिकता—दीर्घ स्वरों के साथ । अतः यदि हिंदी की स्वरानुनासिकता/~/को एक स्वनिम माना जाए तो अनुनासिकता के उक्त दोनों रूपों को उसके दो उपस्वनों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अव तक हिंदी के स्वर स्वनिमों के जिस उच्चारण रूप को दृष्टि में रख कर स्वरानुनासिकता की चर्चा की जाती रही है, वह निश्चित ही पश्चिमी हिंदी प्रदेश के पढ़े-लिख लोगों की बोली पर आधारित है तथा इस प्रदेश में (जहाँ मूलत : कन्नौजी, व्रज, बुंदेली, कौरवी और हरयाणवी बोली जाती है) e:, æ:, और o: ɒ: का जव नासिक्य उच्चारण होता है तो स्वन-वैज्ञानिक दृष्टि से e: और o: कुछ निम्न तथा केंद्रोन्मुख हो जाते हैं तथा æ: और ɒ: कुछ उच्च और केंद्रोन्मुख हो जाते हैं । फलतः अनुनासिक e: और æ: में तथा o: और ɒ: में किसी प्रकार का स्वनिक अंतर नहीं रह जाता । आशय यह कि अनुनासिक e: और æ: तथा o: और ɒ: क्रमशः ɛ̃: और ɔ̃: वन जाते हैं जिसे इस प्रकार भी समझाया जा सकता है :—

1. e: ——> ɛ̃:
    æ: ——> ɛ̃:

2. o: ——> ɔ̃:
    ɒ: ——> ɔ̃:

उदाहरणार्थ चलें, हैं, उन्हें, भैंस का उच्चरित रूप/cəlɛ̃:/, /hɛ̃:/, /Uh ɛ̃:/ /bhɛ̃:s/ तथा भौंका, चौंका, नोंक, कौंधा का उच्चरित रूप/bhɔ̃:ka:/, /cɔ̃:ka:/, /nɔ̃:k/, kɔ̃:dha:/ही मिलता है। इसीलिए कदाचित् इस प्रदेश में 'उन्हें' के लिए "उन्हैं", "उन्होंने" के लिए "उन्हौंने" आदि रूप लिखित मिलते हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि इस प्रदेश में e: और æ: तथा o: और : जब नासिक्य रूप में उच्चरित होते हैं, तो स्वनिक-स्तर पर उनका परस्पर अंतर समाप्त हो जाता है। इस प्रकार इस प्रदेश की उच्चरित हिंदी में दस नासिक्य स्वरों के स्थान पर निम्नलिखित आठ ही नासिक्य स्वर स्वीकृत किए जा सकते हैं (व्याकरण तथा स्वन प्रकिया की दृष्टि से चाहे दस ही नासिक्य स्वर स्वीकृत किए जाएँ)।

मौखिक स्वर :— /i:, I, e:, æ:, ə, a:, ɒ:, o:, U, u: /

नासिक्य स्वर/ ĩ:, Ĩ, ɛ̃:, ə̃, ã:, ɔ̃:, Ũ, ũ:

हिंदी में स्वरात्मक अनुनासिकता की चर्चा के प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि हिंदी में उक्त प्रकार की स्वरानुनासिकता के अतिरिक्त उसकी अभिव्यक्ति का एक रूप और भी है, जिसकी बारंबारता के कारण ही हिंदी के उच्चरित रूप में अनुनासिकता विशेष रूप से प्रमुख हो जाती है। यद्यपि यह दूसरे प्रकार की स्वरात्मक अनुनासिकता स्वनिमात्मक न होने के कारण हिंदी स्वन व्यवस्था में सामान्यत: स्थान नहीं पाती, परंतु वस्तुत: अनुनासिकता का यही रूप है जो उच्चरित हिंदी को मुख्य रूप से रंजित करता है। चूंकि स्वरात्मक अनुनासिकता का यह रूप नासिक्य व्यंजनों के सान्निध्य में आए स्वरों के आश्रय से व्यक्त होता है, अत: उसे अपने स्वनिक परिवेश पर आधारित कहा जा सकता है, तथा उसकी उपस्थिति के विषय में पूर्व विधान भी किया जा सकता है। संभवत: इसीलिए इस प्रकार की अनुनासिकता हिंदी में सामान्यत: अनंकित ही रहती है। हिंदी में अनुनासिकता का यह स्तर भाषा के भाषावैज्ञानिक विवरण की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण न होकर भी (क्योंकि उसके सद्भाव या अभाव से व्याकरण या अर्थ में किसी प्रकार का अंतर नहीं आता) भाषा की स्वनिक अभिव्यक्ति के एक सुनिश्चित यथार्थ होने के कारण उल्लेखनीय अवश्य है। आशय यह कि उच्चरित हिंदी में इस प्रकार के जो नासिक्य स्वर मिलते हैं, (नासिक्य व्यंजनों के परिवेश में) उन्हें सामान्यत: न तो लेखन में व्यक्त किया जाता है और न उनका कोई व्याकरणिक या आर्थी महत्त्व ही होता है। फिर भी इनकी स्थिति का विवरण किया जाना चाहिए तथा स्वनिमात्मक नासिक्य स्वरों के साथ उनका पार्थक्य भी दिखाया जाना चाहिए। डेनियल जोन्स[1] ने एक स्थान पर इसका उल्लेख द्विस्वनिमात्मक स्वनों की चर्चा के प्रसंग में किया है और कहा है कि हिंदी में स्वरानुनासिकता द्विस्वनिमात्मक है। प्रो० जोन्स के अनुसार हिंदी में नासिक्य व्यंजनों के पश्चात् स्वर नियमित रूप से अनुनासिक हो जाते हैं, यद्यपि हिंदी भाषियों को सदैव इसका भान नहीं होता। जैसे कि हिंदी में "ने" / ne: / परसर्ग का सामान्यत: उच्चारण/n ẽ:/ होता है परंतु यहाँ अनुनासिकता स्वनिमात्मक न होने के कारण /n ẽ:/ के बदले / ne: / उच्चारण भी शुद्ध माना जा सकता है। परन्तु ẽ: स्वन (तथा इसी प्रकार अन्य स्वर भी) निरनुनासिक व्यंजनों के पश्चात् भी आता हैं जैसे g h ẽ:ɪ, ḍẽ: g आदि, जहाँ अननासिकता

स्वनिमात्मक होने के कारण विहित मानी जाएगी तथा जो में /m ẽ:/, माँ /m ã:/ आदि शब्दों में नासिक्य व्यंजनों के पश्चात् भी आ सकती है। इस प्रकार हिंदी में ẽ: स्वन को, /e:/ स्वनिम का अंग मानना पड़ेगा जबकि वह नासिक्य व्यंजनों के पश्चात् आता है, किंतु अन्यत्र नहीं[1]। आशय यह कि हिंदी में स्वरात्मक अनुनासिकता दो प्रकार की है : एक उपस्वनात्मक है और दूसरी स्वनिमात्मक। इन्हें प्रो० जोंस ने क्रमशः प्रासंगिक तथा अभिव्यक्त स्वरानुनासिकता कहा है।

किंतु उक्त दोनों प्रकार की अनुनासिकता के पार्थक्य तथा वितरण के विषय में प्रो० जोन्स ने जो कहा है वह निश्चित ही अपर्याप्त है (उन्होंने प्रसंगवशात् ही इस बात की चर्चा की है) क्योंकि नासिक्य व्यंजनों के पश्चात् सदैव स्वर नासिक्य नहीं होते, जसे /n a: g/ नाग, /n a :j/ नाज, /m e:l a:/मेला, m o: l/ मोल, आदि अनेक शब्द ह, जिनमें नासिक्य व्यंजनों के पश्चात् आने वाले स्वरों का उच्चारण नासिक्य नहीं होता। साथ ही नासिक्य व्यंजनों के पूर्व आने वाले स्वरों का उच्चारण भी सानुनासिक होता है जैसे /ã:n / आन, / t ã:n /तान, /g ã: m ã: / गामा, /r ɔ̃: n a: / रोना आदि। अतः यह विचारणीय है कि नासिक्य व्यंजनों के पूर्व / पश्चात् / मध्य में आने वाले नासिक्य स्वरों की अनुनासिकता कब स्वनिमात्मक मानी जाए तथा कब उपस्वनात्मक।

वस्तुतः यह एक व्यापक समस्या है, जिसके विषय में अंतिम निर्णय संप्रति नहीं लिया जा सकता है। फिर भी उन कुछ स्थितियों की ओर इंगित किया जा सकता है, जहाँ नासिक्य व्यंजनों के सान्निध्य में स्वर सहज रूप से नासिक्य तो हो जाते है, किंतु उनकी अनुनासिकता स्वनिमात्मक नहीं होती। जैसे :—

1. किसी अक्षर में दो नासिक्य व्यंजनों के मध्य में आने वाले स्वर सदैव नासिक्य हो जाते हैं [m ĩ: n] (मीन), [n Ĩ m n] (निम्न), [n ɛ̃ :n] (नैन), [m ə̃ n] (मन), [n ã: m] (नाम), [m ɔ̃: n] (मौन), [m Ũ n n ã:] (मुन्ना) आदि।

2. किसी अक्षर में नासिक्य व्यंजन से पूर्व सभी स्वर नासिक्य हो जाते हैं : [b ĩ: n] (बीन,) [p Ĩ n] (पिन), [c ɛ̃:n] (चैन)।

3. शब्दांत में नासिक्य व्यंजन के पश्चात् आने वाले /i:, I,ə, a:,U, u:/ स्वर अनुनासिक हो जाते हैं यथा [K ã: n ĩ:] (कानी), [h ã: n ĩ] (हानि), [n ə̃] (न), [J ã: n a:] (जाना), [m ə n Ũ] (मनु), [cəmũ:] (चमू)। (शब्दांत में नासिक्य व्यंजन के पश्चात् भी / e:,æ:,o:,ɒ:/ स्वर नासिक्य नहीं होते जैसे; [cəne:] (चने), [nɒ:] (नौ), [sUno :] (सुनो), आदि)।

4. अक्षरादि नासिक्य व्यंजन के पश्चात् और अक्षरांत अघोष व्यंजन के पूर्व /i:, I, ə, a:, U, u:/ स्वर नासिक्य हो जाते हैं, यथा [n ĩ: c] (नीच), [n Ĩ t] (नित), [m ə̃ t] (मत), [n ã:p]

(नाप), [mŨkh] (मुख), [m u: k] (मूक), (अक्षरादि नासिक्य व्यंजन तथा अक्षरांत सघोष व्यंजन के बीच आने वाले स्वर नासिक्य नहीं होते, जैसे [mi:l] (मील), [nIJ] (निज), [mel:] (मेल), [mæ:la:] (मैला), [məl] (मल), [ma: l] (माल), [ma:la:] (माला),[mɐ:l:a:] (मौला , [mu:l] (मोल), [mUjh] (मुझ) [mu:l] (मूल)। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि स्वरात्मक अनुनासिकता का उक्त उपस्वनात्मक रूप विषयक नियम निश्चित ही हिंदी की अक्षर-संरचना से संबद्ध है। इसीलिए उपरोक्त विवरण में आक्षरिक संरचना का ध्यान रखा गया है। उदाहरणार्थ, जैसा कि ऊपर कहा गया है नासिक्य व्यंजन के पहले आने वाले स्वर नासिक्य हो जाते हैं, किंतु कुमार /KUma:r/ सुनार /SUna:r/ आदि शब्दों में ऐसा नहीं होता, क्योंकि यद्यपि /U/ स्वर नासिक्य व्यंजन /m/ और /n/ के पूर्व हैं, परंतु वस्तुतः/m/ और /n/ उस अक्षर के अंग नहीं हैं जिसका कि अंग /U/ है। अतः इन शब्दों में /U/ निरनुनासिक ही रहता है तथा /a:/ दोनों शब्दों में नासिक्य व्यंजन के पश्चात् तो है किंतु सघोष व्यंजनों के पूर्व है, अतः वह भी अनुनासिक नहीं होता ।

आशय यह कि हिंदी में अक्षर को स्वन व्यवस्था की प्रक्रियात्मक इकाई मानकर स्वरों की नासिक्यता का विवेचन किया जा सकता है तथा उसे मूलतः दो रूपों में समझा जा सकता है :—

(1) स्वनिमात्मक—अंकित—अर्थ-भेदक

/Ṽ/— ĩ:, Ĩ, ɛ̃:, ə̃, ã:, ɔ̃:, Ũ, ũ:/

(2) उपस्वनात्मक—अनंकित-अर्थ-अभदक

[~]—[ĩ: Ĩ, ɛ̃: ə̃, ã:, ɔ̃:, Ũ, ũ:]

उपरोक्त प्रावधानों तथा इसी प्रकार के अन्य संभाव्य परिष्कृत प्रावधानों के आधार पर उन सभी स्थितियों की ओर इंगित किया जा सकता है, जहाँ उच्चरित हिंदी में द्वितीय प्रकार की स्वरानुनासिकता प्राप्त होती है। अतः प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि उक्त स्थितियों के अतिरिक्त अन्य सभी स्थितियों में ही स्वरानुनासिकता स्वनिमात्मक होती है। अर्थात् इस प्रकार स्वरानुनासिकता के स्वनिमात्मक तथा उपस्वनात्मक रूपों का पार्थक्य स्पष्ट किया जा सकता है तथा इस तथ्य का निरूपण भी किया जा सकता है कि किन स्थितियों में वह लिखित रूप में अंकित होती है। यद्यपि "माँ" आदि ऐसे कुछ उदाहरण लिखित हिंदी में मिल सकते हैं, जहाँ उपरोक्त प्रावधानों के अनुसार स्वरानुनासिकता अनंकित होनी चाहिए, फिर भी वह अंकित रूप में ही स्वीकृत है। परंतु ऐसे उदाहरण अत्यंत स्वल्प हैं, अतः उन्हें अपवाद-सूची में रखा जा सकता है। आशय यह कि हिंदी के सभी मौखिक स्वरों के लिए एक-एक नासिक्य स्वर या सभी के लिए एक सामान्य स्वरानुनासिकता को उनके उपस्वन के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, जो लिखित हिंदी में अनंकित रहता है। लेकिन अंत में यह कहा जा सकता है कि हिंदी में मौखिक स्वरों की तुलना में नासिक्य स्वरों का स्थान निश्चित ही गौण है तथा प्रकार्य एवं बारंबारता की दृष्टि से सभी नासिक्य स्वरों का महत्त्व

समान नहीं है ; क्योंकि नासिक्य स्वरों की भाषा में व्याप्ति तथा वितरण अत्यंत सीमित है। सभी नासिक्य स्वर सभी स्थितियों में व्यतिरेकी रूप में प्राप्त नहीं होते। साथ ही कुछ तो ऐसे हैं, जो कुछ विशिष्ट स्थितियों में ही संभव हैं। अर्थात् कुछ का विरोध तो मात्र व्याकरण के धरातल पर ही है। अत: हिंदी में मौखिक स्वरों के समानांतर नासिक्य स्वरों को स्वीकार करने के वदले एक सामान्य स्वरानुनासिकता को ही स्वनिम रूप में स्वीकार किया जा सकता है ; जबकि मौखिक स्वरों के नासिक्य व्यंजनों के सान्निध्य में प्राप्त नासिक्य रूपों को मौखिक स्वर स्वनिमों के उपस्वनों के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है।

व्यंजनानुनासिकता या नासिक्य व्यंजन :

हिंदी में अनाक्षरिक अनुनासिकता या नासिक्य व्यंजन स्वनिमों की संख्या, रूप, तथा वितरण के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। परंपरानुसार हिंदी में अनुस्वार (ं) के अतिरिक्त /m, n, ṇ ñ ŋ/ (म्, न्, ण्, ञ्, ङ्) को नासिक्य व्यंजनों के रूप में सामान्यत: स्वीकार किया जाता है। परंतु आधुनिक भाषाविज्ञानी इन सभी नासिक्य व्यंजनों को स्वतंत्र स्वनिमों के रूप में स्वीकार नहीं करते। यद्यपि भाषा में उक्त सभी नासिक्य स्वनिक इकाइयों के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में सभी स्वीकार करते हैं तथा भाषा में इनकी स्थिति को नकारा भी नहीं जा सकता। किंतु आधुनिक भाषाविज्ञानी निम्नलिखित तीन नासिक्य व्यंजनों को ही सामान्यत: स्वतंत्र स्वनिम के रूप में स्वीकार करते हैं :— /m,n,ṇ/

यह उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने जहाँ एक ओर /ṇ/ को उच्चरित हिंदी के एक उपमानक या सहमानक स्तर पर स्वीकार नहीं किया है, वहीं, कुछ अन्य विद्वानों ने /ŋ/ को भी अलग से एक स्वतंत्र स्वनिम के रूप में स्वीकार किया है। किंतु मानक हिंदी में मूलत: उपरोक्त तीन ही नासिक्य व्यंजनों को स्वीकार किया जा सकता है और सामान्यत: ऐसा किया भी जाता है। क्योंकि ñ के समान ŋ भी हिंदी में केवल अक्षरांत में ही आता है, जबकि /m, n/ के समान /ṇ/ अक्षरादि और अक्षरांत दोनों स्थितियों में संभव है। अत: यद्यपि /ṇ/ /m/ और /n/ के समान शब्दादि में नहीं मिलता, किंतु आक्षरिक संरचना की इकाई के रूप में वह/ m, n/ के समान ही है ; क्योंकि वह भी अक्षरादि और अक्षरांत दोनों स्थितियों में संभव है। अत: अक्षर के स्तर पर /ṇ/ को /m, n/ के समान ही माना जा सकता है। और उसे /m, n/ के समान ही एक स्वतंत्र व्यंजन स्वनिमात्मक इकाई के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है। हाँ, शब्द के स्तर पर /m, n, ṇ/ का महत्त्व परस्पर समान नहीं है ; क्योंकि इन व्यंजनों में, अधिक शाब्दिक स्थितियों में उपस्थिति तथा सामान्य प्रयोग में अधिक बारंबारता आदि की दृष्टियों से एक सापेक्षिक उत्क्रम है जिसके अनुसार सर्वाधिक अग्रगण्य स्वनिक इकाई /n/ है, तत्पश्चात् /m/ और तत्पश्चात् /ṇ/। आशय यह कि भाषा में /n/ का न केवल सर्वाधिक शाब्दिक स्थितियों में सर्वाधिक प्रयोग मिलता है, किंतु वह अनुस्वार वर्ग की स्वनिक उप-इकाइयों का सर्वाधिक व्यापक स्थानापन्न परिवर्त भी है। ऐसी स्थिति न /m/ की है और

न /ṇ/ की। अतः शब्द के स्तर पर /m, n, ṇ/ की स्थिति एक समान नहीं मानी जा सकती। किंतु अक्षर के स्तर पर इन तीनों को अक्षरादि और अक्षरांत में समान होने के कारण स्वनिमात्मक इकाइयों के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है।

किंतु जैसा कि इंगित किया जा चुका है ñ, m अनुस्वार के समान अक्षरांत स्थिति में ही आते हैं, अतः m, n, ṇ के साथ इन्हें स्वनिम रूप में स्वीकार न कर अनुस्वार वर्ग में ही रखा जा सकता है; तथा जैसे शाब्दिक या पदीय संरचना के स्तर पर m, n, ṇ के भाषा में विशिष्ट प्रकार के वितरण के कारण उनकी स्थिति सापेक्षिक है तथा उनमें एक उत्क्रमिक संबंध है, उसी प्रकार अनुस्वार वर्ग की विविध उपइकाइयों में भी परस्पर एक सापेक्षिक संबंध है, जिसकी चर्चा अनुस्वार वर्ग की स्वनिक उपइकाइयों की चर्चा के प्रसंग में आगे की जा सकती है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पारम्परिक रूप से मान्य हिंदी के पाँच नासिक्य व्यंजनों में से /m, n, ṇ /को पूर्ण नासिक्य व्यंजन स्वनिमों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, [ ] और ñ, ŋ को अनुस्वार के समान अर्ध व्यंजनात्मक उपस्वनों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

कुछ आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने हिंदी में उक्त नासिक्य व्यंजन स्वनिमों के अतिरिक्त /mh/ और /nh/ को भी नासिक्य व्यंजन स्वनिमों के रूप में स्वीकार किया है, तथा जिस प्रकार /k, kh/ आदि स्पर्श व्यंजनों में अल्पप्राण—महाप्राण के आधार पर व्यतिरेक स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार /m/ : /mh/ और /n/ : /nh/ में भी वैषम्य स्वीकार किया गया है, तथा इस प्रकार /mh/ और /nh/ को भी स्वतंत्र स्वनिमों के रूप में स्वीकार किया है। कुछ अन्य विद्वानों ने तो इसी आधार पर /r, l, v/ और /y/ के भी महाप्राण रूपों क्रमशः /rh, lh, vh/, और / yh/ को स्वनिम रूप में स्वीकार किया है।[2] परंतु वस्तुतः हिंदी के महाप्राण स्पर्श व्यंजनों, जैसे /kh /, /gh /, आदि और तथाकथित महाप्राण नासिक्य व्यंजनों जैसे /mh /, /nh/ में परस्पर कोई तात्त्विक साम्य नहीं है। अतः उन्हें परस्पर तुलनीय नहीं माना जा सकता। ऐतिहासिक दृष्टि से भी हिंदी में /mh/,/nh/ की स्थिति विशिष्ट स्वनविकारों के परिणामस्वरूप है, जब कि हिंदी के /kh/, /gh / आदि महाप्राण स्पर्श व्यंजनों के मूल में इस प्रकार का कोई स्वन-विकारात्मक ऐतिहासिक कारण नहीं माना जा सकता। संरचना स्तर पर भी /mh/ , /nh/ तथा /kh/, /gh/, आदि तुल्य नहीं हैं, क्योंकि इनके वितरणों में पर्याप्त विषमताएँ हैं। आशय यह है कि /mh/, /nh/ उन सभी स्थितियों में नहीं मिलते, जिनमें अन्य महाप्राण स्पर्श व्यंजन मिलते हैं। इसी प्रकार जैसे /k/ : /kh/, /g/ : /gh/ आदि में परस्पर व्यतिरेक लगभग सभी शाब्दिक स्थितियों में मिलता है, उसी प्रकार /m/ : /mh/ और /n : /nh/ में परस्पर नहीं मिलता। अतः मात्र अल्पप्राण– महाप्राण के सीमित

व्यतिरेक के आधार पर /k/, /kh/, /g/, /gh/ आदि स्पर्श व्यंजनों के समान /m/ : /mh/, /n/ : /nh/ में परस्पर व्यतिरेक मानकर /mh/, /nh/ को स्वतंत्र महाप्राण नासिक्य व्यंजन-स्वनिमों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मानक हिंदी में /mh/, /nh/ को अलग से महाप्राण नासिक्य व्यंजन स्वनिमात्मक इकाइयों के रूप में स्वीकार न करने के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि मूलत: ये स्वन बहुत ही सीमित कोशीय शब्दों में प्राप्त होते हैं तथा ये शब्द मानक हिंदी की आधारभूत बोलियों के अधिक हैं क्योंकि इन बोलियों में और भी इस प्रकार के शब्द मिलते हैं। अर्थात् मानक हिंदी में /KUmha:r/ (कुम्हार), /Kənha:i:/ (कन्हाई), /JUnha:i:/ (जुन्हाई), / tUmh ɛ̃ / (तुम्हें), /Unh ɛ̃ / (उन्हें) आदि शब्द, जिन में /mh/ या /nh/ स्वन रूप प्राप्त होते हैं, अत्यंत विरल हैं तथा मूलत: वे बोलियों में ही पाए जाते हैं, जहां /mh/, /nh/ की व्याख्या नासिक्य स्वरों के समान ही, महाप्राण स्वरों की एक गौण व्यवस्था को स्वीकार करके भी की जा सकती है। मानक हिंदी के जिन थोड़े बहुत शब्दों में ये स्वन प्राप्त होते हैं उनमें ये मुख्यत: शब्द-मध्य में ही प्राप्त होते हैं : शब्दादि या शब्दांत में इनके उदाहरण प्राय: नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में हिंदी में /mh, nh/ को व्यंजन-अनुक्रम के रूप में समझना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि /m, n/ और /h/ स्वनिम तो भाषा में स्वीकृत हैं ही, तथा /mh, nh/ के केवल शब्द मध्य में दो स्वरों के बीच ही संभव होने के कारण आक्षरिक विश्लेषण में उन्हें दो स्वतंत्र इकाइयों के रूप में विखंडित भी किया जा सकता है। साथ ही /h/ या महाप्राणता केवल /m/ और /n/ के साथ ही प्राप्त होती है, अन्य नासिक्य व्यंजनों के साथ नहीं। अत: मानक हिंदी में महाप्राण नासिक्य व्यंजनों /mh, nh/ को स्वतंत्र स्वनिमात्मक इकाइयों के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। आशय यह कि मानक हिंदी में /m/, /n/ और /ṇ/ तीन-तीन नासिक्य व्यंजन-स्वनिम हैं, परंतु महाप्राणता केवल /m/ और /n/ के साथ ही संभव है, तथा वह भी मुख्यत: शब्द की माध्यमिक स्थिति में ही। 'तुम्हें' 'उन्हें' जैसे शब्दों में /mh, nh/ को तो पद-विश्लेषण के स्तर पर इस प्रकार विखंडित करना ही पड़ता है कि /m/ या /n/ और /h/ दो भिन्न पदांशों के अंतर्गत हो जाते हैं अत: mh, nh को मानक हिंदी में स्वतंत्र स्वनिमों के रूप में स्वीकार न कर, उन्हें नासिक्य + ह. के एक व्यंजन-अनुक्रम के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि हिंदी के महाप्राण स्पर्श व्यंजनों का अन्य व्यंजनों के साथ गुच्छन या अनुक्रमण शब्द की विविध स्थितियों में होता है, तथा यदि mh, nh को भी महाप्राण नासिक्य व्यंजन माना जाए तो उनके साथ भी ऐसा होना चाहिए। परंतु हिंदी में

mh, nh के पूर्व या पश्चात् कभी कोई अन्य व्यंजन-संयोग नहीं होता। तथा जैसा कि पहले कहा जा चुका है mh, nh को कुछ शब्दों में व्याकरणिक कारणों से दो खंडों में विखंडित करना पड़ता है, जैसे तुम्हें—{तुम+हें} या उन्हें—{उन्+हें}, परंतु हिंदी के अन्य किसी महाप्राण स्वन का विखंडन इस प्रकार कभी नहीं होता। (कुछ विद्वान 'कभी' 'अभी' शब्दों के 'भी' को व्+ही के संयोग का परिणाम मानते हैं, परंतु यह विश्लेपण अनेक कारणों से स्वीकार्य नहीं है) अतः जब कुछ शब्दों में व्याकरणिक आधार पर mh, nh का विश्लेपण दो भिन्न इकाइयों के रूप में किया जा सकता है, तो फिर KUmha:r (कुम्हार) आदि शब्दों में mh, nh को दो भिन्न आक्षरिक तत्त्वों के रूप में विभक्त क्यों नहीं किया जा सकता। अर्थात् /KUmha:r/ = KUm+ha:r आदि शब्दों में भी mh, nh के m या n को अक्षरांत और h को अक्षरादि के रूप में विभक्त किया जा सकता है। वस्तुतः इस प्रकार के mh, nh के अक्षर-विभाजन को ऐतिहासिक आधार भी प्राप्त है, क्योंकि हिंदी के mh, nh के m, n और h ऐतिहासिक दृष्टि से मूलतः दो भिन्न अक्षरों के अवशिष्ट रूप ही हैं। अतः हिंदी में —mh— —nh— को दो स्वतंत्र महाप्राण नासिक्य व्यंजन स्वनिमों के रूप में न स्वीकार कर उन्हें व्यंजन-अनुक्रमों के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिंदी में अनाक्षरिक नासिक्यता की पूर्ण व्यंजनात्मकता को तीन इकाइयों m, n, और ṇ के रूप में समझा जा सकता है, जो नियमतः अक्षरादि और अक्षरांत दोनों स्थितियों में संभव होते हैं। अतः अनुस्वार या अनुस्वार वर्ग की अन्य नासिक्य उपइकाइयों को छोड़कर, हिंदी में मूलतः ये तीन ही नासिक्य व्यंजन-स्वनिम स्वीकार किए जा सकते हैं, जो क्रमशः द्व्योष्ठ्य, पूर्व वर्त्स्य, और पश्च वर्त्स्य सघोष नासिक्य हैं तथा /ṇ/ के शब्दादि में अपवाद के साथ निम्नलिखित सभी शाब्दिक स्थितियों में सभी प्राप्त होते हैं :—

## - V	V - V	V - ##
## - C	C - V	C - ##

परंतु सिद्धांततः हिंदी में किसी व्यंजन के लिए सम्भाव्य शब्दगत स्थितियों या स्वनिक परिवेशों की दृष्टि से उपरोक्त शाब्दिक स्थितियों के अतिरिक्त एक मूलभूत शाब्दिक स्थिति और मानी जा सकती है जो शब्दादि या शब्दांत से संबद्ध न होकर शब्द-मध्यगत है। अर्थात् —v—c— स्वनिक परिवेश या उसी के विस्तार —v—cv— या —v—ccv— या —v—c ## जैसी स्थितियाँ हैं, जिनमें /m/, /n/

और /ṇ/ तो प्राप्त होते हैं, किंतु उनके अतिरिक्त कुछ अन्य नासिक्य स्वन भी मिलते हैं, जो /m/, /n/ और /ṇ/ के समान अनाक्षरिक होते हुए भी स्वनात्मक दृष्टि से उनसे भिन्न हैं। आशय यह कि हिंदी में शब्द के मध्य में स्वर के पश्चात् और व्यंजन से पूर्व जो नासिक्य स्वन मिलते हैं, वे केवल /m/, /n/, /ṇ/ ही नहीं हैं। इनके अतिरिक्त अन्य व्यंजन स्वन भी हैं, तथा ये अतिरिक्त स्वन जहाँ परस्पर पूरक वितरण में हैं, वहीं उनका /m/, /n/ और /ṇ/ के साथ उपरोक्त परिवेश में व्यतिरेक भी है। अतः हिंदी में /m/, /n/ और /ṇ/ के अतिरिक्त अन्य नासिक्य व्यंजनात्मक-इकाई या इकाइयाँ स्वीकार की जा सकती हैं, जो सदैव अक्षरांत स्थिति में किसी न किसी व्यंजन के पूर्व ही मिलती हैं।

वस्तुतः हिंदी में शब्द के मध्य में स्वर के पश्चात् और व्यंजन के पूर्व प्राप्त होने वाले नासिक्य स्वनों को संभाव्य परवर्ती स्वन या स्वनों की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

नासिक्य स्वन		परवर्ती स्वन		
I	m + p, ph, b, bh,	m, n,	r l y h	आदि
	n + t, th, d dh,	n, m,	r v y	आदि
	ṇ + ṭ, ṭh, ḍ, ḍh,	ṇ, m,	v y	×
II	ñ + c, ch, j, jh,	×	×	×
	ŋ + k, kh, g, gh,	m	×	×
III	n̲ + s v v n̲ + s r̃ + r l̃ + l ṽ + ỹ + y h̃ + h	×	×	×

उपरोक्त नासिक्य स्वन यद्यपि स्वनिक स्तर पर भिन्न कहे जा सकते हैं, किन्तु स्वनप्रक्रिया की दृष्टि से उनमें एक प्रकार की समानता है, विशेषकर वर्गीय सवर्ण निरनुनासिक व्यंजनों के पूर्व। अतः एक सीमा तक उन्हें एक ही स्वनात्मक इकाई के रूप में समझा जा सकता है तथा परवर्ती व्यंजन के अनुसार उनके विविध रूपों की अभिव्यक्ति की व्याख्या की जा सकती है।

स्वनवैज्ञानिक दृष्टि से उपरोक्त स्वनिक परिवेश, अर्थात् —v—c— में मूलतः निम्नलिखित नासिक्य स्वन प्राप्त होते हैं :—

[m], [n], [ṇ], [ñ], [ŋ], [n̲], [n̲̆], [r̃], [l̃], [ṽ], [ỹ], [h̃]

यद्यपि स्वनप्रक्रिया की दृष्टि से इन स्वनिक इकाइयों में पर्याप्त अंतर है, परंतु स्पर्शता के सद्भाव या अभाव के आधार पर इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में [m], [n], [ṇ], [ñ], [ŋ] पाँचों वर्गीय स्पर्शनासिक्य-स्वनों को रखा जा सकता है, जो स्वनिक प्रकृति तथा भाषिक-प्रक्रिया दोनों ही दृष्टियों से मूलतः व्यंजनात्मक हैं, जबकि द्वितीय वर्ग की [n̲], [n̲̆], [r̃], [l̃], [ṽ], [ỹ], [h̃] स्वनिक इकाइयों को निस्स्पर्श नासिक्य स्वन माना जा सकता है, जो स्वनिक प्रकृति की दृष्टि से तो स्वरात्मक हैं, परंतु अनाक्षरिक होने के कारण स्वनप्रक्रिया के स्तर पर उन्हें व्यंजन रूप में ही स्वीकृत किया जा सकता है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि द्वितीय वर्ग के नासिक्य-स्वनों को मूलतः एक ही इकाई माना जा सकता है; क्योंकि उनमें निस्स्पर्शता का एक सामान्य उपलक्षण तो है ही, साथ ही उनका स्वनिक अंतर मूलतः उनके परवर्ती एक-एक स्वन पर आधारित है। अतः उच्चारण-प्रक्रिया की दृष्टि से इन स्वनों के अंतर को उनके परवर्ती व्यंजन के विस्तार आदि के रूप में भी समझा जा सकता है और इस प्रकार द्वितीय वर्ग के सभी नासिक्य स्वनों के लिए अनुस्वार के रूप में एक स्वतंत्र स्वनात्मक इकाई को स्वीकार किया जा सकता है तथा पाँचों वर्गीय नासिक्य व्यंजनों के समान व समकक्ष उसे भी एक ही प्रकार की किंतु एकाधिक स्वनों की पूर्ववर्ती इकाई माना जा सकता है। जैसा कि इंगित किया जा चुका है, स्वनवैज्ञानिक दृष्टि से अनुस्वार और पाँचों वर्गीय नासिक्य व्यंजनों में अंतर है, परंतु अनुस्वार के समान जिन निश्चित स्वनिक स्थितियों में (अर्थात् स्वरोपरांत और सवर्ण स्वन से पूर्व) m, n, ṇ, ñ, ŋ भी प्राप्त होते हैं, उनमें उन्हें अनुस्वार या अनुस्वार वर्गीय स्वनों में ही परिगणित किया जा सकता है; क्योंकि ये सभी अनुस्वार के समान एक से स्वनिक परिवेश में समान स्वनप्रक्रिया के अंतर्गत आते हैं। अतः इन्हें भी उपरोक्त स्वनात्मक इकाई अर्थात् अनुस्वार के रूप में समझा जा सकता है। हिंदी लेखन व्यवस्था में अनुस्वार तथा पंचवर्गीय नासिक्य व्यंजनों के लिए पूर्ववर्ती

लेखिम पर एक बिंदु के प्रयोग का जो विधान है, वह भी यही द्योतित करता है। इस प्रकार हिंदी में —v—c— स्थिति में स्वनात्मक स्तर पर अनुस्वार (अनु+स्वर) सवर्ण व्यंजनानुनासिकता के रूप में एक ही इकाई को स्वीकार किया जा सकता है, जो उच्चरित भाषा में अपने परवर्ती स्वन के अनुसार विविध किंतु निश्चित रूपों में अभिव्यक्त होता है। हिंदी में शब्द-मध्य में स्वर और सवर्ण व्यंजन के बीच में आने वाले नासिक्य स्वनों को एक ही स्वनात्मक इकाई के रूप में इसलिए भी स्वीकार किया जा सकता है कि इस स्थिति में पूर्वोक्त नासिक्य पूर्ण व्यंजनों और अनुस्वार या उसके विविध रूपों, तथा स्वरानुनासिकता या उसके विविध रूपों में एक विशेष प्रकार की परस्पर परिवर्तनशीलता है, जो भाषा की वर्तमान व्याकरणिक संरचना तथा इतिहास दोनों में समान रूप से प्रतिबिंबित मिलती है। वस्तुतः हिंदी में नासिक्यता या संयुक्त रूप से अनुनासिकता स्वर और अनुस्वार सहित नासिक्य व्यंजन हिंदी स्वन व्यवस्था के सभी स्तरों, कोटियों तथा वर्गों पर व्यतिरेकी है, तथा नासिक्यता के उक्त तीनों रूपों में स्वनप्रक्रिया के स्तर पर परस्पर ऐसा अंतः-संबंध है, कि उन्हें समूची हिंदी-स्वन-व्यवस्था के विश्लेषण, वर्गीकरण तथा विवरण का एक मौलिक आधार माना जा सकता है।

किंतु अंत में यह कहा जा सकता है कि —v—c— स्थिति में अनुस्वार तथा तद्वर्गीय पंचवर्गीय नासिक्य व्यंजनों को मूलतः अनाक्षरिक अर्ध-व्यंजनात्मक स्वनिक—इकाइयों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जो सामूहिक रूप से नासिक्य व्यंजन और स्वरों से स्वतंत्र, भिन्न, तथा समकक्ष एक स्वनात्मक इकाई है। वस्तुतः इस वर्ग के सभी नासिक्य स्वन अक्षरांत रूप में ही उपलब्ध होते हैं अतः अर्धव्यंजनात्मक हैं, तथा अक्षर के अंग के रूप में ही आते हैं, यद्यपि अंतस्थ और ऊष्म स्वनों से पूर्व अनुस्वार का उच्चारण स्वरात्मक होता है, अतः इन्हें अनाक्षरिक स्वनिक इकाई माना जा सकता है। परंतु सामूहिक रूप से जिस प्रकार इनका विरोध नासिक्य स्वरों और व्यंजनों के साथ है, उसी प्रकार इनका विरोध नासिक्य स्वरों तथा व्यंजनों के साथ विशेष वितरण-संबंध भी है। वस्तुतः हिंदी स्वन-व्यवस्था में अनुस्वार या तद्-वर्गीय नासिक्य स्वन, एक विशेष प्रकार की स्वनात्मक इकाई हैं, क्योंकि स्वनविज्ञान तथा स्वनप्रक्रिया दोनों ही दृष्टियों से ये स्वनिक इकाइयाँ एक ही साथ व्यंजनात्मक और स्वरात्मक, तथा अन्य नासिक्य व्यंजनों तथा स्वरों से समान रूप से संबद्ध हैं। यद्यपि इनके परस्पर संबंधों के विषय को विस्तार से यहाँ चर्चा नहीं की जा सकती, परंतु हिंदी-स्वन-व्यवस्था में अनुस्वार का विशेष महत्व माना जा सकता है। परंपरानुसार भी हिंदी स्वन-व्यवस्था में अनुस्वार का विशेष महत्त्व माना जाता है, तथा उसको अर्धव्यंजन, अर्धस्वर, अयोगवाह, रंजक आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। वस्तुतः यदि हिंदी स्वन-व्यवस्था के एक प्रमुख मानक के रूप में नासिक्यता को स्वीकार किया जा सकता है तो उस नासिक्यता के केंद्र बिंदु के रूप में अनु-

स्वार या तद्वर्गीय नासिक्य स्वनों को माना जा सकता है। हिंदी के नासिक्य-स्वनों तथा उनकी व्यवस्था का बीज तथा आधार अनुस्वार ही है; क्योंकि वह स्वयं स्वरात्मक व व्यंजनात्मक है। अतः उसी से हिंदी के सभी नासिक्य स्वरों और व्यंजनों को व्युत्पन्न किया जा सकता है और इस प्रकार अनुस्वार को केंद्र बिंदु मान कर हिंदी की सभी नासिक्य स्वनात्मक इकाइयों तथा उनके अंतः-संबंधों की व्याख्या की जा सकती है। ●

पाद टिप्पणियाँ :

1. डनियल जोन्स : द फोनीम : इट्ज नेचर एंड यूज़, 1962, पृ० 99।

2. क़ादिर मोहिनुद्दीन, हिंदुस्तानी फोनेटिक्स, पृ० 64।

संस्कार तत्त्व और हिंदी*-स्वनों का वर्गीकरण

अनूप चंदोला

प्रस्तुत लेख में हिंदी-स्वनों के उन संस्कार तत्वों की चर्चा की जाएगी जो उसके स्वरों और व्यंजनों का समान रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। समान प्रतिनिधित्व का मतलब एक ही तत्त्व की उपस्थिति या अनुपस्थिति से भी है। 'संस्कार' शब्द से हमारा अभिप्राय उन प्रभावों या आदतों से है जो हमारे बोलने और सुनने (या किसी भी अन्य क्रिया) में काम करते हैं। अँग्रेज़ी में इसे 'इंप्रेशन' कह सकते हैं। संस्कार एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो हमारे किसी भी व्यवहार का कारण है। स्वनन का व्यवहार भी संस्कारों से परिचालित होना चाहिए, भले ही हम यह जानने में असमर्थ हों कि अमुक स्वन के पीछे कौन-सा संस्कार कारणभूत है। असमर्थता में व्यवहार से संस्कार की ओर इंगित तो किया ही जा सकता है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषा का प्रत्येक स्वन कई तत्वों या अभिलक्षणों का समुच्चय होता है। यहाँ तत्व या अभिलक्षण से हमारा तात्पर्य वही है जिसे अँग्रेज़ी में 'फ़ीचर' या 'कंपोनेंट' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'ब्' स्वन के कई अभिलक्षण हो सकते हैं। इनमें से हम केवल ऐसे अभिलक्षणों को चुन लेते हैं जिनसे इस स्वन को अन्य स्वनों से भिन्न समझा जाए। जैसे 'ब्' और 'भ्' में 'ओष्ठ्य', 'स्पर्श' और 'घोष' अभिलक्षण समान हैं, परंतु 'भ्' में 'महाप्राणत्व' है जिसका 'ब्' में अभाव है। अर्थात् 'भ्' को 'ब्' से विशिष्ट बनाने वाला तत्त्व 'महाप्राणत्व' है। अतएव 'महाप्राणत्व' हिंदी में एक विशिष्ट तत्त्व माना जाता है। इसी तत्त्व के कारण 'बुलाना' शब्द 'भुलाना' शब्द से पृथक् सुनाई पड़ता है। यही हालत 'बोली' और 'भोली'; 'उबार' और 'उभार' इत्यादि शब्दों में दिखाई पड़ती है।

---

*यहाँ हिंदी से अभिप्राय 'हिंदी' और 'उर्दू' दोनों से है।

स्थान-प्रयत्नमूलक स्वनविज्ञान की दृष्टि से यह कहा जाएगा कि शब्दों की ऐसी भिन्नता का कारण स्थान-प्रयत्न का भेद है। परंतु बात ऐसी नहीं है। स्थान-प्रयत्न के भेद के बावजूद भी दो स्वन एक जैसे सुनाई पड़ सकते हैं। उदाहरण के लिए हिंदी के 'भ्' को लीजिए। इसके उच्चारण में दोनों ओंठ मिलकर साँस रोकते हैं, याने यह द्व्योष्ठ्य स्पर्श-स्वन है। पर यदि कोई व्यक्ति इसका उच्चारण द्व्योष्ठ्य के बजाय दंतौष्ठ्य स्पर्श के रूप में करे तो भी हिंदी के श्रोता को अर्थ में कोई अंतर मालूम नहीं पड़ेगा। जैसे 'भार' शब्द के भ् का उच्चारण द्व्योष्ठ्य के स्थान पर दंतौष्ठ्य किया जाए तब भी यह शब्द 'भार' ही समझा जाएगा। ध्यान रहे कि ऐसा कहने का मतलब यह नहीं कि सचमुच हिंदी में दंत्यौष्ठ्य स्पश भ् भी होता है। बात केवल सैद्धांतिक तर्क के लिए कही गई है। हमें इतना ही सिद्ध करना था कि स्थान-प्रयत्न का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि इस बात का कि श्रोता को कैसा सुनाई पड़ता है। वक्ता स्वनों का उच्चारण संस्कारवश करता है और श्रोता भी उन्हें संस्कारवश ही सुनता है। वक्ता या श्रोता स्थान-प्रयत्न नहीं देखते हैं। वे तो संस्कारवश एक दूसरे का उच्चारण समझते हैं।

कुछ पक्षी, जैसे तोता या मैना, मानव-शब्दों का उच्चारण कर लेते हैं। इन पक्षियों के ऐसे उच्चारण में वही स्थान-प्रयत्न नहीं होते जो किसी मानव के होंगे। इसी तरह से बोलने वाली मशीनों के बारे में भी सोचा जा सकता है। और तो और, कठपुतली के सूत्रधार तक कठपुतलियों की आवाज़ बनाते वक्त सामान्य स्थान-प्रयत्न बदल देते हैं; जैसे म् के उच्चारण में 'ओठों' का संचालन दिखाई ही नहीं देगा, पर श्रोता को 'म्' सुनाई पड़ेगा।

संगीत ध्वनियों के संस्कारों का सबसे अच्छा उदाहरण है। जो सरगम या धुन हमें किसी मानव के कंठ से सुनाई पड़ती है वही अनेक प्रकार के वाद्यों से भी सुन सकते हैं। मान लीजिए कि किसी मानव का गांधार सुर किसी गाने में आपने सुना। वही गांधार आप बांसुरी से भी उत्पन्न कर सकते हैं और सितार से भी। परंतु गायक बांसुरी और सितार के स्थान-प्रयत्न एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। फिर भी हम यह कहते हैं कि इन तीनों उत्पादकों (गायक, बाँसुरी, सितार) से हमने वही गांधार सुर सुना। इसी तरह आप सैकड़ों वाद्यों से यह सुर पैदा कर सकते हैं। यदि संगीत वाले किसी धुन के सरगमों का वर्णन प्रत्येक प्रकार के वाद्यों के स्थान-प्रयत्न के आधार पर करना शुरू कर दें तो पता नहीं कहाँ उनका अंत होगा? सरल उपाय यही है कि 'गांधार' तत्त्व कह दिया तो वह सर्वत्र लागू हो जाएगा। विज्ञान की दृष्टि से संगीत की इस व्यापक ध्वनि-व्यवस्था को एक बड़ी उपलब्धि माना जाता है। यह व्यवस्था संस्कारों के आधार पर काम करती है। संगीतज्ञ सुरों का मिलान अपने बने हुए संस्कारों के आधार पर करते हैं। भाषा के व्यवहार में भी ऐसा ही मिलान होता है।

प्रश्न यह है कि संगीत की जैसी व्यापक ध्वनि-व्यवस्था भाषा में भी कैसे प्रस्तुत की जाए? याने, हम ऐसी व्यवस्था चाहते हैं जो यह निर्धारित कर सके कि हिंदी के 'बुलाना' शब्द के 'ब्' में सर्वत्र वही स्वन-अभिलक्षण विद्यमान है, चाहे यह शब्द हिंदीभाषी मानव के मुख से उच्चरित हो और चाहे किसी अमानवीय प्राणी (जैसे तोते, मैना आदि) या मशीन से। सूक्ष्म रूप से हम यह जानना चाहते हैं कि वे कौन से विशिष्ट संस्कार-तत्त्व हैं जिनकी वजह से हमें मानवीय और अमानवीय उच्चारण में समानता मालूम पड़ती है? इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। अभी तक भाषा-स्वनों का ऐसा वर्णन संभव नहीं हो सका है। हम यह कर सकते हैं कि जब तक कोई निश्चित संस्कारमूलक स्वन व्यवस्था तैयार नहीं हो जाती तब तक स्थान-प्रयत्न मूलक शब्दावली से ही संस्कारों का प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न करें। काम चलाने के लिए किसी भी स्थान-प्रयत्नमूलक पारिभाषिक शब्द के आगे 'सदृश' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है जिससे यह जाना जाए कि यह विशिष्ट स्वन-तत्त्व संस्कारमूलक है, न कि स्थान-प्रयत्न-मूलक। जैसे 'तालव्य' शब्द स्थान-प्रयत्नमलक है, परंतु 'तालव्य-सदृश' (या संक्षेप में 'ता०स०') का अभिप्राय संस्कारमूलक होगा। यदि हम पहले ही एक नियम या परंपरा निर्दिष्ट कर दें कि स्थान-प्रयत्नमूलक पारिभाषिक शब्द संस्कारमूलक समझे जाएँ तो 'सदृश' शब्द लगाने की भी आवश्यकता नहीं होगी। हिंदी-स्वनों का जो वर्गीकरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है उसमें हम यही परंपरा या नियम मानेंगे।

आगे हिंदी-स्वनों के वर्गीकरण में स्वरों और व्यंजनों को एक ही प्रकार के स्वन-अभिलक्षणों की दृष्टि से बाँटा जाएगा। भारत के प्राचीन भाषाविज्ञानियों ने यही पद्धति अपनाई थी और हम इसी परंपरा को अपना सकते हैं। उदाहरण के लिए **पाणिनीय शिक्षा** का निम्नलिखित (सत्रहवाँ) श्लोक देखिए :—

> कंठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू।
>
> स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दंत्या लृतुलसाः स्मृताः ॥

इस श्लोक के अनुसार 'इ' स्वर होने के बावजूद भी 'च्' व्यंजन की तरह 'तालव्य' माना जाएगा। इसी तरह 'ओष्ठ्य' (या ओष्ठज') 'उ' का वैसे ही प्रतिनिधित्व करता है जैसे 'प्' का।

पाश्चात्य विद्वानों में स्वर और व्यंजनों को समान स्वन-अभिलक्षणों के अनुसार विभाजित करने का सर्वप्रथम वैज्ञानिक प्रयास याकोब्सन, फांट और हाला (1952) ने किया। हाला (1964) ने स्वीकार

किया है कि स्वरों और व्यंजनों का साथ ही वर्णन करने का विचार प्राचीन भारतीयों का है। इन तीनों विद्वानों ने अपने स्वन-अभिलक्षणों को 'परिच्छदक अभिलक्षणों' की संज्ञा दी है। उन्होंने ऐसे प्रत्येक 'अभिलक्षण' का इन तीन दृष्टियों से वर्णन किया है—स्थान-प्रयत्न, भौतिक और संस्कार। उनका कहना है कि संसार की समस्त भाषाओं के स्वनों का वर्णन उनके थोड़े से ही 'अभिलक्षणों' में किया जा सकता है। उनके इस कथन पर कई आपत्तियाँ उठाई गईं। यहाँ पर हम सिर्फ एक ही आपत्ति उठाएँगे। उनकी 'अभिलक्षण' व्यवस्था इस प्रश्न का समाधान नहीं कर पाती कि किसी भाषा का शब्द, चाहे वह मानवीय मुख से उच्चरित हो, चाहे अमानवीय प्राणियों के मुख से या मशीन से, एक जैसा क्यों सुनाई पड़ता है। याने उनके स्वन-अभिलक्षण इतने व्यापक नहीं हैं कि वे सर्वत्र लागू हो सकें। और जहाँ तक बहुत थोड़े ही स्वन-अभिलक्षणों में समस्त भाषाओं के स्वनों का वर्णन करने का सवाल है, वह तो स्थान-प्रयत्नमलक स्वन-अभिलक्षण के अनुसार भी संभव है, बशर्ते स्वरों और व्यंजनों को कुछ वैसा ही बांटा जाए जैसा हमने आगे हिंदी-स्वनों के वर्गीकरण में प्रस्तुत किया है।

विशिष्ट अभिलक्षण एक स्वन को दूसरे स्वन से अलग करता है। ऐसे भिन्न स्वनों को विशिष्ट स्वन कहा जाता है। विशिष्ट स्वन के अर्थ में पहले 'फ़ोनीम' (स्वनिम) शब्द का प्रयोग भी हुआ। परंपरागत स्वनिम सिद्धांत के पीछे 'पूरक वितरण' का सिद्धांत भी जुड़ा हुआ है। अब यह सुविदित है कि पूरक वितरण का जो अर्थ अमेरिका में माना गया था वह दोषपूर्ण था। इसलिए हाला, चॉम्स्की आदि विद्वानों ने 'फ़ोनीम' के बजाय 'साउंड' का प्रयोग प्रारंभ किया। मैंने अपने लेख (1969) में 'फ़ोनीम' शब्द के स्थान पर भारतीय 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया है। इसी बात को मैंने लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ़ अमेरिका (न्यूयार्क, दिसंबर 1968) के सम्मेलन में भी कहा था। यहाँ मैं केवल इतना ही कहूँगा कि 'वर्ण' शब्द के पीछे पूरक वितरण जैसा दोषपूर्ण सिद्धांत नहीं जुड़ा है और भाषाविज्ञान में विशिष्ट स्वनों के अर्थ में सबसे पहले 'वर्ण' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। संक्षेप में, 'वर्ण' स्वन के विशिष्ट या प्रतिनिधि अभिलक्षणों का समुच्चय है। पाश्चात्य भाषाओं में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग वैसे ही हो सकता है जैसे कुछ अन्य संस्कृत शब्दों का हुआ है जैसे 'संधि', 'स्वरभक्ति' आदि। इस लेख में हमने जहाँ भी 'स्वन' का प्रयोग 'विशिष्ट स्वन' के अर्थ में किया है, वहाँ 'वर्ण' से ही हमारा अभिप्राय है। अब हम आगे हिंदी के वर्णों का विशिष्ट अभिलक्षणों की दृष्टि से वर्गीकरण करते हैं:—

वर्ण	ओष्ठ्य	दंत्य	तालव्य	कंठ्य	नासिक्य	संघर्षी	ताड़ित	घोष	महाप्राण	पश्च	संवृत	स्वरीय
प्	×							×				
ब्	×								×			
फ्	×							×	×			
भ्	×											
त्		×						×				
द्		×							×			
थ्		×						×	×			
ध्		×								×		
ट्			×					×		×		
ड्			×						×	×		
ठ्			×					×	×	×		
ढ्			×									
च्			×					×				
ज्			×						×			
छ्			×					×	×			
झ्			×									
क्				×				×				
ग्				×					×			
ख्				×				×	×			
घ्				×								

वर्ण	ओष्ठ्य	दंत्य	तालव्य	कंठ्य	नासिक्य	संघर्षी	ताड़ित	घोष	महाप्राण	पश्च	संवृत	स्वरीय
म्	×				×			×				
न्		×			×			×				
ण्			×		×			×		×		
ङ्				×	×			×				
फ़्	×	×				×						
स्		×				×						
ज़्		×				×		×				
श्			×			×						
क़्				×						×		
ख़्				×		×						
ग़्				×		×		×				
ह्				×		×		×		×		
र्			×				×	×				
ड़्			×				×	×		×		
ढ़्			×				×	×	×	×		
ल्		×	×				×	×				
इ			×					×			×	×
ई			×					×				×
ए			×	×				×			×	×
ऐ			×	×				×				×

वर्ण	ओष्ठ्य	दंत्य	तालव्य	कंठ्य	नासिक्य	संघर्षी	ताड़ित	घोष	महाप्राण	पश्च	संवृत	स्वरीय
अ				×				×			×	×
आ				×				×				×
ऊ	×							×			×	×
उ	×							×				×
ओ	×			×				×			×	×
औ	×			×				×				×

इस वर्गीकरण में स्वरों की अनुनासिकता (नासिक्यता) नहीं दी गई है। जिस वर्ण का जो अभिलक्षण है उसको गुणा '×' चिह्न के द्वारा दिखाया गया है। जहाँ '×' चिह्न का अभाव है वहाँ उस अभिलक्षण की अनुपस्थिति समझी जाएगी। उदाहरण के लिए 'प्' वर्ण में ओष्ठ्य अभिलक्षण है, इसलिए 'प्' के सामने और ओष्ठ्य तत्त्व के नीचे '×' चिह्न लगा दिया गया है। याने 'प्' में ओष्ठ्य का भाव या उपस्थिति है। दूसरी ओर दंत्य के नीचे 'प्' वर्ण वाली कतार में कोई चिह्न नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि 'प्' में दंत्य अभिलक्षण का अभाव है। हमने 'य्' और 'व्' को क्रमशः 'इ' और 'उ' की स्थानविशेष में (जैसे स्वरों के पूर्व) 'श्रुति' माना है, इसीलिए वर्णों की श्रेणी में 'य्' और 'व्' को नहीं दिखाया गया है। इस विषय में मतभेद भी हो सकता है, परंतु उससे सैद्धांतिक अंतर नहीं होगा। याने 'य्' और 'व्' को 'वर्ण' भी समझा जा सकता है।

इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि स्थान-प्रयत्नमूलक शब्दों का प्रयोग परंपरागत ढंग से नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि हमारा वास्तविक उद्देश्य संस्कार-तत्त्व दिखाना है जिनकी ओर हम काम चलाने के लिए स्थान-प्रयत्नमूलक शब्दावली से इंगित मात्र कर रहे हैं। जैसे, कुछ स्थान-प्रयत्न-मूलक शब्दों का अर्थ स्वन-विशेष के अनुसार भिन्न-भिन्न है। उदाहरण के लिए 'पश्च' शब्द का विशुद्ध स्थान-प्रयत्नमूलक शब्दावली से कुछ तालमेल बैठता-सा नज़र नहीं आता। परंतु यदि वर्ण विशेष की प्रासंगिकता के हिसाब से देखा जाए तो 'पश्च' का ट् वर्ण के प्रसंग में स्थान-प्रयत्नमूलक शब्दों में 'मूर्धन्य' अर्थ है। दूसरी ओर क़् के प्रसंग में 'पश्च' का अर्थ कोमल तालु का पिछला भाग (या 'जिह्वामूलीय') समझा जाएगा क्योंकि वर्गीकरण में 'क़्' को कंठ्य कहा गया है और 'पश्च' जोड़ने से 'पश्च कंठ्य' अभिप्राय होगा। दूसरे शब्दों में, जीभ का कोई हिस्सा निर्दिष्ट स्थान से जिस वर्ण में पीछे (पश्च) हो जाए उस वर्ण को 'पश्च' से इंगित कर दिया गया है। जैसे 'ट्' में निर्दिष्ट स्थान 'तालव्य' से इंगित किया गया है। 'पश्च' कह कर इस स्थान को जिह्वा किसी रूप में पीछे की ओर घुमा देती है। स्मरण रहे कि हम यह बात सिर्फ

स्थान-प्रयत्नमूलक अर्थों में समझाने के लिए कह रहे हैं। इसी तरह 'ताड़ित' का स्थान-प्रयत्नमलक अय 'र्' के प्रसंग में 'लुंठित' है और 'ड़' के अर्थ में 'उत्क्षिप्त'। ऐसा ही अन्यत्र भी समझें। स्वरों के प्रसंग में वही वर्ण स्वर हैं जिसके लिए 'स्वरीय' तत्व '×' चिह्न से दिखाया गया है। जिन वर्णों में 'स्वरीय' का स्थान रिक्त है वह स्वतः ही अस्वर या व्यंजन मानें जाएंगे जैसे 'प्' की कतार में 'स्वरीय' अभिलक्षण की जगह खाली है जिससे यह व्यंजना की गई है कि 'प्' व्यंजन है। 'प्रासंगिकता' और 'व्यंजना' से ही हम स्वन-अभिलक्षणों की संख्या वहुत कम कर देते हैं। व्याकरण के नियम वनाते वक्त वहुत थोडे ही स्वन-अभिलक्षणों की आवश्यकता होती है। इसलिए जितने से ही व्याकरण में काम चल जाए उतनी ही संख्या पर्याप्त है। हमारा दृष्टिकोण यहाँ यही रहा है। हमारा विश्वास है कि इतने ही वर्णों को मानने पर इतने ही स्वन-अभिलक्षण प्रत्येक वर्ण को एक दूसरे से भिन्न कर देते हैं। (सिर्फ़ अनुनासिक या नासिक्य स्वर-वर्णों को यहाँ छोड़ दिया है, जैसे हिंदी में 'आ' स्वर के अतिरिक्त 'आँ' स्वर भी है, याने सभी स्वर नासिक्य भी हैं)।

इस लेख से यह न समझा जाए कि हिंदी-स्वनों का स्थान-प्रयत्नमूलक या अन्य पद्धतियों से सूक्ष्म व विस्तृत अध्ययन आवश्यक नहीं है। सच तो यह है कि विशिष्ट अभिलक्षण कौन हो सकता है, यह तभी जाना जा सकता है जव किसी भाषा के स्वनों का सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन उपलब्ध हो। उदाहरण के लिए, हिंदी में वर्मा (1933) द्वारा ऐसा एक अध्ययन प्रस्तुत किया गया था। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से भी हिंदी-स्वनों का वर्णन किया जाए तो स्थान-प्रयत्नमूलक स्वनों के वर्णनों में वहुत-सी नई वातें जोड़ी जा सकती हैं। इस तरह का प्रयत्न दीक्षित और मैकनीलेज (1972) द्वारा किया गया है। संस्कार स्वनों के एक मनोवैज्ञानिक पहलू को प्रस्तुत करते हैं, जिसकी हमने यहाँ पर अति संक्षिप्त चर्चा की है।[1] ●

पादटिप्पणी :—

1. इस विषय पर अधिक विस्तृत विवेचन मेरे प्रकाशित होने वाले ग्रंथ 'म्यूज़िकोलिंग्विस्टिक्स—ए स्टडी ऑफ़ म्युज़िक एंड लैंग्वेज' में किया गया है।

उल्लिखित ग्रंथ और लेख :—

(1) चंदोला, अनूप 1969, मेटालिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर ऑफ इंडियन ड्रमिंग : ए स्टडी ऑफ म्यूज़िकोलिंग्विस्टिक्स, लैंग्वेज एंड स्टाइल 2.288–95।

(2) दीक्षित, आर० प्रकाश० तथा पीटर एफ़० मैकनीलेज, 1972, मिमियोग्राफ—अकूस्टिकल सोसाइटी ऑफ अमेरिका में पठित।

(3) याकोब्सन, रोमन तथा सी० जी० एम० फांट और मारिस हाला; 1952, प्रिलिमिनरीज़ टु स्पीच एनालिसिस; कैंब्रिज; एम० आइ० टी० प्रेस।

(4) वर्मा, धीरेंद्र, 1933, हिंदी भाषा का इतिहास, प्रयाग, हिंदुस्तानी एकेडेमी।

(5) हाला, मारिस, 1964, आन द वेसेज़ ऑफ फ़ोनोलाजी, द स्ट्रक्चर ऑफ लैंग्वेज, जरी ए० फ़ोडर तथा जेरल्ड जे० काट्ज़ द्वारा संपादित, इंगलवुड क्लिफ्स : प्रेंटिस–हाल।

हिंदी की अपनी संधियाँ*

बीना श्रीवास्तव

भारतीय वैयाकरणों ने 'संधि' को उस स्वन-विकार के रूप में स्वीकार किया है जो दो या उससे अधिक वर्णों के पास-पास आने के परिणामस्वरूप सिद्ध होते हैं। कामताप्रसाद गुरु के अनुसार 'दो निर्दिष्ट अक्षरों के पास-पास आने के कारण उनके मेल से जो विकार होता है, उसे संधि कहते हैं।' किशोरीदास वाजपेयी के शब्दों में 'जब दो या अधिक वर्ण पास-पास (आनंतर्य से) आते हैं तो कभी-कभी उनमें रूपांतर हो जाता है। इसी रूपांतर को संधि कहते हैं। संधि के लिए यह आवश्यक है कि स्वन-संयोग के फलस्वरूप स्वनों में परिवर्तन या विकार हो। स्वन परिवर्तन संधि का अनिवार्य तत्त्व माना गया है। स्वनों के पास-पास आने के उपरांत भी यदि उनमें स्वन-परिवर्तन न हो तो उसे इन आचार्यों ने संधि की संज्ञा नहीं दी है। उसे उन्होंने स्वन-संयोग के नाम से अभिहित किया है।

यह भी तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय आचार्यों ने संधि को बाह्य संधि के रूप तक ही सीमित रखा है। अर्थात् संधि के प्रकरण मुख्यतः उपसर्ग+प्रकृति, प्रकृति+प्रकृति अथवा प्रकृति+प्रत्यय आदि की संधि-रेखा पर होने वाले स्वन-विकार तक सीमित हैं। इस दृष्टि से संधि वहीं संभव है जहाँ दो रूपिमों के बीच संयोग होता है।

पाश्चात्य भाषाविज्ञानियों ने संधि प्रयोग को रूप-स्वनप्रक्रिया के समानांतर रखा है। अतः संधि-क्षेत्र का प्रसार आभ्यंतर संधि तक भी करना संभव है। इस दृष्टिकोण के अनुसार रूपिम की स्वनिक संरचना के संदर्भ में सह रूपों की स्वनिक आकृति के बीच पाई जाने वाली भिन्नता के अध्ययन का पूरा क्षेत्र 'संधि' के अंतर्गत आता है। अतः पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार 'संधि' के लिए यह तो आवश्यक है कि स्वर अथवा व्यंजन में परिवर्तन या विकार

---

*संधि नियमों के कुछ स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए मैं डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव की आभारी हूँ।

हो पर उसके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि ये स्वन-विकार दो रूपिम की संधि रेखा पर ही हों। इस मत के अनुसार दो रूपिमों की संधि रेखा पर होने वाले स्वन-विकार को तो वाह्‌य-संधि कहा जा सकता है पर दो रूपिमों के संयोग से रूपिम की स्वन-संरचना के भीतर ही होने वाले स्वन विकार को आभ्यंतर संधि कहते हैं।

जिस व्यापक स्तर पर संधि का प्रयोग संस्कृत भाषा में देखने को मिलता है, वह हिंदी भाषा में नहीं मिलता। संस्कृत की प्रकृति संश्लषणात्मक रही हैं जबकि हिंदी मूलतः विश्लेषणात्मक भाषा है। विश्लेषणात्मक होने के कारण इसकी अपनी संधियों के नियम वहुत ही सीमित हैं। प्रायः संस्कृत से हिंदी में आए हुए शब्दों में संधि प्रकरण अधिक मिलत हैं। हिंदी की संधियों की चर्चा करते समय यह देखना अनुचित न होगा कि जिन शब्दों में स्वन विकार होता है उनकी प्रकृति क्या है।

इस दृष्टि से देखने पर संधि प्रकरण को पहले दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) हिंदी में प्रयुक्त संस्कृत से आगत संधियाँ

(2) हिंदी की अपनी संधियाँ

संस्कृत से आगत संधियों का क्षेत्र तत्सम शब्दों तक ही सीमित है। इस वर्ग को भी दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

1. (अ) संस्कृत से आगत वे शब्द जो विग्रह के पश्चात्‌ खंड रूप (दोनों अंशों) में हिंदी में प्रयुक्त होते हैं।

यथा : परम+अर्थ=परमार्थ

देव+इन्द्र=देवेन्द्र

सम्‌+कल्प=संकल्प

1. (आ) संस्कृत से आगत वे शब्द जो संधि-विग्रह के पश्चात्‌ दोनों खंडों अथवा एक खंड रूप में हिंदी में स्वतंत्र रूप से प्रयोग न होने के कारण विश्लिष्ट रूप में हिंदी-कोष के शब्द नहीं स्वीकार किए जा सकते। गुरुजी ने ऐसी संधियों को भी अपने व्याकरण में स्थान दिया है। यथा :

ने+अन=न्‌+ए+अ+न=न्‌+अय्‌+अन=नयन

गै+अन=ग्‌+ऐ+अ+न=ग्‌+आय्‌+अ+न=गायन

'नयन' और 'गायन' जैसे शब्दों को हिंदी भाषा ने यथावत्‌ शब्द के रूप में संस्कृत से लिया है अतः इनका विच्छेद न कर समग्र रूप में ही स्वीकार करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि

मरण (मर्+अन), भूषण (भूष्+अन), रामायण (राम+अयन), तृष्णा (तृष्+ना); ऋण (ऋ+न) आदि संस्कृत शब्दों को हिंदी ने समस्त शब्दों के रूप में ही स्वीकार किया है। हिंदी भाषा के संदर्भ में इनका संधि-विच्छेद करना उचित नहीं होगा।

(2) हिंदी की अपनी संधियों का कार्य-क्षेत्र हिंदी के अपने शब्दों तक ही सीमित है। यहाँ पर हिंदी की अपनी दो संधियों का विस्तार-पूर्वक विवेचन दिया जा रहा है :—

(अ) ही—की संधि

(अ) 1. इस+ही=इसी
उस+ही=उसी
किस+ही=किसी
जिस+ही=जिसी

नियम* : संर० विवरण :	[—स	अ+	ह	ई
सर्व०	1	2	3	4	5
संर० परिवर्तन	1	ϕ	ϕ	ϕ	5

(अ) 2 यह+ही=यही
वह+ही=वही

नियम : संर० विवरण :	[—ह	अ+ह	ई
सर्व०	1	2	3	4	5
संर० परिवतन	1	ϕ	ϕ	ϕ	5

(अ) 3 यहाँ+ही=यहीं
वहाँ+ही=वहीं
कहाँ+ही=कहीं
जहाँ+ही=जहीं

नियम : सं० विवरण :	[—ह	आँ+	ह		ई
सर्व०	1	2	3	4	5
	1	ϕ	ϕ	ϕ	[5 अनु०]

---

*संकेत :—
संर०=संरचनात्मक, सर्व०=सर्वनाम, + =रूपिम संधि, ϕ=लोप, अनु०=अनुनासिक, प्राण०=महाप्राणत्व।

(अ) 4 अब + ही = अभी

जब + ही = जभी

तब + ही = तभी

कब + ही = कभी

नियम : संर० विवरण : [—ब अ + ह ई

सर्व० 1 2 3 4 5

संर० परिवतन [1 / प्राण 0] ϕ ϕ ϕ 5

ऊपर दिए (अ) 1, 2, 3, 4 नियमों का सामान्यीकृत रूप एक ही प्रक्रिया की अपेक्षा रखता है अतः इन नियमों को एक व्यापक नियम के संदर्भ में रखा जा सकता है।

ही–संधि नियम :

संर० विवरण : [{ [स/ह] / [व] } स्वर (अनु०) + ह ई

सर्व० 1 2 3 4 5

संर० परिवर्तन: { [—] / [+प्राण] / 1 } ϕ ϕ ϕ 5

2 3 4 <अनु०>

नियम रूप में कहा जा सकता है कि 'हकारांत, सकारांत और वकारांत सर्वनाम एवं अव्यय का रूपिम संधि रेखा पर 'ही' के साथ संयोग होने पर सर्वनाम के अंतिम स्वर, रूपिम संधि रेखा और 'ही' के 'ह्' का लोप हो जाता है और यदि सर्वनाम का अंतिम स्वर अनुनासिक हो तो 'ती' का 'ई' अनुनासिक और अगर सर्वनाम वकारांत हो तो उसका 'व' महाप्राण हो जाता है।*

'य' का आगम (अथवा लोप) :

वाजपेयी जी ने 'य्' के लोप के संदर्भ में लिखा है कि 'गयी, आयी, उठायी आदि में 'य' प्रमाण प्राप्त है : क्योंकि ये रूप हैं —गया, आया, उठाया, आदि के स्त्रीलिंग। सो, य-युक्त रूप सही है; परंतु इनमें 'य' पूर्ण रूप से तो क्या, किंचित् भी श्रुत नहीं है।...जब श्रुत नहीं, तो लुप्त हुआ। सो, 'आई', 'गई' आदि रूप य-लोप से हैं। 'य्' प्रमाण-प्राप्त है इसलिए आयी, गयी आदि भी (हिंदी व्याकरण, पृ० 120)।

---

*यह आश्चर्य की बात है कि वाजपेयी जी हकारांत सर्वनाम में सर्वनाम के 'ह्' का लोप मानते हैं जबकि सकारांत सर्वनाम में 'ही' के व्यंजन का (हिंदी व्याकरण : 119)। ऊपर दिए नियम के अनुसार, सर्वत्र 'ही' के व्यंजन का ही लोप स्वीकार किया गया है क्योंकि सभी उपनियमों के पीछे संधि की एक व्यापक प्रक्रिया काम कर रही है।

'आया, उठाया' आदि शब्द-रूपों में वाजपेयी जी 'य' को प्रमाण-प्राप्त मानत हैं पर अगर रूपिम-विश्लेपण किया जाए तो इनमें जो खंड रूप मिलते हैं —उनका क्रम है—

कोपीय शब्द + पक्ष + वचन—लिंग

पक्ष-भेद के आधार पर 'आया, उठाया ' के ही समानांतर रूप हैं—'आता, उठाता' अथवा 'आ रहा, उठा रहा' । यह माना जा सकता है कि अगर अपूर्ण सामान्य पक्ष का प्रत्यय–त–और अपूर्ण-सातत्य का–रह–है तो पूर्ण पक्ष का प्रत्यय—ϕ—(शून्य) है ।

इसी प्रकार 'आता, आते, आती, आतीं' शब्द-रूपों के आधार पर वचन-लिंग प्रत्यय को भी विश्लेषित किया जा सकता है जिसे नीचे तालिका 1 में दिया गया है ।

		लिंग	
		पु०	स्त्री०
वचन	एक०	आ	ई
	बहु०	ए	ईं

तालिका 1

अतः रूपिमिक विश्लेषण के आधार पर 'आता, उठाता', अथवा 'आया, उठाया' वस्तुतः निम्नलिखित खंड-रूप में सिद्ध हैं —

कोपीय शब्द+पक्ष प्रत्यय+वचन–लिंग प्रत्यय

आ, उठा	+	त (अपूर्ण), ϕ (अपूर्ण)	+आ

यहाँ अगर 'आया' और 'उठाया' मूल-रूप में (आ+ϕ+आ, उठा+ϕ+आ) हैं तो 'य' का यहाँ आगम स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि शब्द-रूप तो 'आया, उठाया' हैं । इन शब्दों में 'य' का आगम हिंदी इसलिए स्वीकार करती है कि संस्कृत से चला आ रहा हिंदी में एक संधि नियम भी है – 'यदि दो सवर्ण (सजातीय) स्वर पास-पास हों तो दोनों के बदले सवर्ण दीर्घ स्वर होता है; जैसे :–

कल्प + अंत = कल्पांत
गिरि + ईश + गिरीश
सती + ईश + सतीश

अगर 'गया, आया अथवा उठाया' में 'य' का आगम न हो तो इस संधि के अनुसार उसका रूप हो जाएगा 'गा, आ, उठा', जो हिंदी में सिद्ध नहीं है। हिंदी का यह नियम है कि अगर धातु-रूप स्वरांत हो और उसका तथा प्रत्यय का स्वर, प्रकृति में विवृत (अ, आ) हो, तो आनंतर्य से आने पर 'य' का आगम अनिवार्य रूप में होगा।

इसके विपरीत अगर धातु-रूप स्वरांत हो और उसका तथा प्रत्यय का स्वर, प्रकृति रूप में सजातीय और संवृत हो, तब उनमें संधि हो जाती है। (यहाँ 'य' का आगम नहीं होता अन्यथा संधि-रूप सिद्ध ही नहीं होगा) उदाहरण के लिए 'पीना' शब्द को लें। इससे लिंग/पक्ष के आधार पर बने एकवचन रूपों को तालिका 2 में दिखाया गया है :

		पक्ष: अपूर्ण	पक्ष: पूर्ण
लिंग	पु०	1 पीता (पी+त+आ)	2 पिया/पिआ (पी+ϕ+आ)
	स्त्री०	3 पीती (पी+त+ई)	4 पी (पी+ϕ+ई)

तालिका 2

स्पष्ट है कि वर्ग 4 में 'पी' रूप में संधि हुई है अन्यथा शब्द-रूप होना चाहिए था—'पीई' या 'पीयी'। नीचे दिए चार वाक्यों की तुलना से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है :—

(1) उसने दूध पिया है।*

(2) उसने शराब पी है।

(3) उसने रोटी खाई है।

(4) उसने दवा पी है।

सजातीय स्वरों के आनंतर्य पर आने की स्थिति में होने वाली संधि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब दोनों स्वर, सवर्ण और संवृत हो तो 'य्' का आगम नहीं होता अन्यथा होता है। 'य' का आगम उस स्थिति में अनि-

---

*'पीया' के स्थान पर 'पिया' का प्रयोग रूप-स्वनप्रक्रिया का परिणाम है। नियमत: यदि रूमिप सीमा के बाद आने वाले अक्षर का स्वर दीर्घ हो तो उस सीमा के पहले आने वाला दीर्घ स्वर ह्रस्व में परिवर्तित हो जाता है।

वार्य (नित्य) है जबकि दोनों स्वर सवर्ण और विवृत हों अन्यथा असवर्ण स्वर होने पर 'य्' का आगम वैकल्पिक है।

ऊपर दिए नियम से स्पष्ट हो जाता है कि 'गया', 'आया', उठाया'

में 'य्' नित्य-रूप में स्थित क्यों है पर नीचे दिए रूपों में उसका वैकल्पिक प्रयोग होता है :—

गये—गए, आये—आए, उठाये—उठाए,

गयी—गई, आयी—आई, उठायी—उठाई

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऊपर चर्चित संधियाँ हिंदी की अपनी संधियाँ हैं। रूप एवं प्रकार्य के आधार पर उनकी प्रकृति संस्कृत की संधियों से भिन्न है। अतः हिंदी भाषा की रूप-प्रकृति को उद्घाटित करने के लिए यह आवश्यक है कि हिंदी की अपनी अन्य संधियों का पता लगाया जाए। ●

रूपप्रक्रिया

तथा

वाक्यविन्यास

हिंदी में शब्द, पद और पदबंध

अनिल विद्यालंकार

0.1 आधुनिक हिंदी व्याकरणों में 'शब्द' और 'पद' शब्दों का प्रयोग मिले-जुले अर्थ में हो रहा है। व्याकरणिक दृष्टि से इनमें अंतर करने का प्रयत्न बहुत कम हुआ है। संस्कृत की परंपरा में 'पद' का व्याकरणिक अर्थ सुनिश्चित था यद्यपि पद के स्थान पर 'शब्द' का प्रयोग बहुधा होता रहा है।

अंग्रेज़ी की व्याकरणिक परंपरा में शब्द से भिन्न पद की बहुत स्पष्ट संकल्पना नहीं है। 'वर्ड', 'फ्रेज़' और 'पार्ट आफ़ स्पीच' जैसे प्रयोगों में से पद का कार्य उभरकर सामने नहीं आता। यह बात बहुत से आधुनिक अंग्रेज़ी व्याकरणों में भ्रांत चिंतन का कारण है।

व्याकरण के क्षेत्र में स्पष्ट चिंतन गणित और भौतिकी के क्षेत्र से भी अधिक आवश्यक है। शब्द और पद का अंतर समझना इस दिशा में कुछ सीमा तक हमारी सहायता कर सकता है।

भारतीय परंपरा में 'शब्द' का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है और अब भी हो रहा है। निम्नलिखित कुछ वाक्य इसके उदाहरण हैं :—

(क) दशरथ शब्दवेधी बाण चलाने में निष्णात थे।

(ख) पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं।

(ग) व्याकरण को ही शब्दानुशासन भी कहते हैं।

(घ) कृपया अपना निबंध 1000 शब्दों तक सीमित रखें।

(ङ) साधारण तार भेजने में आठ शब्दों के बाद प्रत्येक अतिरिक्त शब्द के पंद्रह पैसे लगते हैं।

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि हम लोग आज भी 'शब्द' का प्रयोग अनेक अर्थों में कर रहे हैं। वाक्य (क) में 'शब्द' का प्रयोग ध्वनि के लिए हुआ है और इसका व्याकरण से कोई संबंध नहीं है। वाक्य (ख) और (ग) में 'शब्द' का प्रयोग 'पद' के लिए हुआ है क्योंकि वहाँ अभिप्राय उन व्याकरणिक इकाइयों से है जो वाक्य की घटक होती हैं और कर्ता, क्रिया कर्म, अव्यय आदि के रूप में काम करती हैं। वाक्य (घ) और (ङ) में 'शब्द' का प्रयोग पद के लिए भी माना जा सकता है और पद से छोटे उन शब्दों के लिए भी जो अलग-अलग लिखे या छापे जाते हैं और इसलिए जिन्हें गिना जा सकता है। तारघर में तो शब्द से पद का ही आशय लिया जाता है और लिया जाना चाहिए (अन्यथा तार के भेजने में काफ़ी बड़ी राशि का अतिरिक्त व्यय होगा)। पर यह जानना रोचक होगा कि समाचार-पत्रों के संपादक और वे परीक्षक जो किसी प्रश्न का उत्तर कुछ निश्चित गिनती के शब्दों में चाहते हैं, शब्दों को कैसे गिनते हैं? उदाहरणार्थ, 'दो घंटे से वह बोले ही चले जा रहा है' वाक्य में कितने शब्द हैं?

2.1 शब्द के आधुनिक प्रयोग में गणनीयता का भाव सर्वप्रमुख है और मशीनयुग में इसकी आवश्यकता सदा रहेगी। हम सभी को कभी न कभी किसी लेख आदि का आकार निर्धारित करना होता है या यह जानना होता है कि एक पृष्ठ में कितने शब्द आते हैं। यह गणना से ही संभव है। शब्दों की गणना उनके लिखित रूप में अलगाव के कारण है और यह अलगाव बहुत कुछ परंपरा पर निर्भर है। इसमें मतभेद की गुंजाइश भी सदा रहेगी। जो लोग जा कर अलग-अलग लिखते हैं उनके लिए ये दो शब्द हैं। जो लोग इन्हें मिलाकर लिखते हैं उनके लिए एक शब्द। हम लोग जाएगा को एक शब्द मानते हैं। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जाए गा लिखने के पक्ष में हैं। उस दशा में ये दो शब्द हो जाएँगे। राम ने दो शब्द हैं, रामने एक।

2.2 मोटे तौर पर हम 'शब्द' की निम्नलिखित परिभाषा कर सकते हैं:—
वर्णों के एसे समूह शब्द हैं जो लिखित रूप में अलग-अलग लिखे जाते हैं और जो स्वतंत्र रूप से या अन्य शब्दों के साथ मिलकर वाक्य के पदों का निर्माण करते हैं।

3.1 शब्द के विपरीत, पद एक वाक्यगत व्याकरणिक इकाई है। पद का स्वरूप और कार्य वाक्य के संदर्भ में ही समझा जा सकता है जबकि शब्द के लिए वाक्य के संदर्भ की आवश्यकता नहीं है। किसी अपरिचित भाषा के छपे रूप के आधार पर हम उसके शब्दों की गणना कर सकते हैं। पर उसके पदों का ज्ञान उस भाषा को सीखने पर ही होगा। अंग्रेजी तार का भुगतान शब्दों की गिनती के आधार पर किया जाता है, हिंदी तार का पदों की गिनती से। इन मोटी-सी बातों से शब्द और पद का अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है। व्याकरण में शब्द-भेद के स्थान पर वस्तुत: पद-भेद की चर्चा होनी चाहिए।

3.2 पाणिनि की परिभाषा (सुप्तिङंतं पदम्) संस्कृत शब्दों की रूप-रचना पर आधारित होने के कारण हिंदी या अन्य किसी भाषा पर लागू नहीं हो सकती। स्वयं संस्कृत में भी इस परिभाषा की उपयोगिता बहुत संदिग्ध

है । इस परिभाषा के अनुसार संस्कृत के वाक्य में कोई शब्द पद है या नहीं, यह जानने के लिए हमें पाणिनि का पूरा व्याकरण पढ़ना होगा । **जगति** और **जगतः** के अंत में **पठति** और **पठतः** की तरह **ति** और **तः** हैं पर इस रूपसाम्य के कारण **जगति** और **जगतः** तिङंत पद नहीं सिद्ध होंगे क्योंकि पाणिनि की सूत्र-व्यवस्था **जगति** और **जगतः** शब्द की सिद्धि **पठति** और **पठतः** की तरह नहीं करती । इसी प्रकार '**रमा गच्छति**' वाक्य में यदि यह कहा जाए कि यहाँ **रमा** पद नहीं है क्योंकि इस शब्द के अंत के **सु** आदि में से कोई प्रत्यय दिखाई नहीं दे रहा तो वह भी मान्य नहीं होगा; क्योंकि पाणिनि की सूत्र-व्यवस्था के अनुसार **रमा** के अंत में **सु** है किंतु यहाँ इसका लोप हो गया है ।

पाणिनि की पद की परिभाषा अन्य किसी भी भाषा के पदों की पहचान में हमारी सहायता नहीं कर सकती; क्योंकि अन्य भाषाओं में **सुप्** और **तिङ** प्रत्यय होते ही नहीं । यदि संस्कृत का व्याकरण भी पाणिनि से भिन्न पद्धति से लिखा जाए तो यह परिभाषा वहाँ भी लागू नहीं होगी ।

3.3 मूल प्रश्न यह है कि '**रमा गच्छति**' में हम क्यों **रमा** के बाद **सु** के आगम की और फिर उसके लोप की कल्पना कर उसे पद सिद्ध करना चाहते हैं जबकि पद का कोई रूपात्मक चिह्न उससे संयुक्त नहीं है ? इसी प्रकार हम क्यों कहते हैं कि **जगति** और **जगतः**, **पठति** और **पठतः** की तरह से नहीं अपितु एक अन्य प्रक्रिया से पद बने हैं ?

अवश्य ही पाणिनि के सूत्रों द्वारा इन शब्दों को पद सिद्ध करने से पूर्व हम वाक्य में उनका कर्ता, कर्म, क्रिया आदि कार्य देख कर उनका पद होना या न होना निर्धारित कर लेते हैं । संस्कृत के विद्वान भी संस्कृत के वाक्यों को पढ़ते हुए इसी प्रकार पदों का निर्धारण करते हैं । किसी शब्द को सुवन्त या तिङन्त सिद्ध करने के लिए सभी आवश्यक सूत्र सब समय तो किसी को स्मरण भी शायद न रहते हों ।

3.4 हिंदी में पद की परिभाषा करते हुए रूप-रचना की बजाय शब्दों के वाक्यगत कार्य को ही आधार बनाना होगा । हिंदी वाक्य में पद निम्नलिखित पांच में से कोई एक व्याकरणिक कार्य कर सकता है : (क) कर्ता (ख) कर्म (ग) पूरक (घ) क्रिया (ङ) अव्यय । हम कह सकते हैं कि **पद वह शब्द या न्यूनतम शब्द-समूह है जो वाक्य या पदबंध में कोई व्याकरणिक कार्य कर रहा हो** । (पदबंध के बारे में आगे विचार होगा) ।

पदबंध में पद के व्याकरणिक कार्य निम्नलिखित होंगे :— (क) संज्ञा (ख) सर्वनाम (ग) विशेषण (घ) अव्यय ।

3.5 स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि पद कितने प्रकार के होते हैं । भारतीय आचार्यों में इस विषय में मतभेद रहा है । यास्क का प्रसिद्ध सूत्र है : चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । उनके अनुसार नाम (संज्ञा, सर्वनाम व विशेषण), आख्यात (क्रियाएं) उपसर्ग और निपात ये चार पदों के भेद हैं । यहां जिस दृष्टिकोण से हमने विचार किया है उससे नाम, आख्यात और निपात तो पद होंगे पर उपसर्गों को पद नहीं माना जा सकेगा

9—7 C.H.D.(ND)/72

क्योंकि वे वाक्य या पदबंध में स्वतंत्र रूप से कोई व्याकरणिक कार्य नहीं करते । निपात की कोटि में यदि सभी अव्ययों को रख लिया जाए तो यास्क का विभाजन हिंदी में भी सहायक हो सकता है । उस दशा में हम हिंदी में निम्नलिखित पाँच प्रकार के पद मानेंगे :— (क) संज्ञा (ख) सर्वनाम (ग) विशेषण (घ) क्रिया (ङ) अव्यय ।

यह विभाजन प्रायः मान्य भी है । हिंदी के शब्द-कोशों में शब्दों के आगे उनका पद-भेद दिखाते हुए इन्हीं पाँच कोटियों में उनका विभाजन किया जाता है ।

4.1 ऊपर कहा गया है कि पद का स्वरूप और कार्य वाक्य के संदर्भ में ही जाना जा सकता है। पद को समझने के लिए वाक्य का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है । वाक्य-विश्लेषण की पद्धति में प्राचीन आचार्यों में भी बहुत मतभेद रहा है और आधुनिक आचार्यों में भी है । उस सारे विवाद में जाने का अवकाश यहाँ नहीं है । पर प्रसंगवश यह संकेत करना आवश्यक है कि पदों के प्रकार के निर्धारण में वाक्य-विश्लेषण की पद्धति का सीधा प्रभाव पड़ता है । एक आधुनिक पाश्चात्य पद्धति के अनुसार यदि हम S = NP + VP (वा=संप+क्रिप) सूत्र को मानते हैं तो इस दृष्टि से भाषा में उच्च स्तर पर दो ही प्रकार के पद ठहरते हैं : संज्ञा पद और क्रिया पद। पदों के शेष प्रकार का अवधारण वाक्य से निचले स्तर पर ही होगा । प्राचीन भारतीय नैरुक्तों और मीमांसकों का भी कुछ ऐसा ही मत रहा है। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर इस विश्लेषण में कुछ सार्थकता मालूम देती है । पर जब हम इसे भाषा के व्याकरणिक विश्लेषण का आधार बना लेते हैं तब अनेक कठिनाइयाँ सम्मुख आती हैं ।

4.2 वा=संप+क्रिप का सूत्र अंग्रेज़ी भाषा के वाक्यों पर आधारित है, जहाँ सत्व और क्रिया के वैचारिक विभाजन और उसकी व्याकरणिक परिणति में बहुत साम्य है। वाक्य के प्रारंभ में प्रायः कर्ता आ जाता है और उसके एकदम बाद प्रायः क्रिया। शेष अंश क्रिया का विस्तार-सा प्रतीत होता है। हिंदी वाक्यों में इस विभाजन पद्धति को बहुत छोटे वाक्यों पर ही आसानी से लागू किया जा सकता है । हिंदी की चिंतन-प्रकृति और व्याकरणिक अभिव्यक्ति अंग्रेजी वाक्यों से बहुत भिन्न है। उदाहरण के लिए हिंदी वाक्यों में स्थान की दृष्टि से अव्ययों का इतना अधिक महत्त्व है कि वाक्य में उनका स्वतंत्र अस्तित्व मानना ही अधिक सुविधाजनक होगा । यहाँ इस विषय की अधिक चर्चा संभव नहीं है । पर इस प्रकार विचार करने पर कहा जा सकता है कि पदों की दृष्टि से हिंदी के सरल वाक्य का विभाजन निम्नलिखित छह खंडों में किया जा सकता है :—

	1	2	3	4	5	6
वाक्य-खंड	अव्यय	कर्ता	अव्यय	कर्म-पूरक	अव्यय	क्रिया
उदाहरण	आजकल	वह	डर के मारे	अपना काम	ठीक तरह	कर रहा है

हिंदी के सरल वाक्य में अधिकतम ये छह खंड ही हो सकते हैं। हम कहेंगे कि **पद** वह शब्द या न्यूनतम शब्द-समूह है जो वाक्य के इन छह खंडों में से किसी खंड में स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त हो सकता है।

5.1 वाक्य पदों का समूह है और भाषिक अभिव्यक्ति की इकाई है। यह इसलिए नहीं कि वाक्य में कोई रहस्यपूर्ण आर्थी अन्विति छिपी होती है अपितु सिर्फ इसलिए कि वाक्य वह ढाँचा प्रस्तुत करता है जिसकी पृष्ठ-भूमि में पदों का पारस्परिक संबंध और उनका कार्य समझ में आ सकता है। व्याकरणिक विश्लेषण में हमारा ध्यान वाक्य से अधिक पदों पर रहता है और इसीलिए व्याकरण को बहुधा पद-विज्ञान भी कहा जाता है। पाणिनि के सूत्रों का तीन चौथाई से भी अधिक भाग पद-रचना और पद-संबंधों के ही बारे में है।

5.2 किसी भी भाषा के व्याकरण का एक प्रमुख उद्देश्य उस भाषा के पदों की रचना-पद्धति का वर्णन और वाक्य में उनके संबंधों की व्याख्या होना चाहिए। अर्थ के स्तर पर वाक्यों का विश्लेषण, उनका तथाकथित रूपांतरण और वाक्यों व उपवाक्यों का परस्पर संबंध—ये सब बातें व्याकरण की अपेक्षा दर्शन के क्षेत्र की अधिक हैं और एक अच्छी दार्शनिक पृष्ठभूमि के बिना उन पर स्पष्ट चिंतन असंभव है। भारतीय व्याकरण परंपरा में इसीलिए व्याकरण मुख्यतया पदविज्ञान तक सीमित रहा है। वाक्य की मुख्य चर्चा मीमांसा आदि दर्शनों में अधिक हुई है।

6.1 पद और वाक्य के बीच में एक भाषिक इकाई है जिसे हम **पदबंध** कहेंगे। पदबंध एक नई व्याकरणिक संकल्पना है किंतु आधुनिक भाषाओं के व्याकरण को समझने के लिए यह बहुत ही उपयोगी है। आजकल इस शब्द का प्रयोग कई बार अंग्रेजी के 'फ्रेज़' के समानार्थी के रूप में किया जाता है। जिस दृष्टिकोण से यह निबंध लिखा जा रहा है उसके अनुसार पदबंध और फ्रेज़ में बहुत अंतर है। ऊपर हमने पद की चर्चा की है और देखा है कि पद एक शब्द का हो सकता है और अनेक शब्दों का भी। इस दृष्टि से अंग्रेजी के फ्रेज़ को हम अनेक शब्दीय पद कह सकते हैं।

आइए, अब पदबंध के बारे में विचार करें।

6.2 वाक्य में बहुधा देखा जाता है कि जो व्याकरणिक कार्य एक पद करता है वही कार्य अनेक पद मिलकर भी करते है। उदाहरणार्थ,

(1) लड़का खेल रहा है

कर्ता

(2) सामने के मकान में रहने वाला लड़का खेल रहा है।

कर्ता

(3) उसने मकान घनाया

कर्म

(4) उसने इस मोहल्ले का सबसे शानदार मकान बनाया

कर्म

(5) कल राधा यहाँ आएगी।

अव्यय

(6) परीक्षा समाप्त हो जाने के बाद राधा यहां आएगी।

अव्यय

स्पष्ट है कि वाक्य में अनेक पद मिलकर एक ही व्याकरणिक कार्य कर रहे हैं। **ऐसे पदों के समूह को जो व्याकरणिक रूप से परस्पर संयुक्त हों और वाक्य या अन्य किसी पदबंध में सम्मिलित रूप से एक ही व्याकरणिक कार्य कर रहे हों, पदबंध कहते हैं।**

7.1 पदबंध निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं:

(क) संज्ञा पदबंध
(ख) सर्वनाम पदबंध
(ग) विशेषण पदबंध
(घ) अव्यय पदबंध

यह विभाजन उस कार्य पर निर्भर है जो कोई पदबंध वाक्य में या किसी अन्य पदबंध में करता है।

(क) जो पदबंध वाक्य में कर्ता और कर्म का काम कर सके और जिसके बाद परसर्गों का स्वाभाविक रूप से प्रयोग हो सके, उन्हें संज्ञा पदबंध कहेंगे।

(ख) सर्वनाम पदबंध इसी का एक उपभेद होगा:—

(1) इस पेड़ पर लगने वाले अमरूद मीठे होते हैं।

(2) हमारी संस्था के विषय में अखबारों में छपे समाचार से कुछ लोग चिंतित हैं।

(3) उसने अपनी पुस्तकों की समीक्षा भी खुद लिखी है।

(4) औरों के आगे दुम हिलाने वाले तुम आज यहाँ शेर बन रहे हो!

(ग) विशेषण का कार्य करने वाला पदवंध विशेषण पदवंध होगा। इसका प्रयोग अधिकतर संज्ञा के पूर्व संज्ञा पदवंधों की रचना में होता है। ऊपर के वाक्यों में संज्ञा पदवंधों में से यदि अंतिम संज्ञा या सर्वनाम निकाल दिया जाए तो शेष अंश विशेषण पदवंध होगा। कभी-कभी विशेषण पदवंध का स्वतंत्र प्रयोग भी वाक्य में पूरक के रूप में मिलता है:

(1) यह मकान **इस गली के सभी मकानों से बड़ा** है।

(2) उसकी बातें **दिल को चोट पहुँचाने वाली** होती हैं।

(घ) वाक्य में अव्यय या विस्तार का कार्य करने वाला पदवंध अव्यय पदवंध होगा। इसका प्रयोग हिंदी के सरल वाक्य के उन तीनों खंडों में हो सकता है जहाँ अव्यय पद होता है, अर्थात् कर्ता से पहले, कर्ता और कर्म के बीच में, तथा कर्म और क्रिया के बीच में:

(1) **आपके चले जाने के बाद** वह आया था।

(2) हम तो **मंजिल पर पहुँच कर ही** दम लेंगे।

(3) वह आजकल **पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सावधानी से** काम कर रहा है।

7.2 हिंदी वाक्यों में कर्ता, कर्म, पूरक और अव्यय का कार्य पद और पदवंध दोनों ही कर सकते हैं किंतु क्रिया सदा पद के रूप में ही रहती है, पदवंध के रूप में कभी नहीं। पदवंध की परिभाषा के अनुसार इसमें कम से कम दो पदों का होना आवश्यक है किंतु क्रिया के साथ वाक्य के उसी खंड में कोई अन्य पद नहीं आ सकता। **मोहन खट्टा आम खा रहा है** वाक्य में **आम** पद **खा रहा है** का कर्म होते हुए भी वाक्य के क्रिया खंड में नहीं अपितु कर्म खंड में प्रयुक्त है, इसलिए **खा रहा है** तीन शब्दों से निर्मित होने पर भी केवल पद है जबकि **खट्टा आम** में विशेषण पद और संज्ञा पद अलग-अलग होने के कारण यह पदवंध है। वह **खाना खाकर टहलता है** में अंतिम चार शब्द एक पदवंध नहीं बना रहे। इस वाक्य में **टहलता है** क्रियापद है और **खाना खाकर** अव्यय पदवंध; क्योंकि इसमें **खाकर** अव्यय की धातु के कर्म के रूप में एक अन्य पद **खाना** उपस्थित है।

8.1 पदवंध के आकार की सिद्धांततः कोई सीमा नहीं है। पद एक के बाद एक आकर बड़े से बड़े पदवंध का निर्माण कर सकते हैं। नीचे का वाक्य देखें:—

उत्तर भारत के कुछ राज्यों में पिछले लंबे समय से पड़ रहे भयंकर सूखे की स्थिति पर विचार करने के लिए गत मंगलवार को गांधी मैदान में सभी राजनैतिक दलों की ओर से आयोजित एक विशाल जन सभा में भाषण देते हुए **मोहनलाल जी** रो पड़े।

इस सरल वाक्य में केवल अंतिम दो पद ही मूल वाक्य बना रहे हैं। शेष 26 पद मिलकर एक अव्यय पदबंध की रचना कर रहे हैं जो वाक्य के पहले अव्यय खंड में प्रयक्त है ।

9.2 हिंदी व्याकरण के **सिद्धांततः** तीन मुख्य भाग होने चाहिए :

(क) पद-रचना का वर्णन

(ख) पदों के संबंधों का वर्णन

(ग) पदबंधों की रचना का वर्णन

यहाँ पदों की रचना और उनके संबंधों पर विचार करने का अवकाश नहीं है परंतु पदबंधों की रचना पर विचार कर लेना उपयोगी होगा। हमने देखा है कि पदबंधों की रचना पदों के संयोग से होती है। ऊपर से देखने पर पदों के संयोग अनंत प्रकार के मालूम होते हैं किंतु निगमन विधि से विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि बड़े से बड़ा पदबंध आखिरकार संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और अव्यय पदों के विभिन्न योगों से ही बन सकता है क्योंकि पदबंध में संयोग के लिए ये चार प्रकार के ही पद हिंदी में उपलब्ध हैं। (ऊपर हमने देखा है कि क्रियापद किसी अन्य पद से मिलकर पदबंध नहीं बनाता ।)

9.3 आगे के विचार से पूर्व अव्यय और धातु के विषय में दो बातों पर ध्यान दे लेना अच्छा रहेगा क्योंकि इनका प्रभाव पदबंध की रचना पर पड़ता है :—

(क) संस्कृत व्याकरण की परंपरा के अनुसार अव्यय उन पदों को कहा जाता है जिनका रूप नहीं बदलता। हिंदी में **भारी, बुद्धू, बढ़िया** आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका रूप कभी नहीं बदलता किंतु जो अव्यय नहीं हैं । दूसरी ओर कार्य की दृष्टि से ऐसे बहुत से क्रियाविशेषण पद हैं जिन्हें अव्यय माना जाना चाहिए किंतु जिनका रूप विशेषण की तरह बदलता है (लड़का **हँसता हुआ** आ रहा है। लड़की **हँसती हुई** आ रही है।)

हिंदी में अव्यय का निर्धारण रूप की बजाय कार्य के आधार पर करना अधिक उपयोगी होगा। साथ ही भ्रांति से बचने के लिए एक ऐसे शब्द के प्रयोग की आवश्यकता है जो हिंदी में अव्यय का भाव दे सके किंतु संस्कृत अव्यय से भिन्नता बनाए रखे। हमारा सुझाव है कि उन पदों के लिए जो वाक्य के कर्ता, कर्म, पूरक और क्रिया पदों के खंडों से भिन्न खंडों में प्रयुक्त होते हैं और इस तरह मूल वाक्य का विस्तार करने के काम आते हैं, **विस्तारी पद** कहा जाए। इस कोटि में सभी अव्यय तो आ ही जाएँगे; साथ ही वे सभी संज्ञा पद भी आ जाएँगे जिनके अंत में **ने**, कर्मसूचक **को** और **का, के, की** छोड़कर कोई अन्य परसर्ग हो। इस प्रकार **कहनेको, हाथ से, तुम्हारे लिए, कमरे में, मेज पर, नदी के पार** आदि पद विस्तारी पद कहलाएँगे। **बहुत, अधिक** आदि प्रविशेषणों का अंतर्भाव भी विस्तारी पदों में हो जाएगा ।

प्रासंगवश यह संकेत करना अच्छा रहेगा कि विस्तारी पद वाक्य के अन्य पदों को मुख्यतः आर्थी रूप से प्रभावित करते हैं जबकि वाक्य के अन्य पदों (कर्ता, कर्म, पूरक और क्रिया) का संबंध मुख्यतः व्याकरणिक होता है। विस्तारी पदों की रचना का वाक्य के अन्य पदों की रचना से व्याकरणिक संबंध नहीं होता।

(ख) दूसरी बात धातुओं के संबंध में है। क्रियापद का संबंध तो अन्य पदों से पदबंध बनाने के लिए नहीं होता किंतु अन्य पदों में विद्यमान धातु के कारण उनका संबंध अन्य पदों से हो सकता है और इस प्रकार के पदबंधों का निर्माण हिंदी में बहुत अधिक होता है :

(1) अखबार पढ़ना अच्छा है।

(2) अखबार पढ़ने वाले लोग चतुर बन जाते हैं।

(3) अखबार पढ़ते-पढ़ते उन्हें नींद आ गई।

इन वाक्यों में क्रमशः संज्ञा, विशेषण और अव्यय पदबंधों की रचना पढ़ धातु के साथ उसके कर्म अखबार के योग से हुई है।

10.1 अब हम हिंदी में पदबंधों की रचना के नियमों पर विचार कर सकते हैं। हिंदी में पदबंधों के मुख्य घटक निम्नलिखित हैं :

संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, विस्तारी पद, और इनमें निहित अकर्मक और सकर्मक धातु।

निगमन विधि से उनका पारस्परिक संबंध बनाने पर तथा हिंदी में उन पदबंधों की स्वाभाविकता देखने पर पदबंध रचना के निम्नलिखित नियम निकलते हैं :—

पहला नियम :— किसी भी संज्ञा के पूर्व उसका विशेषण आ सकता है।

(1) अच्छे बच्चे रोते नहीं।

(2) वह उड़ते पंछी को पहचान लेता है।

दूसरा नियम :—संज्ञा के पूर्व विस्तारी पद का भी प्रयोग हो सकता है।

(1) तुम्हारी यह बोलने में तेजी अच्छी नहीं है।

(2) उसका देश सेवा के लिए उत्साह अनुकरणीय है।

तीसरा नियम :—किसी भी विशेषण के पूर्व विस्तारी पद आ सकता है।

(1) देखने में सुंदर लोग सदा बुद्धिमान नहीं होते।

(2) वह लड़का सबसे तेज है।

(3) वह आजकल बहुत बीमार है।

चौथा नियम :—विस्तारी पद के पूर्व अन्य विस्तारी पद आ सकता है।

(1) वह बहुत **धीरे-धीरे** पढ़ता है।

(2) मोहन **रमेश की तुलना में तेज़** बोलता है।

पांचवा नियम :—किसी भी धातु (अकर्मक या सकर्मक) के पूर्व विस्तारी पद आ सकता है।

(1) **देर से उठना** अच्छा नहीं है।

(2) **दर-दर भटकने वाले** लोगों को सहारा दो।

(3) **खोकर पाने से ही** सुख मिलता है।

छठा नियम :—किसी भी सकर्मक धातु के पूर्व उसका कर्म आ सकता है।

(1) **मेहनत करने वाला** किसान हमारा अन्नदाता है।

(2) **पेट भरना** तो सभी जानते हैं।

(3) **पत्र पाकर** बहुत प्रसन्नता हुई।

सातवां नियम :—कुछ अकर्मक धातुओं के पूर्व पूरक के रूप में संज्ञा और विशेषण आ सकते हैं।

(1) **बीमार रहना** कोई अच्छी बात नहीं है।

(2) **असफल होकर ही** आगे सफलता मिलती है।

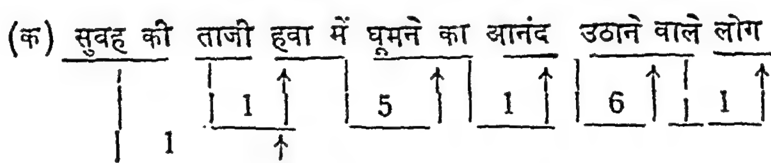
(3) **प्रसन्न दिखने वाले** बच्चों को सब प्यार करते हैं।

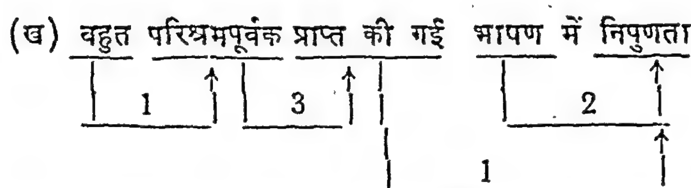
आठवां नियम:—पदबंध की रचना में कभी-कभी संज्ञा के स्थान पर सर्वनाम का भी प्रयोग हो सकता है।

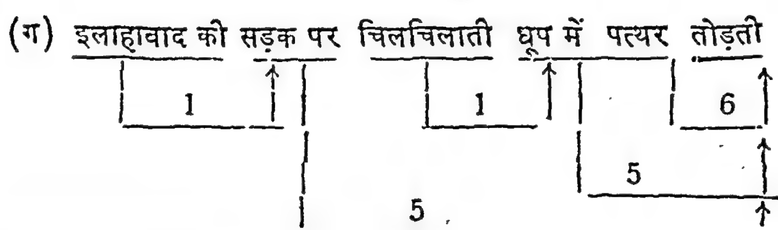
(1) **दीनों की सहायता करने वाले** आप मेरी श्रद्धा के पात्र हैं।

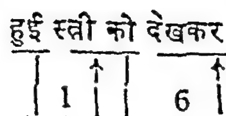
(2) **हमसे दस गुना धनवान्** वह यदि दो हज़ार रुपए भी दें तो कम है।

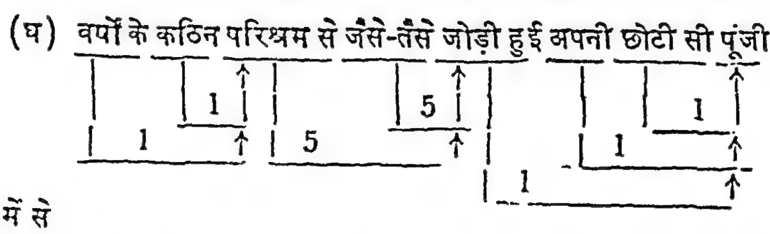
11.1 पदवंध में पदों के पारस्परिक संवंध को रेखाओं द्वारा बहुत स्पष्टता से दिखाया जा सकता है। नीचे कुछ पदवंधों में यह संवंध दिखाया गया है। रेखाओं के नीचे की संख्या उस नियम का संकेत करती है जिसके अनुसार दो पदों में संवंध स्थापित हुआ है।

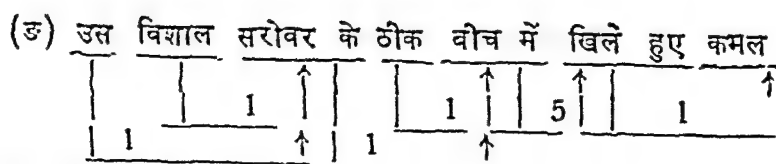


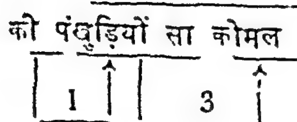












11.2 इस विश्लेषण से यह वात उभरती है कि हिन्दी में पदवंधों का निर्माण पहले, पांचवें और छठे नियमों के आधार पर, अर्थात्, विशेषण और

संज्ञा के योग से, विस्तारी पद और धातु के योग से, और कर्म व सकर्मक धातु के योग से अधिक होता है ।

इस दृष्टि से इस लेख के अनुच्छेद 3.1 में दिए गए वाक्य के पदबंध का विश्लेषण करना रोचक होगा । छब्बीस पदों से बने इस पदबंध में 15 बार पहले नियम का, 9 बार पाँचवें नियम का और 2 बार छठे नियम का प्रयोग हुआ है ।

अन्य अनेक पदबंधों के उदाहरण लेकर इन नियमों की वैधता और प्रयोग में उनकी आवृत्ति पर विचार करना वांछनीय होगा ।

लेखक की मान्यता है कि पद और पदबंध की संकल्पना न केवल हिन्दी व अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के विश्लेषण के लिए उपयोगी है वरन इसका प्रयोग अंग्रेज़ी का भी एक अधिक सरल व वैज्ञानिक व्याकरण तयार करने में किया जा सकता है । इस विषय पर सामूहिक चिंतन की आवश्यकता है ।

बड़े से बड़े पदबंधों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि उनकी रचना में ये ही नियम काम करते हैं। हिंदी के वाक्य-खंडों का परस्पर संबंध और पदबंधों की रचना के नियमों का ध्यान रखकर हिंदी की अभिव्यक्ति पद्धति को आसानी से समझा जा सकता है। ●

हिंदी में रूपिम-निर्धारण की कुछ समस्याएँ

जगदेव सिंह

मानव भाषा के स्वरूप के दो प्रमुख अंग मुख से निःसृत स्वन और उसमें निहित अर्थ हैं। इस अर्थवान् शब्द (रव) में एक व्यवस्था है—इस तथ्य को स्वीकार कर भाषाविज्ञानी इसके अध्ययन में प्रवृत्त होता है। यह व्यवस्था अनेक स्तरों पर अनुबद्ध है और प्रत्येक स्तर पर भिन्न जाति के घटक इसकी रचना करते हैं। किसी भाषाविशेष के विश्लेषण के लिए हम कितने स्तरों की स्थापना करें—इस विषय में मतभेद हो सकता है; पर एक बात सभी को मान्य होगी कि कुछ स्तरों के घटक संश्लिष्ट हैं अर्थात् उनका स्वनात्मक रूप भी है और अर्थ भी, और कुछ स्तर ऐसे हैं जिनके घटकों का केवल स्वनात्मक रूप ही होता है; अर्थ से वे रहित होते हैं। रूप-अर्थ से संश्लिष्ट भाषा की लघुतम इकाई को हम **रूपिम** कह सकते हैं। यहाँ रूप और अर्थ का अभेद्य साहचर्य होता है। ऐसी इकाई के रूप का अलग से छोटे खंडों में विश्लेषण हो सकता है और अर्थ का भी। पर उस अवस्था के रूप तथा अर्थ के इन खंडों में किसी प्रकार का संवाद नहीं होगा। उदाहरण के तौर पर 'मैं पेड़ कटवाऊँगा' वाक्य में रेखांकित भाग का एक विशेष अर्थ है और इसमें प्रयुक्त स्वनों की निश्चित संख्या। रूप और अर्थ के साहचर्य की रक्षा करते हुए हम इसे **कट, वा, ऊं, ग्, आ** इन पाँच खंडों में विभाजित कर सकते हैं। प्रत्येक खंड का अपना स्वन रूप है और अर्थ भी। एक से अधिक स्वनों वाले खंड के यदि और छोटे टुकड़े कर दें तो फिर अर्थ का साहचर्य जाता रहेगा। जैसे '**कट**' को '**क**' तथा '**ट**' दो भागों में बांटा जा सकता है पर अलग-अलग इन भागों का अपना कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसी तरह यदि **काट** के अर्थ का विश्लेषण कर उसकी छोटी इकाइयाँ स्थापित करें तो उन इकाइयों के अनुरूप कोई स्वनात्मक इकाई उपलब्ध नहीं होगी। दूसरे शब्दों में **काट** के रूप और अर्थ का अलग-अलग विश्लेषण संभव है पर उस अवस्था में रूप और अर्थ की इकाइयों में किसी प्रकार की अनुरूपता (संवाद) स्थापित नहीं हो सकेगी। मान लीजिए कि **काट** का अर्थ है—"धातु या पत्थर आदि से बने किसी पैने यंत्र से बलपूर्वक एक या अनेक चोट करके किसी कठोर द्रव्य को अंशतः

या पूर्णतया दो भागों में विभाजित करने का व्यापार।" काट के रूप में भी तीन भाग क्, **आ, ट्** हो सकते हैं। पर हम यह नहीं स्थापित कर सकते कि **क्** का अर्थ है, 'चोट' और **आ** का 'बलपूर्वक' इत्यादि। अतः रूप और अर्थ के समवाय की दृष्टि से **काट** एक ऐसी इकाई है जिसके और छोटे टुकड़े नहीं किए जा सकते।

ऊपर भाषा-विश्लेषण के विषय में जो कुछ संक्षेप से कहा है उससे यह न समझ लेना चाहिए कि विश्लेषण-पद्धति अत्यंत सरल और निरापद है। प्रत्यक भाषा में कुछ ऐसे भाषिक रूप होते हैं जिनका कोई भी खंडीकरण संतोषजनक नहीं होता। हताश होकर इन्हें अखंड भी मान लिया जाता है। यथा अंग्रेज़ी men 'पुरुष' (बहुवचन); worse 'बहुत खराब' आदि। इसके अतिरिक्त विश्लेषण की प्रक्रिया में कुछ ऐसे भी खंड बच सकते हैं जिनका कोई अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता। संरचना की दृष्टि से इनका कोई-न-कोई व्याकरणिक महत्व (प्रकार्य) अवश्य मानना होगा। **हाथापाई** में **आ** तथा **ई; खुल्लमखुल्ला** में **अम** तथा **आ** आदि अंशों का अर्थ-निर्धारण संभव नहीं है। इनकी सार्थकता केवल व्याकरणिक प्रक्रिया में ही है। इसी प्रकार कभी-कभी अर्थ की उपस्थिति रहती है पर उसकी अभिव्यक्ति के लिए कोई भी भाषिक रूप प्राप्त नहीं होता। जैसे **आटा पिसता** है में **पिसता** अंश **चूर्णीभवन, क्रिया का सौकर्य, क्रिया की अवस्था, पुल्लिग** तथा **एकवचन** भावों को अभिव्यक्त करता है। यदि रूप और अर्थ में पूर्ण संवाद हो तो रूप के भी पाँच खंड होने चाहिए। वस्तुतः **पिसता** को केवल **पिस, त्** तथा **आ**—इन तीन खंडों में ही बाँटा जा सकता है। **पिस्** चूर्णीभवन के भाव को, **त्** क्रिया की अवस्था को तथा **आ** पुल्लिग को व्यक्त करता है। **सौकर्य** के भाव की अभिव्यक्ति के लिए कोई भाषिक इकाई नहीं बचती (एकवचन को यहाँ लक्षणरहित माना गया है)। ऐसी अवस्था में **शून्य** को अर्थ का व्यंजक मान लिया जाता है। इसके अतिरिक्त भाषिक खंडों की अनुपलब्धि की अवस्था में एक ही खंड को अनेक अर्थों का द्योतक समझना पड़ता है। जैसे **काटूँ** में **ऊँ** प्रथमपुरुष, एकवचन तथा इच्छार्थक वृत्ति का वाचक है।

प्रस्तुत लेख में हम भाषा-विश्लेषण की कुछ जटिल समस्याओं का निदर्शन करना चाहते हैं। विश्लेषण के लिए हिंदी के नाम तथा क्रिया-रूपों से उदाहरण लिए गए हैं। हमारा लक्ष्य समस्या का पर्ण समाधान उपस्थित करना नहीं प्रत्युत केवल समस्या का दिग्दर्शन करना मात्र है। जो सुझाव यहाँ दिए गए हैं उनमें से अधिकतर लेखक को मान्य हैं।

हिंदी में नाम तथा क्रिया-रूपों को दो भाषिक खंडों में विभाजित किया जा सकता है। (एक) प्रातिपदिक व धातु और (दूसरा) वे रूप-प्रत्यय जो इनके साथ जोड़े जाते हैं। यहाँ हम प्रातिपदिक व धातु की रचना के बारे में कुछ नहीं कहेंगे। हम मुख्यतया इन रूप-प्रत्ययों के स्वरूप के बारे में ही चर्चा करेंगे। य प्रत्यय विभक्ति, पुरुष, वचन, वाच्य, काल, वृत्ति आदि अनेक व्याकरणिक कोटियों की अभिव्यक्ति करते हैं। क्या प्रत्येक कोटि का बोध

कराने के लिए अलग-अलग भाषिक इकाईयाँ हैं? उनका भाषिक स्वरूप क्या है? क्या एक कोटि की अभिव्यक्ति के लिए एक ही अपरिवर्तनशील भाषा इकाई है? जब दो या अधिक प्रत्यय एक ही अंग के साथ जुड़ें तो उनमें क्या अनुक्रम होगा? इत्यादि प्रश्नों पर यहाँ विचार किया जाएगा।

इससे पूर्व कि हम कोटियों को अभिव्यक्त करने वाले प्रत्ययों के स्वरूप का अवधारण करें, यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि **वचन** की अभिव्यक्ति संज्ञा, भावार्थ संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, कृदंत, परसर्ग क तथा काला वर्ग के विशेषण करते हैं; लिंग की संज्ञा, भावार्थ संज्ञा, कृदंत, परसर्ग क तथा विशेषण; विभक्ति की संज्ञा, सर्वनाम, भावार्थ संज्ञा, परसर्ग क तथा काला-विशेषण और पुरुष, काल वृत्ति तथा वाच्य की क्रिया। काल तथा वृत्ति का बोध कृदंत भी कराते हैं। सुविधा के लिए यह सूचना निम्न कोष्ठक द्‌वारा स्पष्ट की जाती है।

	विभक्ति	लिंग	वचन	पुरुष	काल	/वृत्ति	वाच्य
संज्ञा	√	√	√	–	–	–	–
भावार्थ संज्ञा	√	√	√	–	–	–	–
सर्वनाम	√	–	√	–	–	–	–
विशेषण	√	√	√	–	–	–	–
क्रिया	–	–	√	√	√	√	√
कृदंत	–	√	√	–	√	√	√

वचन की कोटि नाम और क्रिया रूपों में व्यापक रूप से पाई जाती है। अतः सर्वप्रथम हम इसी पर विचार करना चाहेंगे।

हिंदी में दो वचन हैं—एकवचन तथा बहुवचन। कोई भी ऐसा शब्द-भेद नहीं जो केवल वचन को ही व्यक्त करता हो। कोई-न-कोई अन्य कोटि यथा लिंग, विभक्ति, पुरुष आदि, इसके साथ अभिव्यक्त होती पाई जाती है।

आइए जरा कृदंतों पर विचार करें। यहाँ हम केवल उन कृदंत रूपों का विश्लेषण करेंगे जो क्रिया के तौर पर प्रयुक्त होते हैं। उनमें से कुछ संज्ञा तथा विशेषण के तौर पर भी प्रयोग में आते हैं। कुछ धातुओं से इनके साधित रूप नीचे उद्‌धृत किए जाते हैं।

		एकवचन	बहुवचन
पूर्ण	पु०	काटा	काटे
	स्त्री०	काटी	काटी
	पु०	आया	आए (आये)
	स्त्री०	आई (आयी)	आई (आयी)
अपूर्ण	पु०	काटता	काटते
	स्त्री०	काटी	काटी
विध्यर्थक	पु०	काटना	काटने
	स्त्री०	काटनी	काटनी

इन रूपों में **काट** तथा **आ** धातुएँ हैं। पर्ण, अपूर्ण तथा विध्यर्थक कृत्-प्रत्यय क्रमशः य् ~ ϕ, त् तथा न् हैं। धातु तथा कृत् के पृथक् करने पर **आ, ए, ई** ही अवशिष्ट रह जाते हैं। ये ही **लिंग** तथा **वचन** की अभिव्यक्ति करते हैं। चूंकि ये प्रत्यय लघुतम हैं, इनके और छोटे खंड संभव नहीं। अतः लगता है कि इन्हें लिंग-वचन द्योतक **संश्लिष्ट** प्रत्यय मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

ऐसी बात नहीं है। मार्ग नितांत अवरुद्ध नहीं है। हम विचारार्थ एक और विकल्प प्रस्तुत करते हैं। स्त्रीलिंग में केवल एक ही रूप मिलता है अर्थात् **काटी, काटती** तथा **काटनी**। हम कह सकते हैं कि ई स्त्रीलिंग सूचक है और **वचन** यहाँ लक्षणान्वित नहीं है। इस मान्यता में सिद्धांत की दृष्टि से कोई दोष नहीं है। अब पुल्लिग के रूपों पर विचार कीजिए। यहाँ दो रूप मिलते हैं। एकवचन में प्रयुक्त **आ** प्रत्यय को हम पुल्लिग सूचक प्रत्यय मानें और स्त्रीलिंग की भाँति यहाँ भी वचन को अलक्षित मानें तो कोई आपत्ति किसी भी दृष्टि से नहीं होनी चाहिए। रही बात अब बहुवचन की। बहुवचन में हम **ए** को बहुवचन का प्रत्यय मानते ह जिससे पूर्व पुल्लिगसूचक **आ** प्रत्यय का (और उच्चारण सौकर्य के फलस्वरूप विकल्प से य् का भी) लोप हो जाता है। इस स्थापना को इस बात से भी पुष्टि मिलती है कि **आ** और **ई** लिंगबोधक प्रत्ययों के रूप में अन्यत्र भी व्यापक रूप से प्रयुक्त होते हैं। इनके उदाहरण संज्ञा तथा विशेषण पदों में प्रचुरता से मिल सकते हैं।

यदि यह निर्वचन अभिमत है तो फिर हम कह सकते हैं कि क्रिया कृदंतों में **लिंग** और **वचन** द्योतक प्रत्यय अलग-अलग हैं। लिंग व्युत्पादी प्रत्यय द्वारा सूचित होता है और वचन (केवल पुल्लिग बहुवचन) रूप-प्रत्यय द्वारा। यदि दो या अधिक प्रत्यय किसी रचना में प्रयुक्त होते हों तो उनमें भी एक क्रम पाया जाता है। यथा **कटवाए** में **काट** धातु के आगे क्रमशः **वा, (य), आ, ए** प्रत्यय आते हैं। **वा** णिजंत धातु बनाने के लिए व्युत्पादी प्रत्यय है, **य** पूर्णकृत् प्रत्यय, **आ** पुल्लिगवाची व्युत्पादी प्रत्यय तथा **ए** बहुवचन सूचक रूप प्रत्यय। **आ** का साधित अवस्था में लोप हो गया है।

संज्ञा-रूप, लिंग तथा वचन के अतिरिक्त विभक्ति भेद भी प्रकट करते हैं। लिंग या तो प्रातिपदिक में अंतर्निहित होता है या व्युत्पादी प्रत्यय द्वारा अभिव्यक्त होता है। लिंग के द्योतक प्रत्यय के रूप अनेक हैं। इनकी चर्चा यहां न्यायसंगत नहीं है। नमूने के तौर पर हम नीचे कुछ संज्ञाओं के रूप प्रस्तुत करते हैं और फिर उनका विश्लेषण।

(1) घोड़ा (पु०)

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा*	घोड़ा	घोड़े
द्वितीया	घोड़े	घोड़ों
तृतीया	घोड़े	घोड़ो

(2) (क) घर (पु०)

प्र०	घर	घर
द्वि०	घर	घरों
तृ०	घर	घरो

(ख) माली (पु०)

प्र०	माली	माली
द्वि०	माली	मालियों
तृ०	माली	मालियो

(3) (क) घोड़ी (स्त्री०)

प्र०	घोड़ी	घोड़ियाँ
द्वि०	घोड़ी	घोड़ियों
तृ०	घोड़ी	घोड़ियो

---

* यहां विभक्ति सूचक जिन प्रथमा, द्वितीया, तृतीया शब्दों का लेखक ने प्रयोग किया है उनका संस्कृत व्याकरण की रूपावली में प्रयुक्त प्रथमा, द्वितीया, तृतीया से साम्य नहीं है। इन शब्दों के प्रयोग से लेखक का तात्पर्य मात्र इतना है कि हिंदी में रूपरचना की दृष्टि से कारकों (या विभक्तियों) के तीन प्रकार हैं अविकारी, विकारी और संबोधन। —(संपादक)

(ख) वहू (स्त्री०)

	एकवचन	वहुवचन
प्र०	वहू	वहुएँ
द्वि०	वहू	वहुओं
तृ०	वहू	बहुओ

(ग) चिड़िया (स्त्री०)

प्र०	चिड़िया	चिड़ियाएँ (~चिड़ियाँ) *
द्वि०	चिड़िया	चिड़ियाओं (~चिड़ियों)
तृ०	चिड़िया	चिड़ियाओ (~चिड़िओ)

(घ) वैल (स्त्री०)

प्र०	वैल	वैलें
द्वि०	वैल	वैलों
तृ०	वैल	वैलो

ऊपर दी गई रूपावली से स्पष्ट है कि ये पद विभक्ति (तीन), लिंग (दो) तथा वचन (दो) की कोटियों को व्यक्त कर रहे हैं। ये कोटियाँ या तो पद के घटकों से प्रकट हो रही हैं या वाक्य में दूसरे पदों के साथ अन्विति से। उदाहरण से यह वात स्पष्ट हो जाएगी। **राम का घर पुराना था**—इस वाक्य में **घर** पुल्लिग, एकवचन, और प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है। यह तथ्य इसके रूप से आभासित नहीं होता, प्रत्युत परसर्ग **क** के साथ लिंग, वचन व विभक्ति की और **पुराना** तथा **था** के साथ लिंग और वचन की अन्विति से ही उद्घाटित होता है। निःसंदिग्ध रूप से तीन विभक्तियों, दो वचनों और दो लिंगों का भेद प्रकट करने के लिए एक संज्ञा के **वारह** रूप चाहिए। पर किसी भी रूपावली में **चार** से अधिक भेद नहीं पाए जाते। (1) में, प्र० एक०, द्वि० तथा तृ० एक० (2) में प्र० दोनों वचन तथा द्वि० व तृ० का एक० और (3) में सभी विभक्तियों का एकवचन समान है। अधिकतम भेद वहु० में ही पाए जाते हैं।

रूपिमिक विश्लेषण (3) (क) से शुरू करेंगे। एकवचन तथा वहुवचन के रूपों का मिलान करने से स्पष्ट ही दीख पड़ेगा कि प्रातिपदिक का रूप **घोड़ी** है, जो सभी रूपों में समान रूप से वर्तमान है। अवशिष्ट अंश **आँ, ओं, ओ** क्रमशः प्र० द्वि० तथा तृ० विभक्ति और वहुवचन के द्योतक हैं। एकवचन सर्वत्र लक्षणरहित है। अर्थात् इसके साथ विभक्ति और वचन को वताने वाले

---

*कोष्ठक में दिए गए रूप संपादक की ओर से जोड़े गए हैं। परिनिष्ठित हिंदी में ये रूप अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित और मान्य हैं।

कोई प्रत्यय नहीं जुड़े हुए हैं। आँ, ओं, तथा ओ विश्लेपण की दृष्टि से अविभाज्य हैं। अतः इन भापिक अंशों को विभक्ति और वचन की कोटियों का द्योतक मानने के सिवाय और कोई चारा नहीं है। दूसरे शब्दों में इन कोटियों की अभिव्यक्ति अलग-अलग भापिक इकाइयों से न हो कर एक ही संश्लिष्ट इकाई से हो रही है। प्रातिपदिक घोड़ी की रचना में स्त्रीवाचक ई व्युत्पादी प्रत्यय स्पष्ट ही झलक रहा है। यह वही प्रत्यय है जिसका उल्लख कृदंत रूपों के विश्लेपण के संदर्भ में हम ऊपर कर चुके हैं।

(3) की अवशिष्ट रूपावली के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्र० वहु के लिए कुछ प्रातिपदिकों के साथ ए प्रत्यय भी प्रयुक्त होता है। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ईकारांत प्रातिपदिकों को छोड़कर शेष स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों के साथ—एँ प्रत्यय आता है।

(2) में दिए गए वहुवचन रूपों के साथ तुलना करने से पता चलता है कि प्र० व० में कुछ प्रातिपदिकों के साथ (ϕ) शून्य प्रत्यय भी जुड़ता है। यह प्रत्यय आकारांत पुल्लिग प्रातिपदिकों के अतिरिक्त अवशिष्ट पुल्लिगों के साथ आता है।

(2) तथा (3) के रूपों के विश्लेपण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रूप भेद तीनों विभक्तियों में केवल वहु० में ही पाए जाते हैं और इन भेदों को प्रकट करने के लिए विभक्ति और वचन के अलग-अलग प्रत्यय नहीं हैं। एकवचन में सभी विभक्तियाँ लक्षणहीन हैं। वहुवचनसूचक प्रत्ययों को नीच तालिका रूप में दिया जा रहा है।

प्र०	आँ~एँ ~ ϕ
द्वि०	ओं
तृ०	ओ

अभी (1) में दिए गए रूपों का विचार करना वाकी है। द्वि० तथा तृ० वहु० में तो वही प्रत्यय हैं जो ऊपर दिए गए हैं अर्थात् ओं, ओ। प्रातिपदिक का रूप घोड़ वच रहता है। एसा मानने पर प्र० वहु० का प्रत्यय ए० तथा प्र०,द्वि० तथा तृ० एक० के क्रमशः आ, ए, ए उपलव्ध होते हैं।

इस विश्लेपण से कुछ गड़वड़ हो जाती है। हम ऊपर कह चुके हैं कि आ, और ई लिंगसूचक व्युत्पादी प्रत्यय हैं। लड़का–लड़की ; मामा–मामी ; तख्ता–तख्ती ; ताला–ताली आदि इनके अनेक उदाहरण हैं। अतः आ को लिंगसूचक प्रत्यय न मानना कुछ अटपटा–सा लगता है। और यह कहना कि आ, ए, ओं प्रत्यय विभक्ति और वचन के अतिरिक्त पुल्लिग के सूचक भी हैं, युक्तियुक्त नहीं जँचता। ओं (2) (3) में केवल विभक्ति–वचन का वोध कराता है और (1) में वही प्रत्यय विभक्ति–वचन–लिंग का वोध कराने लगेगा। यह कहा जा सकता है कि लिंग घोड़ प्रातिपदिक में ही अंतर्निहित है। ऐसा मान लेने पर घुड़–दौड़, वच-पन, लड़क-पन आदि में घुड़, वच, लड़क आदि केवल पुल्लिग के ही वाचक होंगे। वस्तुतः कुछ प्रातिपदिक

10—7 C. H. D. (N.D.)/72

जब रचनाओं में प्रयुक्त होते हैं तब उनके लिंगसूचक प्रत्यय छूट जाते है। इसके अतिरिक्त प्रकट रूप आ की अवहेलना कर लिंग को अंतर्निहित मानना तर्कयुक्त नहीं लगता। अतः हम आ को पुल्लिग सूचक व्युत्पादी प्रत्यय मानते हैं और रूपसिद्धि के लिए घोड़ा को ही प्रातिपदिक मानते हैं। राजा, फीता, गन्ना आदि में भी हम पुल्लिग आ की स्थापना करते हैं, यद्यपि इनके राजी, फीती जैसे स्त्री लिंग रूप नहीं मिलत ।

उपर्युक्त विकल्प स्वीकार करने पर आकारांत पुल्लिग प्रातिपदिकों के साथ जुड़ने वाले विभक्ति–वचन के रूप–प्रत्यय ये होंगे :—

	एकवचन	बहुवचन
प्र०	ϕ	ए
द्वि०	ए	ओं
तृ०	ए	ओ

ए, ओं आदि प्रत्ययों से पूर्व आ का लोप हो जाता है।

अव संज्ञा प्रातिपदिकों के रूप–प्रत्ययों की अंतिम रूपरेखा यों वनी:—

	एकवचन	बहुवचन
प्र०	ϕ	आँ~एँ~ए~ϕ
द्वि०	ए~ϕ	ओं
तृ०	ए~ϕ	ओ

उपरूपों के चयन की दृष्टि से प्रातिपदिकों को निम्नवर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) घोड़ावर्ग : इसके अंतर्गत आकारांत पुल्लिग संज्ञाएं आएंगी और उनके रूप (1) के समान होंगे। संवंधवाचक दादा, मामा आदि के रूप विकल्प से (2) के समान भी होत हैं।

(ख) शेष पुल्लिग : इनके रूप (2) के समान होंगे।

(ग) घोड़ी-वर्ग : इसके अंतर्गत ईकारांत स्त्रीलिंग संज्ञाएँ आएंगी। इनके रूप (3) (क) के समान होंगे।

(घ) शेष स्त्रीलिंग : इनके रूप (3) (ख) की तरह चलेंगे।

विशेषणों के संवंध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कुछ विशेषण ऐसे हैं जिनके पुल्लिग और स्त्रीलिंग रूप पाए जाते हैं। ये रूप व्युत्पादी प्रत्यय आ तथा ई लगाकर वनाए जाते हैं। यथा, काला–काली ; छोटा–छोटी, गहरा–गहरी, ऊंचा–ऊंची आदि। सुविधा के लिए इन्हें हम काला-

वर्ग के विशेषण कहेंगे। वाक्य में इन विशेषणों की अन्विति लिंग, विभक्ति तथा वचन में विशेष्य के साथ होती है। स्त्रीलिंग में विभक्ति–वचन के लिए कोई प्रत्यय नहीं है। पुल्लिंग में प्र० एक० में शून्य तथा अन्यत्र सर्वत्र ए जुड़ता है। इसके पूर्व लिंग सूचक आ का लोप हो जाता है। नीचे दिए गए उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा।

काला घोड़ा दौड़ता है।
काले घोड़े दौड़ते हैं।
काले घोड़े। घोड़ों को पकड़ो।
काले घोड़े। घोड़ो!

प्रसंगवश **बुढ़िया, चुहिया, चिड़िया,** तथा **धोबिन, जुलाहिन** आदि प्रातिपदिकों की रचना के बारे में कुछ कहना चाहेंगे। **बुढ़िया** की व्युत्पत्ति **बूढ़-इया** न होकर **बूढ़-ई-आ** अधिक युक्तियुक्त है। **बूढ़** के साथ दो स्त्री प्रत्यय **ई** तथा **आ** जुड़े हैं। दोनों के अलग–अलग अर्थ हैं। **ई** केवल स्त्रीलिंग द्योतक है। **आ** लिंग के अतिरिक्त 'दया, तरस' के भाव को भी व्यक्त करता है। अतः **बुढ़िया** का अर्थ है 'बेचारी (दया की पात्र) वृद्ध स्त्री।' इसी तरह **चिड़िया, चुहिया,** आदि की व्युत्पत्ति समझनी चाहिए। **धोबिन** और **जुलाहिन** में **इन** स्त्री प्रत्यय है। **धोब, जुलाह** प्रातिपदिक के साथ ये प्रत्यय जोड़े जाते हैं। इन्हीं के साथ पुल्लिंग प्रत्यय **ई** तथा **आ** लगाकर **धोबी** व **जुलाहा** के रूप में सिद्ध होते हैं। स्मरण रहे कि स्त्री–प्रत्यय लिंग के अतिरिक्त 'दया का भाव' 'की पत्नी', 'की संतान', 'का साधन', 'ह्रस्वता' आदि भावों को भी व्यक्त करते हैं।

अब हम सर्वनाम रूपों का परीक्षण करेंगे। इनका खंडीकरण कुछ दुरूह-सा प्रतीत होता है। सर्वनाम में लिंगभेद नहीं पाया जाता और न ही तृतीया विभक्ति के रूप। विश्लेषण निर्देशवाचक **यह** तथा **वह** से शुरू करेंगे। इनके रूप नीचे दिए जाते हैं।

यह	एकवचन	बहुवचन
प्र०	यह	
द्वि०	इस	इन~इन्ह~इन्हों
वह		
प्र०	वह	वे
द्वि०	उस	उन~उन्ह~उन्हों

प्रथमा विभक्ति के तुलनात्मक परीक्षण के आधार पर **य** तथा **व** 'समीप' व 'दूर' अर्थक प्रातिपदिक और अवशिष्ट अंश **अह** तथा **ए** विभक्ति-वचन के रूप• प्रत्यय स्थापित किए जा सकते हैं। द्वि० में प्रातिपदिक के उपरूप

इ और उ मिलते हैं जो कि व्यंजनादि प्रत्यय स तथा न से पूर्व आते हैं। य् व् का व्यंजन से पूर्व इ उ में परिवर्तन एक सामान्य घटना है। संस्कृत वैयाकरणों ने इसे संप्रसारण कहा है। द्वि० बहु० का एक अन्य उपरूप न्ह भी मिलता है। यह ओं तथा ए से पूर्व आता है। ओं तथा ए क्या हैं? ओं को हम द्वि० बहु० का रूप–प्रत्यय मान सकते हैं। यह वही प्रत्यय है जो संज्ञाओं के रूपों में आता है। ओं का अन्यथा यहाँ कोई अर्थ नहीं है और न ही व्याकरणिक प्रक्रिया में इसकी कोई सार्थकता ही है। ओं को विभक्ति-वचन रूप मानने पर इन्हों में दो विभक्ति-वचन प्रत्यय हो जाते हैं अर्थात् न्ह और ओं। यह बात सैद्धांतिक दृष्टि से खटकती है। पर दूसरा कोई हल सूझता नहीं। न्हों को एक प्रत्यय मानने में कोई हानि नहीं, पर एक ओर न्हों की न तथा न्ह के साथ समानता और दूसरी ओर ओं के साथ, हमें ऐसा मानने से रोकती है। न और ओं दोनों ही द्वि० बहु० के प्रत्यय हैं। दो प्रत्ययों का एक साथ आना भाषा के ढाँचे में कोई नई और अजीब बात नहीं है। इस प्रकार की समधिकता के अनेक उदाहरण हर भाषा में आसानी से मिल जाते हैं। न्हों वाला रूप केवल परसर्ग ने से पूर्व आता है।

ए को हम परसर्ग को का उपरूप मानते हैं। कारण, को और ए का पूरक वितरण। यथा, इनको या इन्हें, उनका या उन्हें।

संबंधवाचक 'जो' तथा प्रश्नवाचक 'कौन' के रूपों पर भी लगते हाथ विचार कर लिया जाए। इनके रूप ये हैं:—

	एकवचन	बहुवचन
जो		
प्र०	जो	जो
द्वि०	जिस	जिन~जिन्ह~जिन्हों
कौन		
प्र०	कौन	कौन
द्वि०	किस	किन~किन्ह~किन्हों

द्वि के प्रत्यय तो निर्देशवाचक सर्वनामों के साथ जुड़ने वाले प्रत्ययों के समान हैं। उनका वितरण भी वही है। इनकी एकरूपता में कोई संदेह नहीं। द्वि में प्रातिपदिक का रूप क्रमशः जि तथा कि है। प्र० के दोनों वचनों के रूप समान ही हैं। इनका प्रत्यय एक ही होगा जिसके दो उपरूप ओ तथा औन हैं। शेष अंश क्रमशः ज् तथा क् रह जाते हैं। इनको प्रथमा में प्रातिपदिक के उपरूप माना जा सकता है। या प्रातिपदिक का रूप जि व कि ही मानें और संधि का यह नियम मान लें कि स्वर प्रत्यय से पूर्व इ का लोप हो जाता है। ऐसा नियम हम पहले भी स्थापित कर चुके हैं। इस तरह हम प्रातिपदिक के दो उपरूप मानने से बच जाएँगे। ओ प्रत्यय जि के साथ तथा औन प्रत्यय कि के साथ जुड़ता है। ओ प्रत्यय कोई में भी

आता है। इसका खंडीकरण हमारे मत में कि-ओ-ई है : कि प्रश्नसूचक प्रातिपदिक, ओ पु० का रूप-प्रत्यय और ई पूर्वाश्रित निपात। निपात ई द्वि० के रूपों के साथ भी प्रयुक्त होता है, जैसे किसी, किन्ह आदि में।

अब रहे उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनाम। इनके रूप नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं:—

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०		
प्र०	मैं	हम
द्वि०	मुझ~मे	हम
म० पु०		
पु०	तू	तुम
द्वि०	तुझ~ते	तुम~तुम्ह

मध्यम पुरुष के रूपों का विश्लपण कुछ सरल दीख पड़ता है। चलो, इसी से शुरू करें। प्र० में वहु० का प्रत्यय म माना जा सकता है। उस अवस्था में प्रातिपदिक रूप तू या तु माना जाएगा (हम तु के पक्ष में हैं। पदांत में तु का स्वर दीर्घ हो जाता है। वस्तुत: हिंदी में (गृहीत शब्दों को छोड़ कर) ह्रस्व स्वर पदांत में नहीं आता। एकवचन लक्षणरहित है। उत्तम पुरुष में भी प्र० वहु० में म प्रत्यय ही स्थापित किया जा सकता है। अभी हम उत्तम पुरुष प्र० एक० की वात नहीं करेंगे। पहले मध्यम पुरुष के द्वि० के रूपों का ही परीक्षण करते हैं। तु प्रातिपदिक मान लेने पर क्रमश: झ~ए तथा म~म्ह प्रत्यय वच रहते हैं। इनमें से म्ह उपरूप को छोड़कर शेष उत्तम पुरुष द्वि० के रूपों में भी दीख पड़ते हैं। उस अवस्था में उत्तम पुरुष के द्वि० में प्रयुक्त होने वाला प्रातिपदिक मु०, म् तथा ह उपरूपों में मिलता है। म् को हम मु का ही संधि रूप मान लेते हैं। स्वर प्रत्यय ए से पूर्व उ का लोप हो जाता है। अत: उत्तम पुरुष में प्रातिपदिक के दो उपरूप मु और ह हुए। अब पु० एक० पर विचार कीजिए। इसे या तो प्रातिपदिक का रूप ही मान लीजिए या इसके भी दो खंड किए जा सकते हैं— म् और ए/ऐ को प्र० एक० का प्रत्यय मान लेने पर म् प्रातिपदिक का रूप वच जाता है। इसे हम ऊपर उल्लिखित संधि नियम के अनुसार मु ही का संधि रूप मान सकते हैं। इस विश्लेपण के अनुसार उत्तम पुरुष का प्रातिपदिक मु~ह तथा मध्यम पुरुष का तु हुआ। प्र० एक० तथा वहु० के प्रत्यय क्रमश: ए~ϕ तथा म और द्वि० के झ~ए तथा म~म्ह हुए।

अब रही प्रातिपदिक और प्रत्ययों के वितरण की वात। उत्तम पुरुष में मु ए० में तथा ह द्वि में आता है। मध्यम पुरुष में तो सर्वत्र एक रूप तु ही आता है। झ उपरूप ने तथा क् भिन्न परसर्गों से पूर्व आता है। को का ए उपरूप ए भी है जिसके प्रयोग से वैकल्पिक रूप मुझे, तुझे निष्पन्न होते हैं। द्वि० एक० का उपरूप ए परसर्ग क् से पूर्व आता है। क का उपरूप र् यहां प्रयुक्त होता है। (क् का एक और उपरूप न भी है जो

अपना आदि में आता है)। स्मरण रखना चाहिए कि क् परसर्ग के साथ लिंग, विभक्ति, वचन के प्रत्यय अनिवार्य रूप से आते हैं। र् के जुड़ने पर **मेरा, तेरा** (पु० एक०) आदि रूपों की सिद्धि होती है। अतः **मेरा** का खंडीकरण होगा **म्-ए-र्-आ**। इसी तरह **तेरा, तेरे** आदि को समझें। बहु० में र् उपरूप से रूप मध्यम पुरुष में म्ह प्रत्यय आता है। और मध्यम तथा उत्तम पुरुष में प्रत्यय और परसर्ग के बीच **आ जोड़क** प्रत्यय भी आता है। तभी **हमारा** तथा **तुम्हारा** (एक०) आदि रूप सिद्धि होते हैं। उदाहरण के तौर पर हमारा का खंडीकरण **ह्-म-आ-र्-आ** इन पाँच खंडों में होगा।

उत्तम तथा मध्यम पुरुष के रूपों के प्रयोग के बारे में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि **ने** परसर्ग से पूर्व प्रथमा विभक्ति के रूप आते हैं और अन्य परसर्गों के साथ द्वितीया के। संज्ञा रूपों में परसर्ग का प्रयोग सदा द्वि० के रूपों के साथ ही होता है: **अतः मैंने दूध पीया, तुमने पत्र लिखे** आदि प्रयोग मिलते हैं।

ऊपर दिए गए विवरण के आधार पर हम संक्षेप में कह सकते हैं कि संज्ञा, काला–वर्ग के विशेषण तथा कृदंत प्रातिपदिकों में लिंग–भेद अनिवार्य हैं। संज्ञाओं में लिंग अंतर्निहित होता है या व्युत्पादी प्रत्ययों द्वारा व्यक्त किया जाता है। परंतु विशेषण और कृदंतों में यह भेद सदा व्युत्पादी प्रत्यय **आ** तथा **ई** द्वारा ही लक्षित किया जाता है। **वचन** की अभिव्यक्ति रूपात्मक प्रत्ययों द्वारा ही होती है। संज्ञा, सर्वनाम, तथा विशेषणों के साथ सदा **वचन** और **विभक्ति** के लिए संश्लिष्ट प्रत्यय ही उपयुक्त होते हैं। संज्ञा आदि के साथ प्रयोग में आने वाल रूप–प्रत्ययों को नीचे की तालिका में निम्नप्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

(1) संज्ञा के साथ आने वाले :

	एकवचन	बहुवचन
प्र०	ए~ϕ	ए~एँ~आँ~ϕ
द्वि०	ए~ϕ	ओं
तृ०	ए~ϕ	ओ

(2) विशेषण के साथ आने वाले :

	एकवचन	बहुवचन
प्र०	ϕ	ए
दवि०	ए	ए
त०	ए	ए

(3) सर्वनाम के साथ आने वाले :

	एकवचन	बहुवचन
प्र०	अह्~ए	ए~ओ~ओन~म
द्वि०	स्~झ्~ए	न~न्ह्~न्हों~म्~म्ह

(4) कृदंत के साथ आने वाले :

एक०	ϕ
बहु०	ए

अंत में हम क्रिया-रूपों पर विचार करेंगे। नमूने के तौर पर कुछ साधित रूप नीचे दिए जाते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
(1) प्र०	काटूं	काटें
मध्यम	काटे	काटो
उत्तम	काटे	काटें
(2) म०	काट	काटो
(3) प्र०	काटिए~काटिये	
(4) म०	काटना	

इन सभी रूपों में काट समान रूप से वर्तमान है। इसे हम धातु कह सकते हैं। शेष बचने वाले अंश रूप-प्रत्यय माने जा सकते हैं। ये नाना व्याकरणिक कोटियों को प्रकट करते हैं।

(1) में अवशिष्ट अंश ऊँ, एँ, ए, ओ, ए, एँ, हैं। चूंकि ये एकाच हैं, इनके और छोटे खंड नहीं हो सकते। इसलिए इन रूपों से व्यक्त होने वाली कोटियों का ये ही प्रतिनिधित्व करते हैं। ये प्रत्यय पुरुष, वचन तथा काल/वृत्ति का बोध कराते हैं। 'ह' अस्तित्वबोधक, चाही के साथ तथा (3) में साधित रूपों में ये वर्तमानकाल के सूचक हैं। अन्यत्र इच्छार्थ के बोधक हैं।

(2) के रूप शून्य तथा ओ हैं। ये मध्यम पुरुष, वचन तथा आज्ञार्थ का बोध कराते हैं। यहां भी प्रत्यय संश्लिष्ट ही है।

(3) में केवल एक ही रूप है। यह आदरसूचक आज्ञार्थवाची है। इसका कर्ता आप है जो प्राय: संबोधित व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। इसके साथ प्राय: प्रथम पुरुष बहु० के रूपों का प्रयोग किया जाता है। यथा, आज आप यहीं ठहरें इस वाक्य में। पर काटिए आदि रूप को बहुवचन नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन रूपों के साथ वैकल्पिक तौर से अनुप्रयुक्त क्रिया सहायक ग सदा एकवचन में ही आता है। जैसे, आप मेरे साथ चलिएगा इस वाक्य में। अतः यह रूप प्रथम पुरुष, एकवचन तथा आदरसूचक आज्ञार्थ का बोध कराता है। इस रूप के साथ

केवल **आप** का ही संबंध है। धातु के निकल जाने पर इए बच रहता है। प्रश्न उठता है कि इए एक इकाई है या दो। एक भी मानी जा सकती है और दो भी। एक मानने पर इए ही ऊपर बताई गई सभी व्याकरणिक कोटियों का बोध कराएगा। हम इसे दो खंडों में विभाजित करने के पक्ष में हैं। ये हैं—ई और ए। ई की **ह्रस्वता** (और **य-श्रुति** की उपस्थिति) संधि के नियमों के कारण है। ई आदरसूचक आज्ञार्थ **व्युत्पादी** प्रत्यय है और ए प्रथम पुरुष **एकवचन** तथा वर्तमानकालवाची **रूप** प्रत्यय। यह वही प्रत्यय है जो (1) में आता है। इए की प्रस्तुत व्याख्या स्वीकार करने पर धातु रूपावली में (3) का कोई स्थान नहीं रहेगा।

इस प्रसंग में **चाहिए**~**चाहिये** तथा **चाहियें*** रूपों की चर्चा करना समीचीन होगा। रूपमाला में इनको कहाँ शामिल किया जाए? ऐसे रूप हमें केवल **चाह्** धातु के ही मिलते हैं। इस दृष्टि से ये रूप हिंदी में अनोखे हैं। एकवचन का रूप **चाहिए** आपाततः तो **काटिए** जैसा ही लगता है। पर यह न भूलना चाहिए कि **काटिए** जैसे रूपों का संबंध केवल **आप** से है और इनका बहुवचन रूप नहीं मिलता। अतः **चाहिए** आदि को **काटिए** के ढाँचे में ढालने का प्रयास अर्थहीन है। हमें इन रूपों को अलग ही श्रणी में रख कर विचार करना होगा।

चाहिए आदि के प्रयोग पर दृष्टि डालने से एक बात स्पष्ट हो जाएगी कि ये रूप सदा विध्यर्थ कृदंत के साथ ही आते हैं। यथा, राम को **सोना** चाहिए; हमें केले **खरीदने** चाहियें; खेत में गेहूँ **उगने** चाहियें; घर में कोई **होना चाहिये** इत्यादि। इन वाक्यों में मुख्य क्रिया-रूप कृदंत ही है जो कर्म या भाववाच्य का द्योतक है और **चाहिए** आदि रूप केवल सहायक क्रिया के तौर पर ही प्रयुक्त हुए हैं। कृदंत और सहायक क्रिया की अन्विति कृदंत से संबंधित संज्ञा व सर्वनाम से होती है। **चाहिये** आदि रूप इस **कर्म** व **भाववाच्य** के अतिरिक्त **पुरुष, वचन, विध्यर्थ** तथा **वर्तमानकाल** को भी व्यक्त करते हैं। प्रायः प्रथम पुरुष के रूप ही प्रयोग में आते हैं।

धातु के अलग हटाने पर इए तथा इएँ प्रत्यय बच जाते हैं। इन्हें ऊपर बताई गई कोटियों का वाचक माना जा सकता है या इन्हें ई, ए तथा एँ में विभाजित किया जा सकता है। ई विध्यर्थ कर्म व भाववाच्यबोधक प्रत्यय हैं। ए तथा एं प्रथम पुरुष, ए० व बहुवचन तथा वर्तमानकाल को व्यक्त करत हैं। अतः रूपमाला में चाहिए आदि का स्थान (1) वर्ग में ही है। **चाही** व्युत्पन्न धातु है जो सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त होती है।

---

*लेखक ने **चाहिए** का बहुवचन रूप चाहिएँ~चाहियें बताया है। इस संबंध में विद्वानों में विवाद है पर पलड़ा वचन निरपेक्ष रूप (चाहिए~चाहिये) मानने वालों का भारी है। (संपादक)

(4) में भी केवल एक ही रूप है। यह भविष्यत् आज्ञा, मध्यम पुरुष तथा दोनों वचनों का वाचक है। ना को संश्लिष्ट प्रत्यय माना जा सकता है या इसके दो खंड न् तथा आ किए जा सकते हैं। न् भविष्यत् आज्ञाद्योतक कृत् प्रत्यय है और आ पुल्लिगबोधक व्युत्पादी प्रत्यय। वचन यहाँ अलक्षित है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार काटना की रचना काटता के समान ही है। कृदंत मान लेने पर इसे रूपमाला में सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं रहती।

(3) (4) के खंडीकरण के विषय में जो सुझाव हमें ग्राह्य हैं, यदि उन्हें मान लिया जाए तो हिंदी क्रिया की रूपमाला में केवल दो ही वर्ण अर्थात् (1) व (2) ही बच रहेंगे।

यहाँ हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि हिंदी में व्याकरणिक कोटियों तथा उनको व्यक्त करने वाली भाषिक इकाइयों में पूर्ण संवाद नहीं पाया जाता। अनेक कोटियाँ संश्लिष्ट प्रत्यय द्वारा व्यक्त की जाती हैं अर्थात् एक ही भाषाई इकाई दो या अधिक कोटियों की सूचक है। उदाहरण के तौर पर क्रियारूपों में पुरुष, वचन तथा काल / वृत्ति और संज्ञाओं में विभक्ति और वचन। इसके अतिरिक्त कोई विशिष्ट कोटि कभी किसी कोटि के साथ संश्लिष्ट होती है और कभी किसी के साथ ; जैसे वचन, संज्ञा व विशेषण में विभक्ति के साथ और क्रिया में पुरुष तथा काल/वृत्ति के साथ। कृदंतों में वचन स्वतंत्र रूप से पाया जाता है। कुछ कोटियाँ अनेक प्रकार के पदों में पाई जाती हैं और वाक्य में उनमें अन्विति अपेक्षित रहती है। लिंग की अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से संज्ञा, विशेषण (काला-वर्ग) ; कृदंत तथा परसर्ग क में पाई जाती है। स्मरण रहे कि इसकी अभिव्यक्ति संज्ञाओं में नाना रूप वाले प्रत्ययों द्वारा होती है। उनमें से केवल आ पुल्लिग तथा ई स्त्रीलिंग की अतिव्याप्ति संज्ञा से भिन्न पदों में हो सकती है। अन्य लिंगवाची रूप संज्ञाओं के भिन्न गणों में बँटे हुए हैं। यह भी संभव है कि एक ही प्रत्यय भिन्न-भिन्न धातुओं के साथ मिलकर अलग-अलग कोटियों को व्यक्त करे। जैसे (1) के प्रत्यय ह— तथा चाही के साथ जुड़ कर वर्तमानकाल के तथा अन्य धातुओं के साथ इच्छार्थ वृत्ति के द्योतक हैं। ●

हिंदी के संज्ञा प्रातिपदिकों का रूपप्रक्रियात्मक वर्गीकरण

लक्ष्मीनारायण मित्तल

हिंदी के संज्ञा प्रातिपदिक[1] अधिकांशत:[2] व्यंजनांत हैं। परंतु मोटे तौर पर ये सब प्रातिपदिक दो श्रेणी में आते हैं। एक तो ऐसे प्रातिपदिक हैं जो किसी अन्य रूपिम के जुड़े विना (शून्य उपरूप को छोड़कर) स्वतंत्ररूप से वाक्य रचना में आ सकते हैं जैसे 'साँप्', 'आग्', 'भूख्', 'राजपूत्', 'घर्' आदि। दूसरे ऐसे हैं जो एक या अनेक रूपिमों के साथ जुड़कर ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के प्रातिपदिक वद्ध रूपिम कहलाते हैं। ऐसी संरचना में दूसरा रूपिम केवल कारक, वचनादिवाची रूपिम ही नहीं होता अपितु ऐसे प्रातिपदिक अन्य व ्ध या मुक्त प्रातिपदिकों के साथ जुड़कर भी आते हैं जैसे समास-रचना में। 'कपड़-छन'[3], 'रज-वाड़ा', 'घुड़साल' आदि ऐसी रचना के कुछ उदाहरण हैं।

हिंदी में विभक्ति, वचन और लिंग दोहरे भेद म हैं, अर्थात्

विभक्ति—अविकारी और विकारी[4]

वचन—एक और वहु

लिंग—पुल्लिग और स्त्रीलिंग

इन समस्त वातों को ध्यान में रखते हुए संज्ञा प्रातिपदिकों की निम्नलिखित श्रेणियाँ वनाई जा सकती हैं :—

I मुक्त प्रातिपदिक

	एकवचन	वहुवचन
अविकारी . . .	–φ	–φ
विकारी . .	–φ	–ओं

इस रचना में स्त्रीलिंग और पुल्लिग का भेद नहीं है और 'भूख्', 'आग्' आदि स्त्रीलिग तथा 'राजपूत्', 'साँप्' आदि पुल्लिग रूपिम एक प्रकार की रचना के ही सहभागी होते हैं।

कुछ व्यंजनांत मुक्त-प्रातिपदिक अविकारी बहुवचन में {–एँ} जोड़ने की प्रवृत्ति दिखलाते हैं। परंतु ऐसे प्रातिपदिकों की संख्या बहुत कम है और इसमें जुड़ने वाला {–एँ} उपपद शून्य उपपद का स्वतंत्र परिवर्त हैं, जैसे:—

बेगमें आती हैं। या

बेगम आती हैं।

II व्यंजनांत बद्ध-प्रातिपदिक

आवाची

1. पुल्लिग	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	–आ	–आ
विकारी	–आ	–आओं

जैसे राजा, चाचा, मामा, दादा आदि रूपों में।

2. स्त्रीलिंग	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	–आ	–आएं
विकारी	–आ	–आओं

जैसे कन्या, माता, सभा, प्रजा, बुढ़िया, पूजा, माला आदि रूपों में।

ए वाची

केवल पुल्लिग	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	–आ,	–ए
विकारी	–ए	–ओं

जैसे छोरा, बुड्ढा, बौना, घोड़ा, लड़का, बच्चा, केला आदि।[5]

ई वाची

पुल्लिग	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	–ई	–ई
विकारी	–ई	–इयों

जैसे माली, धोबी, आदमी, मूनी[6] (मुनि) आदि

स्त्रीलिंग	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	–ई	–इयां
विकारी	–ई	–इयों

जैसे लौकी, सीची, लड़की, छोरी, घोड़ी, बच्ची, गाड़ी, शहजादी आदि रूपों में।

ऊ वाची

स्त्रीलिंग और पुल्लिंग में समान

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	ऊ	ऊ
विकारी	ऊ	उवों

जैसे आलू, डाकू, चाकू, साधू (साधु), लू आदि पुल्लिंग और बहू, वधू (वधु) आदि स्त्रीलिंग रूपों में ।

कुछ लेखकों ने[7] संज्ञा प्रातिपदिकों को वर्गीकृत करते हुए लिंग के आधार पर दो वर्गीकरण किए हैं । एक तो वे जो पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों रूप बनाते हैं, दूसरे व जो केवल पुल्लिंग रूप बनाते हैं । मेरा निवेदन है कि कुछ ऐसे भी रूपिम हैं जो केवल स्त्रीलिंग रूप ही बनाते हैं, जैसे कन्या, माला, पूजा, आदि । कुछ ऐसे भी रूपिम हैं जो केवल पुल्लिंग रूप ही बनाते हैं परंतु 'राजा' की श्रेणी में न जाकर {घोड़—} की श्रेणी में जाना पसंद करते हैं, जैसे {केल—} आदि जिसका अविकारी एकवचन रूप 'केला' है । दूसरे, कुछ रूपिम ऐसे भी हैं जो अविकारी एकवचन {–आ} या {–ई} से जुड़कर पुल्लिंग और स्त्रीलिंग रूप बनाते हैं फिर भी अर्थ की दृष्टि से अलग-अलग रूपिमों के अंतर्गत आते हैं, जैसे गला, गली, चौका, चौकी, घाटा, घाटी[8], आदि । अत: इन रूपिमों को अलग-अलग रखना ही श्रेयस्कर है ।

कुछ पंक्तियाँ इस संबंध में भी कि 'राजा' को मूल प्रातिपदिक माना जाए या {राज्—} को । मेरे विचार से {राज्—} को ही प्रातिपदिक मानना अधिक तर्कसंगत होगा । ऊपर बतलाए गए विभक्ति रूपिमों को देखने से मालूम हो रहा है कि {–आ} अविकारी एकवचनवाची विभक्ति रूपिम है जो मामा, दादा, चाचा आदि पुल्लिंग तथा माता, कन्या, सभा, प्रजा आदि स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में जुड़ा है और जिसके अंतर्गत 'राजा' {राज्—} भी आता है । यदि हिंदी में समास रचना को देखें तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है । समास रचना में यही {राज्—}, {वाड़ा} के साथ जुड़ कर 'रज्वाड़ा'[9] शब्द बनाता है ।

पाद टिप्पणियाँ :

1. इस अध्ययन में 'प्रातिपदिक' शब्द उस अर्थवान् संज्ञा रूपिम के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसे और छोटे अर्थवान् रूपिमों में विभक्त नहीं किया जा सकता और जो भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न विभक्तियों सहित या रहित वाक्य-रचना में व्यवहृत होता है । इस प्रकार हमारे मत से {लड़क्} प्रातिपदिक हुआ जिसमें अविकारी एकवचन पुल्लिंगवाची प्रत्यय {या विभक्ति} लगाकर 'लड़का' शब्द बना और अविकारी एकवचन स्त्रीलिंगवाची प्रत्यय लगा कर 'लड़की' शब्द बना । इस प्रकार {–आ} और {–ई} भी न्यूनतम अर्थवान् रूपिम हैं, परंतु ये दोनों अलग-अलग रूपिम न होकर एक ही रूपिम के उपरूप हैं क्योंकि वितरण में वे एक-दूसरे के पूरक हैं ।

2. मैंने 'अधिकांश' शब्द का प्रयोग इसलिए किया है, क्योंकि कुछ प्रातिपदिक स्वरांत भी हैं ।

3. 'हाइफन' यहाँ एक स्वनात्मक चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुआ है। देखिए: डेनियल जोन्स : 'द हाइफन एज़ ए फोनेटिक साइन' Zeitschrift für Phonetik IX-2, 1956।

4. मैंने 'संबोधन' को अलग से कारक नहीं माना है। इसके कई कारण हैं। एक तो समस्त संज्ञा-प्रातिपदिकों के संबोधन रूप नहीं होते। संबोधन के साथ कुछ विशिष्ट क्रिया-रूप ही आ सकते हैं, सभी नहीं। दूसरे, जहाँ भी संबोधन रूप की आवश्यकता होती है, वहाँ विकारी के अनुरूप ही उसकी रचना होती है, केवल बहुवचन में निरनुनासिक करने के अतिरिक्त। तीसरे, मैंने यह अनुभव किया है कि बहुत से वक्ता संबोधन रूप में भी सानुनासिक ही बोलते हैं और अर्थ में कोई अंतर नहीं होता। इसलिए संबोधन रूप {लड़को~लड़कों} को मुक्त वितरण में माना जाना चाहिए।

5. ये सारे उदाहरण और आगे दिए जाने वाले उदाहरण अविकारी एकवचन के हैं। मूल-प्रातिपदिकों का उल्लेख न करके एकवचन रूप देने का कारण केवल यह है कि रूपिमों के अर्थ में भ्रम न हो, जैसे {गल्}[1] प्रातिपदिक का अविकारी एकवचन रूप 'गला' है और {गल}[2] प्रातिपदिक का 'गली' है। इस प्रकार {गल्}[1] और {गल्}[2] में यद्यपि स्वनात्मक समानता है तथापि अर्थ की दृष्टि से वे अलग-अलग रूपिम हैं।

6. मुनी, साधू, वधू आदि का लिखित रूप यद्यपि क्रमशः मुनि, साधु और वधु है परंतु हिंदी में शब्दांत में ह्रस्व, अ, उ, तथा इ नहीं आते। ये दीर्घ ही उच्चरित होते हैं। स्वनविज्ञान की दृष्टि से हिंदी में शब्दादि और मध्य-स्थान में आने वाले दीर्घ स्वर शब्दांत के दीर्घ स्वरों से दीर्घता की दृष्टि से समान नहीं हैं तथापि स्वनिमविज्ञान की दृष्टि से वे सब उपस्वन एक ही स्वनिम के अंतर्गत माने जाने चाहिए। लेखक ने स्वन-यंत्रों की सहायता से हिंदी के स्वरों की मात्रा की माप की है जिसके परिणाम अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं।

7. डॉ० महावीर शरण जैन, 'हिंदी के आकारांत संज्ञा शब्दपदग्रामिक विश्लेषण एवं वर्गबंधन' नागरी प्रचारिणी पत्रिका—संवत् 2018 अंक, 2, 3, 4।

8. ऐसे शब्दों की विस्तृत सूची के लिए देखिए :—

डॉ० बाबूराम सक्सेना : "हिंदी में लिंगभेद के द्वारा सूक्ष्म अर्थभेद का द्योतन हिंदी अनुशीलन 1960, पृष्ठ 151-154।

9. {राज्-} का {रज्-} होना हिंदी के रूपस्वनिमिक नियम के अनुकूल है जहाँ अ और ह्रस्व रचना के रूपिमों को छोड़कर अन्य प्रकार की रचना के रूपिम जुड़ते हैं तो प्रथम रूपिम का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है :—

{पान्-} + {चक्की} → {पन्-} + {चक्की} = पनचक्की
{मीठ्-} + {आस} → {मिठ्} + {आस} = मिठास
{पूज-} + {आरी} → {पुज्} + {आरी} = पुजरी

हिंदी संज्ञा

महावीर सरन जैन

भूमिका

संज्ञा कोटि में मूल प्रातिपदिक अथवा व्युत्पन्न प्रातिपदिकों के पश्चात् वचन तथा कारक के अनुसार विभक्तियाँ जुड़ती हैं। हिंदी में दो वचन—एकवचन एवं बहुवचन तथा तीन कारक—अविकारी कारक, विकारी कारक, एवं संबोधन कारक हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एकवचन में विकारी कारक एवं संबोधन कारक में व्यतिरेकी स्थितियाँ नहीं हैं। प्रत्येक प्रातिपदिक में संबोधन कारक बहुवचन के लिए {-ओ} विभक्ति संयुक्त होती है। अतएव नीचे केवल अविकारी कारक एवं विकारी कारक के एकवचन एवं बहुवचन रूपों के बारे में विचार प्रस्तुत किया जाएगा। भाषा में प्रत्येक शब्द रूपांतरित भी नहीं होता। कुछ शब्द ऐसे हैं जो बहुवचन में प्रयुक्त नहीं होते तथा इसके विपरीत कुछ शब्द एकवचन में प्रयुक्त नहीं होते।

संज्ञा रूपों के 'लिंग' की दृष्टि से दो भेद हैं :—

(1) पुल्लिंग

(2) स्त्रीलिंग

(1) लिंग निर्धारण :—

हिंदी में संज्ञा शब्दों के लिंग का निर्णय शब्दकोषीय अर्थ वाक्य-धरातल तथा लिंग द्योतक व्युत्पादक प्रत्ययों से होता है।

(क) शब्दकोषीय दृष्टि से :—

मातजी को यह वस्तु दे दो।

पिताजी को यह वस्तु दे दो।

यहाँ माताजी के स्त्रीलिंग रूप का तथा पिताजी के पुल्लिंग रूप का निर्णय वाक्य-धरातल, विभक्ति, व्युत्पादक प्रत्ययों, रूप आदि किसी भी दृष्टि से नहीं हो पाता; इसका ज्ञान हमें शब्दकोषीय दृष्टि से होता है।

(ख) वाक्य धरातल पर :—

(1) विशेषण द्वारा—

यह अच्छा नाला है ।
यह अच्छी माला है ।

यहाँ 'नाला' एवं 'माला' के लिंग का आधार /अच्छा/एवं/अच्छी/ विशेषण रूप है ।

(2) क्रिया-रूपों के द्वारा—

साधू आ रहा है ।
वधू आ रही है ।

यहाँ /साधू/एवं/वधू/ के लिंग का निर्णय क्रिया-रूप के लिंग द्वारा द्योतित हो रहा है ।

(ग) लिंग व्युत्पादक परप्रत्ययों द्वारा :—
यथा :—

हाथ्- + -ओड़ा (पु० व्युत्पादक प्रत्यय) > हथौड़ा
हाथ्- + -ओड़ा + -ई (स्त्री व्युत्पादक प्रत्यय) > हथौड़ी

प्राय: समस्त परंपरागत व्याकरणों में उन व्युत्पादक प्रत्ययों की सूची प्रस्तुत की गई है जो पुल्लिग रूपों में जुड़कर स्त्रीलिंग व्युत्पन्न प्रातिपदिकों का निर्माण करत हैं ।

हिंदी के परंपरागत व्याकरणों में पुल्लिग एवं स्त्रीलिंग रूपों के नियम दिए गए हैं, किंतु चूंकि उनके अपवाद उपलब्ध हैं, इस कारण उन्हें नियम नहीं माना जा सकता । शब्द के अर्थ के आधार पर अथवा शब्द के रूप के आधार पर हिंदी में लिंग निर्णय के सुनिश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते । शब्द-स्तर पर लिंग-निर्णय का एक आधार प्रकृतित: लिंग अर्थात् अर्थपरक होता है । वस्तुओं या वाचकों के प्रकृतित: लिंग के अनुसार शब्दों का लिंग भारतीय भाषाओं में 'लाई' में है, किंतु हिंदी में सभी पुल्लिग वस्तुओं का लिंग पुल्लिग एवं सभी स्त्रीलिंग वस्तुओं का लिंग स्त्रीलिंग नहीं है । हिंदी में लिंग पूर्णरूपेण व्याकरणिक भी नहीं है । रूप की दृष्टि से /राजा/एवं/माता दोनों आकारांत हैं, किंतु एक पुल्लिग है, जबकि दूसरा स्त्रीलिंग । विभक्ति-प्रत्यय भी लिंग निर्धारण नहीं करते, क्योंकि /राजाओं/एवं/माताओं/दोनों में 'विकारी कारक बहुवचन द्योतक विभक्ति' {-ओं} संयुक्त है, किंतु लिंग की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं ।

प्रश्न यह है कि शब्द-स्तर पर हिंदी में समस्त संज्ञा शब्दों के लिंग का निर्णय क्या किसी विधि से भी संभव नहीं है ?

यह सत्य है कि शब्द-रूप अथवा विभक्ति प्रत्ययों से समस्त संज्ञा शब्दों के लिंग का निर्धारण नहीं हो पाता, किंतु पुल्लिंग शब्दांत रूपों एवं स्त्रीलिंग शब्दांत रूपों की कारक एवं वचनानुसार वैभक्तिक तालिका समान नहीं होती है तथा यही वह विधि है जिसके आधार पर हम समस्त रूपांतरित होने वाले संज्ञा शब्दों के लिंग का निर्णय कर सकते हैं, अर्थात् समस्त संज्ञा शब्दों के केवल अविकारी कारक एकवचन रूप (जिसको विभक्तिरहित रूप में स्वीकार किया गया है) के आधार पर लिंग का निर्णय नहीं किया जा सकता, किंतु किसी संज्ञा शब्द के अविकारी कारक एकवचन, अविकारी कारक बहुवचन, विकारी कारक एकवचन, विकारी कारक बहुवचन आदि रूपों को देखकर यह ज्ञात किया जा सकता है कि अमुक शब्द पुल्लिंग है या स्त्रीलिंग। इस दृष्टि से निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं :—

(1) व्यंजनांत, इकारांत, ईकारांत, उकारांत, ऊकारांत, औकारांत संज्ञा प्रातिपदिक यदि पुल्लिंग हों तो उनमें द्विमुखी अंतर होता है किन्तु यदि स्त्रीलिंग हों तो उनमें त्रिमुखी अंतर होता है, अर्थात् पुल्लिंग रूप केवल विकारी कारक बहुवचन के लिए रूपांतरित होते हैं, अन्यथा अपरिवर्तित ही रहते हैं तथा स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में अविकारी कारक बहुवचन तथा विकारी कारक बहुवचन के लिए विभक्तियां जुड़ती हैं।

(2) आकारांत संज्ञा प्रातिपदिक यदि पुल्लिंग हों तो उनमें या तो द्विमुखी अंतर होता है या चतुर्मुखी, किंतु यदि स्त्रीलिंग हों तो उनमें त्रिमुखी अंतर होता है, अर्थात् पुल्लिंग रूपों में या तो केवल विकारी कारक बहुवचन के लिए विभक्ति लगती है या फिर अविकारी कारक बहुवचन, विकारी कारक एकवचन तथा विकारी कारक बहुवचन तीनों रूपों के लिए विभक्तियाँ लगती हैं जो परस्पर तथा अपने अभाव से व्यतिरेकी रूप में आती हैं तथा स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में अविकारी कारक बहुवचन तथा विकारी कारक बहुवचन के लिए विभक्तियाँ जुड़ती हैं।

(3) एकारांत, ऐकारांत एवं ओकारांत संज्ञा शब्दों के संबंध में निम्नलिखित नियम हैं :—

(क) पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग एकारांत एवं ओकारांत प्रातिपदिकों में विकारी कारक बहुवचन विभक्ति {-ओं} जुड़ती है। पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों का अंतर प्रातिपदिकों एवं विभक्ति की यौगिक प्रक्रिया में निहित है। विभक्ति {-ओं} के जुड़ने पर पुल्लिंग संज्ञा प्रातिपदिकों के अंत्य स्वर /ए/ एवं /ओ/ का लोप हो जाता है। स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(ख) ऐकारांत संज्ञा प्रातिपदिक अपवाद स्वल्प ही प्रयुक्त होते हैं। ऐकारांत पुल्लिंग प्रातिपदिक केवल विकारी कारक बहुवचन में रूपांतरित होते हैं, एकारांत स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में कोई रूपांतर नहीं होता।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन संज्ञा प्रातिपदिकों में कोई रूपान्तर नहीं होता अर्थात् जिनमें किसी कारक या वचन के लिए किसी भी विभक्ति का योग नहीं होता—विभक्तिरहित रूप ही सर्वथा प्रयुक्त होता है—उनके लिंग का निर्धारण इस विधि से संभव नहीं है।

(2) संज्ञा-विभक्ति : सामान्य गठन तालिका

संज्ञा-विभक्ति की सामान्य गठन तालिका को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

अविकारी कारक एवं संबोधन कारक एकवचन	विकारी कारक एकवचन	अविकारी कारक बहुवचन	विकारी कारक बहुवचन	संबोधन कारक बहुवचन
संज्ञा प्रातिपदिक	विभक्ति प्रत्यय	विभक्ति प्रत्यय	विभक्ति प्रत्यय	विभक्ति प्रत्यय {-ओ}

(क) कोई भी संज्ञा प्रातिपदिक अधिकतम रूपों में चार प्रकार से परिवर्तित हो सकता है ।

(ख) निम्नलिखित प्रकार के संज्ञा प्रातिपदिकों में विकारी कारक एकवचन एवं अविकारी कारक बहुवचन में कोई रूपांतर नहीं होता :—

"व्यंजनांत, इकारांत, ईकारांत, उकारांत, ऊकारांत, एकारांत, ऐकारांत, ओकारांत, औकारांत, एवं /राजा/ आदि आकारांत पुंल्लिग संज्ञा प्रातिपदिक तथा एकारांत एवं ओकारांत स्त्रीलिंग प्रातिपदिक ।"

(ग) निम्नलिखित प्रकार के संज्ञा प्रातिपदिकों में विकारी कारक एकवचन में कोई रूपांतर नहीं होता:—

"व्यंजनांत, आकारांत, इकारांत, ईकारांत, उकारांत, ऊकारांत, एवं औकारांत स्त्रीलिंग प्रातिपदिक ।"

जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रत्येक संज्ञा प्रातिपदिक में अविकारी कारक एकवचन तथा संबोधन कारक एकवचन में कोई भी विभक्ति संयुक्त नहीं होती । संबोधन कारक बहुवचन में {-ओ} विभक्ति संयुक्त होती है । (ओकारांत प्रातिपदिकों में जब यह विभक्ति जुड़ती है तो प्रातिपदिक अपने लघु रूप में आता है।) इस प्रकार संबंध कारक बहुवचन का एक ही उपरूप है, अतएव उसके वितरण की कोई समस्या ही नहीं है । अविकारी कारक एकवचन एवं संबोधन कारक एकवचन रूपों में प्रातिपदिक ही प्रयुक्त होता है । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इनमें हम शून्य प्रत्यय की कल्पना भी नहीं कर सकते । इसका कारण यह है कि शून्य को रूपिम के सदस्य —उपरूप—के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, स्वयं रूपिम के रूप में नहीं । इसी सिद्धांत के कारण अंग्रेजी भाषा के विशेषण में 'रिच' एवं 'स्माल' आदि शब्दों में शून्य की कल्पना नहीं की जाती ।

संज्ञा विभक्ति :

संज्ञा शब्दों को पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग वर्गों में बाँटकर उनमें प्रयुक्त विभक्तियों को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है :—

पुल्लिंग

पुल्लिंग वर्ग 1.

अविकारी कारक एवं संबोधन कारक एकवचन	विकारी कारक एकवचन	अविकारी कारक बहुवचन	विकारी कारक बहुवचन	संबोधन कारक बहुवचन
प्रातिपदिक	$-\phi$	$-\phi$	-ओं	-ओ

पुल्लिंग वर्ग 1 में /लड़का, घोड़ा/ इत्यादि आकारांत प्रातिपदिकों को छोड़कर शेष सभी पुल्लिंग प्रातिपदिक इसी कोटि में आते हैं। इन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

पुल्लिंग प्रातिपदिक	विकारी कारक एकवचन	अविकारी कारक बहुवचन	विकारी कारक बहुचवन	संबोधन कारक बहुवचन
बालक्	बालक्	बालक्	बालकों	बालको
बैल्	बैल्	बैल्	बैलों	बैलो
राजा	राजा	राजा	राजाओं	राजाओ
दादा	दादा	दादा	दादाओं	दादाओ
चाचा	चाचा	चाचा	चाचाओं	चाचाओ
कवि	कवि	कवि	कवियों	कविओ
धोबी	धोबी	धोबी	धोबियों	धोबियो
शिशु	शिशु	शिशु	शिशुओं	शिशुओ
डाकू	डाकू	डाकू	डाकुओं	डाकुओ
चौबे	चौबे	चौबे	चौबेओं ~चौबों	चौबेओ ~चौबो
छै	छै	छै	छैओं	छैओ
रेडियो	रेडियो	रेडियो	रेडिओं	रेडियो
नौ	नौ	नौ	नौओं	नौओ

संधि-विचार :

(1) इकारांत तथा ईकारांत प्रातिपदिकों में जब विकारी कारक बहुवचन द्योतक विभक्ति {-ओं} जुड़ती है तो यौगिक प्रक्रिया में प्रातिपदिक एवं विभक्ति प्रत्यय के मध्य 'य्' श्रुति का आगम हो जाता है ।

(2) ईकारांत तथा ऊकारांत प्रातिपदिकों में जब {-ओं} एवं {-ओ} विभक्तियाँ जुड़ती हैं तो यौगिक प्रक्रिया में प्रातिपदिकों के अंत्य दीर्घ स्वर /ई/ एवं /ऊ/ क्रमशः ह्रस्व स्वर /इ/ एवं /उ/ हो जाते हैं ।

(3) एकारांत प्रातिपदिकों के बाद {-ओं} एवं {-ओ} विभक्तियों के जुड़ने पर प्रातिपदिक स्वतंत्र परिवर्तन के कारण अपने लघु रूप में आते हैं । यथा :

/चौबेओं ~ चौबों/
/चौबेओ ~ चौबो/

(4) ओकारांत प्रातिपदिकों के बाद जब {-ओं} एवं {-ओ} विभक्तियाँ जुड़ती हैं तो प्रातिपदिक अपने लघु रूप में आता है अर्थात् प्रातिपदिक के अंतिम स्वर का लोप हो जाता है ।

इनका विश्लेषण इस प्रकार से भी संभव है कि ओकारांत प्रातिपदिकों में विकारी कारक बहुवचन में /˙/ एवं संबोधन कारक बहुवचन में /ϕ/ विभक्ति लगती है । सामान्य गठन के निर्वाह हेतु {-ओं} एवं {-ओ} विभक्तियाँ स्वीकार की गई हैं ।

पुल्लिग वर्ग 2.

अविकारी कारक एवं संबोधन एकवचन	विकारी कारक एकवचन	अविकारी कारक बहुवचन	विकारी कारक बहुवचन	संबोधन कारक बहुवचन
प्रातिपदिक	-ए	-ए	-ओं	-ओ

पुल्लिग वर्ग 2 में पुल्लिग वर्ग 1 में व्यवहृत होने वाले /राजा, दादा, चाचा, मामा, काका, देवता, खुदा, विधाता, भोक्ता, मुखिया, सोड़ा/ जैसे रूपों को छोड़कर अन्य आकारांत प्रातिपदिक आते हैं । यथा :—

/लड़का, घोड़ा, टुकड़ा, भतीजा, रुपया/

इन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

लड़का	लड़के	लड़के	लड़कों	लड़को
घोड़ा	घोड़े	घोड़े	घोड़ों	घोड़ो
टुकड़ा	टुकड़े	टुकड़े	टुकड़ों	टुकड़ो
भतीजा	भतीजे	भतीजे	भतीजों	भतीजो
रुप्या	रुपये	रुपये	रुपयों	रूपयो

संधि-विचार :

(1) पुल्लिग वर्ग 2 के समस्त प्रातिपदिकों में जब किसी भी विभक्ति-प्रत्यय का योग होता है तो यौगिक प्रक्रिया में प्रातिपदिक अपने लघु रूप में आता है, अर्थात् प्रातिपदिक के अंतिम स्वर /आ/ का लोप हो जाता है ।

स्त्रीलिंग :

स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द विकारी कारक एकवचन में भी रूपांतरित नहीं होते, अर्थात् स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में एकवचन के धरातल पर किसी भी कारक में कोई रूपांतर नहीं होता । स्त्रीलिंग संज्ञा प्रातिपदिक ही अविकारी कारक एकवचन, विकारी कारक एकवचन एवं संबोधन कारक एकवचन में प्रयुक्त होता है । अविकारी कारक एकवचन एवं संबोधन कारक एकवचन में तो पुल्लिग प्रातिपदिकों में भी कोई रूपांतर नहीं होता । इस कारण यह मान लिया गया है कि अविकारी कारक एकवचन एवं संबोधन कारक एकवचन में संज्ञा प्रातिपदिक ही प्रयुक्त होता है । पुल्लिग वर्ग 1 के प्रातिपदिकों में विकारी कारक एकवचन में भी कोई विभक्ति नहीं लगती, किंतु चूंकि पुल्लिग वर्ग 2 के प्रातिपदिकों में {-ए} विभक्ति संयुक्त होती है, इस कारण पुल्लिग वर्ग 1 के प्रातिपदिकों में विकारी कारक एकवचन विभक्ति 'शून्य' E–ϕ ∃ है । स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों के विकारी कारक एकवचन के रूपों में भी शून्य परप्रत्यय Eϕ∃ की कल्पना की जा सकती है । इसका कारण यह है कि विभक्ति धरातल पर लिंग कोटि का अकेले विवेचन नहीं हो रहा है, इसलिए {विकारी कारक एकवचन विभक्ति रूपिम} के उपरूपों के रूप में पुल्लिग एवं स्त्रीलिंग दोनों के विकारी कारक एकवचन की विभक्तियाँ आएँगी ।

स्त्रीलिंग वर्ग 1 :—इसके भी तीन उपवर्ग हैं :—

स्त्रीलिंग वर्ग 1.1

अविकारी कारक एवं संबोधन कारक एकवचन	विकारी कारक एकवचन	अविकारी कारक बहुवचन	विकारी कारक बहुवचन	संबोधन कारक बहुवचन
प्रातिपदिक	-ϕ	-एँ	-ओं	-ओ

स्त्रीलिंग वर्ग 1.1 में समस्त व्यंजनांत, 'इयाकारांत' शब्दों को छोड़कर शेष समस्त आकारांत शब्द, उकारांत, ऊकारांत एवं ओकारांत स्त्रीलिंग प्रातिपदिक आते हैं। इन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

रात्	रात्	रातें	रातों	रातो
किताब्	किताब्	किताबें	किताबों	किताबो
बहिन्	बहिन्	बहिनें	बहिनों	बहिनो
माता	माता	माताएँ	माताओं	माताओ
घटना	घटना	घटनाएँ	घटनाओं	घटनाओ
रचना	रचना	रचनाएँ	रचनाओं	रचनाओ
वस्तु	वस्तु	वस्तुएँ	वस्तुओं	वस्तुओ
बहू	बहू	बहुएँ	बहुओं	बहुओ
झाड़ू	झाड़ू	झाड़ुएँ	झाड़ुओं	झाड़ुओ
लौ	लौ	लौएँ	लौओं	लौओ

संधि-विचार

(1) ऊकारांत प्रातिपदिकों को छोड़कर अन्य व्यंजन एवं स्वर अंत्य प्रातिपदिकों में विभक्ति जुड़ने की प्रक्रिया में कोई स्वनात्मक विकार नहीं आता है। ऊकारांत प्रातिपदिकों में {-एँ}, {-ओं} एवं {-ओ} विभक्तियों की यौगिक प्रक्रिया में प्रातिपदिक का अंत्य /ऊ/ → /उ/ में बदल जाता है।

स्त्रीलिंग वर्ग 1.2

अविकारी कारक एवं संबोधन कारक एकवचन	विकारी कारक एकवचन	अविकारी कारक बहुवचन	विकारी कारक बहुवचन	संबोधन कारक बहुवचन
प्रातिपदिक	-ϕ	-आँ	-ओं	-ओ

इस वर्ग में समस्त इकारांत एवं ईकारांत स्त्रीलिंग प्रातिपदिक आते हैं। इन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

जाति	जाति	जातियाँ	जातियों	जातियो
शक्ति	शक्ति	शक्तियाँ	शक्तियों	शक्तियो
तिथि	तिथि	तिथियाँ	तिथियों	तिथियो
लड़की	लड़की	लड़कियाँ	लड़कियों	लड़कियो
मछली	मछली	मछलियाँ	मछलियों	मछलियो
गर्मी	गर्मी	गर्मियाँ	गर्मियों	गर्मियो

संधि-विचार :

(1) उपर्युक्त तालिका के समस्त उदाहरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इकारांत एवं ईकारांत प्रातिपदिकों में जब {-आं}, {-ओं} एवं {-ओ} विभक्तियों का योग होता है तो यौगिक प्रक्रिया में प्राति-पदिकों एवं विभक्तियों के मध्य 'य्' श्रुति का आगम हो जाता है तथा ईकारांत प्रातिपदिकों का दीर्घ स्वर /ई/ ह्रस्व स्वर /इ/ में बदल जाता है।

इस वर्ग का विश्लेषण इस प्रकार भी संभव है कि अविकारी कारक बहुवचन {-यां}, विकारी कारक बहुवचन विभक्ति {-यों} एवं संबोधन कारक बहु-वचन विभक्ति {-यो} है। पुल्लिग वर्ग 1 की ही भाँति यहाँ भी 'य्' को श्रुति के रूप में स्वीकार किया गया है। इससे रचना संबंधी इस संगति का निर्देश किया जा सकता है कि इकारांत एवं ईकारांत संज्ञा प्रातिपदिकों में– चाहे वे पुल्लिग हों या स्त्रीलिंग—जब विभक्तियों का योग होता है, तो यौगिक प्रक्रिया में 'य्' श्रुति का आगम हो जाता है।

स्त्रीलिंग वर्ग 1.3

अविकारी कारक एवं संबोधन कारक एकवचन	विकारी कारक एकवचन	अविकारी कारक बहुवचन	विकारी कारक बहुवचन	संबोधन कारक बहुवचन
प्रातिपदिक	-ϕ	-आँ ~ -एँ	-ओं	ओ

इस वर्ग में /इया/ से अंत होने वाले प्रातिपदिक आते हैं :—

चिड़िया	चिड़िया	चिड़ियाँ ~ चिड़ियाएँ	चिड़ियों	चिड़ियो
बुढ़िया	बुढ़िया	बुढ़ियाँ ~ बुढ़ियाएँ	बुढ़ियों	बुढ़ियो
लठिया	लठिया	लठियाँ ~ लठियाएँ	लठियों	लठियो

संधि-विचार :

(1) प्रातिपदिकों में जब अविकारी कारक बहुवचन विभक्ति का उपरूप {-आँ}, विकारी कारक बहुवचन द्योतक {-ओं} एवं संबोधन कारक बहुवचन द्योतक {-ओ} जुड़ता है तो यौगिक प्रक्रिया में प्रातिपदिकों के अंत्य स्वर /आ/ का लोप हो जाता है।

स्त्रीलिंग वर्ग 2

अविकारी कारक एवं संवोधन कारक एकवचन	विकारी कारक एकवचन	अविकारी कारक वहुवचन	विकारी कारक वहुवचन	संवोधन कारक वहुवचन
प्रातिपदिक	-ϕ	-ϕ	-ओं	-ओ

इस वर्ग में समस्त एकारांत एवं ओकारांत स्त्रीलिंग प्रातिपदिक आते हैं ।

संधि-विचार :

(1) {-ओं} एवं {-ओ} विभक्तियों के साथ प्रातिपदिक अपने लघु रूप में आता है ।

विभक्ति धरातल पर कारक : पुनर्विचार

उपर्युक्त विवेचन में कारक एवं वचन के अनुसार संज्ञा-विभक्तियों का वर्णन किया गया है। यदि अविकारी कारक एवं विकारी कारक के संज्ञा रूपों तक हम अपनी दृष्टि केंद्रित करके अध्ययन करें तो अविकारी एवं विकारी कारक रूप पूरक वितरण की स्थिति में हैं। इसका कारण यह है कि अविकारी रूप परसर्गों के विना प्रयुक्त होते हैं किंतु विकारी रूपों के साथ परसर्गों का प्रयोग होता है। इस प्रकार अविकारी एवं विकारी रूपों के प्रयोग की स्थितियाँ पूरक वितरण की स्थिति में हैं ।

इस प्रकार के विश्लेषण एवं वर्गवंधन को अपनाने पर एकवचन के रूपों में कोई विभक्ति नहीं लगती । ऐसी स्थिति में / लड़के को यह वस्तु दे दो/ में प्रयुक्त एकवचन रूप /लड़के/ में {-ए} विभक्ति नहीं है, अपितु / लड़का ∞ लड़के/ की स्थिति में हैं, अर्थात् [लड़के]/लड़का/ का परिवर्त है जो परसर्गों के साथ प्रयुक्त होता है। इस प्रकार के विकल्प को ग्रहण करने पर संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण कोटियाँ केवल वचनसूचक व्याकरणिक वर्ग के लिए रूपांतरित होती हैं। ऐसी स्थिति में उनकी सामान्य गठनतालिका इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

एकवचन	वहुवचन
प्रातिपदिक	-विभक्ति प्रत्यय

संज्ञा कोटि में प्रयुक्त विभक्तियों को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है :—

पुल्लिग

{पुल्लिग वहुवचन विभक्ति रूपिम} के उपरूपों का विवरण इस प्रकार हैं :—

E-ओं∃—जव पुल्लिग संज्ञा रूप परसर्गों के साथ प्रयुक्त होता है तो E-ओं∃ विभक्ति आती है ।

E-ϕE—जव पुल्लिग वर्ग 1 के संज्ञा प्रातिपदिक वहुवचन में बिना परसर्गों के प्रयुक्त होते हैं जो शून्य विभक्ति प्रत्यय होता है ।

E-ए∃—जव पुल्लिग वर्ग 2 के संज्ञा प्रातिपदिक वहुवचन में बिना परसर्गों के प्रयुक्त होते हैं तो E-ए∃ विभक्ति होती है ।

इन विभक्तियों की यौगिक प्रक्रिया में संज्ञा प्रातिपदिकों में स्वनात्मक परिवर्तन पुल्लिग वर्ग 1 विकारी कारक वहुवचन एवं पुल्लिग वर्ग 2 अविकारी कारक वहुवचन एवं विकारी कारक वहुवचन द्योतक विभक्तियों की संहिति में हुए स्वनात्मक परिवर्तनों के अनुरूप ही होते हैं ।

स्त्रीलिंग

{स्त्रीलिंग वहुवचन विभक्ति रूपिम} के उपरूपों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

E-ओं∃—जव स्त्रीलिंग संज्ञा रूप परसर्गों के साथ प्रयुक्त होता है ।

E-एँ∃—जब स्त्रीलिंग वर्ग 1.1 के संज्ञा प्रातिपदिक बिना परसर्गों के प्रयुक्त होते हैं ।

E-आँ∃—जव स्त्रीलिंग वर्ग 1.2 के संज्ञा प्रातिपदिक बिना परसर्गों के प्रयुक्त होते हैं ।

E-आँ–एँ∃—जव स्त्रीलिंग वर्ग 1.3 के संज्ञा प्रातिपदिक बिना परसर्गों के प्रयुक्त होते हैं ।

E- ϕ ∃—जव स्त्रीलिंग वर्ग 2 के संज्ञा प्रातिपदिक बिना परसर्गों के प्रयुक्त होते हैं ।

इन विभक्तियों की यौगिक प्रक्रिया में संज्ञा-प्रातिपदिकों में स्वनात्मक परिवर्तन स्त्रीलिंग वर्ग 1.1, स्त्रीलिंग वर्ग 1.2, स्त्रीलिंग वर्ग 1.3 में अविकारी कारक वहुवचन एवं विकारी कारक वहुवचन द्योतक विभक्तियों की संहिति में हुए स्वनात्मक परिवर्तनों के अनुरूप ही होते हैं ।

संज्ञा में विभक्ति के धरातल पर केवल वचनानुसार भेद मानने के इस विकल्प को ग्रहण करने में आपत्ति यह है कि संवोधन कारक बहुवचन विभक्ति प्रत्येक प्रकार के अंत्य शब्द में प्रयुक्त होती है एवं उसके आगे परसर्गों का प्रयोग भी नहीं होता ।

हिंदी संज्ञा पदबंध*

महेंद्र

वाक्य में संज्ञा पदबंध तथा क्रिया पदबंध होता है।
वा ⟶ संप+क्रिप।

हिंदी संज्ञा पदबंध - संरचना संबंधी नियम निम्नलिखित हैं :

I. अनिर्धारित

1. संप ⟶ { व्यक्तिवाचक + (अ) / निर्धारक + संज्ञा } # वा #

2. नि ⟶ (ज) + { निर्धारित / अनिर्धारित }

3. अनिर्धारित ⟶ { अनिश्चित निर्धारक / अनिश्चित } + स

4. अनिश्चित निर्धारक = { थोड़ा, बहुत, अधिक, कम, एक, अनेक, हरेक, प्रत्येक आदि / सैकड़ों, हजारों, लाखों आदि }

5. अनिश्चित = { कई, कोई, कुछ }

[संकेत : अ= अभिस्थापी, स=संयोजक, ज=जो आदि।]

अनिश्चित (कई, कोई, कुछ) को अनिश्चित निर्धारक से पृथक् करना आवश्यक है क्योंकि हिंदी में अनिश्चित सर्वनाम और अनिश्चित प्रश्नवाचक रूपों के

---

* प्रस्तुत लेख लिखने में महेंद्र किशोर वर्मा की पुस्तक The structure of the Noun Phrase in English and Hindi से विशेष सहायता ली गई है। डॉ० भोलानाथ तिवारी तथा डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने व्यक्तिगत रूप में अनेक सुझाव दिए हैं। लेखक इन विद्वानों के प्रति आभारी है।

व्युत्पादन में यह पृथक्करण उपयोगी सिद्ध होता है । ये तीनों रूप अनिश्चित निर्धारकों की अपेक्षा आपस में अधिक समानता भी रखते हैं ।

अनिश्चित निर्धारक 'थोड़ा' और 'एक' क्रमश: विशेषण 'थोड़ा' और संख्या 'एक' से भिन्न हैं । अर्थ की दृष्टि से भी दोनों पृथक् हैं । निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा इनकी भिन्नता प्रदर्शित की जा सकती है --

थोड़ा

(1) कार ठीक होने में **थोड़ा** समय लगेगा । (क्योंकि मिस्त्री आज छुट्टी पर है ।)

(2) कार ठीक होने में **थोड़ा** समय लगेगा । (अभी पेंच कस देता हूँ ।)

(3) वह **थोड़ी** देर सोया । (क्योंकि आज दफ्तर की छुट्टी थी ।)

(4) वह **थोड़ी** देर सोया । (क्योंकि दफ्तर का समय हो रहा था ।)

एक

(5) मेरे यहाँ **एक** विद्यार्थी आया । (जो बहुत शालीन था ।)

(6) मेरे यहाँ **एक** विद्यार्थी आया । (दो नहीं ।)

(7) उस मकान में **एक** व्यक्ति रहता है । (जो देखने में तुमसे मिलता-जुलता है ।)

(8) उस मकान में **एक** व्यक्ति रहता है । (और दूसरा कोई दिखाई नहीं देता ।)

(1), (3), (5), और (7) वाक्यों में मोटे टाइप के रूप अनिश्चित निर्धारक हैं तथा (2) और (4) में विशेषण व (6) और (8) वाक्यों में संख्या हैं । ध्यान देने योग्य बात यह है कि विशेषण तथा संख्या में ये रूप बलात्मक हैं । इस कारण कभी-कभी इनमें अधिक बल देने के लिए 'ही' का प्रयोग भी किया जाता है ।

(9) कार ठीक होने में थोड़ा (ही) समय लगेगा.........।

(10) वह थोड़ी (ही) देर सोया.............।

(11) मेरे यहाँ एक (ही) विद्यार्थी आया..........।

(12) उस मकान में एक (ही) व्यक्ति रहता है............।

II. निर्धारित

6. निर्धारित → { परिमाणक / परिवाधक + (संकेतक) + ({ पूर्ण संकेतक / पश्च संकेतक }) + परिमाणक + (समुदायवाचक) }

7. संकेतक → निश्चित + संकेतवाचक + (अ)

8. संकेतवाचक → { निकटवर्ती / दूरवर्ती }

9. पूर्व संकेतक → निश्चित + (संकेतवाचक) + (स) + (अ)

10. पश्च संकेतक → निश्चित + दूरवर्ती + स + (अ)

11. समुदायवाचक - { सब, सारा }

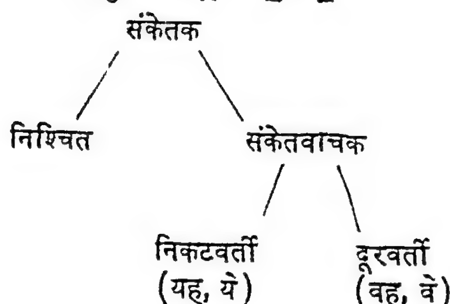
12. परिवाधक- { केवल .... ही, बस ... ही, कम से कम ..तो, / इसके अलावा ... भी, यहाँ तक कि .. भी आदि }

13. परिमाणक → { संख्यात्मक / परिमाणवाचक / बलात्मक }

निर्धारित में आने वाले संकेतक[1] में अनिवार्य रूप से संकेतवाचक होता है। यह संकेतवाचक—निकटवर्ती और दूरवर्ती—इन दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है —

निकटवर्ती + [एकवचन / बहुवचन] = [यह / ये]

दूरवर्ती + [एकवचन / बहुवचन] = [वह / वे]



संकेतक के दो रूप हो सकते हैं–एक पूर्व संकेतक[2] और दूसरा पश्च संकेतक ।

पूर्व संकेतक——→ संज्ञा + सर्वनाम

पश्च संकेतक——→ सर्वनाम + संज्ञा

निकटवर्ती और दूरवर्ती दोनों संकेतवाचकों के पूर्व संकेतक तथा पश्च संकेतक रूप उदाहरण निम्नलिखित हैं—

निफटवर्ती

(13) मैं एक पुस्तक पढ़ रहा हूं. यह बहुत अच्छी है। (पूर्व संकेतक)

दूरवर्ती

(14) मैं एक आदमी से मिला वह बहुत तेज है। (पूर्व संकेतक)

(15) यह वह लड़की है जो मुझे मिली थी। (पश्च संकेतक)

पूर्व संकेतक में संकेतवाचक वैकल्पिक रूप में होता है। यह निकटवर्ती और दूरवर्ती में से कोई भी हो सकता है। पश्च संकेतक में दूरवर्ती अनिवार्य रूप से रहता है। जैसे—

(16) ये वे सारे आम हैं जो आपने मुझे दिए थे।

ये → संकेतवाचक; वे → पश्च संकेतक (दूरवर्ती); सारे → समुदायवाचक; आम → संज्ञा

III. समुदायवाचक

संज्ञा पदबंध के 'निर्धारित' विभाग में 'सब' और 'सारा' पद समुदायवाचक रूप में प्रयुक्त होते हैं। अधिकांशतः गणनावाचक विशेषण के साथ 'ओं' अथवा 'नों' बद्ध रूप मिलकर समुदायवाचक बनते हैं। 'नौ' संख्या के अपवाद को छोड़कर व्यंजनांत में 'ओं' तथा स्वरांत में 'नों' जुड़ता है। जैसे—

व्यंजनांत

तीन–	समुदायवाचक	तीनों
पांच–	"	पाँचों
छ–	"	छओं
सात	"	सातों

स्वरांत

दो—समुदायवाचक दोनों

अपवाद रूप

नौ—समुदायवाचक नौओं

समुदायवाचक में निश्चितता रहती है। उदाहरणार्थ—

(17) दो आम खाओ।

(18) दोनों आम खाओ।

(19) तीन पुस्तकें मेज पर रखी हैं।

(20) तीनों पुस्तकें मेज पर रखी हैं।

'दो आम' और 'तीन पुस्तकें' में और अधिक आम तथा पुस्तकों की भी संभावना विद्यमान है, जबकि (18), (20) वाक्यों में निश्चितता है। कभी-कभी पश्च संकेतक संकेतवाचक के लिए समुदायवाचक प्रयुक्त होता है। जैसे—

(21) (अ) वे दो पुस्तकें मैंने पढ़ ली हैं जो तुमने मुझे दी थीं।

(21) (आ) दोनों पुस्तकें मैंने पढ़ ली हैं जो तुमने मुझे दी थीं।

सर्वनाम के साथ गणनावाचक अथवा गणना+समुदाय का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। उदाहरण के लिए—

(22) (अ) हम दो वहाँ खेल रहे थे।
अथवा

(22) (आ) हम दोनों वहाँ खेल रहे थे।

(23) (अ) तुम तीन वहाँ चले जाओ।
अथवा

(23) (आ) तुम तीनों वहाँ चले जाओ।

इन दोनों प्रयोगों के अर्थ में अंतर नहीं है। यह दूसरी बात है कि (22) (आ) और (23) (आ) वाक्यों में अधिक निश्चितता है।[3] इसी प्रकार 'आप दो' तथा 'वे दो' रूप भी हिंदी में प्रचलित हैं।

IV. परिबाधक

संज्ञा पदबंध में 'ही' 'भी' 'तो' का प्रयोग भी होता है। सामान्यत: ये बलात्मक हैं।

(24) वे दो पुस्तकें ही मैंने पढ़ी हैं ।

(25) वे दो ही पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं ।

(26) ये तीन पुस्तकें भी मैंने पढ़ी हैं ।

(27) ये चार पुस्तकें तो मेज पर रख दो ।

वाक्य में जिस अंश पर वल देना होता है वहीं इनका प्रयोग किया जाता है, जैसे (24) में पुस्तकों पर तथा (25) में 'दो' संख्या पर बल है ।

(28) वह सुंदर ही है, गुणवान् नहीं ।

(29) दो ही आम अच्छे हैं ।

(30) दोनों ही आम अच्छ हैं ।

यहाँ (28), (29) में वलात्मक के साथ-साथ परिवाधक भाव भी विद्यमान है । यह परिवाधक भाव (30) में नहीं है । इसी परिवाधकत्व पर और अधिक वल देने के लिए केवल, वस, कम से कम आदि का प्रयोग किया जाता है ।

(31) केवल दो आम ही अच्छे हैं ।

(32) केवल दो आम अच्छे हैं ।

V. परिमाणक—संख्यात्मक

14. संख्यात्मक ⟶ {सन्निकटिक, क्रमवाचक} + {गणनावाचक, आवृत्तिवाचक, अपूर्णांकवोधक}

15. गणनावाचक ={एक, दो, तीन, चार.....आदि}

16. आवृत्तिवाचक ={दुगुना, तिगुना, चौगुना.....आदि}

17. अपूर्णांकवोधक ={पाव, आधा, पौन, डेढ़.....आदि}

18. सन्निकटिक ={कम से कम, अधिक से अधिक.....आदि}

19. क्रमवाचक ={पहला, दूसरा, अगला, पिछला.....आदि}

परिमाणक-परिमाणवाचक

20. परिमाणवाचक→(सन्निकटिक) + {गणनावाचक, अपूर्णांकवोधक} + संज्ञा[+माप]

21 परिमाणवाचक= {एक सेर, दो गज, थोड़ा, वहुत.....आदि }

(33) दो गज कपड़ा

(34) थोड़ा दूध

परिमाणक-बलात्मक

22. बलात्मक ⟶ { प्रतिबंधित, समावेशित, निश्चयसूचक }

23. प्रतिबंधित = {ही, भर, मात्र}

24. समावेशित = {भी, तक}

25. निश्चयसूचक = {तो}

(35) दो रुपए मात्र मुझे दे दो ।

(36) रात भर सो न सका ।

(37) उस तक यह बात पहुंच गई ।

(38) मैं तो वहाँ जाऊंगा ।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिंदी में एक से अधिक बलात्मक रूप भी एक साथ प्रयुक्त होते हैं ।

(39) हिंदी तक ही यह प्रयोग सीमित है ।

(40) उस मकान में राम ही तो रहता है ।

(41) वह भी तो आपके साथ जाएगा ।

VI. अवयव 'ज'

संज्ञा पदबंध में 'कौन' 'क्या' आदि का प्रयोग भी होता है । जैसे—कौन व्यक्ति, क्या वस्तु, कौनसा भाई आदि । इनका प्रयोग प्रश्नवाचक वाक्यों में होता है ।

ज + अनिश्चित + संज्ञा ⟶ कौन + संज्ञा ⟶ कौन व्यक्ति

ज + निश्चित + संज्ञा ⟶ कौन-सा + संज्ञा ⟶ कौन-सा व्यक्ति

ज + अनिश्चित + सर्वनाम ⟶ कौन
(मानव)

ज + अनिश्चित + सर्वनाम ⟶ क्या
(वस्तु)

ज + निश्चित + सर्वनाम ⟶ कौन-सा

ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिंदी में 'वस्तु' के साथ 'क्या' तथा 'मानव' के साथ 'कौन' प्रयुक्त होता है। किंतु यह अंतर निश्चित प्रश्नवाचक सर्वनाम के साथ समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ—

कौन-सा पत्र

कौन-सा भाई

कौन-सी पुस्तक

VII. कर्त्ता वर्ग

26. कर्त्ता { संज्ञा / सर्वनाम }

संज्ञा और सर्वनाम अनेक वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं, जैसे—व्यक्तिवाचक, भाववाचक आदि संज्ञा; उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष आदि सर्वनाम।

सर्वनाम में निकटवर्ती और दूरवर्ती का भेद महत्त्वपूर्ण है—

(42) यह आम है। यह आपने भेजा है। यह मीठा है।

(43) आपने आम भेजा था। वह मीठा था। ⊙

पाद टिप्पणियाँ :

1. संकेतक Diectic/Deixis के लिए देखिए—

Introduction to Theoretical Linguistics— J. Lyons; p. 275

2. पूर्व संकेतक Anaphoric के लिए देखिए—

(क) Language—L. Bloomfield; p. 249

(ख) A course in Modern Linguistics—C. Hockett; p. 254-258

3. मनेंद्र किशोर वर्मा ने लिखा है—

"In Hindi, Sequences as 'ham doo', 'aap doo', 'woo doo' simply do not occur." The structure of the Noun Phrase in English and Hindi: p. 81-82. परंतु मैं इससे सहमत नहीं हूं।

आप और अपना

देवीशंकर द्विवेदी

"आप कैसे हैं?"—सरीखे वाक्यों में व्यवहृत होने वाले "आप" को साधारणत: सम्मानसूचक मध्यम पुरुष कहा जाता है। इस निर्धारण का एकमात्र आधार है—अर्थ। यदि दो व्यक्तियों में बातचीत हो रही हो तो वक्ता को उत्तम पुरुष और श्रोता को मध्यम पुरुष कहा जाता है तथा अन्य पुरुष है वह व्यक्ति या विषय जिसके संबंध में वार्तालाप हो रहा है। व्याकरणिक "पुरुष" की यह नितांत अर्थपरक व्याख्या है। "आप कैसे हैं?" वाक्य में "आप" का प्रयोग श्रोता के लिए हुआ है इसलिए वह मध्यम पुरुष है और "तू" या "तुम" की अपेक्षा उसमें सम्मान, शिष्टाचार या औपचारिकता विद्यमान है इसलिए वह सम्मानसूचक है।

किंतु यदि हम "पुरुष" को रूपात्मक आधार पर व्याकरणिक कोटि भर मानें और प्रत्येक स्थिति में प्रत्येक पुरुष से किसी विशेष और निर्धारित अर्थ के अनिवार्य संबंध की शर्त न लगाएँ तो "पुरुष" और वक्तव्य से संबंधित व्यक्तियों (वक्ता, श्रोता, विषय-व्यक्ति) को अलग-अलग रखकर देखा जा सकता है। इस दृष्टि से "आप कैसे हैं?"— सरीखे वाक्यों में व्यवहृत "आप" को कभी कभी अन्य पुरुष कहा गया है यद्यपि उसका अर्थ "श्रोता" है। इस निर्धारण का औचित्य उसके साथ प्रयुक्त होने वाले क्रिया रूपों से सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ,

आप कैसे हैं ?	वे कैसे हैं ?
आप कहाँ गए होंगे ?	वे कहाँ गए होंगे ?

जबकि,

तू कैसा है ?	तुम कैसे हो ?
तू कहाँ गया होगा ?	तुम कहाँ गए होंगे ?

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि वाक्य-स्तर पर रूपात्मक आधार को ही मानदंड बनाया जाए तो उपर्युक्त "आप" को उत्तम पुरुष भी तो कहा जा सकता है। क्योंकि,

12—7 C. H. D. (N.D.)/73

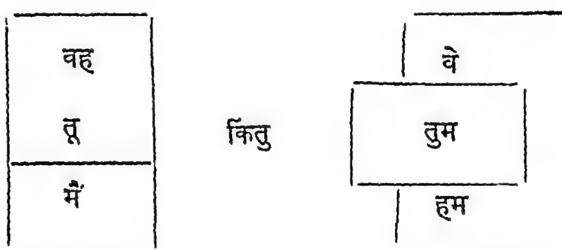
आप कैसे हैं?　　　　　　　　　　हम कैसे हैं?

आप कहाँ गए होंगे?　　　　　　　　हम कहाँ गए होंगे?

वस्तुत: एक अर्थ में यह प्रश्न भ्रामक है। यदि हम केवल रूपात्मक आधार को मानदंड बना रहे हैं तो उपर्युक्त वाक्य में अन्य पुरुष और उत्तम पुरुष का पार्थक्य ही सिद्ध नहीं होता; वे दोनों तो एक ही हैं। हम उन्हें चाहे अन्य पुरुष कह लें, चाहे उत्तम पुरुष, चाहे मध्यमेतर (=अन्य+उत्तम) पुरुष। इस प्रकार, "कैसे हैं" और "गए होंगे" मध्यमेतर पुरुष (=अन्य+उत्तम) के रूप हैं जबकि "कैसे हो" और "गए होंगे" मध्यम पुरुष के रूप हैं। मध्यमेतर पुरुष का खंडीकरण तो अन्य परिवेशों के कारण करना पड़ता है। उदाहरणार्थ,

वह जाता है।
तू जाता है।
मैं जाता हूं।

इन तीन वाक्यों में मिलने वाले "है" और "हूँ" इन दोनों रूपों का वितरण मध्यम तथा मध्यमेतर पुरुष का नहीं है, उत्तम तथा उत्तमेतर पुरुष का है। इस प्रकार,



अब यह तो नहीं हो सकता कि अन्य पुरुष को एक प्रसंग में उत्तम पुरुष का अंग मान लिया जाए और दूसरे प्रसंग में मध्यम पुरुष का। यह विभाजन-विभेद शुद्ध रूपात्मक आधार पर भी अन्य, मध्यम तथा उत्तम पुरुषों की स्थापना कर देता है।

यह स्थापना हो चुकने के बाद ऊपर उठाया हुआ प्रश्न भ्रामक नहीं रह जाता। यदि प्रसंगाधीन क्रिया-रूपों में अन्य पुरुष तथा उत्तम पुरुष का अभेद भी है तो अन्य मानदंडों के आधार पर "आप" को इनमें से किसी एक कोटि में रखना होगा। इसे तुरंत अन्य पुरुष में रख देना तो कदाचित् हमारी विचार-धारा पर संस्कृत के प्रभाव का परिणाम है क्योंकि संस्कृत में "आप" का अर्थ देनेवाला "भवान्" अन्य पुरुष का ही रूप है। किंतु यों भी "आप" को उत्तम पुरुष मानने से कुछ असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। निश्चय ही यह रूप सम्मानसूचक है और उत्तम पुरुष शुद्ध रूप से रूपात्मक व्याकरणिक कोटि मान ली जाने पर भी अर्थ के धरातल पर संबंध तो रखती ही है और यह संबंध अन्य सभी परिवेशों में "वक्ता" से ही होता है। तो क्या वक्ता अपने प्रति ही सम्मान सूचित करेगा?

यह तो आत्म-सम्मान भी नहीं हुआ । श्रोता के "पधारने" की वात होती है; किंतु वक्ता तो अपने "उपस्थित होने" की ही वात करेगा । रूपात्मक धरातल पर इन विचारों का कोई प्रत्यक्ष मूल्य न होने पर भी विकल्पों में से चुनाव करते समय इनका उपयोग स्पृहणीय ही माना जाना चाहिए । अतएव "आप" अन्य पुरुष का रूप निर्धारित हुआ ।

किंतु यहीं एक और "आप" भी सामने आता है जो सम्मानसूचक भी है और अर्थ की दृष्टि से भी अन्य पुरुष (अर्थात् विषय-व्यक्ति सूचक) है; रूप की दृष्टि से तो अन्य पुरुष है ही । उदाहरणार्थ,

"डॉ० राजेंद्र प्रसाद विहार के थे । आप वड़े कुशाग्र वुद्धि थे ।"

इस प्रसंग में "आप" "वे" की अपेक्षा सचमुच अधिक सम्मानसूचक है या नहीं, यह बात विवादास्पद हो सकती है; किंतु "श्रोतावाची" "आप" की अर्थगत शक्ति का प्रभाव है कि यह "आप" विषय-व्यक्ति की उपस्थिति में प्रयुक्त होकर कहीं अधिक संगत जान पड़ता है और तब "ये" की अपेक्षा निश्चय ही अधिक सम्मानसूचक प्रतीत होता है । इस प्रसंग में "आप" से अभिहित व्यक्ति हमारे विशिष्ट अर्थ में "श्रोता" (संबोधित व्यक्ति) भले ही न होता हो, हमारे वक्तव्य का श्रवण वह अवश्य कर रहा होता है । उदाहरणार्थ,

"भाइयो ! हमारे आज के मुख्य अतिथि प्रो० आइन्स्टाइन हैं । आपको अपने बीच में पाकर हम सभी धन्य हैं ।"

यहाँ "आपको" के स्थान पर "इनको" रखकर सम्मानसूचन की स्थिति की तुलना की जा सकती है ।

तव क्या इन दोनों प्रसंगों में पाए जाने वाले "आप" को एक ही शब्द माना जा सकता है जो प्रसंगानुसार "श्रोता" या "विषय-व्यक्ति" का अर्थ देता है? उपर्युक्त परिवेशों की परीक्षा से ऐसा निश्चय करने में कोई असंगति नहीं जान पड़ती । दोनों प्रयोगों में और अधिक दूरी लाने वाले परिवेश तो आज्ञा-निवेदन के क्रिया-रूपों में मिलते हैं जिनमें "श्रोता"-सूचक "आप" अन्य पुरुष से भिन्न क्रिया रूप ग्रहण करता है । उदाहरणार्थ,

वे आएं — आप आएं

किंतु

आप आइए ।

आप आइएगा ।

इसी प्रकार,

वे करें — आप करें

किंतु,

आप करिए / कीजिए

आप करिएगा / कीजिएगा

प्रथम "आप" के साथ मिलने वाले ये क्रिया-रूप केवल प्रथम "आप" के ही साथ मिलते हैं। द्वितीय "आप" से इसे अलग करने वाला यह बड़ा स्पष्ट परिवेश है, यद्यपि अर्थ-साम्य निर्धारित हो जाने पर इस परिवेश से दोनों का पूरक बंटन और स्पष्ट हो जाता है जिससे इन्हें एक ही शब्द मानने में सुविधा होती है; किंतु बात केवल एक शब्द के दो रूपों तक ही सीमित नहीं है। मुख्य बात यह है कि द्वितीय "आप" तो अन्य पुरुष के साथ खप जाता है, जबकि अपने उपर्युक्त क्रिया-रूपों की एकांत विशिष्टता के कारण प्रथम "आप" का ताल-मेल अन्य पुरुष के साथ नहीं बैठता। और यह आधार भी रूपात्मक ही है। इसलिए प्रथम "आप" मध्यम पुरुष से ही भिन्न नहीं है, अन्य पुरुष से भी भिन्न है। आज्ञा और निवेदन की अपनी विशेष परिस्थिति के कारण यह भिन्नता बुद्धिग्राह्य भी है।

अर्थ की शक्ति क्रियाशील रहती है और भाषा के तत्त्वों में आकर्षण-विकर्षण उत्पन्न करती रहती है। श्रोतासूचक "आप" के व्यवहार-वैचित्र्य से मानसिक असहमति रखने वाले व्यक्ति भी हैं। कम से कम एक मर्मज्ञ विद्वान श्री उदयशंकर शास्त्री को मैंने नियमित रूप से "आप कैसे हो?"—सरीखे वाक्यों का प्रयोग करते सुना है। शास्त्री जी ने तो शब्द को अनुशासित करके मध्यम पुरुष मानने का सुचिंतित प्रयास किया होगा; किंतु कुछ आत्मीयता आ जाने पर नवयुवकों के मुख से बड़ों के लिए बोलचाल की हिंदी में "आप आ जाना।" "आप कह देना।" आदि वाक्यों का प्रयोग मैंने अनेक बार सुना है। इन प्रयोगों में भी "तुम" का वाक्यगत परिवेश देकर बिना किसी हेरफेर के "आप" को उसका सम्मानसूचक स्थानापन्न-मात्र बना देने की चेष्टा है। लेकिन इन नवयुवकों में शास्त्रीजी की तरह के चिंतन की कल्पना करना मिथ्या होगा; उनमें तो अर्थ की शक्ति की सहज और स्वाभाविक क्रियाशीलता ही लक्षित होती है।

एक तीसरा "आप" भी हिंदी में प्रयुक्त होता है जो "आप" के उपर्युक्त दोनों प्रयोगों से सर्वथा भिन्न है। यह है आत्मवाचक सर्वनाम जो "स्वयं" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी से "आपा" और "आपस" का निष्पादन होता है; "अपने आप" और "आप ही आप" में भी यही विद्यमान है। इसका संबंध–रूप "अपना" बनता है जबकि उपर्युक्त "आप" का संबंध–रूप "आपका" होता है। इन दोनों में परस्पर भ्रांति की संभावना नहीं होती।

इस "अपना" से भ्रांति की संभावना होती है एक दूसरे "अपना" से। यह दूसरा "अपना" उत्तम पुरुष (समावेशी) का संबंध-रूप है जिसका प्रयोग व्यावहारिक हिंदी में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है यद्यपि साहित्यिक प्रयोग "हम लोग" भी व्यावहारिक हिंदी में मिलता है। साहित्यिक प्रयोग में "हम लोग" समावेशी और अपवर्जक दोनों स्थितियों में आता है। इस "अपना" के मूल रूप "अपन" का प्रयोग व्यावहारिक हिंदी में भी बहुत कम है;* उसके स्थान पर प्रायः "हम लोग" ही प्रयुक्त होता है। ऐसी स्थिति में समावेश और अपवर्जन का भाव प्रसंग या परिवेश से ही समझा जाता है। उदाहरणार्थ, "अपन चलेंगे" का प्रयोग जो लोग नहीं करते, वे "हम लोग चलेंगे" का प्रयोग समावेश के लिए और

---

*राजस्थान और मध्य प्रदेश में "अप्पन" (हम लोग) का प्रयोग-बाहुल्य मिलता है—(संपादक)

"हम लोग जाएँगे" का प्रयोग अपवर्जन के लिए कर सकते हैं। किंतु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि समावेश की स्थिति में "हम लोग जाएगे" का और अपवर्जन की स्थिति में "हम लोग चलेंगे" का प्रयोग हो ही नहीं सकता।

आत्मवाचक और पुरुषवाचक में से किस "अपना" का प्रयोग हुआ है, यह निश्चय करने में संदेह की स्थिति निम्नलिखित वाक्य में उपस्थिति हो सकती है :—

"अपने यहाँ के विद्यार्थियों की तो उन्होंने प्रशंसा की है।" "अपना" के अर्थ-भेद को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित दो प्रसंग लिए जा सकते हैं :—

1. हम लोगों के विद्यार्थियों की डॉ० सिन्हा आलोचना ही करते रहते हैं; लेकिन अपने यहाँ के विद्यार्थियों की तो उन्होंने प्रशंसा की है।

2. अपने यहाँ की उत्तर-पुस्तिकाएँ भी डॉ० सिन्हा के पास भेजी गई थीं। अपने यहाँ के विद्यार्थियों की तो उन्होंने प्रशंसा की है।

प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहली बार "अपने" का अर्थ है "डॉ० सिन्हा के" और दूसरी बार "अपने" का अर्थ है "हम लोगों के (=हमारे+आपके)।" इस प्रकार प्रथम प्रसंग में आत्मवाचक सर्वनाम है और द्वितीय प्रसंग में पुरुष-वाचक सर्वनाम (उत्तम पुरुष समावेशी)। भिन्न मूल वाक्यों से निःसृत होकर उपर्युक्त वाक्य दो भिन्न अर्थ देने में समर्थ है। अर्थात्,

1. विद्यार्थियों की तो उन्होंने प्रशंसा की है।
+
ये विद्यार्थी उनके यहाँ के हैं।
=
अपने यहाँ के विद्यार्थियों की तो उन्होंने प्रशंसा की है।

जबकि

2. विद्यार्थियों की तो उन्होंने प्रशंसा की है।
+
ये विद्यार्थी अपने यहाँ के हैं।
=
अपने यहाँ के विद्यार्थियों की तो उन्होंने प्रशंसा की है।

कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ सकती है जब "अपना" के दोनों अर्थों में अभेद हो जाए। उदाहरणार्थ,

चलिए, हम लोग अपना काम करें।

इस वाक्य में "अपना" का कोई अर्थ लगाया जाए, अभिप्राय वही निकलेगा। ऐसी स्थिति में भी किसी एक अर्थ से उसका संयोजन कर देना व्याकरणिक दृष्टि से आवश्यक है। इससे भाषा की प्रकृति स्पष्ट होती है और भाषा की प्रकृति से ऐसे संयोजन में सहायता मिलती है। "तुम अपना काम करो!",

"वह अपना काम करे! ", 'मैं अपना काम करूँ', आदि वाक्यों से तुलना करने पर यह निश्चित हो जाता है कि "हम लोग अपना काम करें" में आत्मवाचक सर्वनाम है। इन चारों वाक्यों में "अपना" के स्थान पर क्रमशः "तुम्हारा", "उसका", "मेरा" और "हम लोगों का" का प्रयोग नहीं हो सकता।

स्वयं आत्मवाचक सर्वनाम का प्रयोग भी सदैव असंदिग्ध नहीं होता; उसके अपने ही अर्थ-भेद संदेह की स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं। उदाहरणार्थ,

मुझे अपना काम करने दो!

इस वाक्य में "अपना" का अर्थ "मेरा" भी हो सकता है और "तुम्हारा" भी हो सकता है। इसी प्रकार निम्नलिखित वाक्य में "अपना . . . अपना" का अर्थ "मेरा . . . तुम्हारा" भी हो सकता है और "तुम्हारा . . . मेरा" भी।

यदि तुम मुझे अपना काम करने दोगे तो मैं तुम्हें अपना काम करने दूँगा।

इन दोनों अर्थों में वाक्य की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से करनी होगी। इस प्रकार,

(1) मेरा काम है

यदि तुम मुझे करने दोगे> यदि तुम मुझे अपना काम करने दोगे

तो> तो

तुम्हारा काम है

मैं तुम्हें करने दूँगा > मैं तुम्हें अपना काम करने दूँगा

तथा,

(2) तुम्हारा काम है

यदि तुम मुझे करने दोगे> यदि तुम मुझे अपना काम करने दोगे

तो> तो

मेरा काम है

मैं तुम्हें करने दूँगा> मैं तुम्हें अपना काम करने दूंगा।

पुरुषों के बीच मिलने वाली ऐसी संदिग्धता के प्रसंग छोड़ दें तो आत्मवाचक "अपना" का प्रयोग सामान्यतः हिंदीवालों को बड़ा सरल और सहज प्रतीत होता है। उन्हें इतना वक्तव्य बहुत पर्याप्त जान पड़ेगा कि आत्मवाचक "अपना" का अर्थ प्रसंगानुसार "मेरा, हमारा, तेरा, तुम्हारा, आपका, उसका, इसका, उनका या इनका" होता है। "प्रसंगानुसार" का अर्थ भी बताया जा सकता है—"मैं, हम, तू, तुम, आप, वह, यह, वे, ये" के साथ। "मैं अपनी पुस्तक पढ़ता हूँ, हम अपनी पुस्तक पढ़ते हैं, तू अपनी पुस्तक पढ़ता है"—सरीखे सीधे वाक्यों से उक्त वक्तव्य का उदाहरण भी दिया जा सकता है। लेकिन निम्नलिखित युग्मों में से

किसी एक के किसी घटक की भ्रांति किसी दूसरे युग्म के किसी घटक से हो सकने की स्थिति को छोड़ देने के बाद भी प्रत्येक युग्म के अंतर्गत दोनों घटकों के वितरण का विभेद निर्धारित करने की समस्या अन्य भाषाभाषियों को जटिल लगती है, जो "अपना" –जैसे किसी शब्द से पूर्वपरिचित नहीं हैं। इनका पूरक बंटन अधिक सावधानी की अपेक्षा रखता है।

मेरा/अपना	हमारा/अपना		
तेरा/अपना	तुम्हारा/अपना	आपका/अपना	
उसका/अपना	इसका/अपना	उनका/अपना	इनका/अपना

उदाहरणार्थ, समानाधिकरण संघटनों में आत्मवाचक विकल्प नहीं आता, पुरुषवाचक विकल्प ही रहता है। जैसे,

मैं और मेरा बेटा।

तुम या तुम्हारा भाई।

तिर्यक् कारकीय रूपों वाले पुरुषवाचकीय सर्वनामों के साथ भी आत्मवाचक का प्रयोग कुछ स्थितियों में नहीं मिलता। जैसे,

उनसे उनके भाई ने कहा।

लेकिन,

मुझको प्यारी मेरी दुनिया

तुम्हें तुम्हारी प्यारी हो।

के साथ-साथ

मुझको अपनी दुनिया प्यारी

तुमको अपनी प्यारी हो।

प्रयोग भी मिलता है।

समूहवाची शब्दों के साथ "अपना" का अर्थ उपर्युक्त पुरुषवाची सर्वनाम के किसी एक रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता; उसे एक साथ अनेक से व्यक्त किया जा सकता है अथवा उसका अर्थ सामान्य रूप से "निज का" लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ,

आइए, हम सब अपना-अपना काम करें।

हम, तुम और ये अपने-अपने घर जाएँगे।

सभी लोग अपनी बात कहते हैं।

कारक सिद्धांत

बी०लक्ष्मीबाई

पिछले दस-पंद्रह वर्षों से पाश्चात्य देशों के भाषाविज्ञानी (विशेषकर अमरीका और लंदन में) विश्व-व्याकरण संबंधी सिद्धांतों के निर्माण में लगे हुए हैं। भाषा के विषय में अब धारणा यह है कि यद्यपि बाहरी तौर से देखने पर संसार की सभी भाषाएँ अलग-अलग दिखाई पड़ती हैं, फिर भी इन सबके मूल में अर्थ और संरचना संबंधी ऐसे तत्त्व और नियम हैं जो भाषा-विशेष न हो कर भाषा-सामान्य हैं। विश्व व्याकरण का निर्माण भाषा संबंधी इन्हीं तत्त्वों और नियमों को प्रकाश में लाना है। इस भाषा-सामान्य के स्वरूप के बारे में अब तक थोड़े बहुत अंतर वाले तीन-चार सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं। इनमें एक कारक सिद्धांत या 'केस ग्रामर' कहलाता है। इसके प्रतिपादक अमरीका के चार्ल्स फिलमोर हैं। इस लेख में हम फिलमोर के कारक सिद्धांत की मुख्य बातों को हिंदी के उपयुक्त उदाहरणों से समझाने की कोशिश करेंगे।

फिलमोर के कारक सिदधांत वास्तव में पाणिनि के कारक-सिद्धांतों से अलग नहीं हैं। पर फिलमोर ने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि जो वाक्य आपस में उनमें निहित कारक संबंधों की दृष्टि से अलग हैं उनमें वाक्य-संरचना की दृष्टि से भी भेद देखे जा सकते हैं। पाणिनि की ही तरह फिलमोर ने भी वाक्य में क्रिया और संज्ञा और सर्वनाम पदों के बीच पाए जाने वाले संबंधों को ही कारक कहा है। ये संबंध अर्थ के आधार पर निश्चित किए गए हैं। अर्थ के आधार पर निर्धारित इन कारक-संबंधों की संख्या सीमित है और ये भाषा-विशेष न होकर भाषा-सामान्य हैं।

फिलमोर ने निम्नलिखित कारकों का प्रयोग किया है।

कर्ता :—फिलमोर के मतानुसार किसी कार्य का संचालक ही कर्ता है। पाणिनि ने भी कर्ता को स्वतंत्र कहा है, अर्थात् किसी कार्य का संपन्न होना कर्ता पर ही निर्भर करता है। निम्नलिखित वाक्यों में मोटे टाइप के शब्द कर्ता

कारक के उदाहरण हैं। (1) **रमेश ने** पुस्तक पढ़ ली है। (2) **माँ** खाना बना रही है।

भोक्ता :—यहाँ पर हम भोक्ता शब्द का प्रयोग फिलमोर के Experiencer शब्द के लिए कर रहे हैं। फिलमोर के अनुसार मानसिक स्थिति दर्शाने वाली क्रियाओं के संदर्भ में भोक्ता से तात्पर्य उससे है जिसकी मानसिक स्थिति का वाक्य में ज़िक्र हो। उदाहरण के लिए नीचे के वाक्यों में क्रमशः **उसको, मैं** और **शीला** भोक्ता-कारक हैं।

(3) **उसको** मुझ पर गुस्सा आया।

(4) **मैं** चौंक उठा।

(5) **शीला** को आश्चर्य हुआ।

इसके अतिरिक्त सामान्यतः जिस अर्थ में 'संप्रदान' शब्द का प्रयोग किया जाता है उसके लिए फिलमोर ने 'भोक्ता' शब्द का प्रयोग किया है। दोनों को एक ही कारक मानने का कारण शायद यह है कि एक ही वाक्य में कभी संप्रदान और भोक्ता दोनों कारक साथ नहीं आ सकते। पर यदि अर्थ की दृष्टि से देखा जाए तो इन दोनों में काफ़ी भेद है और इन दोनों को एक ही मानना ठीक नहीं जँचता। दूसरे शब्दों में, निम्नलिखित छठे और सातवें वाक्यों में **लड़की** और **मोहन** का क्रिया से वही संबंध नहीं है जो आठवें और नवें वाक्यों में **लड़का** और **श्याम** का है। इसलिए हम संप्रदान और भोक्ता को अलग-अलग कारक ही मानेंगे।

(6) मैं **लड़की को** रुपए भेज रहा हूँ।

(7) पिता जी ने **मोहन को** चिट्ठी लिखी।

(8) **लड़के को** गुस्सा आया।

(9) **श्याम को** भूख लग रही है।

करण :—पाणिनि ने कर्ता के साधन को करण कहा है। फिलमोर ने साधन के अतिरिक्त किसी कार्य अथवा घटना के कारण को भी करण कहा है। फिलमोर के अनुसार नीचे के वाक्यों में **बंदूक** और **कलम** के अलावा **हवा** और **धूप** भी करण कारक होंगे।

(10) मैंने **बंदूक से** शेर को मार डाला।

(11) उसने **पेंसिल से** मुझे चिट्ठी लिखी।

(12) **हवा से** यह खिड़की बार-बार खुल जाती है।

(13) **धूप से** सारी बर्फ़ पिघल गई है।

कर्म :—संस्कृत व्याकरण में कर्ता जिसकी अपेक्षा करता है उसी को कर्म कहा गया है। इस परिभाषा के अनुसार कर्म के अंतर्गत प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक दोनों प्रकार के शब्द आ जाते हैं। पर फिलमोर ने जिसे कर्मकारक कहा

है वह कर्म कारक की प्रचलित परिभाषा से कुछ भिन्न है। उन्होंने केवल उन्हीं वस्तुओं को कर्म कहा है जो गतिसूचक क्रियाओं में एक स्थान से दूसरे स्थान को गतिशील होती हैं और विकारसूचक क्रियाओं में एक स्थिति से दूसरी स्थिति में बदलती हैं। निम्नलिखित वाक्यों के रेखांकित शब्द कर्म कारक के उदाहरण हैं।

(14) हम पेड़ काट रहे हैं।

(15) हम चावल पका रहे हैं।

(16) मैंने किताब को दूसरी ओर सरका दिया।

पर कर्म कारक के लिए फिलमोर की दी हुई यह परिभाषा बहुत सीमित-सी है। यदि कर्म कारक के अंतर्गत वे ही वस्तुएँ रखी जाएँ जो या तो एक स्थान से दूसरे स्थान को गतिशील होती हैं अथवा जो एक स्थिति से दूसरी स्थिति में परिवर्तित होती हैं तो नीचे दिए गए वाक्यों के रेखांकित शब्दों में कौन-सा कारक होगा?

(17) मैंने आदमी को देखा।

(18) मैं आपको जानता हूँ।

इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि निम्नलिखित वाक्यों में किताब और लड़का दोनों का 'देखना' क्रिया से एक ही तरह का संबंध है। ऐसी दशा में फिलमोर के कर्म शब्द का प्रयोग केवल अप्राणिवाचक शब्दों के लिए करना उचित नहीं जान पड़ता।

(19) मैंने इस लड़के को देखा है।

(20) मैंने यह किताब देखी है।

अपादान :—फिलमोर के मतानुसार गतिसूचक शब्दों में 'सोर्स' का अर्थ उस स्थान से है जहाँ से किसी वस्तु की गति प्रारंभ होती है। जैसे :—

(21) मैंने मेज को रसोई के कमरे से हटा दिया है।

(22) पेड़ से पत्ते गिर रहे हैं।

इनसे अलग, विकारसूचक क्रियाओं में 'सोर्स' का तात्पर्य किसी वस्तु की उस प्रारंभिक दशा से है जिसके बाद उसमें विकार उत्पन्न होता है जैसे :—

(23) उनकी संस्था अब स्कूल से कॉलेज बन गई है।

(24) राँची अब गाँव से शहर बन गया है।

लक्ष्य :—फिलमोर ने जिस अर्थ में 'गोल' शब्द का प्रयोग किया है उसके लिए हम 'लक्ष्य' शब्द का प्रयोग करेंगे। गति सूचक क्रियाओं वाले वाक्यों से तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ कोई गतिशील वस्तु पहुँचती है। जैसे:—

(25) सुबह मैं अस्पताल से मंडी तक पैदल चला।

(26) मैं रोज सुबह अपने घर से पोस्ट आफिस तक दौड़ता हूँ।

इसी प्रकार विकारसूचक क्रियाओं वाले वाक्यों में किसी वस्तु के बाद की स्थिति ही 'लक्ष्य' कहलाती है। उदाहरण के लिए 27वें और 28वें वाक्यों को देखें।

(27) वह अब **प्रोफेसर** बन गया है।

(28) तुम तो अब **मामा** बन गए हो।

फिलमोर के मतानुसार किसी कार्य के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली वस्तु भी लक्ष्य ही है। निम्नलिखित वाक्यों में **कविता** और **खिचड़ी** लक्ष्य है।

(29) मैंने एक **कविता** लिखी है।

(30) मैं **खिचड़ी** पका रही हूँ।

अधिकरण :—अधिकरण कारक से क्रिया के आधार का बोध होता है। इसे ही फिलमोर ने Locative कहा है। जैसे:—

(31) मेरी किताब **मेज पर** है।

(32) इसी **थाली में** मैंने खाया था।

सरल वाक्य में एक ही कारक एक से अधिक बार नहीं आ सकता। हाँ, एक ही कारक वाले दो शब्दों का वाक्य में योग हो सकता है।

उदाहरण के लिए नीचे दिए गए वाक्यों को देखिए।

(33) मैंने **साबुन और सोडे** से सभी कमरों की सफ़ाई की।

(34) मैंने **राम और श्याम** को पाँच-पाँच रुपए दिए।

ऊपर के वाक्यों में 33 वें वाक्य में **साबुन** और **सोड़ा** दोनों ही करण कारक हैं। इसी तरह 34 वें वाक्य में **राम** और **श्याम** दोनों ही संप्रदान हैं।

वाक्य के मूलभूत तत्त्व विभिन्न कारक ही हैं। किसी वाक्य के अर्थ और उसकी संरचना-संबंधी विशेषताओं का पता हमें उस वाक्य में निहित कारक संबंधों से ही मिलता है। दूसरे शब्दों में, कई वाक्य जो ऊपर से देखने पर बिल्कुल एक-से नज़र आते हैं, असल में न केवल अर्थ की दृष्टि से बल्कि संरचना की दृष्टि से भी एक दूसरे से अलग हो सकते हैं। इन वाक्यों में पाए जाने वाले अंतर इनके मूल में निहित कारक-संबंधों की भिन्नता के कारण हो सकते हैं।

इस कथन का स्पष्टीकरण हम हिंदी के व्याकरणों में कर्ता की जो परिभाषा दी गई है उसके विवेचन से कर सकते हैं। हिंदी के वैयाकरणों ने 'कर्ता' शब्द का प्रयोग अलग-अलग अर्थों में किया है। उदाहरण के लिए आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने कर्ता की परिभाषा अर्थ के आधार पर दी है। उनके शब्दों में 'क्रिया के करने न करने में जो स्वतंत्र हो उसे कर्ता कहते हैं'। (शब्दानुशासन पृ० 137)। इसके विपरीत पं० कामताप्रसाद गुरु ने हालाँकि अन्य सभी कारकों की परिभाषा अर्थ के आधार पर दी है, उन्होंने कर्ता को कार्य के करने वाले के अर्थ में नहीं लिखा है। कर्ता की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है "क्रिया से जिस वस्तु के विषय

में विधान किया जाता है उसे सूचित करने वाले संज्ञा के रूप को कर्ता-कारक कहते हैं" (हिंदी व्याकरण, पृ० 220)। आगे वे लिखते हैं कि कर्ता कारक के इस लक्षण में "केवल व्यापार के आश्रय ही का समावेश नहीं होता किंतु स्थिति दर्शक और विकार दर्शक क्रियाओं के कर्ताओं का भी (जो यथार्थ में व्यापार के आश्रय नहीं हैं) समावेश हो सकता है। इसके सिवा सकर्मक क्रिया के कर्मवाच्य में कर्म का जो मुख्य रूप होता है उसका भी समावेश इस लक्षण में हो जाता है" (हिंदी व्याकरण, पृ० 220)। इस परिभाषा के अनुसार निम्नलिखित वाक्यों की रेखांकित संज्ञाएँ और सर्वनाम कर्ता कहलाएँगे।

(35) लड़का सोता है।

(36) लड़का चौंकता है।

(37) चिट्ठी भेजी जाएगी।

(38) फूल गिरते हैं।

(39) पूरियाँ बन रही हैं।

पर यदि अर्थ की दृष्टि से देखा जाए तो सिर्फ 35वें वाक्य का **लड़का** शब्द कर्ता है, क्योंकि सोने के कार्य को करने न करने में लड़का स्वतंत्र है। पर 36वें, 37वें, 38वें और 39वें वाक्य में **लड़का, चिट्ठी, फूल** और **पूरियाँ** को हम कर्ता नहीं मान सकते क्योंकि न चौंकने का कार्य लड़का करता है न ही **चिट्ठी, फूल** अथवा **पूरियाँ** क्रमशः भेजने, गिरने व बनने का कार्य करते हैं।

यदि हम यह मान भी लें कि ऊपर दिए गए वाक्यों (35 से 39 तक) के रेखांकित शब्द कर्ता हैं तो इसका यह मतलब हुआ कि इन चार वाक्यों की संरचना में कोई भेद नहीं है क्योंकि इन सभी वाक्यों में एक संज्ञा शब्द है जो वाक्य का कर्ता है और एक क्रिया शब्द है।

पर असल में देखा जाए तो इन पाँचों वाक्यों में कई अंतर हैं। एक तो 35 से 39 नंबर तक के वाक्यों में से केवल 35 वें वाक्य के अनुरूप अशक्ततासूचक वाक्य बन सकता है। शेष वाक्यों के लिए अशक्ततासूचक वाक्य नहीं बनते, जैसा कि निम्नलिखित वाक्यों से स्पष्ट है। नीचे दिए गए वाक्यों में से केवल 35 (अ) (जो 35 वें वाक्य का अशक्ततासूचक रूप है) ठीक है। 36 (अ), 37 (अ), 38 (अ) और 39 (अ) (जो क्रमशः 36, 37, 38 और 39वें वाक्य के अशक्ततासूचक रूप हैं) असंगत हैं।

(35 अ) लड़के से सोया नहीं जाता।
(36 अ) *लड़के से चौंका नहीं जाता।
(37 अ) *चिट्ठी से भेजी नहीं जाती।
(38 अ) *फूलों से गिरा नहीं जाता।
(39 अ) *पूरियों से बना नहीं जाता।

असल में देखा जाए तो अशक्ततासूचक वाक्य केवल उन्हीं वाक्यों के लिए वन सकते हैं जिनकी क्रिया से किसी ऐसे कार्य का वोध हो जिसका संचालन कोई अपनी इच्छा से कर सके। ऊपर के वाक्यों में केवल 35 वें वाक्य का कर्ता **लड़का** ही 'सोने' का कार्य अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है और इसलिए अशक्तता सूचक वाक्य 35 (अ) संभव हो सका है। इसके विपरीत **चौंकना, गिरना** व **वनना** ऐसे कार्य नहीं हैं जिन्हें कोई अपनी इच्छा से कर सके। इसलिए जिन वाक्यों में इन क्रियाओं का प्रयोग हुआ है उनके अशक्ततासूचक रूप नहीं वने हैं। वाक्य 37 (अ) भी असंगत है हालाँकि इस वाक्य की क्रिया **भेजना** है जो ऐसा कार्य है जिसका संचालन इच्छानुसार किया जा सकता है। पर 37 (अ) इसीलिए असंगत है कि हमने **चिट्ठी** शब्द का कर्म होते हुए भी कर्ता की तरह उपयोग किया है और 'से' कारक चिह्न जोड़ा है। अशक्ततासूचक वाक्य के कर्ता के साथ ही 'से' प्रत्यय जुड़ सकता है, कर्म-कारक के साथ नहीं। चूंकि 37 वें वाक्य में चिट्ठी कर्ता नहीं, कर्म है, हम अशक्ततासूचक वाक्य में इस शब्द के साथ 'से' चिह्न का प्रयोग नहीं कर सकते। इसीलिए वाक्य 37 (अ) असंगत हो गया है। अगर 37 वें वाक्य में हम कर्ता शब्द को भी प्रकट रूप से दिखाएँ तो हमें इस वाक्य का उचित अशक्ततासूचक रूप मिल जाएगा, जैसा कि वाक्य 37 (व) से स्पष्ट है।

37 (व) मुझसे यह चिट्ठी न भेजी जाएगी।

दूसरे, 35 वें से लेकर 39 वें तक के सभी वाक्यों के आज्ञार्थक रूप नहीं वन सकते। केवल 35 वें और 37 वें वाक्य के आज्ञार्थक वाक्य वन सकते हैं, जैसा कि वाक्य 35 (व) और 37 (व) से स्पष्ट है। इसके विपरीत 36 वें और 39वें वाक्य के अनुरूप आज्ञार्थक वाक्य नहीं वन सकते। यह वात वाक्य नंवर 36 (व), 38(व) और 39 (व) के असंगत होने से स्पष्ट हो जाती है।

(35 व) लड़का सोए।

(36 व) *लड़का न चौंके।

(37 व) चिट्ठी भेजी जाए।

(38 व) *फूल न गिरें।

(39 व) *पूरियाँ न वनें।

इसी प्रकार **'पड़ना'** शब्द के योग से वनने वाले विवशतासूचक वाक्य केवल उन्हीं वाक्यों के अनुरूप वन सकते हैं जिनकी क्रिया द्वारा किसी ऐसे कार्य का वोध हो जिसका संचालन स्वेच्छा से किया जा सके। यही कारण है कि निम्नलिखित वाक्यों में **पड़ना** केवल उन वाक्यों में आ पाया है जिनकी क्रियाओं से स्वेच्छा से किए जा सकने वाले कार्य का वोध होता है, उदाहरणस्वरूप **भेजना, सोना** आदि। इसके विपरीत वे सभी वाक्य असंगत लगते हैं जिनमें **'पड़ना'** का प्रयोग **चौंकना, गिरना** अथवा **वनना** आदि क्रियाओं के साथ किया गया है जिनका कोई संचालक कर्ता नहीं होता।

(35स) लड़के को सोना पड़ा ।

(36स) *लड़के को चौंकना पड़ा ।

(37स) मुझे उसे एक चिट्ठी भेजनी पड़ी ।

(38स) *फूलों को जमीन पर गिरना पड़ा ।

(39स) *पूरियों को बनना पड़ा ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि **घबराना, चौंकना** आदि क्रियाओं के साथ यद्यपि आमतौर पर कर्ता कारक का प्रयोग नहीं होता, अर्थात् **घबराने** और **चौंकने** का कार्य स्वेच्छा से नहीं किया जाता फिर भी ऐसे संदर्भों में जहाँ जानबूझकर किसी को **चौंकने** अथवा **घबराने** का नाटक खलना पड़े तब इन क्रियाओं के अनुरूप 'पड़ना' शब्द के योग से विवशतासूचक वाक्य बना सकते हैं। इस बात से यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि विवशता के अर्थ में **पड़ना** शब्द का प्रयोग वाक्य के मूल में कर्ता कारक (कार्य के स्वतंत्र संचालक के अर्थ में) के होने से ही संभव हो सकता है। इस दृष्टि से भी खोज की जाए तो ज्ञात होगा कि हालाँकि बाहरी तौर से देखने पर 35 से 39 तक सभी वाक्य एक से दिखाई पड़ते हैं पर असल में न अर्थ की दृष्टि से समान हैं और न संरचना की दृष्टि से ही। जबकि 35 वें वाक्य के अनुरूप विवशतासूचक वाक्य (वाक्य 35 स) बन पाया है 36 वें, 38 वें और 39 वें वाक्य के अनुरूप विवशतासूचक वाक्य नहीं बनते, जैसा कि 36 स, 38 स और 39 स से स्पष्ट है।

कर्ता कारक वाले वाक्यों की एक और विशेषता यह है कि इन्हीं वाक्यों में हम **जानबूझ कर, चालाकी से, होशियारी से, कुशलतापूर्वक, चालबाजी से** आदि क्रियाविशेषणों का प्रयोग कर सकते हैं, दूसरे वाक्यों में नहीं। दूसरे शब्दों में, ये क्रियाविशेषण केवल स्वेच्छा से संचालन किए जा सकने वाले कार्यों के साथ ही आ सकते हैं। इस दृष्टि से भी हम यही देखते हैं कि 35, 36, 37, 38 और 39 वें वाक्यों में अंतर है। ये क्रियाविशेषण केवल 35 वें और 37 वें वाक्य के साथ आ सकते हैं क्योंकि इनके मूल में कर्ता कारक है, जबकि 36 वें, 38 वें और 39 वें वाक्यों में कर्ता कारक न होने की वजह से इनके साथ ये क्रियाविशेषण नहीं लग सकते। यह बात नीचे दिए गए वाक्यों को देखने से स्पष्ट हो जाएगी।

(35 द) लड़का जानबूझकर सो गया ।

(36 द) *लड़का जानबूझकर चौंक गया ।

(37 द) यह चिट्ठी जानबूझकर भेजी गई ।

(38 द) *फूल जानबूझकर गिर गए ।

(39 द) *पूरियाँ जानबूझकर बनीं ।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि वाक्य की संरचना संबंधी कई विशेषताओं का पता हमें वाक्य में निहित कारक संबंधों के आधार पर मिलता है। पं० कामताप्रसाद गुरु की व्याख्या के अनुसार 35 से लेकर 39 तक

के सभी वाक्यों की संरचना समान है क्योंकि इन सबमें एक कर्ता और एक क्रिया का शब्द है। पर हम कारक संबंधों पर आधारित जिस व्याकरण की चर्चा कर रहे हैं उसके अंतर्गत केवल 35 वें वाक्य का **लड़का** ही कर्ता है। 36 वें वाक्य का **लड़का** शब्द भोक्ता है, 37 वें, 38 वें और 39 वें वाक्य में क्रमश: **चिट्ठी, फूल,** और **पूरियाँ** कर्म कारक हैं। इन वाक्यों में निहित कारक संबंधी विभिन्नताओं के अनुकूल ही इनमें संरचना संबंधी कई अंतर हमने देखे।

कई बार ऐसा होता है कि कोई कारक संबंध वाक्य के मूल में उपस्थित होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप से वाक्य में संज्ञा या सर्वनाम शब्द द्‌वारा प्रकट नहीं किया जाता। ऐसी अवस्था में वाक्य में उस कारक की उपस्थिति का पता हमें उस वाक्य के प्रयोग के संबंध में पाई जाने वाली अन्य विशेषताओं से चलता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों को लें।

(40) मैं **पेड़** काट रहा हूँ।

(41) **पेड़** काटा जा रहा है।

(42) **पेड़** कट रहा है।

इन वाक्यों में 40 वें वाक्य में **मैं** शब्द कर्ता है और **पेड़** शब्द कर्म है। 41 वें और 42 वें वाक्य में सिर्फ एक ही संज्ञा शब्द **पेड़** दिखाई देता है जो कर्म कारक है। इस तरह ऊपर से देखने पर लगता है कि 41 वें और 42 वें वाक्य एक दूसरे के निकट हैं क्योंकि उनमें केवल एक ही कारक-संबंध है, जबकि 40 वें वाक्य में दो कारक-संबंध हैं। लेकिन यदि इन वाक्यों की हम थोड़ी सी छान-बीन करें तो हमें पता चल जाएगा कि 41 वें और 42 वें वाक्य में काफ़ी भेद है और असल में 40 वाँ और 41 वाँ वाक्य संरचना की दृष्टि से एक दूसरे के अधिक निकट है। यद्‌यपि ऊपरी तौर पर लगता है कि 41 वें और 42 वें दोनों वाक्यों में कर्ता कारक नहीं है पर असल में देखा जाए तो 42 वें वाक्य के मूल में कर्ता कारक है ही नहीं जबकि 41वें वाक्य के मूल में कर्ता कारक है पर इसे वाक्य में किसी संज्ञा या सर्वनाम शब्द द्‌वारा प्रकट रूप से नहीं दिखाया गया है। इस बात की पुष्टि नीचे दिए गए विवेचन से हो जाएगी।

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, **जान-बूझकर, चतुराई से, गंभीरतापूर्वक, चालाकी से, होशियारी से** आदि कुछ क्रियाविशेषण केवल ऐसी क्रियाओं वाले वाक्यों के साथ आ सकते हैं जिनसे ऐसे कार्य का बोध हो जिसका स्वेच्छा से संचालन किया जा सके। दूसरे शब्दों में, जिन वाक्यों के मूल में कोई कर्ता हो, उसी के साथ इन क्रियाविशेषणों का प्रयोग हो सकता है। यह बात नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है।

(43) मैंने बड़ी चालाकी से उस पत्र को पढ़ लिया।

(44) तुमने यह कमीज बड़ी होशियारी से सी है।

(45) उसने जानबूझ कर मीरा की चाय पी ली।

(46) *लड़का बड़ी चालाकी से घबराया।

(47) *मैं जानबूझ कर डर गया।

जहां तक 40 वें, 41 वें और 42 वें वाक्य का सवाल है, ये क्रिया विशेषण केवल 40 वें और 41 वें वाक्यों के साथ लग सकते हैं, 42 वें वाक्य के साथ नहीं। यह बात 40 वें (अ) और 41 वें (अ) के संगत होने से और 42 वें (अ) के असंगत होने से स्पष्ट हो जाती है।

(40 अ) मैं इस पेड़ को बड़ी चालाकी से काट रहा हूं।

(41 अ) इस पेड़ को बड़ी चालाकी से काटा जा रहा है।

(42 अ) *यह पेड़ बड़ी चालाकी से कट रहा है।

इससे स्पष्ट है कि 40 वें और 41 वें दोनों वाक्यों में कर्ता कारक है। पर दोनों में अंतर यह है कि जबकि 40 वें वाक्य में कर्ता कारक की अभिव्यक्ति 'मैं' शब्द द्वारा हुई है, 41 वें वाक्य के कर्ता शब्द को प्रकट रूप से व्यक्त नहीं किया गया है। इनसे अलग 42 वें वाक्य में न तो मूल में कोई कर्ता कारक है, न ही इसके बाह्‌य रूप में।

संस्कृत की व्याकरण परंपरा में कारक और विभक्तियों में अंतर माना गया है। कारकों का निर्धारण वाक्य में विभिन्न संज्ञा या सर्वनाम पदों का क्रिया के साथ जो संबंध होता है उसके आधार पर किया गया है। इससे अलग विभक्तियों से तात्पर्य संज्ञा या सर्वनामों के अलग-अलग रूपों से है। एक ही कारक अलग-अलग विभक्तियों में आ सकता है अथवा अलग-अलग कारक एक ही विभक्ति में आ सकते हैं। जैसे कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान आदि सभी संज्ञा प्रथमा विभक्ति में आ सकते हैं। इसी प्रकार फिलमोर ने भी गहन कारक संबंध (deep structure case) और (surface structure case) अथवा वाक्य की ऊपरी सतह पर प्रकट होने वाले कारकों के रूप में अंतर माना है। अँग्रेज़ी में वाक्य के प्रथम स्थान पर अलग-अलग गहन कारक संबंध आ सकते हैं और वाक्य में प्रथम स्थान पाने वाले कारक की अभिव्यक्ति करने वाले संज्ञा या सर्वनाम शब्द के अनुरूप ही क्रिया का स्वरूप भी हो सकता है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि फिलमोर ने कारक संबंधों के निर्धारण के लिए इस बात को आधार नहीं माना है कि वाक्य में क्रिया की अन्विति किसी संज्ञा या सर्वनाम पद के साथ है। उनके मतानुसार अन्विति वाक्य की ऊपरी सतह पर आने वाली चीज है और उसको मूल कारक संबंधों के निर्धारण का आधार नहीं बनाया जा सकता।

फिलमोर के मतानुसार भाषा-विशेष की कारक-व्यवस्था की चर्चा में हमें यह स्पष्ट रूप से दिखाना चाहिए कि वाक्य के मूल में निहित कारक-संबंधों की अभिव्यक्ति वाक्य की ऊपरी सतह पर किस तरह से होती है। किस कारक के साथ कौन-सा कारक चिह्‌न किस व्याकरणिक-संदर्भ में प्रयुक्त होता है —इसका भी स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। जो भाषाएँ अलग से कारक चिह्‌नों का प्रयोग न कर संज्ञा व सर्वनामों के विभिन्न रूपों का प्रयोग करती है, उनके विषय में विभिन्न कारकों और संज्ञा या सर्वनामों के अलग-अलग रूपों के संबंधों का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।

अब हम हिंदी के कारकों और उनके साथ प्रयुक्त होने वाले कारक-चिह्‌नों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

कर्ता कारक :—साधारणतया हिंदी में कर्मवाच्य वाक्यों में कर्ता की अभिव्यक्ति नहीं होती। जैसा कि नीचे दिए गए उदाहरणों से स्पष्ट है।

(43) इस जलसे में बच्चों को मिठाइयाँ भी बाँटी जाएँगी।

(44) इन इलाकों में चावल कम खाया जाता है।

यहाँ हम अशक्ततासूचक वाक्यों (45 वें और 46वें वाक्य) को कर्मवाच्य वाक्यों से भिन्न मान रहे हैं क्योंकि इन दोनों तरह के वाक्यों में न केवल अर्थ की दृष्टि से भेद है बल्कि संरचनात्मक अंतर भी देखा जा सकता है।

(45) मुझसे चला नहीं जाता।

(46) तुमसे इतना खाना कैसे खाया जाता है ?

हिंदी भाषा के कुछ विद्वानों का कथन है कि कर्ता शब्द की अभिव्यक्ति कर्मवाच्य में के द्वारा या द्वारा चिह्न के साथ ही की जा सकती है। यह बात पूर्णतया ठीक नहीं लगती, क्योंकि निम्नलिखित सभी वाक्य जिनमें कर्ता कारक की अभिव्यक्ति के द्वारा (द्वारा) के साथ की गई है, कुछ अटपटे से लगते हैं।

(47) भारत सरकार द्वारा शरणार्थियों को आर्थिक सहायता दी जा रही है।

(48) राज्य के मुख्य मंत्री द्वारा इन अतिथियों का स्वागत किया जाएगा।

(49) इस उपलक्ष्य में हिंदी जगत् के बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा कई उच्च कोटि के भाषण दिए गए।

अशक्ततासूचक वाक्यों में कर्ता कारक के साथ 'से' चिह्न लगता है।

(50) मुझसे अंदर नहीं सोया गया।

(51) मुझसे इतने सारे कपड़े नहीं धोए जाएँगे।

'पढ़ना', 'होना', 'चाहिए', और 'है' आदि क्रियाओं की सहायता से बने विवशतासूचक और आवश्यकतासूचक वाक्यों में कर्ता कारक के साथ हमेशा 'को' चिह्न लगता है। जैसा कि नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट है।

(52) लता को आज दिन भर काम करना पड़ा।

(53) मुझको आज उनसे मिलना है।

(54) तुमको इतनी रात गए अकेले नहीं जाना चाहिए।

(55) आपको मेरी बात माननी ही होगी।

बोलना, भूलना, बकना, लाना, समझना, जानना, मिलना, आदि सकर्मक क्रियाओं को छोड़कर शेष सकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक कृदंत रूपों के साथ और नहाना, छींकना, खाँसना आदि अकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक कृदंत रूपों में कर्ता के साथ 'ने' कारक चिह्न लगता है।

13—7 C. H. D. (N.D.)/72

अन्य सभी स्थानों में कर्ता के साथ कोई कारक चिह्न नहीं लगता।

कर्म कारक :— कर्ता कारक की तरह ही कर्म कारक भी कभी कारक चिह्न के साथ और कभी विना कारक चिह्न के आता है। जब कभी कर्म कारक के साथ कारक चिह्न का प्रयोग होता है तो यह चिह्न 'को' ही होता है।

वाक्य के मूल में यदि कर्ता कारक न हो तो ऐसे वाक्य में निहित कर्म कारक हमेशा विना कारक चिह्न के आता है। जैसे :—

(56) हमारे यहाँ रोज दाल वनती है।
(57) सर्फ से कपड़े साफ धुलते हैं।
(58) कमीज सिल गई है।

यहाँ यह ध्यान देने की वात है कि (जैसा हम पहले ही वता चुके हैं) कर्म-वाच्य वाक्यों में यद्यपि कर्ता कारक की अभिव्यक्ति वाक्य की ऊपरी सतह पर नहीं की जाती पर फिर भी उनके मूल में कर्ता कारक उपस्थित रहता है। कर्मवाच्य वाक्यों में कर्मकारक के साथ 'को' प्रत्यय के लगने न लगने के नियम ठीक वही हैं जो कर्तृवाच्य वाक्यों में लागू होते हैं।

अगर कर्म कारक किसी ऐसी वस्तु को द्योतित करता है जो किसी कार्य के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, तो इसके साथ 'को' चिह्न नहीं लगता। यह वात नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट है।

(59) *मैंने पूरियों को वनाया।
(60) *मैंने कविता को लिखा।
(61) *वह रोज पचास पापड़ों को वेलती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कर्म के साथ 'को' चिह्न लग सकता है या नहीं—यह वात इस आधार पर निर्धारित नहीं की जा सकती कि वाक्य में किस क्रिया का प्रयोग किया गया है। नीचे के सभी वाक्यों में हमने फिर एक वार **लिखना, पकाना** और **वनना** क्रिया का ही प्रयोग किया है पर इन सभी वाक्यों में कर्म के साथ 'को' चिह्न आ सकता है। इन सभी वाक्यों में यह स्पष्ट है कि कर्म से जिस वस्तु का बोध होता है वह पहले से उपस्थित है और क्रिया द्वारा उसको पहली वार उत्पन्न नहीं किया जा रहा है।

(62) मैंने इस **वाक्य को** अपनी डायरी के हर पन्ने में लिखा है।
(63) उसने **कुर्सी को** और अच्छा वना दिया।
(64) तुम्हारे जाने के वाद मैंने **खिचड़ी को** और आधा घंटा पकाया है।
(65) इन दोनों **पापड़ों को** थोड़ा और वेल दो।

जव कर्म के अंतर्गत ऐसी वस्तुएँ आती हैं जो किसी कार्य के होने या न होने के पहले से ही विद्यमान हों तव कर्म 'को' के साथ आ सकता है और विना 'को' के भी। यदि कर्म नामवाचक हो और + मानव हो तो उसके साथ 'को' अवश्य लगता है।

यदि कर्म नामवाचक हो और-मानव हो तो उसके साथ 'को' चिह्न नहीं लगता ।

(66) मैंने मीरा को कॉलेज में देखा ।

(67) मैं श्याम को खाने पर बुलाऊँगा ।

(68) *मैंने मीरा कॉलेज में देखा ।

(69) *मैं श्याम खाने पर बुलाऊँगा ।

(70) आपने ताजमहल को देख लिया ।

(71) हम कल ताजमहल देखने जाएँगे ।

पर यदि कर्म (वे जो क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होते) नामवाचक शब्द न हो तो उसके साथ 'को' तभी लगाया जाता है जब कर्म से किसी निर्दिष्ट वस्तु अथवा प्राणी का बोध होता हो । यदि प्राणी या वस्तु अनिर्दिष्ट हो तब उसके साथ कोई चिह्न नहीं लगता । यह बात नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट है ।

(72) हम इस काम के लिए एक योग्य व्यक्ति खोज रहे हैं ।

(73) मैं इस साल कुछ अच्छी किताबें खरीदना चाहता हूँ ।

(74) मैं उस लड़के को खोज रहा हूँ जिसने तुम्हें मेरा पता दिया था ।

(75) आप लोग इस किताब को जितनी जल्दी खरीद लेंगे उतना ही अच्छा होगा ।

इन वाक्यों में 72 वें और 73 वें वाक्यों के कर्म अनिर्दिष्ट हैं इसलिए इनके साथ 'को' नहीं जुड़ा है । 74 वें और 75 वें वाक्यों के कर्म निर्दिष्ट हैं अतः इनके साथ कर्म कारक का चिह्न 'को' जुड़ा है ।

करण कारक :

हम पहले ही बता चुके हैं कि फिलमोर के व्याकरण में करणकारक के अंतर्गत किसी कार्य के करने के साधन के अतिरिक्त प्राकृतिक शक्तियाँ और ऐसी चीजें भी आ जाती हैं जो किसी कार्य व स्थिति के उत्पन्न होने के कारण हों । प्राकृतिक शक्तियां और ऐसी वस्तुएँ जो किसी कार्य व स्थिति का कारण होती हैं वाक्य में कर्ता कारक के साथ नहीं आ सकतीं । साधन हमेशा वाक्य के मूल में कर्ता कारक के साथ आता है । पर कभी-कभी साधन पर कर्ता का आरोप लगाया जाता है और ऐसी दशा में कर्ता कारक अव्यक्त रहता है । कर्तृत्व का आरोप प्राकृतिक शक्तियों एवं अन्य कारणों पर भी किया जा सकता है । निम्नलिखित वाक्यों में 76 वें वाक्य में बाढ़ पर, 77 वें वाक्य में खाँसी पर और 78 वें वाक्य में तलवार पर कर्तृत्व का आरोप किया गया है ।

(76) इस साल बाढ़ ने लाखों के घर उजाड़ दिए हैं।

(77) बस यही खाँसी उसे परेशान करती रहती है।

(78) इसी तलवार ने शत्रुओं के सिर काटे हैं।

जब करण पर कर्तृत्व का आरोप होता है तब करण के साथ 'ने' चिह्न का प्रयोग ठीक उन्हीं संदर्भों में किया जाता है जिनमें इस चिह्न का प्रयोग कर्ता कारक के साथ होता है। दूसरे शब्दों में, उन सभी वाक्यों में जिनमें कर्म उपस्थित हो (और करण कारक का प्रयोग उन वाक्यों में होता ही नहीं जिनमें कर्म न हो) और कर्ता की अभिव्यक्ति न की जा कर करण पर कर्तृत्व का आरोप हो तो क्रिया के भूतकालिक कृदंत के साथ 'ने' चिह्न का प्रयोग होता है और क्रिया के अन्य रूपों के साथ कोई कारक चिह्न नहीं लगता।

यह बात नीचे दिए गए उदाहरणों से स्पष्ट है।

(79) इसी लाठी ने मेरी जान बचाई है।

(80) सर्फ कपड़ों को साफ और सफेद धोता है।

(81) एस्प्रो की एक ही टिकिया आपको आराम पहुँचाएगी।

यदि करण पर कर्तृत्व का आरोप न हो (और वाक्य में कर्ता की अभिव्यक्ति हुई हो तो करण पर कर्तृत्व का आरोप नहीं किया जा सकता) तो उसके साथ हमेशा 'से' चिह्न लगता है।

(82) यह लकड़ी कुल्हाड़ी से कटगी।

(83) यह कपड़ा साबुन से ही साफ होगा।

(84) मैंने तुम्हारी कलम से ही यह चिट्ठी लिखी थी।

(85) हम तो सभी सब्जियाँ चाकू से काट लेते हैं।

भोक्ता :—कर्ता और कर्म कारक की ही तरह भोक्ता भी कभी कारक चिह्न के साथ और कर्म बिना कारक चिह्न के आता है। जिन संदर्भों में भोक्ता के साथ कारक चिह्न लग सकता है वहाँ 'को' चिह्न का प्रयोग होता है।

कुछ मानसिक और शारीरिक स्थितियाँ जैसे भूख, प्यास, सुख, दुख, खुशी, डर, चिढ़, घबड़ाना, झिझकना, शर्माना, पसंद आदि ऐसी हैं जिनका प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है। एक प्रयोग में भोक्ता को वाक्य का उद्देश्य बनाया जाता है और दूसरे में मानसिक स्थिति अथवा शारीरिक स्थिति ही वाक्य का उद्देश्य बन जाती है। जब भोक्ता उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त होता है तब वह बिना किसी कारक चिह्न के आता है अन्यथा उसके साथ 'को' लगाया जाता है।

(86) राम प्यासा है।

(87) राम को प्यास लगी है।

(88) म उनसे डरता हूँ ।

(89) मुझको उनसे डर लगता है ।

(90) वे ऐसी चीजों से वहुत चिढ़ते हैं ।

(91) उनको ऐसी चीजों से वहुत चिढ है ।

इनसे अलग **जानना, चौंकना, सिहरना, बीमार** आदि शारीरिक अथवा मानसिक स्थितिसूचक शब्द ऐसे हैं जिनके साथ भोक्ता बिना कारक-चिह्न के प्रयुक्त होता है ।

(92) वह चौंक गया ।

(93) मैं सिहर उठा ।

(94) आप हिंदी जानते हैं ।

(95) लड़का बीमार है ।

वुखार आना, ताज्जुब होना, आश्चर्य होना, पता चलना, पता लगना, संदेह होना आदि के साथ भोक्ता के साथ हमेशा 'को' प्रयुक्त होता है ।

(96) **उसको** वुखार आ रहा है ।

(97) **आपको** ताज्जुव हो रहा होगा ।

(98) **पिताजी को** पता चल गया है ।

संप्रदान कारक :— इस कारक के लिए 'को' और 'से' दोनों कारक चिह्न प्रयुक्त होते हैं । **लिखना, देना, भेजना, बताना,** आदि क्रियाओं के संदर्भ में संप्रदान के साथ 'को' जुड़ता है ।

(99) मैंने **राम को** चिट्ठी लिख दी है ।

(100) तुम **राधा को** रुपए दोगे कि नहीं ?

(101) मैंने **पिताजी को** रुपए भेज दिए हैं ।

कहना और **वोलना** क्रिया के साथ भोक्ता **से** और **को** दोनों के साथ आ सकता है ।

(102) मैंने **सवको** यह वात कह दी है ।

(103) मैंने **सवसे** यह वात कह दी है ।

(104) मैं **राम को** वोल दूंगा कि वह जल्दी आ जाए ।

(105) मैं **राम से** वोल दूंगा कि वह जल्दी आ जाए ।

अपादान :—इस कारक के साथ हमेशा 'से' चिह्न जुड़ता है।

(106) मैं शाम तक अपनी किताबें **मेज से** हटा दूंगा।

(107) हम पाँच वजे **यहाँ से** चले थे।

(108) कल इस **पेड़ से** तीन चार आम गिरे थे।

अधिकरण :—इस कारक के साथ अलग-अलग संदर्भों में 'में' और 'पर' चिह्न का प्रयोग होता है। यदि क्रिया द्वारा व्यक्त कार्य किसी वस्तु अथवा स्थान के धरातल पर हो रहा हो तो अक्सर 'पर' का प्रयोग होता है।

(109) हम दोनों **पलंग पर** बैठ जाएँगे।

(110) आप **कुर्सी पर** खड़े न रहें।

(111) *हम दोनों पलंग में बैठ गए।

(112) *आप कुर्सी में बैठिए।

(113) बिस्कुट डालडे के डिब्बे में हैं।

(114) तुम्हारी साड़ियाँ मेरे संदूक में हैं।

इससे पहले हम यह बता चुके हैं कि फिलमोर के व्याकरण में अन्विति का संबंध वाक्य की ऊपरी सतह से है और इसलिए इसकी चर्चा कारक व्याकरण के अंत में की जाती है। फिलमोर का कहना है कि विभिन्न मूल कारकों में से किस कारक का वाक्य की ऊपरी सतह पर कौन-सा क्रम होगा या किस कारक के साथ क्रिया का अन्वय होगा, आदि के निर्धारण के लिए प्रधानता के आधार पर मूल कारक संबंधों के बीच एक क्रम स्थापित किया जा सकता है। उन्होंने यह क्रम दिया है :—

कर्ता, भोक्ता, करण, कर्म, अपादान, लक्ष्य आदि। इस क्रम का तात्पर्य यह है कि जब तक व्याकरण के अन्य नियमों के द्वारा यह संकेत नहीं किया जाता कि कर्ता का स्थान वाक्य की ऊपरी सतह में प्रथम न होगा तो कर्ता का ही स्थान वाक्य में प्रथम होगा। इसी प्रकार कर्ता की अनुपस्थिति में भोक्ता का स्थान प्रथम होगा। जिन भाषाओं में वाक्यगत संज्ञा व सर्वनामों के परस्पर स्थानों का महत्त्व होता है उनमें स्थान के आधार पर कोई शब्द संज्ञा या सर्वनाम बन सकता है और उसी के अनुसार क्रिया की अन्विति हो सकती है।

हिंदी में क्रिया की अन्विति इस प्रकारसे होती है। वाक्य की ऊपरी सतह पर जो कारक शब्द उपस्थित रहते हैं उनमें जिस कारक के साथ कोई कारक चिह्न नहीं लगता उसी के साथ क्रिया का अन्वय होता है। पर यदि वाक्य की ऊपरी सतह पर दो संज्ञा या सर्वनाम शब्द ऐसे हैं जो बिना कारक चिह्न के प्रकट हुए हैं तो उनमें प्राधान्य का क्रम वही है जो फिलमोर ने दिया है। अभिप्राय यह है कि यदि वाक्य की ऊपरी सतह में कर्ता और कर्म दोनों शब्द होंगे और दोनों के साथ कारक चिह्न नहीं जुड़े हों तो क्रिया का अन्वय कर्ता के साथ होगा, कर्म के साथ नहीं।

(115) मैं रोटी खा रहा हूँ ।

(116) तुम आम काटोगे ?

इसी तरह यदि वाक्य की ऊपरी सतह पर भोक्ता और कर्म दोनों हों और दोनों के साथ कारक चिह्न नहीं जुड़े हों तो क्रिया का अन्वय भोक्ता के साथ होगा, कर्म के साथ नहीं । जैसे :—

(117) मैं हिंदी जानता हूँ ।

(118) वे कई भाषाएँ जानते थे ।

इसी प्रकार वाक्य में करण और कर्म कारक दोनों हों और दोनों के साथ कारक चिह्न न लगे हों तो करण के ही साथ क्रिया का अन्वय होगा ।

(119) यह बरसात सारा प्रोग्राम खराब कर देती है ।

यदि वाक्य में ऐसा कोई कारक न हो जो बिना कारक चिह्न के उपस्थित हुआ हो तब क्रिया की अन्विति किसी भी कारक के साथ नहीं होती । जैसे 120 वें वाक्य में—

(120) मने उस किताब को बहुत ढूँढा ।

इस लेख में हमने संक्षेप में फिलमोर के कारक व्याकरण की मोटी-मोटी बातों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । वाक्य संरचना-संबंधी कई विशेषताओं की जामकारी के लिए कारक संबंधों की जो उपादेयता है वह भी इस लेख से बहुत कुछ स्पष्ट हो गई होगी । हाँ, भाषा की संरचना से संबद्ध सभी रहस्यों का पता हमें कारक-व्याकरण दे सकेगा या नहीं, इसका उत्तर अभी किसी के पास नहीं है । ●

हिंदी परसर्ग और पदबंध-संरचना

कैलाशचंद्र अग्रवाल

0.0 अध्ययन-सीमा :

प्रस्तुत अध्ययन हिंदी भाषा में प्रयुक्त परसर्गों से संरचित पदबंधों से संबंधित है। वाक्यविन्यास के अन्तर्गत पदबंध-संरचना तथा उपवाक्य-संरचना से संबंधित अध्ययन किया जाता है। परसर्गों की सहायता से पदबंध-संरचना ही होती है न कि उपवाक्य-संरचना। उपवाक्य-स्तर पर हमें जो पदबंध-संरचना प्राप्त होती है उसी में परसर्ग एक संरचक के रूप में आ सकता है। अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत अध्ययन वाक्यविन्यास का एक अंश है। यहाँ परसर्गों से संरचित पदबंधों का संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

0.1 परसर्ग तथा परसर्गात्मक शब्द :

परसर्ग से अभिप्राय उस व्याकरणिक शब्द से है जो वाक्य में शब्दों के तिर्यक् रूपों के साथ प्रयुक्त होकर किसी कारक-संबंध की अभिव्यक्ति करता है अथवा विशुद्धतया ऐसे पदबंध की संरचना करता है जो संज्ञा या विशेषण या क्रियाविशेषण की भाँति प्रकार्य करता है, यथा––घर में घर, आदमी में आदमी, उल्लू का उल्लू, हरे से हरा, सारा का सारा, एक से एक, बड़े से बड़ा, चाय के बिना, नदी के पार, स्टेशन की तरफ, दिन पर दिन, ऐसी की तैसी, जैसे को तैसा, जल्दी से जल्दी, धीरे से धीरे, जल्दी से जल्दी इत्यादि। इस प्रकार परसर्ग ऐसे शब्द हैं जिनके व्याकरणिक प्रकार्य तो हैं, लेकिन कोशीय अर्थ नहीं। इसके विपरीत परसर्गात्मक शब्द का कोशीय अर्थ होता है, व्याकरणिक नहीं। वाक्य में परसर्गात्मक शब्द संज्ञा (या सर्वनाम) रूपों के साथ प्रायः परसर्गों की सहायता लेकर पदबंध-रूप में प्रयुक्त होते हैं और इस प्रकार इनसे संरचित पदबंध वाक्य में क्रियाविशेषणों की भाँति प्रकार्य करते हैं, जबकि परसर्गों से संरचित पदबंध प्रकार्य की दृष्टि से सदैव क्रियाविशेषण पदबंध ही नहीं होते; वे कभी संज्ञा पदबंध के रूप में वाक्य में कर्ता या कर्म स्थान पर आते हैं, कभी विशेषण पदबंध के रूप में विशेपक स्थान या पूरक स्थान पर आते हैं या कभी क्रियाविशेषण पदबंध के रूप में क्रिया विशेपक स्थान पर आते हैं।

1.0. पदबंध-संरचना :

परसर्गों की सहायता से संरचित पदबंधों को संरचनात्मक दृष्टि से निम्न वर्गों में व्यवस्थित किया जा सकता है और साथ ही साथ उनसे संपादित प्रकार्य भी देखे जा सकते हैं:

1.1. संज्ञा+परसर्ग+संज्ञा= संज्ञा पदबंध

1. मोहन का पुत्र —**मोहन का पुत्र** आ रहा है।
2. बाजार का बाजार —**बाजार का बाजार** जल गया ।
3. काम से काम —हमें तो **काम से काम** रहता है।
4. मिठाई पर मिठाई —हम **मिठाई पर मिठाई** खाते रहे।
5. घर में घर —यह भी कोई **घर में घर** है।
6. चेक पर चेक —उसके पास **चेक पर चेक** आते रहे।
7. कष्ट में कष्ट —**कष्ट में कष्ट** आता रहता है।

इस प्रकार के संज्ञा पदबंध प्रकार्य की दृष्टि से वाक्य में कर्ता या कर्म-स्थान पर आने के कारण संज्ञा-वर्ग के शब्दों द्वारा प्रतिस्थापित किए जा सकते हैं।

1.2. संज्ञा+परसर्ग+विशेषण= विशेषण पदबंध

1. रमेश से अधिक —मोहन ने **रमेश से अधिक** सुंदर व्यक्ति देखा ।
2. ताड़ से लंबा —**ताड़ से लंबा** बाँस कहाँ मिलेगा?
3. दिनेश (के) जैसा —मैंने **दिनेश (के) जैसा** व्यक्ति देखा।
4. सुरेश (के) जितना —**सुरेश (के) जितना** चतुर व्यक्ति कहाँ मिलेगा ?
5. कमलेश का इतना —**कमलेश का इतना** धन उसके पास कहाँ है ?

इस प्रकार के विशेषण पदबंधों का, वाक्य में, प्रकार्य की दृष्टि से, विशेषक-स्थान पर ही आने के कारण, विशेषण-वर्ग के शब्दों से प्रतिस्थापन हो सकता है। सापेक्षिक तुलना या मात्रागत अंतर को स्पष्ट करने वाले ये पदबंध विशेष प्रकार के विशेषण शब्दों का प्रकार्य करते हैं।

1.3. विशेषण+परसर्ग+विशेषण = विशेषण पदबंध

1. अधिक से अधिक —**अधिक से अधिक** लोग वहाँ आए।
2. कच्चे से कच्चा —वह **कच्चे से कच्चा** अमरूद खा जाता है ।
3. मूर्ख से मूर्ख —**मूर्ख से मर्ख** लड़का भी पास हो गया।

4. सारा	का	सारा	—सारा का सारा गाँव वह गया।
5. उल्लू	का	उल्लू	—वह तो उल्लू का उल्लू है।
6. वैसे	का	वैसा	—वैसे का वैसा सामान लाइए।
7. लाल	में	लाल	—ये टमाटर भी कोई लाल में लाल हैं।

इस प्रकार के विशेषण पदबंधों का, प्रकार्य की दृष्टि से, वाक्य में विशेषक या पूरक स्थान पर आने के कारण विशेषण-वर्ग के शब्दों द्वारा प्रतिस्थापन हो सकता है। कुछ पदबंध विशेषण पदबंध की भाँति प्रकार्य न करके संज्ञा पदबंध की भाँति प्रकार्य करते देखे जाते हैं, यथा —

1. दिनेश ने अपने दोस्त की ऐसी की तैसी कर दी।
2. जैसे को तैसा मिलते ही वह भाग खड़ा हुआ।

1.4. संज्ञा + परसर्ग + क्रियाविशेषण = क्रियाविशेषण पदबंध

1. राम	के	यहाँ	—वह राम के यहाँ गया है।
2. घर	के	उधर	—नाला घर के उधर है।
3. बाजार	से	दूर	—वह बाजार से दूर चला गया है।
4. दर्द	के	मारे	—वह दर्द के मारे रो रहा था।

इस प्रकार के क्रियाविशेषण पदबंधों का, वाक्य में क्रिया-विशेषक स्थान पर आने के कारण, क्रियाविशेषण शब्दों से प्रतिस्थापन हो सकता है।

1.5. संज्ञा + परसर्ग + परसर्गात्मक शब्द = क्रियाविशेषण पदबंध

1. मोहन	के	साथ	—वह मोहन के साथ गया।
2. चाय	के	बिना	—वह चाय के बिना काम नहीं कर सकता।
3. पेड़	के	नीचे	—वह पेड़ के नीचे सोता है।
4. घर	के	भीतर	—वह घर के भीतर रहता है।
5. नदी	के	पार	—मैंने उसे नदी के पार देखा।
6. दुकान	के	बाहर	—वह दुकान के बाहर खड़ा था।
7. छत	के	ऊपर	—वह छत के ऊपर बैठा था।
8. घर	के	पीछे	—धोबी घर के पीछे रहता है।
9. राम	के	बाद	—वह राम के बाद आया।
10. राम	से	पहले	—वह राम से पहले आ पहुँचा।
11. बाजार	की	तरफ	—वह बाजार की तरफ जा रहा था।
12. हाथी	की	तरह	—वह हाथी की तरह चिंघाड़ रहा था।

उपर्युक्त क्रियाविशेषण पदबंधों का, प्रकार्य की दृष्टि से, वाक्य में क्रिया-विशेषक स्थान पर आने के कारण, क्रियाविशेषण वर्ग के शब्दों से प्रति-स्थापन हो सकता है।

1.6. संज्ञा+परसर्ग+परसर्गात्मक शब्द+परसर्ग=क्रियाविशेषण पदबंध

घर	के	अंदर	से	—वह **घर के अंदर** से आया।
दूकान	के	सामने	से	—वह **दूकान के सामने से** निकला।
मकान	के	आगे	से	—वह **मकान के आगे से** निकल गया।
नदी	के	पार	से	—यह आवाज **नदी के पार से** आई।

इस प्रकार के पदबंध वाक्य में प्रकार्य की दृष्टि से क्रियाविशेषक स्थान पर आने के कारण क्रियाविशेषण पदबंध हैं जिनका क्रियाविशेषण-वर्ग के शब्दों से प्रतिस्थापन हो सकता है।

1.7. संज्ञा (या सर्वनाम) + परसर्ग = संज्ञा पदबंध

इस वर्ग के पदबंध प्रकार्य की दृष्टि से वाक्य में कर्ता या कर्म या क्रियाविशेषक स्थान पर आ सकते हैं। अतः प्रकार्य की दृष्टि से संज्ञा-वर्ग या क्रियाविशेषण-वर्ग के शब्दों से उनका प्रतिस्थापन होने के कारण संज्ञा पदबंध या क्रियाविशेषण-पदबंध कहे जा सकते हैं। प्रकार्य के आधार पर उपर्युक्त प्रकार के पदबंधों को दो उपवर्गों में व्यवस्थित कर सकते हैं—

(1) संज्ञा पदबंध— (वाक्य में कर्ता या कर्म-स्थान पर आते हैं)

संज्ञा + परसर्ग

1.	किशन	ने	—**किशन ने** फल खाया।
2.	रमेश	ने	—**रमेश ने** पुस्तक देखी।
3.	घोड़े	को	—**घोड़े को** तेज़ भागना चाहिए।
4.	दिनेश	को	—**दिनेश को** विदेश जाना है।
5.	रीता	को	—कमला ने **रीता को** मारा।
6.	दिनेश	को	—राम ने **दिनेश को** पुस्तक दी।
7.	राम	से	—कमलेश ने **राम से** कहा।
8.	कमला	से	—उसने **कमला से** एक वात पूछी।
9.	मोहन	से	—**मोहन से** चला नहीं जाता।

(2) क्रियाविशेषण पदबंध—(वाक्य में क्रिया-विशेषक स्थान पर आते हैं)

संज्ञा + परसर्ग

1.	जोर	से	—वह जोर से चिल्लाया।
2.	घर	से	—वह घर से निकला।
3.	वाण	से	—उसने शेर को वाण से मारा।
4.	अगस्त	से	—वह अगस्त से चल चुका है।
5.	रविवार	से	—वह रविवार से बीमार है।
6.	मुंह	पर	—उसने मुंह पर थूका।
7.	होली	पर	—वह घर होली पर आया।
8.	खाने	पर	—वह खाने पर गया।
9.	जलपान	पर	—वह जलपान पर आया।
10.	देखने	पर	—चोर (राम के) देखने पर भाग गया।
11.	शहर	में	—वह शहर में रहता है।
12.	सोमवार	को	—वह सोमवार को जाएगा।
13.	(15)	अगस्त को	—भारत 15 अगस्त को आजाद हुआ।
14	मोहन	के	—मोहन के चोरी हो गई।
15.	दिनेश	के	—दिनेश के लड़की हुई।
16.	रमेश	के	— रमेश के दो लड़कियाँ हैं।
17.	रीता	के	—रीता के पुत्री हुई।

टिप्पणी:—कभी-कभी संज्ञा के साथ दो परसर्गों के योग से क्रियाविशेषण पदबंध संरचित होते हैं, यथा—

(1) वह छत पर से गिरा।

(2) वह छत पर से भाग गया।

(3) वह घर में से निकला।

(4) वह बाजार में से भागा।

1.8. क्रियाविशेषण+परसर्ग = क्रियाविशेषण पदवंध

1.	जल्दी	से	—वह जल्दी से निकल गया।
2.	धीरे	से	—वह धीरे से उठा।
3.	विलंब	से	—हम विलंब से पहुंचे।
4.	इधर	से	—हम इधर से निकले थे।
5.	वहाँ	से	—वे वहाँ से चल चुके हैं।
6.	कल	से	—तुम कल से चल रहे हो।
7.	परसों	से	—मैं परसों से पूछ रहा हूं।

इस प्रकार के पदवंध संरचना एवं प्रकार्य की दृष्टि से क्रियाविशेषण पदवंध हैं।

1.9. धातु + परसर्ग = क्रियाविशेषण पदवंध

1.	कर	के	—वह काम करके चला गया।
2.	सो	के	—वह अभी सोके उठा है।
3.	जा	के	—मैं जाके आया हूं।
4.	धो	के	—वह कपड़े धोके सो गया।
5.	रो	के	—तुम रोके चल दिए।

वाक्य में प्रकार्य की दृष्टि से इस प्रकार के पदवंध क्रिया के विशेषक हैं और क्रियाविशेषण-वर्ग के शब्दों से उनका प्रतिस्थापन हो सकता है। अतः इन्हें निःसंदेह क्रियाविशेषण पदवंध कह सकते हैं। ●

हिंदी के कृदंत विशेषण पद

यमुना काचरू

1.0. हिंदी व्याकरण पर इधर जो शोध कार्य हुए हैं, उनमें यह मान लिया गया है कि कृदंत विशेषण पद* विशेषण उपवाक्यों से रचनातंरण के नियमों द्वारा प्रजनित या उत्पन्न होते हैं।[2] कृदंत विशेषण पद से मेरा मतलब नीचे के मोटे टाइप के पदों से है:

1. **चलती हुई** गाड़ी
2. **बैठी हुई** चिड़िया
3. **आपकी लिखी हुई** कविता
4. **दिल्ली जाने वाली** गाड़ी

इस प्रबंध में मैं संक्षेप में ऐसे पदों की उत्पत्ति का विवरण देकर कुछ ऐसी समस्याओं की चर्चा करूंगी जिनका समाधान भावी शोध का विषय है ।

2.0. हिंदी में कृदंत विशेषण पदों की उत्पत्ति के लिए पद विन्यास (Phrase Structure) के ये नियम[3] उपयोगी होंगे:

(i) वा → सं प क्रि प[4]

(ii) क्रि प → { (सं प) / वि वि } क्रि

(iii) वि वि → { सं प / वि प / क्रि वि }

(iv) सं प → नि[4] (वा) सं

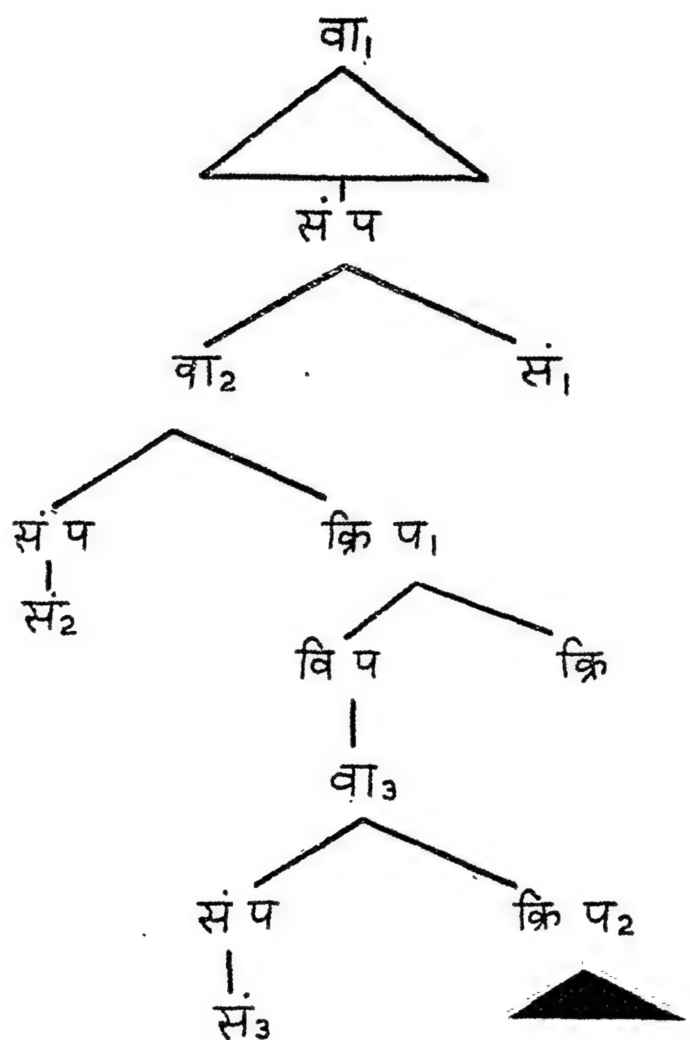
(v) वि प → { वि / वा }

---

*लेखिका ने यहां 'पद' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया है. उसके लिए आजकल हिंदी में 'पदबंध' शब्द का प्रयोग हो रहा है। प्रस्तुत विशेषांक में अधिकतर लेखकों ने भी इस अर्थ में 'पदबंध' शब्द का ही प्रयोग किया है—संपादक ।

2.1. कृदंत विशेषण पदों की उत्पत्ति के लिए ऐसी आंतरिक संरचना प्रस्तावित है :[5]

आरेख I



जहाँ $सं_2 = सं_3$ और

$सं_1 = सं_2$

और क्रि $प_2$ विप क्रि

अर्थात् कृदंत विशेषण पद उच्चतर वाक्य ($वा_1$) के किसी भी संज्ञा पद (सं प) का अवयव हो सकता है। शर्त यह है कि इस सं प के दो अवयव हों — $वा_2$ और $सं_1$ । $वा_2$ के सं प की $सं_2$ ऐसी हो जो $सं_1$ से अभिन्न हो। $वा_2$ का क्रि प एक विशेष गठन वाला हो: उसका एक अवयव वि प हो, दूसरा क्रि। वि प के अंतर्गत $वा_3$ हो जिसके सं प की $सं_3$ $सं_1$ और $सं_2$ से अभिन्न हो। क्रि $प_2$ के अंतर्गत बिप न हो।

इस आंतरिक संरचना पर य नियम लागू होते हैं:

1. विशेषण पद रचनांतरण नियम (अनिवार्य)

2. अभिन्न संज्ञा पद अध्याहार नियम (अनिवार्य)

3. विशेषण उपवाक्य रचनांतरण नियम (अनिवार्य)

4. विशेषण उपवाक्य लघुकरण मियम (वैकल्पिक)

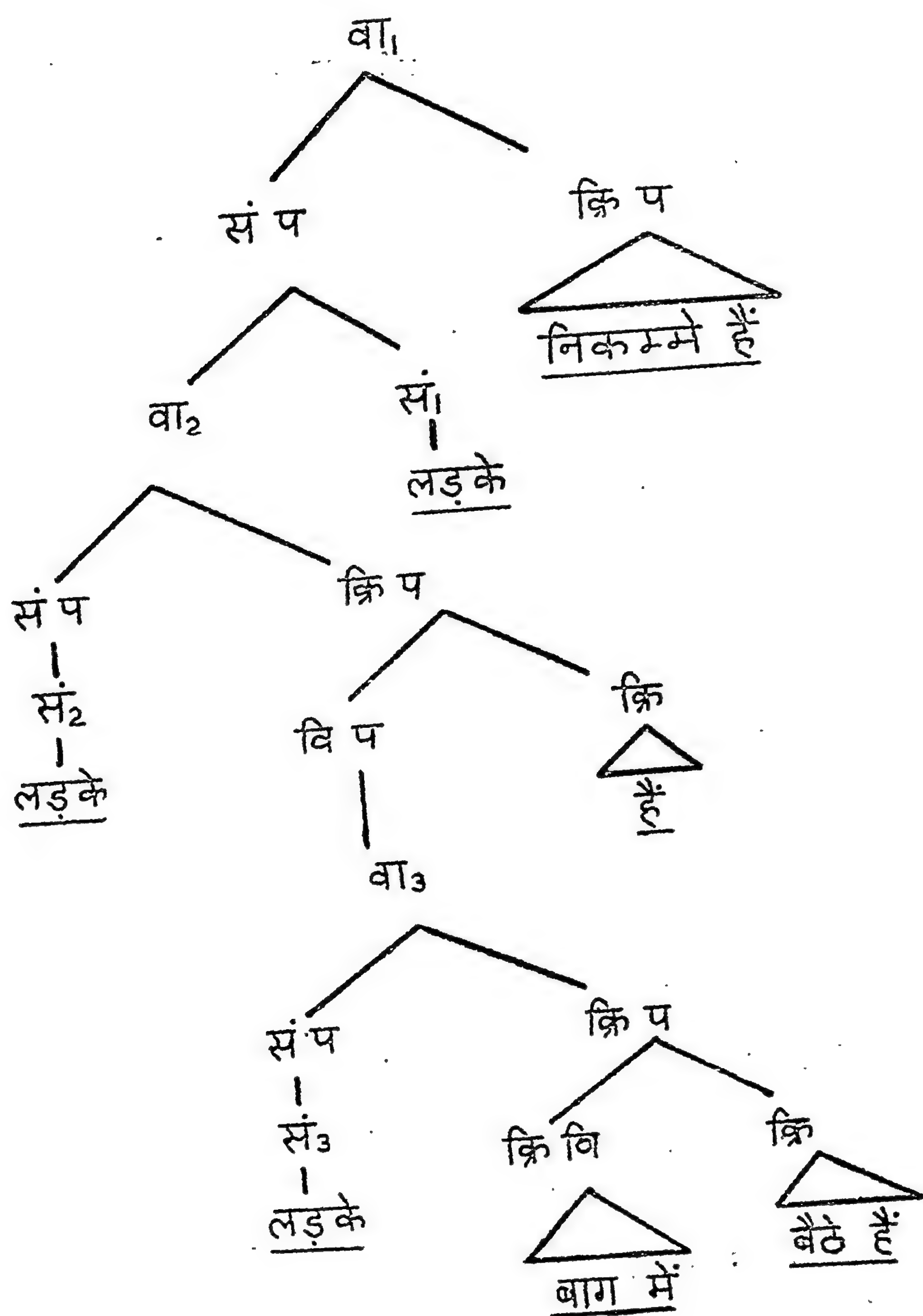
5. अभिन्न संज्ञापद अध्याहार नियम (अनिवार्य)

ये पाँचों नियम एक ही स्तर पर लागू नहीं होते। नियम नीचे से ऊपर लागू होते हैं, अर्थात् पहले $वा_3$ पर, फिर $वा_2$ पर, तव $वा_1$ के स्तर पर। प्रथम चक्र में चूंकि कोई अंतर्निहित वाक्य नहीं है, अतः कोई भी नियम $वा_3$ पर लागू नहीं होता। दूसरे चक्र में 1 और 2 $वा_2$ पर लागू होते हैं। तीसरे चक्र में 3–5 तक के नियम $वा_1$ पर लागू होते हैं। एक वाक्य को लेकर इस प्रक्रिया को यों स्पष्ट किया जा सकता है। वाक्य है:

5. वाग में वैठे हुए लड़के निकम्मे हैं।

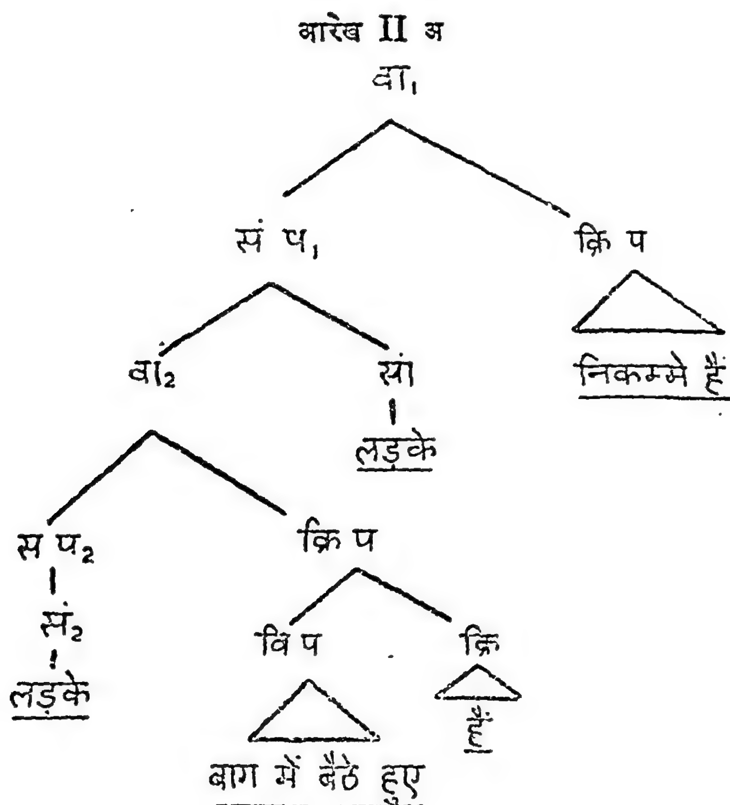
इसकी आंतरिक संरचना का आरेख यों होगा :

आरेख II



14—7 C.H.D. (ND)/72

वा$_2$ पर विशेषण पद रचनांतरण नियम और अभिन्न संज्ञा पद रचनांतरण नियम लागू होने पर आरेख II अ प्राप्त होता है :



चूंकि वा$_2$ सं प$_1$ के अंतर्गत है और सं$_1$ तथा सं$_2$ अभिन्न हैं, अत: अब विशेषण उपवाक्य रचनांतरण नियम लागू होता है। इसके तत्काल उपरांत यदि अन्वय के नियम लागू हो जाएँ, तो हमें निम्न वाक्य उपलब्ध होगा

5. अ : जो लड़के बाग में बैठे हुए हैं, वे लड़के निकम्मे हैं।

लड़के की आवृत्ति खटके, तो अन्वय से पहले अभिन्न संज्ञा पद अध्याहार का नियम लागू कर 5. आ उपलब्ध कर सकते हैं:—

5. आ : जो लड़के बाग में बैठे हुए हैं, वे निकम्मे हैं ।

विशेषण उपवाक्य रचनांतरण के पश्चात्, किंतु II अ पर विशेषण उपवाक्य लघुकरण नियम लागू हो सकता है। तब II आ की संरचना प्राप्त होगी :

आरेख II आ

वा₁ → संप₁ + क्रिप
- संप₁ → वा₂ + सं₁
  - वा₂ → संप₂ + क्रिप
    - संप₂ → सं₂ → लड़के
    - क्रिप → विप → बाग में बैठे हुए
  - सं₁ → लड़के
- क्रिप → निकम्मे हैं

अभिन्न संज्ञापद का अध्याहार होने के पश्चात् II इ की संरचना मिलती है :

आरेख II इ

वा₁ → संप₁ + क्रिप
- संप₁ → विप + सं₁
  - विप → बाग में बैठे हुए
  - सं₁ → लड़के
- क्रिप → निकम्मे हैं

इस पर अन्वय आदि के नियम लागू होते हैं और तब स्वन नियम लागू होते हैं।

2.2. विशेषण पद रचनांतरण नियम तभी लागू हो सकता है जब रचनांतरित होने वाला वाक्य वि प के अंतर्गत हो और संज्ञाओं की अभिन्नता वाली शर्त पूरी हो (देखिये आरेख I)। यह नियम निम्नतम वाक्य की समापिका क्रिया के साथ कृदंत प्रत्यय जोड़ता है। विशेषण उपवाक्य रचनांतरण नियम सं $प_1$ जैसी आंतरिक संरचना पर लागू होता है (देखिए II अ)। विशेषण उपवाक्य लघुकरण नियम $वा_2$ पर विशेषण उपवाक्य रचनांतरण नियम के बाद ही लागू होता है (देखिए II अ) और जो संबंध सूचक (जो आदि) सर्वनाम तथा उसके नित्यसंबंधी (वह आदि) संज्ञा के साथ जुड़े होते हैं, उनका तथा $वा_2$ की स्थितिदर्शक क्रिया का अध्याहार करता है। अभिन्न संज्ञा पद अध्याहार नियम मुख्य तथा आश्रित उपवाक्य की अभिन्न संज्ञाओं में से आश्रित उपवाक्य की संज्ञा का अध्याहार करता है।

3.0 ऊपर 5 का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, उससे इन सभी नियमों का रूप स्पष्ट है। अब इनसे संबंधित समस्याएँ दो हैं।

3.1. एक समस्या तो यह है कि अब तक रचनांतरणपरक व्याकरण के सिद्धांत के अनुसार मानव भाषा पर जो काम हुए हैं, उनसे ऐसा लगता है कि पुनरावर्तित वा की आवश्यकता सिर्फ सं प के विस्तार में पड़ती है। हिंदी पद-विन्यास के नियमों में किंतु पुनरावर्तित वा वि प के विस्तार में भी आया है (देखिए नियम (5))। हिंदी के लिए जो नियम सूत्रबद्ध किए हैं (पद -विन्यास नियम (1)—(5), उनसे एक लाभ यह है कि इस बात की व्याख्या अनायास ही हो जाती है कि आंतरिक गठन की दृष्टि से भिन्न होने पर भी 1-4 तक के सभी मोटे टाइप के पद प्रकार्य की दृष्टि से विशेषण पद हैं। किंतु यदि ये नियम सर्वमान्य मॉडल के विरुद्ध हों तो इस पर शोध की आवश्यकता खड़ी हो जाती है कि अब तक मान्य मॉडल में सुधार की गुंजाइश है या हिंदी के नियमों को पुनः दूसरे ढंग से सूत्रबद्ध करना आवश्यक है।

3.2. दूसरी समस्या अभिन्न संज्ञापद अध्याहार नियम से संबंधित है। ऊपर जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उससे यह निर्विवाद है कि आश्रित उपवाक्य की अभिन्न संज्ञा का अध्याहार होता है। किंतु विशेषण उपवाक्य प्रकरण में ही इसके विपरीत प्रमाण भी मिलते हैं। नीचे के विशेषण उपवाक्यों पर गौर करें :

6. राम ने उस लड़की को पुरस्कार दिया जिस (लड़की) के 'मार्क्स' सबसे अच्छे थे।

अ. जिस लड़की के 'मार्क्स' सबसे अच्छे थे, उस (लड़की) को राम ने पुरस्कार दिया।

7. मुझे वैसी ही साड़ी चाहिए जैसी (साड़ी) आपने ली थी।

अ: जैसी साड़ी आपने ली थी, वैसी ही (साड़ी) मुझे चाहिए।

6 और 7 के वाक्यों से स्पष्ट है कि हर हालत में आश्रित उपवाक्य की अभिन्न संज्ञा का ही अध्याहार नहीं होता। मिश्र वाक्यों में, जिनमें विशेषण उपवाक्य लघुकृत नहीं होते, परवर्ती अभिन्न संज्ञा का अध्याहार होता है।[6] तो क्या विशेषण उपवाक्य प्रकरण में ही अभिन्न संज्ञापद के अध्याहार के लिए दो भिन्न नियमों की आवश्यकता है? हिंदी के संबंध में हिंदीभाषियों का सहज ज्ञान इसे कभी स्वीकार नहीं करेगा। इस समस्या का समाधान भावी शोध पर निर्भर है।

3.3. 6 और 7 वाक्यों से एक और प्रश्न उठता है जिसका उत्तर अब तक हुए शोध कार्य से नहीं मिलता।[7] 6 अ में मुख्य वाक्य के उद्देश्य और कर्म का पदक्रम वह नहीं रहा जो सामान्य वाक्य में रहता है, 7 अ के मुख्य और आश्रित दोनों उपवाक्यों में उद्देश्य और कर्म का पदक्रम उलटा है। अर्थात् विशेषण उपवाक्य रचनांतरण के साथ-साथ एक ऐसी प्रक्रिया जुड़ी हुई है जो विशेष्य या उससे अभिन्न संज्ञा पद को वाक्य के प्रथम स्थान में खींच लाती है। वैसे हिंदी में ऐसे स्थान परिवर्तन के नियम कदाचित् हैं नहीं। कर्मवाच्य में भी, जो स्थान परिवर्तन का सटीक उदाहरण है, हिंदी में उद्देश्य और कर्म का स्थान-परिवर्तन नहीं होता :

8. राम से पत्र नहीं पढ़ा जाएगा

तुलना कीजिए, अंग्रेजी के वाक्यों से

A. Ram will not read the letter.

B. The letter will not be read by Ram.

विशेषण उपवाक्य और स्थान परिवर्तन के नियमों का संपर्क भी शोध का एक रोचक विषय है।

पादटिप्पणियाँ :

1. इस प्रबंध में हिंदी व्याकरण का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, वह रचनांतरणपरक व्याकरण के सिद्धांत पर आधारित है। हिंदी के कुछ पारिभाषिक शब्द, यथा विशेषण उपवाक्य (अंग्रेजी पर्याय Relative Clause), कृदंत विशेषण पद (अंग्रेजी Participial adjectival phrase) आदि कामताप्रसाद गुरु के हिंदी व्याकरण (काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1920) से लिए गए हैं।

2. यमुना काचरू : Transformational Treatment of Hindi Verbal Syntax पीएच० डी० शोध ग्रंथ, लंदन विश्वविद्यालय, लंदन, 1965 तथा An Introduction to Hindi Syntax, इलिनॉय विश्वविद्यालय, अरबाना, इलिनॉय 1966; मणींद्र किशोर वर्मा : A Synchronic Comparative Study of the Noun Phrase in English and Hindi. पी एच० डी० शोध ग्रंथ, मिशिगन विश्वविद्यालय, एन आर्बर, मिशिगन, 1966; सूज़न डोनल्डसन : "Movement in Restrictive Relative Clauses in Hindi" यमुना काचरू द्वारा संपादित Papers in Hindi Syntax (Studies in the Linguistic Sciences, 1 : 2) भाषाविज्ञान विभाग, इलिनॉय विश्वविद्यालय, अरबाना, इलिनॉय, 1971।

3. हिंदी वाक्य के जिन अवयवों (यथा काल, पक्ष तथा क्रिया के साथ लगने वाले अन्य विकारी प्रत्यय) का इस प्रकरण के नियमों से सीधा संबंध नहीं है, उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गई है। इस प्रबंध में दिए गए सभी आरेख संक्षिप्त हैं और उन्हें उसी रूप में लेना आवश्यक है।

4. पदविन्यास के नियमों में प्रयुक्त संकेत इन पदों या शब्दों के प्रथमाक्षरों को लेकर बनाए गए हैं : वाक्य, संज्ञा पद, क्रिया पद, विधेय विस्तारक (Predicate complement), विशेषण पद, क्रिया विशेषण, निर्धारक (Determiner), संज्ञा और विशेषण।

5. देखिए, पादटिप्पणी 2।

6. सूजन डोनल्डसन : वही।

7. जियॉफ्री हेकमन : Some Problems with Equi-NP Deletion in Hindi. एम० ए० शोध प्रबंध, भाषाविज्ञान विभाग, इलिनॉय विश्वविद्यालय, अरबाना, इलिनॉय, 1971।

संदर्भ ग्रंथ

काचरू, यमुना : A Transformational Treatment of Hindi Syntax पी एच० डी० शोध ग्रंथ, लंदन विश्वविद्यालय, लंदन, 1965 (अप्रकाशित)।

——— An Introduction to Hindi Syntax इलिनॉय विश्वविद्यालय, अरबाना, इलिनॉय, 1966।

——— हिंदी रूपांतरणात्मक व्याकरण के कुछ प्रकरण (प्रेस में)।

गुरु, कामताप्रसाद : हिंदी व्याकरण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1920।

डोनल्डसन, सूज़न : 'Movement in Restrictive Relative Clauses in Hindi', यमुना काचरू, संपादित Papers in Hindi Syntax (Studies in the Linguistic Sciences, 1:2) में, भाषाविज्ञान विभाग, इलिनॉय विश्वविद्यालय, अरबाना, इलिनॉय, 1971।

वर्मा, मणींद्र किशोर : A Synchronic Comparative Study of the Noun Phrase in English and Hindi, पीएच०डी० शोध ग्रंथ, मिशिगन विश्वविद्यालय, एन आर्बर, मिशिगन, 1966।

हेकमन, जियॉफ्री : 'Some Problems with Equi-NP Deletion in Hindi.' एम० ए० शोध प्रबंध, भाषाविज्ञान विभाग, इलिनॉय विश्वविद्यालय, अरबाना, इलिनॉय, 1971।

काल और पक्ष

रवींद्रनाथ श्रीवास्तव

भाषा-अध्ययन के संदर्भ में हम जिस 'काल' अथवा 'काल-बोध' की चर्चा उठाते हैं वह भौतिक जगत् में स्वीकृत 'समय' से भिन्न होता है। 'समय' एक अविच्छिन्न धारा के समान रहता है जहाँ जो कुछ भी है वह या तो 'भूत' होता है अथवा 'भविष्य'। सतत परिवर्तनशील स्थिति में वर्तमान का अस्तित्व तो ज्यामितिशास्त्र के उस बिंदु के समान है जिसकी न तो लंबाई होती है, न चौड़ाई और न ऊँचाई ही; वह तो धूप-छाँव की उस मिलन-रेखा के समान है जिसके एक ओर भूत की स्थिति है और दूसरी ओर भविष्य की। यह ठीक है कि भूत और भविष्य की भेदक-रेखा स्वयं वर्तमान होता है, पर इसके साथ यह भी सही है कि वर्तमान का स्वयं भौतिक धरातल पर अपना अस्तित्व नहीं होता।

पर जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है, जो भौतिक धरातल पर 'समय' है वह भाषा में वर्णित 'काल' नहीं। काल एक व्याकरणिक कोटि है, भाषा की रचना के स्तर पर एक निश्चित रूप (फार्म) है, जो भौतिक जगत् के समय के अविरल, अविच्छिन्न धारा-प्रवाह को निश्चित खंडों में विभाजित करने की एक विशेष दृष्टि प्रदान करता है। कभी-कभी इस दृष्टि विशेष से बाधित 'काल-बोध' और भौतिक धरातल पर बुद्धि-गृहीत 'समय-चेतना' आपस में टकरा भी जाते हैं। उदाहरण के लिए इस वाक्य को ही लें — 'मैंने किताब पढ़ी है।' जो कार्य पूरा हो चुका है, घट कर पूर्ण हो चुका है, उसे बुद्धि-गृहीत 'समय पक्ष' के अनुसार तो भूत (विगत) होना ही चाहिए। व्याकरण के अधिकांश आचार्यों ने इसीलिए इस प्रकार के वाक्य को 'आसन्न भूत' नाम से संकेतित किया है।

'आसन्न भूत' कहने से समय पक्ष तो स्पष्ट हो जाता है पर 'काल-बोध' के स्तर पर भी क्या यह वाक्य 'भूत' है? व्याकरणिक रूप 'है' के माध्यम से यह वाक्य वर्तमान के काल-बोध से क्या हमें नहीं जोड़ता? 'मैंने किताब पढ़ी है' और 'मैंने किताब पढ़ी थी' जैसे वाक्यों में अंततः अंतर ही क्या रह गया?

क्या दोनों को पहले भूतकाल का वाक्य मानकर फिर 'आसन्नता' और 'विप्रकृष्टता' के आधार पर एक को 'आसन्न भूतकाल' और दूसरे ो 'पूण भूतकाल' का वाक्य मानना उचित है? क्या यह उचित नहीं कि हम इन दोनों वाक्यों में वर्णित क्रिया को पूर्ण (घटित) मानें पर इनको काल के धरातल पर वर्तमान और भूत की दो भिन्न श्रेणियों में रखें?

ध्यान रखना चाहिए कि भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक सार्थक रूप किसी न किसी 'बोध' के निर्माण का हेतु होता है। अतः भाषा के संदर्भ में 'आसन्नता' 'सामीप्य-बोध' है न कि स्वयं सामीप्य। सामीप्य को भौतिक मापदंड से नापा जा सकता है—क्षेत्र को इंच, गज, मीटर, मील द्वारा; और समय को मिनट घंटा, दिन, महीना, साल इत्यादि द्वारा। पर सामीप्य-बोध का मापदंड इनसे भिन्न धरातल पर पाई जाने वाली इकाई की अपेक्षा रखता है। उदाहरण के लिए हम ऐसा वाक्य कह सकते हैं – 'कालिदास ने 'शकुंतला' की रचना की है।' यद्यपि इस ग्रंथ की रचना वर्षों पहले हो चुकी है फिर भी काल के धरातल पर हम सामीप्य-बोध करने में सक्षम हैं। इसके विपरीत 'एक मिनट पहल मैंने चिट्ठी छोड़ दी थी', ऐसे वाक्य में विप्रकृष्टता का अनुभव करते हैं जबकि वाक्य से स्पष्ट है कि चिट्ठी छोड़ने की क्रिया मात्र एक मिनट पहले की है। भौतिक 'समय-पक्ष' और व्याकरणिक 'काल-बोध' को ठीक से न समझ सकने के कारण ही पं० कामताप्रसाद गुरु ने ऐसे वाक्यों को मूलतः 'आसन्न भूतकाल' का वाक्य माना है यद्यपि गौण रूप (कोष्ठक) में इसे 'पूर्ण वर्तमान' भी कहा है।

भौतिक धरातल पर वर्तमान की सत्ता भले ही न हो पर व्याकरणिक काल-बोध के स्तर पर इसकी सत्ता असंदिग्ध है और वह वस्तुतः 'अब' और 'आज' की व्यवस्था से संपृक्ति का सूचक है। 'पूर्ण वर्तमान' और कुछ नहीं वरन् भौतिक धरातल पर होने वाली क्रिया के विगत (भत) समय पक्ष का भाषा के वर्तमानकालिक कालसूचक तत्त्व द्वारा वर्तमान के 'काल-बोध' में रूपांतर है: यह 'आज' और 'अब' के बोध के संदर्भ में किसी बीती हुई घटना की एक वर्तमानकालिक परिणति है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि यहाँ प्रयुक्त 'आज, अब' वस्तुतः 'आज' और 'अब' के शाब्दिक अर्थ को ध्वनित नहीं करता अर्थात् 'आज' के बोध का तात्पर्य वह नहीं है जिसे आचार्य वाजपेयी स्वीकार करते हैं, यथा 'बीती हुई रात के पिछले भाग को लेकर आने वाली रात के पूर्ण भाग के पूर्ण होने के समय' अथवा 'सू ेदय से लेकर सूर्योदय से पहले–पहले के समय' का ज्ञान। 'आज' के बोध का अर्थ वस्तुतः संप्रति-व्यवस्था के संपृक्ति बोध से है। जब हम कहते हैं—'आज मँहगाई बढ़ती जा रही है' अथवा 'आज शीत युद्ध, वास्तविक युद्ध से कहीं अधिक घातक सिद्ध हो रहा है' तब 'आज' का अर्थ 'चौबीस घंटे' या 'सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय' के भौतिक समय का अंतराल नहीं होता। यहाँ आज, संप्रति-व्यवस्था का ही बोध कराता है।

जिस प्रकार क्षेत्र और स्थान के लिए प्रयुक्त सर्वनाम शब्द 'यहाँ/वहाँ' के द्वारा संकेतित स्थान की परिवृत्ति को छोटा-बड़ा किया जा सकता है (यथा, यहाँ का अर्थ, प्रयोग में एक बिंदु भी हो सकता है, और मेज़, कमरा, शहर,

देश अथवा ब्रह्मांड भी), उसी प्रकार समय के लिए प्रयुक्त शब्द 'अब/आज' के बोध को संकुचित एवं विस्तृत किया जा सकता है, उसकी परिवृत्ति को भी घटाया-बढ़ाया जा सकता है। जब हम बोलते हैं—'बनारस जाने वाली गाड़ी शाम सात बजे छूटती है,' तब गाड़ी के छूटने के समय को आज की (संप्रति) व्यवस्था से मात्र जुड़े होने के कारण इसे वर्तमानकाल का वाक्य कहते हैं। अन्यथा कल भी गाड़ी सात बजे गई थी, परसों भी : कल भी गाड़ी सात बजे जाए और कौन जाने निकट भविष्य में भी गाड़ी इसी समय पर छूटे। पर जब हम 'हैं' की जगह इसी वाक्य में 'थी' का प्रयोग करते हैं तो मात्र इस भूतकाल सूचक शब्द के कारण गाड़ी के छूटने के इस निर्धारित समय को हम वर्तमान व्यवस्था से असं-पृक्त कर देते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि काल-बोध को हम दो स्तरों पर ग्रहण करते हैं; एक वह स्तर है जिससे यह पता चलता है कि समय के धरातल पर व्यापार कहाँ घटित हो रहा है। अगर क्रिया-व्यापार 'अब' और 'आज' के बोध से संपृक्त होकर व्यक्त होता है तो वर्तमानकाल, और अगर वह वर्तमानकाल के पूर्व की स्थिति में है तो भूतकाल तथा उसके बाद की स्थिति में है तो भविष्यत्काल के रूप में स्वीकृत होता है। काल-बोध का दूसरा स्तर वह है जो क्रिया-व्यापार में आयुक्त समय-विस्तार (कालावधि) के बोध को निर्धारित एवं नियंत्रित करता है जिसे व्याकरण में 'पक्ष' कहते हैं।

क्रिया-व्यापार की इस कालावधि को कुछ विशिष्ट प्रभेदक लक्षणों द्वारा परिभाषित करना संभव है। उदाहरण के लिए इस आधार पर कि कालावधि के दो छोर—प्रारंभ और अंत—सीमित एवं निर्धारित हैं अथवा नहीं, पक्ष को (±सीमित) लक्षण द्वारा विभाजित किया जा सकता है। स्थिति अथवा अस्तित्ववाचक विधेय मूलतः (— सीमित) होते हैं क्योंकि इसकी कालावधि अनिर्धारित होती है। विशेष रूप से वर्तमानकालिक अस्तित्ववाचक क्रिया में कालावधि के आदि और अंत को सीमित नहीं किया जा सकता :

(1) मोहन कपड़े का व्यापारी है।

(2) सोहन लेखक है।

(3) मेरा प्यार अमर है।

(4) उसे फूल पसंद है।

दूसरा प्रभेदक-लक्षण है—(±आवृत्ति)। कालावधि एक समन्वित इकाई के रूप में ग्राह्य है अथवा वह व्यापार घटनाओं की आवृत्ति के रूप में मान्य है, इस आधार पर पक्ष को (±आवृत्ति) लक्षण द्वारा विभाजित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए इस वाक्य (5) को लें।

(5) उसने मेरे दरवाजे को तीन बार खटखटाया।

लीच (1969 : 125) के अनुसार इस वाक्य की व्याख्या दो तरह से की जा सकती है।

(5अ) घटना 1 }
घटना 2 } समय
घटना 3 }

(5अ) उसने मेरे दरवाजे को (एक अवसर पर) तीन बार खटखटाया ।

(5ब) घटना 1— समय 1
घटना 2— समय 2
घटना 3— समय 3

(5ब) उसने मेरे दरवाजे को तीन अवसरों पर खटखटाया ।

इसी प्रकार अगर हम वाक्य (6) लें तो उसमें 'पिछले साल' तो समन्वित एक इकाई के रूप में स्वीकृत है पर 'हर शनिवार' घटनाओं की आवृत्ति के रूप में।

(6) पिछले साल, हर शनिवार को हमने छुट्टी मनाई थी ।

वाक्य (5अ) अथवा वाक्य (6) के 'पिछले साल' अभिव्यक्ति में घटना के संदर्भ में समय 'गणनीय' नहीं है जबकि वाक्य (5ब) अथवा वाक्य (6) के 'हर शनिवार' अभिव्यक्ति में घटना के संदर्भ में समय गणनीय है । गणनीय समय क्रिया-पक्ष को आवृत्तिपरक बनाने की क्षमता रखता है ।

(7) मोहन कपड़े का व्यापार करता है ।

(8) सोहन किताबें लिखता है ।

अगर वाक्य (7) और (8) की क्रमशः वाक्य (1) और (2) से तुलना करें तो स्पष्ट हो जाता है कि (7) और (8) भी (1) और (2) की तरह कालावधि में सीमाबद्ध नहीं हैं, पर उनमें अंतर है तो इस बात में कि वे आवृत्तिपरक हैं जबकि वाक्य (1) और (2) में कालावधि एक समन्वित इकाई के रूप में ग्राह्य है । यही कारण है कि पहले में क्रिया का समय पक्ष गणनीय नहीं पर दूसरे में वह गणनीय है । आवृत्तिपरक एवं गणनीय कालावधि प्रायः कर्ता के स्वभाव अथवा आदत का द्योतन करती है ।

पक्ष को (±स्थिर) प्रभेदक लक्षण के आधार पर भी विभाजित किया जा सकता है । स्थिर क्रिया-पक्ष के रूप में वाक्य (1–8) को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है । इन वाक्यों से स्पष्ट है कि क्रिया समय के धरातल पर स्थिर है, और कालावधि सीमारहित है । इसके विपरीत वाक्य (9–10) को लें :

(9) मोहन कपड़े का व्यापार कर रहा है ।

(10) सोहन किताब लिख रहा है ।

इन वाक्यों में समय सीमाबद्ध है और क्रिया समय के धरातल पर परिवर्तनशील है । सीमाबद्ध और परिवर्तनशील पक्ष आवृत्तिमूलक नहीं हो सकता ।

क्रिया-व्यापार कालावधि के स्तर पर समाप्त होकर पूर्ण हो चुका है अथवा नहीं, इस आधार पर पक्ष को (±पूर्ण) भागों में विभाजित किया जा सकता है । उदाहरण के लिए वाक्य (11–13) को लें :

(11) सोहन ने किताब पढ़ी है ।

(12) लड़के ने रोटी खाई है ।

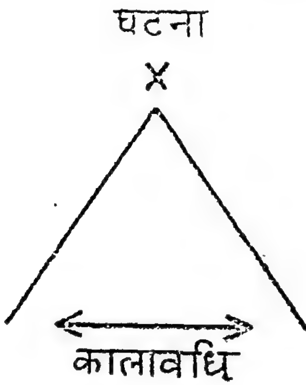
(13) कालिदास ने शकुंतला की रचना की है ।

वाक्य (9–10) और (11–13) के क्रिया-व्यापार पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि (±पूर्ण) लक्षण के आधार पर ये दो भिन्न कोटि की संरचनाएँ हैं। पहले वर्ग में व्यापार के स्तर पर कालावधि अपूर्ण है, पर दूसरे वर्ग में वह पूर्ण है ।

इन प्रभेदक लक्षणों के आधार पर हिंदी में चार निश्चित प्रकार के क्रिया-पक्ष के प्रयोग देखने को मिलते हैं । ये चारों संरचना-स्तर पर भिन्न-भिन्न पक्ष-सूचक प्रत्ययों से संयुक्त हैं ।

1. स्थित्यात्मक (सामान्य) विधेय

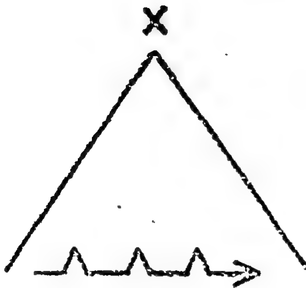
(सूचक : अस्तित्ववाचक क्रिया)



{ —सीमित, +स्थिर, —गणनीय, —आवृत्ति, —पूर्ण } (क) सोहन लेखक है ।

2. आवृत्तिमूलक विधेय

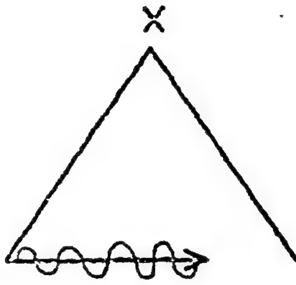
(सूचक : '–त–' प्रत्यय)



{ ±सीमित, +स्थिर, +गणनीय, +आवृत्ति, —पूर्ण } (ख) सोहन किताबें लिखता है ।

3. सातत्यपरक विधेय

(सूचक : '–रह्–' प्रत्यय)

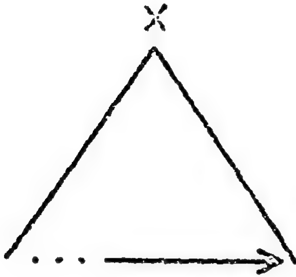


+सीमित
—स्थिर
+गणनीय
—आवृत्ति
— पूर्ण

(ग) सोहन किताब लिख रहा है।

4. पूर्णकालिक विधेय

(सूचक : शून्य–प्रत्यय)



+सीमित
±स्थिर
+गणनीय
—आवृत्ति
+पूर्ण

(घ) सोहन ने किताबें लिखी हैं।

आवृत्तिमूलक विधेय का सूचक-तत्त्व, '–त–' प्रत्यय है और सातत्य-परक तथा पूर्णकालिक विधय के सूचक तत्त्व क्रमश : –रह्–और–ϕ (शून्य) हैं। स्थित्यात्मक विधेय का सूचक तत्त्व प्रत्यय-रूप में न होकर वाक्य-गठन के रूप में होता है जिसमें अस्तित्ववाचक क्रिया 'हो' का प्रयोग अनिवार्य है। क्रिया-पक्ष के सूचक प्रत्यय के बाद अनिवार्यत: वचनलिंग प्रत्यय आता है, अर्थात् संरचना के स्तर पर यह कहा जा सकता है कि मुख्य अथवा सहायक क्रियाओं द्वारा जब 'पक्ष' की सूचना दी जाती है तब पक्ष के सूचक प्रत्ययों के बाद अनिवार्यत: वचन-लिंग प्रत्यय आता है।

लेकिन कुछ स्थितियों में क्रिया पक्ष-निरपेक्ष भी होती है। उदाहरण के लिए उन संदर्भों में जहाँ क्रिया भौतिक धरातल पर अभी शुरू ही न हुई हो वहाँ उस क्रिया में आयुक्त कालावधि की चर्चा निरर्थक होने के कारण उसमें पक्ष के योग को हिंदी स्वीकार नहीं करती। जिन क्रिया-रूपों में पक्ष की स्थिति स्वीकार नहीं की जाती, उनमें 'धातु' के बाद 'वचन-पुरुष' प्रत्यय लगता है।

पक्ष-निरपेक्ष संरचना

[धातु + वचन–पुरुष प्रत्यय (+ क्रियार्थ प्रत्यय + वचन-लिंग प्रत्यय)]

(14) (मोहन) खाए।
(15) (मोहन) खाएगा।
(16) (शीला) खाए।
(17) (शीला) खाएगी।

पक्ष-सापेक्ष संरचना

[धातु + पक्ष + वचन-लिंग प्रत्यय (कालसूचक तत्त्व)]

(18) (मोहन) चला।
(19) (मोहन) चला है।
(20) (मोहन) चलता है।
(21) (शीला) चली।
(22) (शीला) चली है।
(23) (शीला) चलती है।

पक्ष-सापेक्ष संरचना काल-निरपेक्ष भी हो सकती है। उदाहरण के लिए, वाक्य (18) और (21) ऐसे वाक्य हैं जिनमें कालसूचक तत्त्व नहीं है। गुरुजी कालसूचक तत्वों से रहित वाक्यों को भी काल-सापेक्ष मानने के पक्ष में हैं। क्रिया-व्यापार के सामान्य (– सीमित), अपूर्ण एवं पूर्ण पक्षों को काल के संदर्भ में देखते हुए उन्होंने जो काल-भेद किया है उसे उन्होंने निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया है :

काल	सामान्य	अपूर्ण	पूर्ण
वर्तमान	वह चलता है।	वह चल रहा है।	वह चला है।
भूत	वह चला।	{ वह चल रहा था। वह चलता था।	वह चला था।
भविष्य	वह चलेगा।	—	—

इस विभाजन पर दो प्रमुख आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं:—संघटना के स्तर पर अगर 'वह चलता है' सामान्य वर्तमान का उदाहरण है तब 'वह चलता था' को सामान्य भूत वर्ग का वाक्य क्यों नहीं कहा जा सकता? इन दोनों वाक्यों का अंतर तो मात्र कालसूचक तत्त्व 'है' और 'था' के प्रयोग का अंतर है।

तालिका से यह भी स्पष्ट है कि गुरु जी 'वह चला' को सामान्य भूत और 'वह चला था' को पूर्ण भूतकाल का वाक्य मानते हैं। पर संघटना के स्तर पर इन दोनों वाक्यों में अंतर भूतकालसूचक सहायक क्रिया 'था' की उपस्थिति/अनुपस्थिति का ही अंतर तो है अन्यथा 'चलना' क्रिया का रूप दोनों ही वाक्यों में पूर्ण-पक्ष के अनुरूप है। यह कहा जा सकता है कि क्रियापक्ष के स्तर पर ये दोनों वाक्य समान हैं, पर काल की दृष्टि से एक काल-निरपेक्ष वाक्य है तो दूसरा

(भूत) काल-सापेक्ष। केलाग ने इसीलिए 'सामान्य' अवस्था को काल-निरपेक्ष मानकर फिर अपूर्ण/पूर्ण क्रिया-पक्षों के साथ उसे जोड़ा है। उनके अनुसार सामान्य अपूर्ण क्रिया-पक्ष वह काल-निरपेक्ष क्रिया-रूप है जो क्रिया-पक्ष के अनुसार अपूर्ण है (यथा—मैं आता) और सामान्य पूर्ण क्रिया-पक्ष वह काल निरपेक्ष क्रिया-रूप है जो क्रिया-पक्ष के अनुसार पूर्ण है।

'वह चला' वाक्य काल-निरपेक्ष है। यह इस तथ्य से भी सिद्ध होता है कि हिंदी में उसका प्रयोग केवल समय के धरातल पर घट चुकी घटनाओं के लिए ही नहीं अपितु अभी न घटी (भविष्यत्) घटनाओं के लिए भी किया जाता है। जब कोई अपने नौकर को बुलाता है और नौकर प्रत्युत्तर में बोलता है—'अभी आया' अथवा किसी को कोई किसी काम के लिए बाहर भेजता है और वह उत्तर देता है—'मुझे आँधी की तरह गया और तूफान की तरह आया समझो' तो क्या उत्तर की काल-भंगिमा भूतकाल सापेक्ष स्वीकार की जाएगी? जब नौकर 'अभी आया' कहता है तो वह सचमुच अभी चलकर वहाँ पहुँचा नहीं है। सच तो यह है कि अभी वह चला भी नहीं। पर 'आना' के पूर्ण-पक्ष रूप 'आया' को बोलकर वह यह संकेत देना चाहता है कि मेरे इस आने की क्रिया को पूरा हुआ ही समझिए।

इसी प्रकार संकेतार्थ विधि के कुछ वाक्य लीजिए :

(24) अगर मोहन आया तो मैं जाऊँगा।

(25) अगर वह चला तो मै भी चलूँगा।

'आया' और 'चला' रूप वस्तुतः पूर्ण-पक्ष के रूप हैं पर समय का संदर्भ निश्चय ही इनमें भूतकाल-सापेक्ष नहीं है क्योंकि घटना तो अभी घटी ही नहीं। ऐसी संरचना भूतकाल की कैसे स्वीकार की जा सकती है?

बहल के अनुसार सातत्यपरक विधेयक के लिए 'रह—' प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता। उनकी दृष्टि में सातत्य-पक्ष के सूचक तत्त्व के रूप में रह-प्रत्यय की मा—यता भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अवैज्ञानिक है। बहल की यह मान्यता है कि रह—वस्तुतः सहायक (रंजक) क्रिया है। सभी स्थितियों में इसका प्रयोग हिंदी में रंजक-क्रिया के रूप में होता है जो मूल क्रिया में आयुक्त कालावधि की निरंतरता एवं प्रसार के भाव का आरोपण करता है। नीचे दिए वाक्यों को लें :

(क) (26) ऐसी बातें सुनकर वह स्तब्ध हो रहता है।

(27) मैं जब यह बात सोचता हूँ तो हतबुद्धि हो रहता हूं।

(28) चलिए, अब थोड़ी देर लेट रहिए।

(29) उसके ओठ मुरझा रहे थे।

(30) पानी बरसता रहेगा।

(ख) (31) राम घर जा रहा है ।

(32) मोहन खेल रहा है ।

(33) मैं गा रहा हूँ ।

(34) शीला उठ रही है ।

(35) पानी बरस रहा है ।

क्रिया में आयुक्त कालावधि की प्रकृति पर सूक्ष्म दृष्टि से ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि खंड (क) के वाक्य (26-30) में क्रिया का सातत्य-पक्ष (+स्थिर) है। उदाहरण के लिए वाक्य (26) में 'स्तब्ध' हो जाने के बाद 'स्तब्धता' की स्थिति के प्रसार के लिए 'रह' सहायक (रंजक) क्रिया का प्रयोग है। यही स्थिति वाक्य (27) में भी है जहाँ 'हतबुद्धि' होने की स्थिति का प्रसार है । वाक्य (28) में 'लेट' जाने की स्थिति के प्रसार की आदरार्थ संभावना का अनुरोध है और वाक्य (29) में पानी 'बरसने' की स्थिति के प्रसार का भविष्यत् निश्चयार्थ कथन है। इन सभी वाक्यों में मूल क्रिया के भाव की स्थिति का प्रसार है जो प्रक्रिया सापेक्ष न होकर स्थिर है।

इसके विपरीत खंड (ख) के वाक्यों (31-35) में 'रह' का प्रयोग सहायक क्रिया के रूप में न होकर क्रिया में आयुक्त कालावधि के उस सातत्य पक्ष का संकेत देने वाले बद्ध रूपिम के रूप में है जो प्रक्रिया सापेक्ष होने के कारण—स्थिर है। इनमें क्रमशः 'जाने, खेलने, गाने, उठने, बरसने' की क्रिया की प्रक्रिया पर बल है जिससे स्थिति-परिवर्तन की सूचना मिलती है।

संघटना के स्तर पर यह कहा जा सकता है कि जब 'रह' का सहायक क्रिया के रूप में प्रयोग होता है तब उसमें यह संभवना बनी रहती है कि वह अन्य पक्ष-सूचक तत्वों से संयुक्त होकर व्यवहार में आए, यथा [रह+त+आ, सोच+त+आ]। उसमें भविष्यत्काल सूचक तत्वों (यथा, वचन-पुरुष प्रत्यय का भी संयोग हो सकता है, यथा, (रह+ए+ग+आ, रह+ऊँ) आदि । लेकिन जब 'रह' का पक्ष-प्रत्यय के रूप में प्रयोग होता है तब वह कभी भी अन्य पक्ष-सूचक तत्वों को नहीं स्वीकार कर सकता और न वह 'वचन-पुरुष' प्रत्यय से सीधे संयुक्त ही हो सकता है ।

रंजक क्रिया 'रह—' विभिन्न क्रिया-रूपों के साथ आकर विभिन्न भाव-भेद लाने में समर्थ है । यद्यपि हर स्थिति में उसकी प्रकृति+सातत्य, –प्रक्रिया,+स्थिर ही रहती है। अतः भाव-भेद का कारण स्वभावतः मुख्य क्रिया-रूपों से संबद्ध माना जाएगा । उदाहरण के लिए वाक्य (36-37) को ही लें :

(36) आप लेट रहिए ।

(37) आप लेटे रहिए ।

दोनों ही वाक्यों में क्रिया 'लेटना' है पर वाक्य (36) में उसका रूप 'लेट' (—स्थिर) है। यह तथ्य इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य (38) एक व्याकरणसम्मत वाक्य है जबकि वाक्य (39) का प्रयोग मान्य नहीं। इसके विपरीत वाक्य (37) में 'लेटे' रूप वस्तुत: +स्थिर है और भाव-रूप में 'लेट हुए' स्थिति का सूचक है। यही कारण है कि स्थिति-परिवर्तन की सक्रियता को इस रूप द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह तथ्य वाक्य (40) को असंगत बना देता है। स्थितिसूचक विधेय के रूप में स्वीकृत वाक्य 41 इस तथ्य की पुष्टि करता है।

(38) (आप बैठे क्यों हैं?) लेट रहिए।

*(39) (आप लेटे हुए हैं) लेट ही रहिए।

*(40) (आप बैठे क्यों हैं?) लेटे रहिए।

(41) (आप लेटे हुए हैं) लेटे ही रहिए।

इस विवेचना के साथ अगर वाक्य (42, 43) पर विचार करें तो कुछ और तथ्य सामने आते हैं। वाक्य (36) में मूल क्रिया की प्रकृति—स्थिर है और उसकी क्रियाशीलता स्थिति-परिवर्तन की क्रिया है। वाक्य (38) में 'बैठने' की स्थिति से 'लेटने' की स्थिति में परिवर्तन की अपेक्षा है; पर वाक्य (42) में स्थिर लक्षण मूल क्रिया के भाव की अपनी क्रियाशीलता है। इसमें क्रियाशीलता मूल भाव की अपनी प्रक्रिया को व्यक्त करती है। वाक्य (42) में 'खाने' का सातत्य भाव द्योतित होता है और सहायक क्रिया 'रहिए' की रंजकता वस्तुत: इस प्रक्रिया के प्रसार को व्यक्त करती है। इस वाक्य में अर्थ-रूप में जो भाव है उसके अनुसार 'आप खा रहे हैं, आप इस खाने की प्रक्रिया को जारी रखें' यह अर्थ ध्वनित होता है।

(42) आप खाते रहिए।

(43) आप सोते रहिए।

सहायक क्रिया 'रहना' जैसी एक दूसरी क्रिया है 'जाना'। 'रहना' की ही भांति यह भी +सातत्य सूचक है; पर जहां 'रहना' +स्थिर है वहां 'जाना' — स्थिर। अत: इसका प्रयोग उसी मूल क्रिया के साथ संभव है जो अपनी प्रकृति में—स्थिर हो। यही कारण है कि वाक्य (36, 42) और (43) के समानांतर वाक्य (44, 45) और (46) संभव हैं। इन सभी वाक्यों में, जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है, मूल क्रिया —स्थिर है। ठीक इसके विपरीत वाक्य (37) में प्रयुक्त मूल क्रिया की प्रकृति +स्थिर है अत: वाक्य (47) भी मान्य नहीं हो सकता।

(44) आप लेट जाइए।

(45) आप खाते जाइए।

(46) आप पढ़ते जाइए।

*(47) आप लेटे जाइए।

ध्यान देने की वात है कि सहायक क्रिया 'रहना' न केवल +स्थिर है वरन् अपनी प्रकृति में वह — गणनीय होने के कारण — आवृत्ति भी है। इसके विपरीत 'जाना' सहायक क्रिया — स्थिर होने के कारण +गणनीय है और 'गणनीय' होने के कारण वह ±आवृत्ति लक्षणों से युक्त भी हो सकती है। यही कारण है कि 'रहना' के साथ केवल वाक्य (48) संभव वाक्य है, वाक्य (49–51) अव्याकरणिक संरचना वाले माने जाएँगे ; जबकि 'जाना' सहायक क्रिया के रूप में वाक्य (52–55) संभव वाक्य हैं। (अंग्रेजी में अनुवाद करने पर सहायक क्रिया के रूप में 'रहना' और 'जाना' क्रमशः 'कीप आन' और 'गो आन' अर्थ को ध्वनित करते है)।

(48) वह आम खाता रहता है।

*(49) वह आम खा रहता है।

*(50) वह आम खाता रह रहा है।

*(51) वह एक के बाद दूसरा आम खाता रहता है।

(52) वह आम खाता जाता है।

(53) वह आम खा जाता है।

(54) वह आम खाता जा रहा है।

(55) वह एक के बाद दूसरा आम खाता जा रहा है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भाषा में काल-बोध के दो स्तर होते हैं :—एक, जिससे पता चलता है कि क्रिया-व्यापार समय के धरातल पर कहाँ घटित हो रहा है। इस स्तर पर काल—वर्तमान, भूत और भविष्य की धारणा को लेकर चलता है। दूसरे स्तर पर काल-बोध क्रिया में आयुक्त कालावधि से संबद्ध होता है जिसे 'सामान्य, आवृत्तिमूलक, सातत्यपरक और पूर्ण-कालिक' पक्ष के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इन सभी पक्षों को निश्चित प्रभेदक लक्षणों के मूल्यों के समुच्चय के रूप में परिभाषित करना संभव है।

क्रिया में आयुक्त कालावधि को दो रीतियों से निर्धारित करना संभव है: पहली रीति पक्ष संबंधी 'बद्ध रूपिम' के प्रयोग की है और दूसरी रीति पक्ष संबंधी सहायक क्रिया के उचित संयोग की। पक्ष संबंधी सहायक क्रिया एक ओर मूल क्रिया के भाव को परिसीमित करती है तो दूसरी ओर पक्ष संबंधी बद्ध रूपिम से संयुक्त होने के कारण उसकी स्वयं की कालावधि भी निर्धारित रहती है।

अकृदंतीय (धातुमूलक) विधेय को लेकर रचित हिंदी के वाक्यों में पक्ष केवल वर्तमान और भूतकाल के वाक्यों में ही संभव है, क्योंकि उसी क्रिया

15—7 C.H.D. (ND)/72

की कालावधि पर निर्णय अपेक्षित है जो या तो घटना शुरू हुई हो या घट चुकी हो। जिस क्रिया के घटने का अस्तित्व ही नहीं, अर्थात् जो भविष्य के गर्भ में है, उसकी कालावधि की चर्चा ही क्यों ?

पक्ष-सापेक्ष रचना पक्ष-रूपिम के बाद सदा वचन-लिंग प्रत्यय से संयुक्त होती है, जबकि पक्ष-निरपेक्ष रचना क्रिया-धातु के बाद वचन-पुरुष प्रत्यय लेती है।

कृदंतीय क्रिया-संरचना में मूल क्रिया पक्ष-रूपिम अथवा पक्ष संबंधी सहायक क्रिया से संयुक्त रहती है। पर पक्ष-संबंधी सहायक क्रिया अनिवार्यतः पक्ष-रूपिम से संबद्ध होती है। अपनी प्रकृति में भी इन दोनों में अंतर है। उदाहरण के लिए पक्ष रूपिम के रूप में 'रह' की प्रकृति+सातत्य,+प्रक्रिया,—स्थिर, +गणनीय,— आवृत्ति है और पक्ष संबंधी सहायक क्रिया के रूप में 'रह-' की प्रकृति+सातत्य,—प्रक्रिया+स्थिर,—गणनीय,—आवृत्ति लक्षणों से संयुक्त है। पक्ष संबंधी 'रह-' सहायक क्रिया के समानांतर ही सातत्य-भाव को ध्वनित करने वाली एक दूसरी सहायक क्रिया 'जा-' है जिसकी प्रकृति+सातत्य, — प्रक्रिया, -स्थिर, +गणनीय, ±आवृत्ति है। ●

संदर्भ-ग्रंथ सूची

केलाग, सेमुएल हेनरी	1938	ए ग्रामर ऑफ़ द हिंदी लैंगुएज, लंदन।
गुरु, कामताप्रसाद	1952	हिंदी व्याकरण, बनारस।
बहल, काली चरण	1967	ए रेफरेंस ग्रामर ऑफ़ हिंदी, शिकागो।
लीच, जिओफ्रे, एन	1969	टुवर्ड्ज ए सिमेंटिक डिस्क्रिप्शन ऑफ़ इंग्लिश, लंदन।
वाजपेयी, किशोरीदास	1959	हिंदी शब्दानुशासन, बनारस।

हिंदी की प्रेरणार्थक क्रियाएँ

सुधा कालरा

"मूल धातु के जिस विकृत रूप से क्रिया के व्यापार में कर्त्ता पर किसी की प्रेरणा समझी जाती है उसे प्रेरणार्थक धातु कहते हैं।" अधिकांश हिंदी व्याकरणों में (केलॉग 1893, गुरु 1952, शर्मा 1958) प्रेरणार्थक क्रियाओं की मात्र रूपात्मक प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इन विद्वानों ने '-आ' [-a] और '-वा' [-va] को प्रथम और द्वितीय प्रेरणार्थक क्रियाओं को निष्पन्न करने वाले रूपिम माना है। कुछ अपेक्षाकृत आधुनिक रचनाओं में (वाजपेयी 1959, काचरू 1966, 1972 और बहल 1967) वाक्यविन्यास को ध्यान में रखकर अप्रेरणार्थक और प्रेरणार्थक क्रिया-रूपों का संबंध स्थापित किया गया है। आधुनिक भाषाविज्ञान ने असंदिग्ध रूप से अब यह सिद्ध कर दिया है कि रूपप्रक्रिया सदा वाक्यविन्यास से परिचालित होती है। अतः केवल रूपात्मक स्तर पर प्रेरणार्थक क्रियाओं के रूप निश्चित नहीं किए जा सकते। इसलिए हिंदी की प्रेरणार्थक क्रियाओं की रूप-रचना पर विचार करते समय उसके वाक्यविन्यास को भी ध्यान में रखना अपेक्षित है।

अप्रेरणार्थ क्रियाएँ (अकर्मक और सकर्मक) तथा प्रेरणार्थक क्रियाएं (प्रथम और द्वितीय) केवल रूपात्मक व्युत्पत्ति पर आधारित नहीं हैं, किंतु वाक्य-विन्यास से अभिप्रेरित भी हैं। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए निम्न-लिखित उदाहरण लिए जा सकते हैं —

(1) बच्चा चलता है।

(2) माँ बच्चे को चलाती है।

(3) माँ आया से बच्चे को चलवाती है।

(4) बच्चा दूध पीता है।

(5) माँ बच्चे को दूध पिलाती है।

(6) माँ आया से बच्चे को दूध पिलवाती है।

प्रथम तीन वाक्यों में (1, 2, 3) स्पष्ट है कि अकर्मक क्रिया 'चल-' [cɔl] आधार रूप है तथा '-आ' [-a] और '-वा' [-va] रूपिमों के योग से रूपात्मक प्रक्रिया द्वारा प्रथम एवं द्वितीय प्रेरणार्थक क्रियाएँ व्युत्पन्न हुई हैं। अंतिम तीन वाक्यों में (4, 5, 6) सकर्मक क्रिया 'पी- [pi] आधार रूप है तथा -'ला' [-la] और -'लवा' [-lva] रूपिमों के योग से प्रथम और द्वितीय प्रेरणार्थक रूप 'पिला-' [pɪla] और 'पिलवा-' [pɪlva] निष्पन्न हुए हैं। यह प्रक्रिया अधिकांश अकर्मक एवं सकर्मक एकाक्षरी क्रियाओं में समान रूप से पाई जाती है। जैसे—

अकर्मक— रो-[ro] रुला- [rUla] रुलवा- [rUlva]

सकर्मक— सी-[si] सिला- [sila] सिलवा- [silva]

आक्षरिक विन्यास की दृष्टि से CV̆CV̄ (C=व्यंजन, V= स्वर, V̆=ह्रस्व स्वर, V̄=दीर्घ स्वर) रचना की अकर्मक क्रियाओं के प्रेरणार्थक रूप '-ला' [-la] और '-लवा' [-lɔva] रूपिमों के योग से निष्पन्न होते हैं। जैसे नहा-[nɔha] नहला - [nɔhla] नहलवा- [nɔhlva]। किंतु CV̆CV̄ रचना की सकर्मक क्रियाओं के केवल प्रथम प्रेरणार्थक ही संभव हैं। वास्तव में स्वनप्रक्रियात्मक आकार के कारण ऐसी क्रियाओं को संवादी व्युत्पन्न अकर्मक क्रियाओं के प्रथम प्ररणार्थक रूप समझ लिया गया है तथा उसके प्रथम प्रेरणार्थक को द्वितीय प्रेरणार्थक। वास्तव में इन क्रियाओं में द्वितीय प्रेरणार्थक संभव ही नहीं। 'बना-' [bɔna] और 'लगा'- [lɔga] आदि का प्रथम प्रेरणार्थक रूप 'बनवा'- [bɔnva] और 'लगवा'-[lɔgva] है तथा 'बन'-[bɔn] और 'लग'- [lɔg] व्युत्पन्न अकर्मक रूप हैं।

इसी प्रकार कु छ अन्य आकारांत क्रियाओं के आधार-रूपों को प्रथम प्रेरणार्थक क्रियाएँ मान लिया गया है। जैसे 'कुम्हला-'[kUmhɔla] 'घबरा'-[ghɔbra] 'इठला'- [ɪṭhla], 'बता'- [bɔta] 'कमा-' [kɔma] आदि। इन्हें तथा विचार, अनुभव आदि सूचित करने वाली कुछ अन्य क्रियाओं को अर्थगत संभावनाओं के आधार पर प्रकृततः -प्रेरणार्थक कह सकते हैं। जैसे -'सोच'-, 'लग'- [seems], 'जान'-, 'पा'- आदि क्रियाओं में प्रेरणार्थक प्रक्रिया संभव ही नहीं है।

पारंपरिक व्याकरणों के अनुसार प्रेरणार्थक क्रिया दो (व्याकरणिक) कर्त्ताओं की अपेक्षा रखती है, जैसे—

मां नौकर से काम कराती है।

इस वाक्य में दो सक्रिय कर्त्ता हैं, क्योंकि 'मां' और 'नौकर' दोनों कुछ कार्य करते हैं।

दूसरी ओर फ़िलमोर द्वारा प्रस्तावित आधुनिक कारक-व्याकरण सिद्धांत (Case Grammar, 1968) की मान्यता है कि किसी साधारण वाक्य की आभ्यंतर संरचना में कोई भी कारक एक से अधिक बार प्रयुक्त नहीं हो सकता।

अतः प्रेरणार्थक क्रियाओं की वाह्‌य संरचना में भले ही दो भिन्न (व्याकरणिक) कर्त्ता हों पर अंततः आभ्यंतर संरचना के स्तर पर ऐसी प्रेरणार्थक संरचना में दो वाक्य—आधात्री और आधायित— की उपस्थिति ही स्वीकार करनी होगी।

(1) नौकर काम करता है। (आधात्री)

(2) माँ (प्रेरक) नौकर। (आधायित)

वास्तव में ऐसी रचना में दो ईकाइयाँ होती हैं—'प्रेरक' और 'प्रेरित'। 'प्रेरित' कार्य का सक्रिय कर्त्ता भी होता है। इस दृष्टि से माँ [+प्रेरक], और नौकर [+प्रेरित,+सक्रिय कर्त्ता] है।

अधिकांश रचनाओं में (काचरु 1971, श्रीवास्तव 1971) यह स्वीकार किया गया है कि प्रेरणार्थक रचनाओं में आधान प्रक्रिया होती है। किंतु वालचंद्रन (1971) की धारणा है कि प्रेरणार्थक वाक्यों में आधान नहीं होता और उनकी रचना साधारण वाक्यों जैसी होती है। अन्य सभी विद्वानों का मत है कि अप्रेरणार्थक और प्रेरणार्थक रचनाएँ, वाक्यविन्यास एवं अर्थ दोनों दृष्टियों से संवद्‌ध होती हैं तथा प्रेरणार्थक में आधान होता है।

प्रेरणार्थक रचना के लिए हिंदी में अंग्रेजी के समान शाब्दिक प्रेरणार्थक क्रिया का प्रयोग नहीं होता। अंग्रेजी में cause, make, get, have आदि क्रियाओं के द्‌वारा प्रेरणार्थक रचना संभव होती है; किंतु हिंदी में '-आ', '-वा', '-ला', -'लवा' आदि प्रत्यय रूपिमों के द्‌वारा प्रेरणा सूचित होती है। अतः 'करा'- [kɔra], 'करवा'- [kɔrva-] आदि क्रियाएँ, दो क्रियाओं के योग से बनी मानी जा सकती हैं—

शाब्दिक क्रिया 'कर' - + [क्रिया / +अमूर्त / +प्रेरक] प्रथम प्रेरणार्थक;

शाब्दिक क्रिया 'कर'- + [क्रिया / +अमूर्त / +प्रेरक] प्रथम प्रेरणार्थक + [क्रिया / +अमूर्त / +प्रेरक / +प्रेरित] द्‌वितीय प्रेरणार्थक

इनसे निष्पन्न रूपिम क्रियाएँ 'करा'- एवं 'करवा' -हैं। अतः प्रस्तुत वाक्य में 'माँ' प्रेरक है तथा 'नौकर' प्रेरित + सक्रिय कर्ता है।

द्‌वितीय प्रेरणार्थक रचनाओं के दो 'प्रेरक' होते हैं। पारंपरिक व्याकरणों में दूसरे प्रेरक को माध्यम या निमित्त माना गया है। इन रचनाओं की आंतरिक संरचना में दो प्रेरक और दो प्रेरित होते हैं तथा दूसरा प्ररित+सक्रिय कर्त्ता भी होता है, जिनमें एक [+प्रेरक,—प्रेरित] दूसरा [+प्रेरक, +प्रेरित] और तीसरा [+प्रेरित, +सक्रिय कर्त्ता] होता है।

माँ आया से बच्चे को दूध पिलवाती है ।

इस वाक्य की आभ्यंतर संरचना में तीन वाक्य हैं—

(1) बच्चा दूध पीता है ।

(2) आया बच्चे को प्रेरित करती है ।

(3) माँ आया को प्रेरित करती है ।

ध्यान देने की बात है कि वाक्य में [+प्रेरक, +प्रेरित] की अनुपस्थिति में भी द्वितीय प्रेरणार्थक क्रिया-रूप उसकी स्थिति की सूचना दे देता है, यथा, निम्नलिखित वाक्य में 'आया' की अनुपस्थिति मात्र बाह्य-स्तर पर है अन्यथा आभ्यंतर स्तर पर उसकी स्थिति असंदिग्ध है ।

माँ बच्चे को दूध पिलवाती है ।

इस वाक्य में माध्यम 'आया' व्यक्त न होने पर भी आभ्यंतर संरचना में विद्यमान है ।

प्रथम एवं द्वितीय प्रेरणार्थक रचनाओं को एक चित्र के द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है ।

प्रथम प्रेरणार्थक	[+प्रेरक]		[+प्रेरित +सक्रिय कर्त्ता]
द्वितीय प्रेरणार्थक	[+प्रेरक]	[+प्रेरित +प्रेरक]	[+प्ररित +सक्रिय कर्त्ता]

प्रेरणार्थक रचनाओं में प्रेरक और प्रेरित अनिवार्यतः +चेतन होते हैं । व्युत्पन्न प्रेरणार्थक क्रियाएँ सकर्मकता सूचित करती हैं । प्रेरणार्थक रचनाओं में क्रिया की अन्विति व्याकरणिक कर्त्ता के अनुरूप होती है, यद्यपि इन रचनाओं में व्याकरणिक कर्त्ता केवल प्रेरक होता है, सक्रिय कर्त्ता नहीं ।

फ़िलमोर के कारक-व्याकरण के आधार पर क्रियाओं की रूपात्मक प्रक्रिया स्पष्ट की जा सकती है । इस प्ररूप में दिए गए कारक-बंध क्रियाओं के वर्गकारी प्रकार्यों को स्पष्ट करते हैं । जैसे, 'चल'-[cə̆l], 'दौड़-' [dɔṛ] आदि अकर्मक क्रियाएँ +[.........A] कारक-बंध में अंतर्निविष्ट की जा सकती हैं तथा 'पी'- [pi], 'देख-' [dekh] आदि सकर्मक क्रियाओं का कारक-बंध इस प्रकार है +[......O+A]

प्रश्न उठता है कि प्रेरणार्थक क्रियाएँ किस प्रकार के कारक-बंध में अंतर्निविष्ट की जा सकती हैं ?

फ़िलमोर के अनुसार अँग्रेज़ी की सकर्मक क्रिया 'see' (देखना) और प्रेरणार्थक क्रिया 'show' (दिखाना) का अर्थगत विषय बोध एक-जैसा है किंतु इनके कारक-बंध भिन्न हैं । यही स्थिति अकर्मक क्रिया 'die' (मरना) और

प्रेरणार्थक क्रिया 'kill' (मारना) की है । इन क्रियाओं के कारक-बंध इस कार हैं :—

see + [.....O + D]; show + [.....O+D+A]
dic + [.....D]; kill + [.....D+A]

संकेत :

[A=Agent सक्रिय कर्त्ता, O=Objective कर्म, D=Dative भोक्ता संप्रदान, I=Instrumental करण]

श्रीवास्तव के मतानुसार ये कारक-बंध प्रेरणार्थक प्रक्रिया की रचनांतरण प्रकृति को स्पष्ट नहीं करते, क्योंकि इस प्रकार प्रेरणार्थक और सकर्मक क्रियाओं के कारक-बंध में कोई अंतर नहीं रहता । सकर्मक क्रिया 'give' (देना) और प्रेरणार्थक क्रिया 'show' (दिखाना) के कारक-बंध फ़िलमोर के अनुसार इस प्रकार हैं :—

Show +[......**O**+D+A]
give +[......O+D+A]

फ़िलमोर ने अकर्मक और सकर्मक क्रियाओं को अर्थविषयक विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट करना चाहा हैं । किंतु श्रीवास्तव की यह आपत्ति है कि फ़िलमोर रूपात्मक एकता से अधिक अभिप्रेरित हैं । अंग्रेज़ी में अकर्मक और सकर्मक क्रियाओं के रूपों में कोई अंतर नहीं है पर हिंदी में संवादी अकर्मक और सकर्मक क्रियाओं के रूप भिन्न प्रकार से निष्पन्न होते हैं, जसे

सकर्मक	व्युत्पन्न अकर्मक
खोल-[khol]	खुल [khUl]
देख-[dekh]	दिख [dIkh]

अकर्मक	व्युत्पन्न सकर्मक
उठ-[Uṭh]	उठा [Utha]
चल-[cəl]	चला [cəla]

वाक्यविन्यास अभिप्रेरित व्युत्पत्ति-प्रक्रिया के द्वारा अकर्मक और सकर्मक रूपों की अर्थविषयक विशपताओं को स्पष्ट किया जा सकता है । यदि अकर्मक क्रिया आधार-रूप है तब सकर्मक क्रिया व्युत्पन्न मानी जाएगी । इसके विपरीत यदि सकर्मक क्रिया आधार-रूप है तो अकर्मक क्रिया वस्तुत: व्युत्पन्न होगी । इस अंतर को वाजपेयी ने निम्नलिखित उदाहरणों से अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है । उनका मत है कि 'सी-' और 'बांध-' आधार-रूप सकर्मक क्रियाएँ हैं जबकि 'सिल' और 'बंध' इनसे व्युत्पन्न अकर्मक रूप हैं । जैसे—

(1) कपड़े सिल रहे हैं ।
(2) गट्ठर बंध रहे हैं ।

इन वाक्यों में सक्रिय कर्ता व्यक्त नहीं है और कर्म कपड़े तथा 'गट्ठर' व्याकरणिक कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। किंतु न 'कपड़े' अपने-आप 'सिल' सकते हैं और न ही 'गट्ठर' बांध सकते हैं। इन कार्यों के लिए कोई सक्रिय कर्त्ता अपेक्षित है। अतः कहा जा सकता है कि इन रचनाओं में अकर्मक क्रिया रूप संवादी सकर्मक क्रियाओं से व्युत्पन्न हैं। दूसरी ओर प्रेरणार्थक रचनाओं में एक अतिरिक्त कर्त्ता का आगम सिद्ध रहता है।

(1) माँ कपड़े सी रही है। +[......O+A]

(2) कपड़े सिल रहे हैं। +[......O]

(3) माँ दर्जी से कपड़े सिलवा रही है। +[......O+D+A]

श्रीवास्तव के मतानुसार सकर्मक क्रिया 'सी'- और व्युत्पन्न प्रेरणार्थक क्रिया 'सिलवा-' का अर्थविषयक अंतर केवल angle bracket convention के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के लिये "माँ दर्जी से कपड़े सिलवा रही है" का कारक-बंध होगा $+\left[\overline{<T_1>}\,O+D<+A>\right]$ जबकि अप्रेरणार्थक वाक्य—"माँ दर्जी को कपड़े दे रही है" का कारक-बंध +[—O+D+A] है।

T_1 प्रेरणार्थक प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले रचनांतरण नियम हैं। यह convention सकर्मक और प्रेरणार्थक क्रियाओं का अंतर स्पष्ट करने में समर्थ होगा क्योंकि इससे दो भिन्न कारक-बंध प्रस्तुत होंगे।

(1) राम ने मोहन को पुस्तक दी। +[—O+D+A]

(2) राम ने मोहन को तस्वीर दिखाई। $+\left[\overline{<T_1>}\,O+D<+A>\right]$

रूपात्मक व्युत्पन्न क्रियाओं के प्रेरणार्थक रूपों को वाक्यविन्यास परिचालित lexical reflexes कहा जा सकता है जो दो स्वतंत्र क्रियाओं के सूचक होते हैं—प्रेरणार्थक क्रिया की आधार-रूप शाब्दिक क्रिया और अमूर्त क्रिया जो लगभग नियमित अर्थ-विषयक अभिलक्षण "प्रेरणा" [+ cause] की सूचक हैं। अतः शाब्दिक क्रिया 'चल'-+ अमूर्त्त क्रिया [शून्य क्रिया+प्रेरणा] अभिलक्षण के साथ 'चला'—और 'चलवा'-रूपात्मक रूप निष्पन्न होते हैं। अमूर्त्त क्रिया घटकों का रचनांतरण से लोप नहीं होता, इसलिए इनकी अर्थ विषयक संरचना वाक्य की शाब्दिक क्रिया में ही समाहित हो जाती है। जिसके परिणामस्वरूप यह केवल रूपिमिक चिह्नक lexical reflex के रूप में अवशिष्ट रह जाते हैं, जैसे 'चल' से 'चला' और 'चलवा'।

अँग्रेज़ी की आधार-रूप और संवादी प्रेरणार्थक क्रियाओं के समान हिंदी की कुछ क्रियाओं में भी रूपगत भिन्नता होती है। जिस प्रकार अँग्रेज़ी में 'see', 'show' और 'die', 'kill' हैं उसी प्रकार हिंदी की 'आ'- और 'जा-' अकर्मक क्रियाओं के प्रेरणार्थक रूपों में रूपगत भिन्नता पाई जाती है।

अकर्मक	प्रथम प्रेरणार्थक	द्वितीय प्रेरणार्थक
जा-	भेज-	भिजवा-
आ	वुला-	वुलवा-

वाक्यगत प्रयोगों से सिद्ध किया जा सकता हैं कि प्रेरणार्थक रचनाओं के नियमानुसार इन क्रियाओं के प्रेरणार्थक रूप उपर्युक्त ही हैं ।

(1) लड़का स्कूल जाता है ।

(2) सोहन लड़के को स्कल भेजता है ।

(3) सोहन नौकर से लड़के को स्कूल भिजवाता है ।

इन तीनों वाक्यों में सक्रिय कर्त्ता 'लड़का' ही है जो 'जाने' का कार्य करता हैं । दूसरे और तीसरे वाक्य में क्रमशः 'सोहन' तथा 'सोहन,' 'नौकर' प्रेरक हैं जो 'लड़के' को स्कूल जाने के लिए प्रेरित करते हैं ।

आधार-रूप सकर्मक क्रिया 'भेज'- का प्रथम प्रेरणार्थक 'भिजवा'- है । 'भेज'-, 'भिजवा-' तथा 'जा-', 'भेज-', 'भिजवा-' में स्वनप्रक्रियात्मक एकरूपता होने के कारण इन्हें एक ही शाब्दिक क्रिया मान लिया गया है । प्रकार्य की दृष्टि से इन्हें दो शाब्दिक क्रियाएँ मानना उचित होगा । सकर्मक क्रिया 'भेज-' का कर्म अचेतन होता है जबकि 'भिजवा-' प्रेरणार्थक में चेतन कर्म अनिवार्य है ।

सोहन पुस्तकें भेजता है ।

सोहन नौकर से पुस्तकें भिजवाता है ।

अर्थविषयक स्तर पर इन्हें दो भिन्न शाब्दिक क्रियाएँ मानना संगत होगा ।

इसी प्रकार अकर्मक क्रिया 'आ-' के प्रेरणार्थक 'वुला'- और 'वुलवा'- हैं ।

(1) मैं घर आता हूँ ।

(2) मैं मित्रों को घर बुलाता हूँ ।

(3) मैं नौकर से मित्रों को घर वुलवाता हूँ ।

दूसरे और तीसरे वाक्य में 'मित्र' सक्रिय कर्त्ता है तथा 'मैं' और 'नौकर' प्रेरक हैं । सकर्मक क्रिया 'वोल'-की प्रथम प्रेरणार्थक क्रिया भी 'वुला-' और 'वुलवा'- ही है। स्वनप्रक्रियात्मक एकरूपता होने पर भी ये दो भिन्न शाब्दिक क्रियाएँ हैं ।

कुछ एकाक्षरी सकर्मक क्रियाओं में '-ला' और '-लवा' प्रेरणार्थक रूपिम प्रयुक्त होते हैं । इस नियम के अनुसार 'खा'- के प्रेरणार्थक रूप 'खला'-*

और 'खलवा-'* बनने चाहिए किंतु 'खिला' और 'खिलवा' प्रयुक्त होते है । दूसरी ओर 'खेल'- क्रिया के प्रेरणार्थक रूप भी 'खिला-' 'खिलवा-' हैं जो नियमित हैं । केवल वाक्यविन्यास ही इस तथ्य का निर्णायक है कि 'खिला-' और 'खिलवा-' का 'खिल-', आधार-रूप क्रिया 'खा-' का उपरूप है या 'खेल'- का ।

(1) बच्चा रोटी खाता है ।

(2) माँ बच्चे को रोटी खिलाती है ।

(3) माँ आया से बच्चे को रोटी खिलवाती है ।

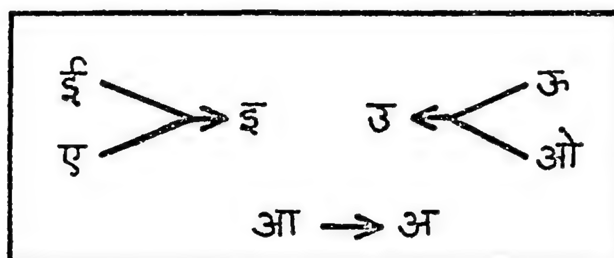
(4) लड़के क्रिकेट खेलते हैं ।

(5) अध्यापक लड़कों को क्रिकेट खिलाते हैं ।

(6) मुख्याध्यापक लड़कों को क्रिकेट खिलवाते हैं ।

अकर्मक क्रिया 'खिल-' —प्रेरणार्थक है क्योंकि यह एक सहज प्राकृतिक क्रिया है । 'फूल खिलता है' पर कोई फूल को खिलने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रेरणार्थक क्रियाएँ व्युत्पन्न क्रियाएँ हैं और रूप के धरातल पर यह व्युत्पत्ति प्रक्रिया एक नियमित रूपस्वनिमिक स्वनप्रक्रियात्मक नियम के अनुरूप होती है जो निम्नलिखित है —



इस विवेचन के आधार पर व्युत्पन्न प्रेरणार्थक क्रियाओं की रूप संरचना की सूची नीचे दी जा रही है ।

एकाक्षरी क्रियाएँ

1.—CV̆ → CV̆

(क) अकर्मक	प्रथम (-ला)	द्वितीय (-लवा)
जी-	जिला	..
रो-	रुला	रुलवा
सो-	सुला	सुलवा
आ-[2]	बुला	बुलवा

(ख) अकर्मक	प्रथम (-वा)	द्वितीय (-वा)
छा-	छवा	छववा[3]
चू-	चुआ/चुवा	..
जा-	भेज	भिजवा

(ग) सकर्मक	प्रथम (-ला)	द्वितीय (-लवा)
पी-	पिला	पिलवा
सी-	सिला	सिलवा
छू-	छुला/छुवा	छुववा/छुलवा
दे-{दी-}	दिला	दिलवा
धो-	धुला	धुलवा
खा- {खी-}	खिला	खिलवा

(घ) सकर्मक	प्रथम (-वा)	द्वितीय (-वां)
गा-	गवा	गववा[3]
ला-	लिवा	लिववा[3]
से-	सिवा	..
वो-	वुआ/वोआ	वुववा[3]

2. CV̆C → CV̆C

(क) अकर्मक	प्रथम (-आ)	द्वितीय (-वा)
हँस-	हँसा	हँसवा
उड़-	उड़ा	उड़वा
उठ-	उठा	उठवा
रुक-	रोक	रुकवा

(ख) सकर्मक	प्रथम (-आ)	द्वितीय (-वा)
कर-	करा	करवा
सुन-	सुना	सुनवा
चुभ-	चुभा/चुभो	चुभवा

(ग) सकर्मक	प्रथम(-आ, -वा, -ला)	द्वितीय (-लवा)
कह-	कहला	कहलवा
रख-	रखवा	..

मिल-	मिला/मिलवा
बुन-	बुनवा

3. CV̄C → CV̆C

(क) अकर्मक	प्रथम (-आ)	द्वितीय (-वा)
जाग-	जगा	जगवा
घूम-	घुमा	घुमवा
डूब-	डुबा/डुबो	डुबवा
भीग-	भिगा/भिगो	भिगवा

(ख) अकर्मक	प्रथम (-वा)	द्वितीय
चीख-[1]	चिखवा	..

(ग) सकर्मक	प्रथम (-आ)	द्वितीय (-वा)
काट-	कटा	कटवा
बाँध-	बधा	बँधवा
सीख-	सिखा/सिखला	सिखवा
दूह	दुहा	दुहवा

(घ) सकर्मक	प्रथम (-आ, -वा,)	द्वितीय
फाड़-	फड़वा	..
छीन-	छिनवा	..
पूछ-	पुछा/पुछवा	..

4. CV̄C → CV̆C

(क) अकर्मक	प्रथम (-आ)	द्वितीय (-वा)
खेल-	खिला	खिलवा
लेट-	लिटा	लिटवा

(ख) सकर्मक	प्रथम (-आ)	द्वितीय (-वा)
छेद-	छिदा	छिदवा
तोल-	तुला	तुलवा
तोड़-	तुड़ा	तुड़वा

(ग) सकर्मक	प्रथम (-आ, -ला, -वा,)	द्वितीय
घेर-	घिरवा	..
बेच-	बिकवा	..
खोल-	खुलवा	..
बोल-	बुला/बुलवा	..

5. CV̄C → CV̄C [ɛ, ɔ]

(क) अकर्मक	प्रथम (-आ)	द्वितीय (-वा)
तैर-	तैरा	तैरवा
लौट-	लौटा	लौटवा
बैठा-[5]	बैठा/बिठा/बिठला	बैठवा/बिठवा

द्व्यक्षरी क्रियाएँ

6. CV̄CV̄ → CV̆CV̄

(क) अकर्मक	प्रथम (-ला)	द्वितीय (-लवा)
नहा-	नहला	नहलवा

(ख) सकर्मक	प्रथम (-वा)	द्वितीय
बजा-	बजवा	..
मिटा-	मिटवा	..
बुझा-	बुझवा	..
चुका-	चुकवा	..

7. CV̄CV̄ → CV̄CV̄

सकर्मक	प्रथम (-वा)	द्वितीय
खौला-	खौलवा	..
औंटा-	औंटवा	..
फैला-	फैलवा	..

8. CV̆CV̆C → CV̆CV̄C

(क) अकर्मक	प्रथम (-आ)	द्वितीय (-वा)
भटक-	भटका	भटकवा
पहुँच-	पहुँचा	पहुँचवा
निकल-	निकाल	निकलवा

(ख) सकर्मक	प्रथम (-आ)	द्वितीय (-वा)
पकड़-	पकड़ा	पकड़वा
समझ-	समझा	समझवा
निगल-	निगलवा	..

9. CV̆CV̄C → CV̆CV̆C

सकर्मक	प्रथम (-वा)	द्वितीय
विगाड़-	विगड़वा	..
खरीद-	खरिदवा	..
विखेर-	विखरवा	..

त्र्यक्षरी क्रियाएं

10. CV̆CV̆CV̄ → CV̆CV̆CV̆

सकर्मक	प्रथम (-वा)	द्वितीय
चमका-	चमकवा	..
पिघला-	पिघलवा	..
सुलगा-	सुलगवा	..

प्रस्तुत विवेचन से यह तथ्य सामने आता है कि हिंदी की प्रेरणार्थक क्रियाएँ केवल रूपात्मक प्रक्रिया से निश्चित नहीं की जा सकतीं। ये क्रियाएँ अर्थविषयक मान्यताओं और वाक्यविन्यास से भी अभिप्रेरित होती हैं। इसके साथ यह भी कहना अनुचित न होगा कि प्रेरणार्थक क्रियाओं के रूप में व्युत्पन्न रूप एक नियमित रूपस्वनिमिक प्रक्रिया से वाधित और नियमित हैं।●

पाद टिप्पणियाँ :—

1. सक्रिय कर्त्ता : मूल क्रिया का निष्पादक।
2. सर्वादेशी विकल्प।
3. इस प्रकार के प्रयोग कुछ वोलियों में प्रचलित हैं।

4. अनुभव, विचार आदि सूचित करने वाली क्रियाएँ, प्रेरणार्थक नहो वन सकतीं। इस क्रिया में यही भाव है कि कोई व्यक्ति अपने कार्यों से दूसरे को चीखने के लिए प्रेरित कर रहा है।

5. अधिक प्रयोग के कारण 'वैठ-' क्रिया के प्रेरणार्थक में अनेक रूप प्रयुक्त होते हैं।

* * *

संदर्भ ग्रंथ सची :

1. गुरु, कामताप्रसाद (1952)—हिंदी व्याकरण : नागरी प्रचारिणी पभा, वाराणसी।

2. वाजपेयी, किशोरीदास (1959), हिंदी शब्दानुशासन : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

3. Balchandran, L. B. 1970—A case Grammar of Hindi with special reference to causative sentences. Ithaca, Cornell University Dissertation.

4. Fillmore, Charles J., 1968—The case for case. Universals in Linguistic theory. Ed. by Bach E. and Harms, Robert T., 1-88, New York, Holt.

5. Kachru, Y., 1966—An introduction to Hindi syntax. Urbana, University of Illinois.

6. Kachru, Y., 1971.—Causative sentences in Indian Languages. Papers in Hindi syntax. Ed. Yamuna Kachru. Urbana Illinois: Department of Linguistics. Univ. of Illinois.

7. Kellog, Samuel H., 1893—A Grammar of the Hindi Language, London. Routledge and Kegan Paul.

8. Kleman, A.B., 1971.—Some aspects of the Causative constructions in Hindi : Papers on Hindi Syntax. Ed. Yamuna Kachru. Urbana. Illinois. Department of Linguistics, University of Illinois, 1971.

9. Krishnamurti, Bh., 1971,—Causative Sentences in Indian Languages : Some semantic and syntactic aspects I.L. I.32 1. 18.35.

10. Sharma, Aryendra, 1958.—A Basic Grammar of Modern Hindi. New Delhi, Government of India.

11. Srivastava, R.N., 1971.—How Empty is the Abstract Verb [+cause]? A case Grammar of Hindi Causal Verb Morphology. Proceedings of the first All India Conference of Linguists, Poona, December, 1970.

हिंदी यौगिक क्रिया

भोलानाथ तिवारी

हिंदी भाषा तथा उसकी बोलियों में प्रयुक्त धातुओं की पूरी संख्या एक हज़ार से ऊपर है जिनमें से लगभग छह सौ का प्रयोग हिंदी के मानक रूप में होता है। हिंदी की क्रियामूलक विभिन्न अभिव्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति केवल इतनी धातुओं से ही नहीं हो पाती, इसलिए हिंदी-मस्तिष्क ने इस कमी की पूर्ति मुख्यतः निम्नांकित चार पद्धतियों से की है :

(क) धात्वितर शब्दों से धातु बनाकर—इसमें दो प्रकार की धातुएँ आती हैं: एक तो वे जो नाम धातु कहलाती हैं, तथा संज्ञा (जैसे अकड़ना, खरीदना, खरीदना, जनमना, ठगना, डरना, फिलमाना, रँगना आदि), सर्वनाम (जैसे अपनाना), और विशेषण (जैसे दुहराना, सुस्ताना, लँगड़ाना) आदि से बनती हैं; तथा दूसरी वे जिन्हें अनुकरणात्मक कहते हैं (जैसे भड़भड़ाना, खटखटाना, थपथपाना आदि)।

(ख) क्रियेतर शब्द का क्रिया से योग करके—इसमें क्रिया से इतर शब्द का, जैसे संज्ञा या विशेषण आदि का, क्रिया के साथ संयोग होता है, जैसे क्षमा करना, स्वीकार होना, दिखाई देना, सुनाई पड़ना आदि। ऐसे प्रयोगों के लिए कोई सर्वस्वीकृत नाम नहीं है। केलाग ने (पृ० 271) इन्हें 'नामिनल' कपाउंड' तथा कामताप्रसाद गुरु (पृ० 402) ने "नामबोधक क्रिया" कहा है। "नाम बोधक क्रिया" का अर्थ हुआ नाम अर्थात् संज्ञा या संज्ञा-सर्वनाम-विशेषण का बोध कराने वाली क्रिया। किंतु "राम ने बात स्वीकार की" में "स्वीकार की" इनका बोध नहीं कराती, अतः उसे "नामबोधक क्रिया" नहीं कहा जा सकता। इससे अच्छा नाम तो कदाचित् "नामिक क्रिया" या "नाम-युक्त क्रिया" हो सकता है। टी० ग्राहम बेली ने अपनी पुस्तक "टीच योरसेल्फ हिंदुस्तानी" (पृ० 79) में इन्हें "कंजंक्ट वर्ब" की संज्ञा दी है। आजकल भी अधिकांश भाषाविज्ञानी इन्हें "कंज़ंक्ट वर्ब" ही कह रहे हैं। बारान्निकोव ने रूसी में लिखित अपने हिंदी व्याकरण में इसे "अतिमेन्नि ग्लागोल" (अर्थात् नाम के साथ बनी क्रिया, पृ०

122) कहा है। दीमशित्स इन्हें "जटिल नामिक क्रिया" (पृ 251) कहते हैं। मैं इन्हें "संयुक्त नामिक क्रिया" कहता रहा हूँ, किंतु अब मुझे लगता है कि हिंदी में इन्हें "यौगिक क्रिया" कहना कदाचित् अधिक उपयुक्त होगा।

(ग) क्रियेतर शब्द का क्रिया शब्द के साथ समुदाय बनाकर -- जैसे काम करना, बात करना आदि। इसके लिए अंग्रेजी की पुस्तकों में किसी नाम का प्रयोग नहीं है। मैं किसी अच्छे नाम के अभाव में इसे "क्रियेतरिक क्रिया-समुदाय" कहना चाहूँगा।

(घ) क्रिया-रूप के साथ क्रिया-रूप को संयुक्त करके --जैसे मार डालना, गिर पड़ना, कह उठना। इसे अंग्रेज़ी में "कंपाउंड वर्ब" तथा हिंदी में प्राय: "संयुक्त क्रिया" कहते हैं।

उपर्युक्त चारों में "नाम धातु" तथा "संयुक्त क्रिया" तो स्पष्टत: अलग है। प्रस्तुत निबंध "यौगिक क्रिया" पर है, किंतु अनेक भारतीय तथा विदेशी भाषा-विज्ञानियों ने यौगिक क्रिया और क्रियेतरिक क्रिया-समुदाय को प्राय: मिला दिया है। अत: यथास्थान इन दोनों को साथ-साथ लेते हुए यौगिक क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट करना अधिक सुविधाजनक रहेगा।

हिंदी यौगिक क्रिया पर हिंदी भाषा के वैयाकरणों का ध्यान बहुत पहले गया था, किंतु अपेक्षित विस्तार से इस पर सर्वप्रथम केलाग (पृ० 271) ने विचार किया। केलाग के अतिरिक्त कामताप्रसाद गुरु (पृ० 402), शोलबर्ग (पृ० 170), वारान्निकोव (पृ० 122), टी० ग्राहम बेली (1950, पृ० 79; 1956 पृ० 80), पाल हैकर तथा वर्टेन पेज (वी० एस० ओ० ए० एस०, 1957, 60, 61 के 19 वें, 23 वें और 24 वें खंड में इस विषय पर विवाद में), आर्येंद्र शर्मा (पृ० 94), बहल (1964, पृ० 35–36 तथा 81–91 आदि), यमुना काचरु (1965 पृ० 46; 1966 पृ० 57; 1968 पृ० 58) तथा दीमशित्स (पृ० 251) आदि ने भी अपने-अपने ढंग से विचार किया है।

यौगिक क्रिया की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है :—

"यौगिक क्रिया क्रियेतर शब्द और क्रिया का वह अनुक्रम है जिसमें क्रियेतर शब्द अपनी स्वतंत्र सत्ता छोड़ क्रिया का अंग बन जाता है तथा दोनों मिलकर एक क्रिया-भाव का बोध कराते हैं।"

इस परिभाषा की मुख्य बातों की व्याख्या निम्नांकित बिंदुओं से की जा सकती है :

(क) यौगिक क्रिया को प्राय: संयुक्त क्रिया का एक भेद माना जाता रहा है। इसीलिए अधिकांश वैयाकरणों (केलाग, गुरु आदि) ने संयुक्त क्रिया के अंतर्गत ही इस पर विचार किया है। हम जानते हैं कि संयुक्त क्रिया, क्रिया और क्रिया के अनुक्रम के लिए रूढ़ि शब्द बन चुका है, किंतु यौगिक क्रिया, क्रिया और क्रिया का अनुक्रम नहीं अपितु क्रियेतर शब्द और क्रिया का अनुक्रम है। साथ ही संयुक्त क्रिया में, मूल क्रिया क्रिया का मूल अर्थ देती है तथा दूसरी क्रिया उसमें मात्र रंजकता आदि लाती है; किंतु यौगिक क्रिया में क्रियेतर शब्द मूल भाव देता है और बाद में

16—7 C. H. D. (ND) 72

करते हैं, अतः वाक्य में इस क्रियेतर शब्द की क्रिया से अलग सत्ता नहीं रह जाती। अर्थ के स्तर पर भी यही बात है। पहले में क्रिया से अलग क्रियेतर शब्द अपना अर्थ बनाए रख सकता है, जबकि दूसरे में दोनों मिलकर एकल क्रिया-भाव की अभिव्यक्ति करते हैं। "क्रियेतरिक क्रिया-समुदाय" तथा "यौगिक क्रिया" में रचना और अर्थ के स्तर पर इस अंतर को स्पष्ट न समझ पाने के कारण ही कई वैयाकरणों तथा भाषाविज्ञानियों ने इन दोनों को ऊपरी समानता के आधार पर एक माना। परिणामतः उनके यौगिक क्रिया के उदाहरणों में कुछ या अनेक उदाहरण ऐसे भी आ गए हैं जो वस्तुतः क्रियेतरिक क्रिया-समुदाय के उदाहरण हैं, यौगिक क्रिया के नहीं। इसलिए यौगिक क्रिया को पहचानने के लिए रचना और अर्थ दोनों पर ध्यान देना आवश्यक है। किंतु इन दोनों में रचना ही प्रधान है। ऐसा हो सकता है कि अर्थ एक हो किंतु रचना के स्तर पर वह यौगिक क्रिया न हो। उदाहरण के लिए "राम ने भोजन किया" में "भोजन किया" में ate का एकल क्रिया-भाव हो सकता है, किंतु "भोजन करना" यौगिक क्रिया नहीं है। "भोजन" शब्द "करना" क्रिया का कर्म है।

(घ) क्रिया-भाव का एक होना भी यौगक क्रिया के लिए प्रायः आवश्यक माना गया है। केलाग (पृ० 271) ने 'one conception' तथा शोलवर्ग (पृ० 170) या आर्येन्द्र शर्मा (पृष्ठ 95) ने 'a single verbal idea' पर बल दिया है। मैंने भी परिभाषा में "एकल क्रिया-भाव" की बात कही है। इस पर थोड़ा गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। यह मानने के लिए काफ़ी आधार है कि किसी एकल क्रिया-भाव के लिए शब्द न मिलने पर ही यौगिक क्रिया प्रयोग प्रचलित हुए हों। हम यह भी देखते हैं कि कभी-कभी आगे चल कर ऐसे एकल क्रिया-भाव या यौगिक क्रिया के लिए एक शब्द चल भी पड़ता है जैसे स्वीकार करना के लिए "स्वीकारना" आदि। किंतु प्रायः लोगों के मन में एकल क्रिया-भाव की कसौटी यह रही है कि यदि हिंदी "नामिक क्रिया" का अंग्रेजी अनुवाद एक शब्द द्वारा हो सके तो वह एकल क्रिया-भाव अर्थात् यौगिक क्रिया है, जो गलत है। वस्तुतः अनुवाद इसका आधार नहीं हो सकता। हो सकता है, कुछ उदाहरणों में यह कसौटी काम कर जाए, जैसे "स्वीकार करना" to accept; किंतु ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं जहाँ यह कसौटी काम नहीं करती। उदाहरण के लिए हिंदी में "अफ़वाह उड़ाना" या "अफ़वाह फलाना" अंग्रेजी में to rumour है, किंतु to rumour के आधार पर "अफवाह फैलाना" या "अफ़वाह उड़ाना" को यौगिक क्रिया नहीं मान सकते। इसमें एक क्रिया-भाव नहीं है। "अफ़वाह" शब्द "फैलाना" या "उड़ाना" का कर्म है। "एकल क्रिया-भावना" भाषा-विशेष की रचना से संबंधित होती है। उसे शुद्ध अर्थ के स्तर पर नहीं रखा जा सकता। अंग्रेज़ी शब्द "ट्रेन" एक भाव व्यक्त करता है, और हिंदी शब्द "रेलगाड़ी" उसका समानार्थी है, किंतु "रेलगाड़ी" को हिंदी में एक-भावक शब्द नहीं माना जा सकता, क्योंकि रचना के स्तर पर "ट्रेन" शब्द एक घटक वाला है, जबकि "रेलगाड़ी" शब्द दो घटकों से निर्मित है। केलाग, शोलवर्ग या पालहैकर आदि ने, जैसा कि उनके उदाहरणों से स्पष्ट है, प्रायः अनुवाद के आधार पर ही इस एकल क्रिया-भावना की बात कही है, किंतु मैं उनसे

"मैंने काम को किया" भी कह सकते हैं, अतः "काम करना" यौगिक क्रिया नहीं है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि जहाँ भी "को" का प्रयोग न हो सके वह यौगिक क्रिया है। उदाहरण के लिए "मैंने राय दी" को "मैंने राय को दी" नहीं कहा जा सकता, किंतु "राय देना" यौगिक क्रिया नहीं है। "राय" कर्म है।

(4) कुछ विशेष संरचना वाले वाक्यों में क्रियेतरिक शब्द यदि संज्ञा है तथा क्रिया भूतकालिक कृदंत, तो दोनों की अन्विति यौगिक क्रिया की पहचान के लिए अच्छी कसौटी होगी। संज्ञा तथा क्रिया में यदि लिंग-वचन की अन्विति हो तो उन दोनों के योग को यौगिक क्रिया नहीं कह सकते, किंतु यदि अन्विति नहीं है तो वह संज्ञा कर्ता या कर्म न होकर क्रिया का अंग होती है, और इस तरह दोनों शब्द मिलकर यौगिक क्रिया का निर्माण करते हैं। उदाहरण के लिए :

(1) उसने मुझे आज्ञा दी।

(2) उसने मुझे वरदान दिया।

(3) उसने मुझे क्षमा किया।

पहले वाक्य में "दी" क्रिया "आज्ञा" के लिंग के अनुरूप है तथा दूसरे वाक्य में "दिया" "वरदान" के; किंतु तीसरे वाक्य में "क्षमा" तथा "किया" में इस प्रकार का संबंध नहीं है। फलतः "क्षमा करना" यौगिक क्रिया है किंतु "आज्ञा देना" या "वरदान देना" नहीं।

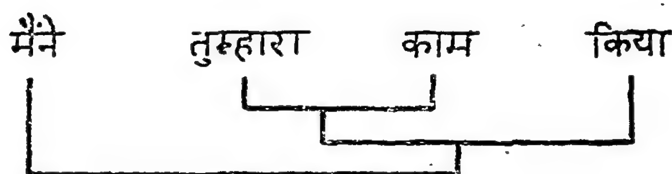
(5) हिंदी में क्रियाएँ कर्म की दृष्टि से तीन प्रकार की होती हैं :

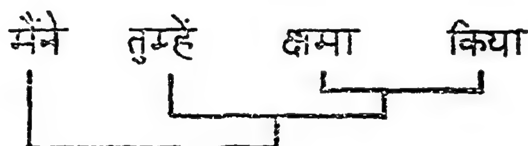
(1)	अकर्मक—लड़का आया। काम आरंभ हुआ।	सं० 1+क्रि०
(2)	एककर्मक—राम ने भोजन किया। राम ने मोहन को याद किया	सं० 1+सं० 2+क्रि०
(3)	द्विकर्मक—राम ने मोहन को पत्र लिखा। श्याम ने राम को पुस्तक दी। महाराज ने राजा को खाना परोसा। मैंने तुम्हें चिट्ठी भेजी। राजा ने ब्राह्मण को हजारों की संपत्ति दान दी।	सं० 1+ सं० 2+ सं० 3+ क्रिया

[सं० =संज्ञा]

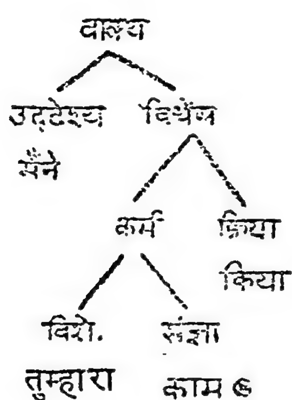
इसका आशय यह हुआ कि अकर्मक क्रिया वाले वाक्य में एक संज्ञा होगी जो कर्ता होगी, अर्थात् "काम आरंभ हुआ" में "आरंभ होना" यौगिक क्रिया है—आरंभ का क्रिया से अलग स्थान नहीं है। इसी प्रकार एककर्मक में दो संज्ञाए स्वतंत्र होंगी : कर्ता, कर्म; अर्थात् "याद करना" यौगिक क्रिया है। द्विकर्मक में तीन संज्ञाएँ स्वतंत्र होंगी : कर्ता, गौण कर्म, मुख्य कर्म। इस तरह "दान देना" भी यौगिक क्रिया है।

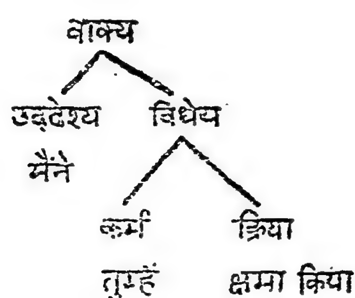
(6) निकटतम अवयव





(7) या वृक्ष-चित्र द्वारा भी





यौगिक क्रिया को क्रियेतरिक क्रिया-समुदाय से अलग दिखाया जा सकता है।

इस प्रसंग में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि यह आवश्यक नहीं कि एक यौगिक क्रिया किसी भाषा में सर्वत्र यौगिक क्रिया ही मानी जाए। उदाहरण के लिए चार वाक्य लें —

(1) सीता ने दान दिया।

(1क) सीता ने राम को यह पुस्तक दान दी।

(2) बादशाह ने खैरात दी।

(2क) बादशाह ने ग़रीब को बहुत सारे कपड़े ख़ैरात दिए।

इनमें 1 में "दान" तथा 2 में "ख़ैरात" कर्म हैं। अतः क्रिया उनके लिंगानुसार "दिया" तथा "दी" है, अर्थात् इनमें "दान देना", "ख़ैरात देना" यौगिक क्रियाएँ नहीं हैं, किंतु 1 क तथा 2 क में "दान देना", "ख़ैरात देना" यौगिक क्रियाएँ हैं। यहाँ "दान" तथा "ख़ैरात" कर्म नहीं है, "दान"-- "दी" तथा "खैरात"-"दिए" में अन्वय नहीं है। इसी प्रकार --

स्मरण होना—मुझे बात स्मरण है (यौगिक क्रिया=यौ० क्रि०) मुझे बात का स्मरण है (क्रियेतरिक क्रिया-समुदाय=क्रि० स०)

याद होना—मुझे बात याद है (यौ० क्रि०), तुम्हारी वहाँ याद हो रही है (क्रि० स०)

आरंभ होना—काम आरंभ हुआ (यौ० क्रि०), काम का आरंभ हुआ (क्रि० स०)

विदा होना—वह विदा हुआ (यौ० क्रि०), उसकी विदा हुई (क्रि०स०)

यौगिक क्रिया को प्रायः "संज्ञा+क्रिया" या "विशेषण+क्रिया" का अनुक्रम कहा गया है। मैंने उसे "क्रियेतरिक+क्रिया" का योग विशेष उद्देश्य से कहा है। ऐसा लगता है कि यौगिक क्रिया में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा अव्यय के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी शब्द आ सकते हैं जिन्हें प्रयोगतः सुविधापूर्वक इन कोटियों में से किसी में भी नहीं रखा जा सकता। उदाहरण के लिए "स्वीकार करना", "दिखाई पड़ना", "सुनाई देना" यौगिक क्रियाएँ हैं, किंतु "स्वीकार" "दिखाई", "सुनाई" हिंदी में रचना की दृष्टि से चाहे जो हों, प्रयोग की दृष्टि से ये न तो संज्ञा हैं, न सर्वनाम, न विशेषण और न अव्यय ही। इन तीनों का प्रयोग केवल क्रिया के एक घटक के रूप में ही होता है। उदाहरणार्थ "स्वीकार" को लें। संज्ञावत् प्रयोग में "स्वीकृति" आता है तथा विशेषणवत् में "स्वीकृत"। "स्वीकार" हिंदी में प्रयोगतः न तो संज्ञा है न विशेषण। सर्वनाम तथा अव्यय तो हो ही नहीं सकता। "दिखाई", "सुनाई" की भी यही स्थिति है। इस तरह इनको समाहित करने वाला शब्द "क्रियेतरिक" ही हो सकता है। सच पूछिए तो इस श्रेणी के शब्दों से बनने वाली क्रियाओं के कारण यौगिक क्रिया को अन्य प्रकार की क्रियाओं से अलग मानना सर्वाधिक आवश्यक है।

केलाग० (पृ० 272) ने कहा है कि यौगिक क्रियाओं को वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। अन्य किसी वैयाकरण ने भी इनके वर्गीकरण का प्रयास नहीं किया है। मेरे विचार में समझने-समझाने के लिए इनके दो प्रकार के वर्गीकरण हो सकते हैं :—

(क) क्रियेतर शब्द के आधार पर (प्रथम घटक के रूप में)

(1) **संज्ञा से**—स्मरण होना, याद होना, शुरू होना।

(2) **विशेषण से**—खड़ा होना, नष्ट करना, प्राप्त होना।

(3) **सर्वनाम से**—अपना करना।

(4) **अव्यय से**—बस करना।

(ख) क्रिया के आधार पर (द्वितीय घटक के रूप में)

करना से—अंगीकार, स्वीकार, वस, अपना, शुरू, विकसित

होना से—स्वीकार, याद, स्मरण, आरंभ, शुरू, भस्म, विदा

आना से—याद, काम

रखना से—याद

देना से—सुनाई, दिखाई, दिखलाई

पड़ना से—सुनाई, दिखाई, दिखलाई ।

पाद टिप्पणियाँ :

1. (No rules, however, can be laid down for identifying a true compound. It is purely a matter of usage— आर्येंद्र शर्मा, पृ० 94; केलाग एक लंबी सूची देने के बाद कहते हैं— Many of the above can scarcely be called compound, पृ० 277) ।

2. (यमुना काचरू 1965, पृ० 46; ए० ए० दवीदोवा के थीसिस "हिंदुस्तानी में संयुक्त क्रियाएँ", चेर्निशीव के लेख "आधुनिक साहित्यिक हिंदी में नामधातु और नामिक संयुक्त क्रियाएँ"— नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 62, अंक 1, पृ० 9 में संकेतित; तथा "हिंदी क्रिया फ्रज : स्वरूप और कार्य" (एक साइक्लोस्टाइल्ड पेपर)—शिवेंद्रकुमार वर्मा, पृ० 4 आदि) ।

* * *

संदर्भ ग्रंथ :

काचरू, यमुना—ए ट्रांसफार्मेशनल ट्रीटमेंट आफ् हिंदी सिंटेक्स, लंदन विश्वविद्यालय का थीसिस, 1965 ।

काचरू, यमुना—एन इंट्रोडक्शन टू हिंदी सिंटेक्स, यूनिवर्सिटी ऑफ इलिनॉय 1966 ।

केलॉग—ए ग्रामर ऑफ द हिंदी लैंग्वेज, लंदन, 1955 ।

गुरु, कामताप्रसाद—हिंदी व्याकरण, काशी, नवीन संस्करण ।

ग्राहमवेली, टी०—टीच योरसेल्फ हिंदुस्तानी, प्रथम संस्करण ।

दीमशित्स—हिंदी व्याकरण की रूपरेखा, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

बी० एस० ओ० ए० एस०—बुलेटिन ऑफ द स्कूल आफ ओरियंटल ऐंड एफ्रिकन स्टडीज़ ।

बारान्निकोव—हिंदुस्तानी (हिंदी इ उर्दू) ग्रैमतिचिस्किइ ओचेर्क, मास्को, 1956 ।

शर्मा, आर्येंद्र—ए बेसिक ग्रामर ऑफ माडर्न हिंदी, मिनिस्ट्री ऑफ एजूकेशन ऐंड साइंटिफिक रिसर्च, 1958 ।

शोलवर्ग—कन्साइज ग्रामर ऑफ द हिंदी लैंगवेज, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम संस्करण ।

हिंदी की विशेष क्रिया : 'होना'*

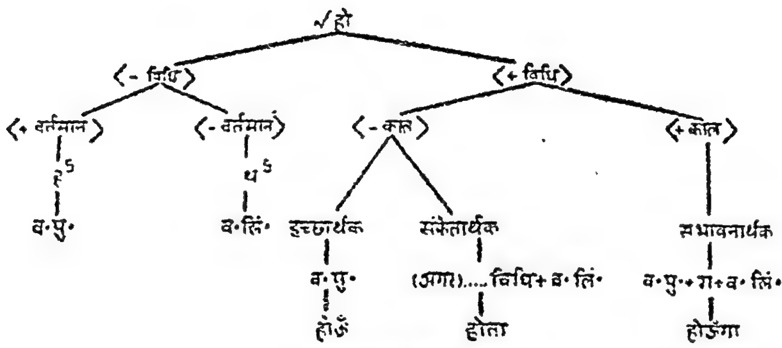
धर्मपाल गांधी

हिंदी की क्रिया 'होना' का अध्ययन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह हिंदी की उन गिनी-चुनी क्रियाओं में से एक है जो एक ओर यदि 'मुख्य क्रिया' के रूप में प्राप्त है तो दूसरी ओर 'सहायक क्रिया' के रूप में। कहीं यह 'रंजक-क्रिया'[1] है तो कहीं 'संकेतार्थक एवं विधि रूप' में प्रयुक्त होती है। सहायक क्रिया के रूप में जहाँ यह एक ओर काल का बोध कराती है, वहाँ दूसरी ओर 'वचन-पुरुष प्रत्यय' और 'वचन-लिंग प्रत्यय' से संयुक्त होकर संज्ञा पदों के साथ अपनी अन्विति भी स्थापित करती है। इन्ही सब कारणों से इसका पृथक् अध्ययन आवश्यक है।

प्रकार्य की दृष्टि से 'होना'[2] के दो रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। <+विधि> एवं <—विधि>। <—विधि> के पुनः दो उपभेद हो सकते हैं— <+वर्तमान> एवं <—वर्तमान>[3]। <+वर्तमान> के साथ वचन-पुरुष प्रत्यय (व० पु०) का प्रयोग होता है एवं <—वर्तमान> के साथ वचन-लिंग (व० लि०) प्रत्ययों का। इसी प्रकार <+विधि> के भी दो उपभेद किए जा सकते हैं— <—काल> एवं <+काल>। <—काल> के अंतर्गत इच्छार्थक एवं संकेतार्थक को रखा जा सकता है एवं <+काल>[4] में संभावनार्थक को। उक्त विवरण को आधात्री 1 में स्पष्ट किया गया है।

---

*प्रस्तुत लेख के लिए मैं डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, भाषाविज्ञान विभाग, दिल्ली, का अत्यधिक आभारी हूँ। वस्तुतः यह आप द्वारा दी गई प्रेरणा, बहुमूल्य समय, सुझावों एवं निर्देशों का ही परिणाम है। शारदा जग्गी ने इस लेख को पढ़कर अनेक सुझाव दिए, इसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ।



आधाती 1

सुविधा की दृष्टि से पहले <—विधि> का ही विवचन किया जा रहा है। आधात्री 1 के अंतर्गत <+वर्तमान> एवं <—वर्तमान> में 'ह' एवं 'थ' के साथ क्रमशः व० पु० प्र० एवं व० लिं० प्र० अनुबंधों का उल्लख किया गया है। इन दोनों को क्रमशः आधात्री 2 एवं 3 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

व० पु० प्रत्यय

वचन	पुरुष: प्रथम	मध्यम	उत्तम
एकवचन	—ऊँ	—ए	—ए
बहुवचन	—एँ	—ओ	—एँ

आधात्री 2 (क)

=

जाऊँ	जा (ए)	जाए
हूँ	है	है
जाएँ	जाओ	जाएँ
हैं	हो	हैं

आधाती 2 (ख)

व० लिं० प्रत्यय

वचन	लिंग: पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
एकवचन	—आ	—ई
बहुवचन	—ए	—ईं

आधात्री 3 (क)

जाता/था	जाती/थी
जाते / थे	जाती/थीं

आधाती 3 (ख)

आधाव्री 2 में प्रथम पुरुष, बहुवचन के अंतर्गत निर्दिष्ट 'एँ' प्रत्यय का जब <+वर्तमान> के साथ प्रयोग किया जाता है तो रूपस्वनिमिक परिवर्तन देखने में आता है। इस प्रक्रिया को नीचे दिए गए नियम (MR–I) से स्पष्ट किया जा सकता है :

MR-I –एँ ⟶ –ऐं / [ह+ –]
काल

अर्थात् :

[ह + एँ] ⟶ ह + ऐं ⟶ हैं
काल

<+विधि> में जब 'हो' क्रिया के साथ पक्ष प्रत्यय आता है तब उस के साथ व० लिं० प्रत्ययों का भी प्रयोग किया जाता है।

हो + [[अपूर्ण नित्य / अपूर्ण सातत्य / पूर्ण] = [–त– / –रह– / –ϕ–]] + व० लिं०
पक्ष

हो + [–त– / –रह– / –ϕ–] + व०लिं० = [होता / होती; हो रहा / हो रही; हुआ / हुई]

इस नियम में प्राप्त 'हुआ' एवं 'हुई' रूप, 'होना' क्रिया में हुए रूप स्वनिमात्मक नियम, नियम II (MR–II) के परिणाम हैं।

MR-II

हो ⟶ हु / [+पक्ष / +पूर्ण + व० लिं०]

'होना' क्रिया का जब 'इच्छार्थक' रूप में प्रयोग किया जाता है तो उसमें व० पु० प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है एवं जब संकेतार्थक में प्रयोग होता है तो <+विधि> एवं व० लिं० प्रत्ययों का। इसके साथ ही साथ संकेतार्थक वाक्यों में 'अगर' 'यदि' आदि रूपिम की उपस्थिति भी अनिवार्य है। इन दोनों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं :

1 : मैं डॉक्टर होऊँ / तुम डॉक्टर होओ

2 : अगर मैं डॉक्टर होता . . / अगर मैं डाक्टर होती . .

'संभावनार्थक' रूपों की निष्पत्ति निम्नलिखित नियम से स्पष्ट की जा सकती है :

हो + <+विधि> [वं०पु० + –ग] = होउँग / हो रह होग
पुनश्च : [होऊँग + व० लिं०]

के योग से 'होऊँगा', 'हो रहा होगा /हो रही होगी' . . . आदि प्राप्त किए जा सकते हैं ।

संभावनार्थक वाक्यों में 'होना' के दोनों रूपों– <+विधि> एवं <–विधि> –का प्रयोग वैकल्पिक रूप से हो सकता है । यथा :

1. संभवतः राम दिल्ली से आ रहा [है ।
हो (होगा) ।

2. शायद लड़के खेल रहे [हैं ।
हों ।

2

ऊपर कहा जा चुका है कि 'होना' क्रिया 'मुख्य क्रिया', 'सहायक क्रिया', 'संयुक्त क्रिया', 'क्रियार्थक विशेषण', क्रियाविशेषण', आदि अनेक रूपों में प्रयुक्त होती है । इन रूपों का नीचे संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है ।

मुख्य क्रिया के रूप में प्रायः 'होना' सकर्मक 'करना' क्रिया के अकर्मक रूप में सिद्ध रहती है । उदाहरणार्थ :

3 (क) मोहन काम कर रहा है ।

3 (ख) ϕ काम हो रहा है ।

4 (क) वह खाना पकाने का काम कर रहा है ।

4 (ख) ϕ खाना पकाने का काम हो रहा है ।

मुख्य क्रिया के रूप में ही 'होना' क्रिया किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के अस्तित्व का द्योतन / वाचन भी करती है । इसी स्थिति में मुख्य एवं सहायक (कालसूचक) क्रिया का अंतर एक ही क्रिया में अंतर्मुक्त हो जाता है । उदाहरण स्वरूप :

5. वह दिल्ली में है ।

6. आदमी कमरे में था ।

7. ईश्वर है ।

8. आत्मा है । आदि

'सहायक क्रिया' के रूप में 'होना' मुख्य क्रिया का अंग बन कर आती है । यथा :

9. मोहन काम कर रहा है / रहा था ।

10. वह हमारे घर गया है / गया था ।

11.क. मोहन काम कर रहा हो ।

ख. ϕ काम हो रहा हो ।

11 ख. में 'काम' के पश्चात् प्रयुक्त 'हो' मुख्य क्रिया के रूप में आया है जबकि 'रहा' के पश्चात् 'हो' का प्रयोग सहायक क्रिया के रूप में है ।

''संयुक्त क्रिया' के रूप में भी 'होना' का प्रयोग प्राप्त है । यथा:

12. अच्छा होना

13. खड़ा होना । आदि

कृदंत विशेषण रूप में (क्रियार्थक विशेषण)[7]

14. लड़के आ रहे हैं । → 14क. आते हुए लड़के

15. लड़के गा रहे हैं । → 15.क गाते हुए लड़के

16. लोग भाग रहे हैं । → 16क. भागते हुए लोग

क्रिया विशेषण रूप में

17. उसने हंसते हुए प्रवेश किया ।

18. सब कुछ जानते हुए भी उसने झूठ बोला ।

संबंधकारक वाक्य-रचना के रूप में :

19. मुझे बुखार है ।

20. राम के पास पेंसिल है ।

21. उसकी तीन बहिने हैं ।

ऐसे वाक्यों में 'हो' क्रिया अंग्रेजी के 'has' शब्द के रूप में प्रयुक्त होती है ।

3

< +वर्तमान> में 'होना' क्रिया के साथ 'नहीं', नकारात्मक निपात प्रयुक्त होने पर सहायक क्रिया के रूप में उसका ोप ो जाता है :

22. मेरा मित्र स्कूल में पढ़ाता है । =>
मेरा मित्र स्कूल में नहीं पढ़ाता ϕ ।

23. क्या आप खाना खा रहे हैं ? =>
नहीं, मैं खाना नहीं खा रहा ϕ ।

किंतु जब 'होना' अस्तित्ववाचक रूप में आता है तो उसका लोप नहीं होता; क्योंकि ऐसी स्थिति में वह मुख्य क्रिया का कार्य संपादन करता है ।
उदाहरणार्थ :

24. (क) ईश्वर है ।
*(ख) ईश्वर नहीं ।
(ग) ईश्वर नहीं है ।

25. (क) पेड़ है ।

*(ख) पेड़ नहीं ।

(ग) पेड़ नहीं है ।

वाक्य 24 (ख) और 25(ख) मात्र इसी रूप में स्वीकार्य नहीं हैं ।

दो वस्तुओं, व्यक्तियों आदि की जब परस्पर तुलना की जाती है तो उस स्थिति में भी वाक्य की आभ्यंतर संरचना में 'होना' क्रिया का एक बार लोप हो जाता है । उदाहरणार्थ :

26. मोहन सोहन से ज्यादा होशियार है ।[8]

वस्तुत: यह वाक्य दो वाक्यों के योग से बना है :

27. मोहन होशियार है ।

28. सोहन होशियार है ।

तुलना के समय प्रथम 'है' का लोप हो जाता है ।

इनके अतिरिक्त 'होना' क्रिया 'रहा' के अर्थ में भी प्रयुक्त होती है । जैसे :

29. यह रहे आपके कपड़े ।

अंत में होना से संबंधित डॉ० काचरू द्वारा उठाए गए तीन वाक्यों पर कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहूँगा । वाक्य है :

30. वह उसके साथ हो लिया।

31. मैं अभी बाजार से होकर आता हूँ।

32. गाड़ी बनारस से होती हुई इलाहाबाद जाती है।[10]

तीनों वाक्यों में होना क्रिया का लाक्षणिक प्रयोग है। पहले (30) वाक्यों में 'हो' मुख्य क्रिया है एवं 'लिया' रंजक क्रिया है। गुरुजी के अनुसार इसे 'अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदंत [11] की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरे (31) वाक्य में भी 'हो' मुख्य क्रिया है। यहाँ इसका अर्थ 'to be/to exist' है। इस वाक्य का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है——

(क) मैं बाजार में हो (ऊंगा)।

(ख) अभी मैं यहाँ आता हूँ।

इन दोनों वाक्यों के संयोग से उक्त वाक्य की रचना हुई है। गुरुजी ने ऐसे वाक्यों को पूर्वकालिक कृदंत[12] की संज्ञा प्रदान की है। उक्त वाक्य में (क) क्रिया, सर्वदा (ख) उपवाक्य की क्रिया के पूर्व की घटना बनकर आती है। उनके अनुसार तीसरा वाक्य (32) वर्तमानकालिक कृदंत[13] का उदाहरण है। यह वर्तमानकालिक कृदंत विशेषण विशेष्यनिष्ठ[14] होकर क्रिया की विशेषता का संकेत करता है।

5

हिंदी की अन्य क्रियाओं से 'होना' क्रिया का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इसके प्रयोग के तीन भेदक गुण स्पष्टतः उभर कर सामने आते हैं :

1. हिंदी में यही एकमात्र ऐसी क्रिया है जिसका प्रयोग सहायक एवं मुख्य क्रिया के रूप में होता है । इन दोनों रूपों में इसका प्रयोग दोनों कालों— <+वर्तमान> एवं <–वर्तमान> —में हो सकता है ।
2. मुख्य क्रिया के रूप में इसके दो भिन्न प्रकार्य हैं : (क) विधेय के रूप में एवं (ख) क्रियापद के रूप में । एवं
3. इससे पूर्व कोई रंजक नहीं हो सकता ।

6

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिंदी की 'होना' क्रिया एक ओर मुख्य क्रिया, सहायक क्रिया, रंजक क्रिया, संयुक्त क्रिया आदि रूपों में प्राप्त है तो दूसरी ओर वचन, पुरुष, लिंग, विधि आदि से भी संबद्ध है। ऐतिहासिक व्याकरण, रूपिम विज्ञान एवं वाक्य-संरचना की दृष्टि से भी यह विविध रूपा है। ❁

पाद टिप्पणियाँ :

1. 'होना' के इस रूप का अध्ययन इस निबंध में नहीं किया गया है ।

2. ऐतिहासिक व्याकरण एवं व्युत्पत्ति के आधार पर 'है', 'था' एवं 'होना' को यद्यपि अलग-अलग धातु रूपों में स्वीकार किया गया है–'होना' : √भू से, "है" √अस से, एवं 'था' √स्था से–तथापि समकालिक अध्ययन के लिए, काल-रूप में यहाँ उनको एक दूसरे से संबंधित स्वीकार कर लिया गया है ।

विशेष अध्ययन के लिए देखिए : वाजपेयी, (सं० 2027 : 395–96 एवं० 412)

3. यहाँ <–वर्तमान> का प्रयोग 'भूतकाल' के अर्थ में किया जा रहा है ।

4. <+काल> 'भविष्यत्काल' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ।

5. काचरू : (1966 : 91) एवं (1968 : 41), ने वर्तमान एवं भूत के लिए क्रमशः 'है' तथा 'था' रूपों को स्वीकार किया है। उनके अनुसार —

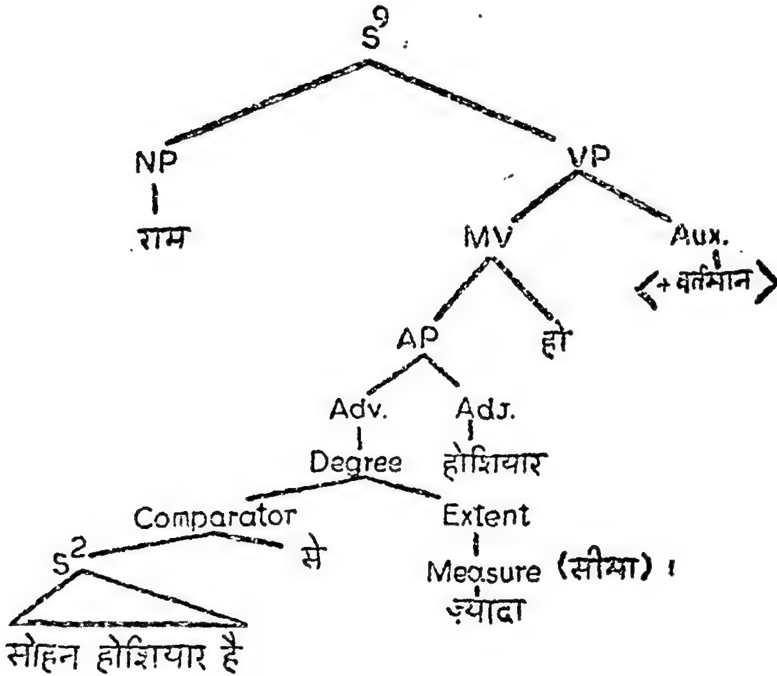
काल→हो+ [वर्तमान] = है
         [भूत] = था

किंतु 'था' में '–आ' लिंगवाचक (पुल्लिंग) प्रत्यय है एवं 'है' में '–ए' वचन वाचक (एकवचन) प्रत्यय है। अतः <+वर्तमान> का सूचक 'ह' एवं <–वर्तमान> का सूचक 'थ' अधिक उपयुक्त है ।

6. अपूर्ण नित्य पक्ष का सूचक प्रत्यय –त– और इच्छार्थक विधि का सूचक '–त–' प्रत्यय एक नहीं हैं।

7. "The imperfect and perfect participle forms of a class of Hindi Verbs function as verbal adjective, in transforming verb to adjectives, the past participle from **hua** of **hona** is said to function as an adjectivizer". Kachru, (1966:52).

8.



9. S : Sentence वाक्य NP : Noun Phrase संज्ञा पदबंध VP : Verb Phrase क्रिया पदबंध MV : Main Verb मुख्य क्रिया Aux : Auxiliary सहायक क्रिया Comp : Comparator तुलना आदि।

10. काचरु (1966 : 109)

11. गुरु (सं० 2027 : 477)

12. पूर्वकालिक कृदंत अव्यय से बहुधा मुख्य क्रिया के पहले होने वाले व्यापार की समाप्ति का बोध होता है। गुरु (2027 : 275)

13. गुरु (सं० 2027 : 475)

14. गुरु (सं० 2027 : 475)

संदर्भ सूची

1. Kachru, Yamuna 1966 An Introduction to Hindi Syntax, Univ. of Illinois Urbana.

   1968 "The Copula in Hindi", paper in the Verb 'BE' and its Synonyms, Part 2, Ed. by John W. H. Verhaar.

   D. Reidel Publishing Company Dordreht Holland.

2. Kellogg, S.H. 1955 Reprint. A Grammar of the Hindi Language.

   Routledge & Kegan Paul Ltd., London.

3. गुरु, कामताप्रसाद 1966 हिंदी व्याकरण, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

4. Behl, K.C. 1964 A Study in the Transformational Analysis of Hindi Verbs.

   Deptt. of South Asian Language & Area Centre, University of Chicago (Mimeographed).

5. वाजपेयी, किशोरीदास 1966 हिंदी शब्दानुशासन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

17—7 G.H.D. (ND)/72

'लगना' क्रिया*

विजय गंभीर

लैकाफ़[1] के अनुसार प्रत्येक क्रिया या तो स्थिरात्मक क्रिया होती है या अस्थिरात्मक क्रिया। अर्थ और प्रकार्य के धरातल पर क्रियाओं के ये दो विभेद हैं। ये दोनों रूप एक ही क्रिया में नहीं पाए जाते। यह नियम संसार की सभी भाषाओं पर लागू होता है। इस दृष्टि से हिंदी की कुछ क्रियाएँ स्थिरात्मक सिद्ध होती हैं और कुछ अस्थिरात्मक। उदाहरण के लिए सकना, होना, भूलना, आदि क्रियाएं स्थिरात्मक हैं, जबकि समझना, देखना, बनाना आदि क्रियाएँ अस्थिरात्मक की श्रेणी में आती हैं।

अब प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्थिरात्मक क्रिया है क्या? ऐसी कौन-सी विशेषताए हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि कोई क्रिया-विशेष स्थिरात्मक है। किसी क्रिया को स्थिरात्मक क्रिया के रूप में वर्गीकृत करने से पहले यह देखना होगा कि उसमें निम्नलिखित सभी विशेषताएँ हैं या नहीं।

(1) स्थिरात्मक क्रिया का सही अर्थों में आज्ञार्थक रूप नहीं बन सकता। सही आज्ञार्थक का मतलब है कि अर्थ की दृष्टि से वह सचमुच ही आज्ञापरक हो। जैसे,

(तुम) जाओ
(तुम) देखो
(तुम) समझो। आदि।

ये सब रूप सही आज्ञार्थक होने का सामर्थ्य रखते हैं। इसके विपरीत आगे लिखित उदाहरणों पर ध्यान दीजिए :—

---

*इस विषय के सुझाव से लेकर समाप्ति-पर्यंत मार्गदर्शन का श्रेय डॉ० रवींद्र श्रीवास्तव को है।

तुम जा सको

तुम होवो

तुम भूलो

इन वाक्यों में सको, होओ और भूलो अर्थ की दृष्टि से सही आज्ञार्थक नहीं हैं। इनमें सिर्फ इच्छा या प्रार्थना का भाव ही उद्दिष्ट है।

(2) स्थिरात्मक क्रिया का प्रेरणार्थक रूप नहीं बन सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि *'मैंने उसको जा सकवाया' या *'मैंने उसे जा सका या'। 'काम होता है' वाक्य का प्रेरणार्थक रूप *'काम हुवाया' गलत है। दूसरी ओर अस्थिरात्मक क्रिया का प्रेरणार्थक रूप बन सकता है, जैसे, 'वह समझा' का प्रेरणार्थक रूप होगा — 'मैंने उसे समझाया / समझवाया'। इसी तरह से 'उसने देखा' का प्रेरणार्थक रूप 'मैंने उसे दिखाया / दिखलाया' बिल्कुल सही है।

'समझना' के समानांतर एक दूसरी हिंदी की क्रिया है 'जानना'। 'समझना' अस्थिरात्मक क्रिया है परंतु 'जानना' स्थिरात्मक है। जानना का सही आज्ञार्थक या प्रेरणार्थक रूप नहीं बन सकता, जैसा कि नीचे दिए उदाहरणों से स्पष्ट है :—

*(तुम) जानो

(तुम) समझो

* (तुम) उसे जनाओ

(तुम) उसे समझाओ

3. स्थिरात्मक क्रिया का सक्रिय कर्ता नहीं होता। सकना और होना आदि क्रियाओं का व्याकरणिक कर्ता मूल में प्रायः भोक्ता संप्रदान होता है। (सक्रिय कर्ता और भोक्ता संप्रदान की संकल्पना फ़िलमोर[2] के कारक सिद्धांत के अनुसरण पर है।)

इसके विपरीत अस्थिरात्मक क्रियाओं का व्याकरणिक कर्ता सक्रिय कर्ता भी हो सकता है।

(1) वह यह जानता है कि दो और दो चार होते हैं।

(2) वह यह समझता है कि दो और दो चार होते हैं।

वाक्य (1) और (2) दोनों का व्याकरणिक कर्ता 'वह' ही है। पर (1) का 'वह' भोक्ता संप्रदान है जबकि (2) का 'वह' सक्रिय कर्ता।

ऊपर दिए गए तथ्यों के आधार पर भी यही सिद्ध होता है।

* उसको यह जनाओ कि दो और दो चार होते हैं।

---

* अप्रयोगार्ह वाक्यों को तारांकित किया गया है।

उसको यह समझाओ कि दो और दो चार होते हैं।

क्या 'लगना' स्थिरात्मक क्रिया है ?

स्थिरात्मक क्रिया से क्या अभिप्राय है इस पर विचार करने के उपरांत हमें देखना है कि 'लगना' स्थिरात्मक क्रिया है या नहीं। इसमें वे सब अनिवार्यताएँ हैं या नहीं जो किसी स्थिरात्मक क्रिया में होनी चाहिए। आगे हम इसी पर विचार करेंगे।

प्रश्न उठता है कि क्या 'लगना' क्रिया से सही आज्ञार्थक बन सकता है। क्या हम कह सकते हैं कि 'तुम सुंदर लगो' या 'आप ऐसे लगो'। इन वाक्यों में 'लगो' का प्रयोग तो एकदम सही है, पर ये अभिव्यक्तियाँ आज्ञापरक नहीं हैं, क्योंकि किसी को यह आज्ञा नहीं दी जा सकती कि वह सुंदर लगे। 'सुंदर लगो' में सुंदर लगना या न लगना किसी के बस में नहीं है। जो चीज़ कर्ता के बस में नहीं है उसके बारे में आज्ञा कैसे दी जा सकती है? हम यह तो कह सकते हैं कि 'तुम सुंदर लग रहे हो' लेकिन *'तुम सुंदर लगो', *'तुम सभ्य लगो' आदि रूप व्यवहार्य नहीं हैं। ऐसे वाक्यों में एक प्रकार की इच्छाभिव्यक्ति ही मानी जा सकती है। जैसे 'मेरी इच्छा है कि तुम सुंदर लगो' या 'मैं चाहता हूँ कि तुम सुंदर लगो', लेकिन आज्ञार्थक रूप में ऐसा कहना संभव नहीं है। अतः स्पष्ट है कि 'लगना' क्रिया के इन प्रयोगों में सही आज्ञार्थक रूप संभव नहीं है।

जिन अर्थों में 'लगना' क्रिया का प्रयोग ऊपर हुआ है, उनका प्रेरणार्थक रूप भी नहीं बन सकता। उदाहरणतया 'तुम अच्छे लग रहे हो' का प्रेरणार्थक रूप *'तुम अच्छे लगा / लगवा रहे हो' नहीं हो सकता।

स्थिरात्मक क्रियाएँ कारक संबंधों में सक्रिय कर्ता को न लेकर भोक्ता संप्रदान को लेती हैं। 'लगना' भी ऐसी ही एक क्रिया है। कुछ उदाहरण लीजिये :—

मुझे लगता है कि वे आज नहीं आएँगे।

मुझे लगा कि कमरे में कोई घुसा है।

आपको क्या लगता है —लड़ाई बंद होगी या नहीं ?

इन उपर्युक्त वाक्यों में 'लगना' क्रिया के साथ संबद्ध संज्ञा-रूप सक्रिय कर्ता न होकर भोक्ता संप्रदान ही है। इस प्रकार हमने देखा कि 'लगना' क्रिया में स्थिरात्मक क्रिया के सभी गुण पाए जाते हैं। इससे न तो सही आज्ञार्थक बन सकता है और न ही प्रेरणार्थक। इसका कर्ता भी सक्रिय नहीं होता, इस बात को और भी स्पष्ट रूप से देखने के लिए हम दो उदाहरण ले सकते हैं जिन्हें श्रीमती काचरु[3] ने अपनी पुस्तक में लिया है —

राम श्याम को मूर्ख लगता है।

राम श्याम को मूर्ख समझता है।

पहले वाक्य में मूर्ख कौन है? राम। दूसरे वाक्य में मूर्ख कौन है? श्याम। दोनों वाक्यों में व्याकरणिक कर्ता 'राम' है। पहले वाक्य में श्याम भोक्ता संप्रदान है, लेकिन दूसरे में श्याम कर्म है। पहले वाक्य में क्रिया 'लगना' है जो कि स्थिरात्मक क्रिया है। इसलिए उसका कर्ता सक्रिय नहीं है। क्योंकि सक्रिय नहीं है इसलिए उससे प्रेरणार्थक रूप भी नहीं बन सकता। दूसरे वाक्य में क्रिया 'समझना' है। यह स्थिरात्मक क्रिया नहीं है, अस्थिरात्मक है। इसका मूल कर्ता सक्रिय है। इसलिए इसका प्रेरणार्थक रूप बन सकता है।

फिलमोर के कारण सिद्धांत के आधार पर 'लगना' और 'समझना' क्रियाओं की संरचना निम्नलिखित होगी :—

लगना
जानना } (————O+D)

'समझना' (————O+A)

संकेत

A=Agentive=(सक्रिय) कर्ता
O=Objective=कर्म
D=Dative=(भोक्ता) संप्रदान

'लगना' क्रिया के कारण पहले वाक्य में **श्याम** भोक्ता संप्रदान है और **राम** कर्म। दूसरे वाक्य में राम सक्रिय (कर्ता) है और श्याम कर्म। परसर्ग के रूप में 'को' एक ओर भोक्ता संप्रदान के लिए भी हिंदी में प्रयुक्त हो सकता है और दूसरी ओर कर्म के लिए भी।

ऊपर दिए गए उदाहरणों के समानांतर 'लगना' के कुछ उदाहरण लें—

दीवार पर तस्वीर लगी है।

लिफ़ाफ़े पर टिकट लगी है।

संदूक में ताला लगा है।

इन वाक्यों में व्याकरणिक कर्ता क्रमश: 'तस्वीर', 'टिकट' और 'ताला' है, जो कि मूल में कर्म हैं। इन वाक्यों में मूल कर्ता का लोप है। मतलब यह है कि यहाँ आकांक्षा है कि किसी ने तस्वीर, टिकट और ताला लगाया है। इसलिए हम इनमें सक्रिय कर्ता जोड़कर वाक्य बना सकते हैं और इन वाक्यों के प्रेरणार्थक रूप भी बना सकते हैं, जैसे :—

मोहन दीवार पर तस्वीर लगा/लगवा रहा है।

मोहन लिफाफ़े पर टिकट लगा/लगवा रहा है।

मोहन संदूक में ताला लगा/लगवा रहा है।

'लगना' क्रिया के इस प्रयोग में आज्ञार्थक रूप भी संभव है। जैसे :—

दीवार पर तस्वीर लगाओ।

लिफाफे पर टिकट लगाओ।

संदूक में ताला लगाओ।

अतः निष्कर्ष यह निकला कि 'लगना' क्रिया के दोनों रूप हैं : स्थिरात्मक और अस्थिरात्मक । पहली क्रिया को हम लगना$_1$ और दूसरी को लगना$_2$ कह सकते हैं। 'दीवार पर तस्वीर लगी है' वाक्य में 'लगना' वस्तुतः मूल सकर्मक क्रिया 'लगाना' का ही व्युत्पन्न अकर्मक रूप है। अर्थात् '(किसी ने) दीवार पर तस्वीर लगाई है' का ही अकर्मक रूप है 'दीवार पर तस्वीर लगी है'। अतः यह (लगना$_2$) पहली क्रिया लगना (लगना$_1$) से केवल स्वन-साम्य ही रखता है। अर्थ और व्याकरण कोटि की दृष्टि से ये दोनों भिन्न हैं। अकर्मक रूप में 'लगना$_2$' मूल प्रकृति में अस्थिरात्मक है।

1. 'लगना'$_1$ के मुख्य क्रिया के रूप में विभिन्न अर्थों में कुछ प्रयोग

क. कटी हुई ऊँगली पर **नमक लग** रहा है।

ख. डाक्टर ने बताया है कि बच्चे को **लू लग** गई है।

ग. उसको तो ऐसा **रोग लगा** कि बस उसकी जान ही ले बैठा।

घ. बस में बैठे-बैठे मेरी **आँख लग** गई।

ङ. तुम्हें कितना ही खिला लो, लेकिन तुम्हें कुछ नहीं **लगता**, वैसे के वैसे ही दुबले हो।

च. यह रोग काफ़ी पुराना है, इसलिए **लगकर** इलाज करना पड़ेगा।

छ. इस समय जबकि वह दुखी है तुम्हें **लगती** हुई बात नहीं कहनी चाहिए ।

ज. नंगे पांव मत घूमो, पैर में **काँटा लग** जाएगा।

झ. मेरा ख्याल है यह चाबी मेरी कार को जरूर **लग** जाएगी।

ञ. अगले महीने की पहली तारीख को मुझे **बीसवाँ साल लगेगा**।

ट. कल रात दस बजे से **चंद्रग्रहण लगेगा**।

ठ. मुझे **गर्मी लग** रही है।

ड़. पेड़ पर **फल लगे** हैं।

ड. आँच तेज होने की वजह से **दाल लग** गई है।

ण. अलमारी में **दीमक लग** गई है।

2. लगना$_1$ के सहायक क्रिया के रूप में कुछ प्रयोग

सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त लगना$_1$ के विभिन्न अर्थ नहीं होते। तब लगना$_1$ केवल आरंभ-सूचक होती है। कुछ उदाहरण देखिए—

क. वह रोने लगा।

ख. वह बोलने लगा।

ग. वह कहने लगा।

घ. वह झगड़ने लगा।

3. लगना$_2$ के मुख्य क्रिया के रूप में विभिन्न अर्थों में कुछ प्रयोग

क. (गुरु जी का चित्र सामने वाली दीवार पर लगा दो।) गुरु जी का चित्र सामने वाली दीवार पर लगा है।

ख. (हमने इन दो दरवाजों पर परदे लगाए हैं) इन दो दरवाज़ों पर परदे लगे हैं।

ग. (उसने घाव पर दवा लगवाई है।)
घाव पर दवा लगी है।

घ. (चोर के पीछे पुलिस लगा दो।)
चोर के पीछे पुलिस लगी है।

ङ. (उसने मेरी नौकरी लगवाई।)
मेरी नौकरी लग गई।

च. (वह हर रविवार को यहाँ दूकान लगाता है।)
हर रविवार को यहाँ उसकी दूकान लगती है।

छ. (पान लगा दिए है न!)
पान लग गए हैं न!

ज (वनिए ने शादी में वीस हजार रुपया लगाया था।)
शादी में वीस हज़ार रुपया लगा था।

झ. (मैंने मकान बनवाने में दो साल लगाए थे।)
मकान वनवाने में दो साल लगे थे।

ञ. (मैंने वालों में फूल लगाया था।)
मेरे वालों में फूल लगा था।

ट. (वहू ने घर में ताला लगवाया था।)
घर में ताला लगा था।

ठ. (यहाँ क्यों भीड़ लगा रखी है?)
यहाँ क्यों भीड़ लगी है?

ड (राम की दूकान पर पुलिस का पहरा लगा दिया गया है।)
राम की दूकान पर पुलिस का पहरा लग गया है।

ङ. (मैंने आपका विस्तर लगा दिया है।)
आपका विस्तर लग गया है।

ण. (भई, गाड़ी यहाँ लगा दो, निकालने में सुविधा रहेगी।)
गाड़ी यहाँ लगी है, निकालने में सुविधा रहेगी।

त. (आज मैंने अपनी आँखों में काजल नहीं लगाया।)
आज मेरी आँखों में काजल नहीं लगा है।

4. $लगाना_2$ का सहायक क्रिया के रूप में प्रयोग नहीं होता।

●

पाद टिप्पणियाँ

1. Lakoff George. 1966—Stative adjectives and verbs in English, Harvard University, Report No. NSF-17pp. 1–16.

2. Fillmore, Charles J. 1968. The Case for Case, Universals in Linguistic Theory (ed. by) Emmon Bach and Robert T. Harms, Holt, Rinehart and Winston. 1–18.

3. Kachru, Yamuna, 1966. An Introduction to Hindi Syntax. University of Illinois.

व्याकरण एवं प्रयोग की दृष्टि से 'जाना' क्रिया का विवेचन

कृष्णा चतुर्वेदी

यों सामान्यतः क्रियाहीन वाक्य एवं वाक्यहीन क्रिया बोलचाल की भाषा में असंभव नहीं, किंतु कथन की पूर्ण अभिव्यक्ति एवं व्याकरणिक व्याख्या की दृष्टि से वाक्य में क्रिया का महत्व असंदिग्ध है। इस दृष्टि से क्रिया के अभाव में वाक्य संभव ही नहीं।

सामान्य रूप से क्रिया वाक्य में 'गति' का विधान प्रस्तुत करती है; किंतु अर्थ की गहराई की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ क्रियाएं 'कार्य' की स्थिति अथवा सत्ता का संकेत देती हैं और कुछ इसके अतिरिक्त एक विशिष्ट प्रकार की गतिशीलता का द्योतन करती हैं।

'जाना' क्रिया (धातु √जा से निर्मित) हिंदी की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। निस्संदेह विश्लेषण की दृष्टि से यह क्रिया सापेक्षतया बहुपक्षीय सिद्ध होगी। यह कोषीय शब्द, रंजक शब्द और वाच्य के रूप में व्याकरणिक शब्द—तीनों रूपों में प्रयुक्त होती है। रंजक शब्द के रूप में उसकी अनेक अर्थ-छायाएं देखने को मिलती हैं। 'गति' इसका विशिष्ट संकेतार्थ है। अधिक स्पष्टता से कहें तो एक ओर तो कोषीय अर्थ के रूप में यह विशिष्ट गतिशीलता की व्यंजना करती है और दूसरी ओर रंजक क्रिया के रूप में यह 'कार्य समापन' के आशय को अभिव्यक्त करती है। उदाहरण के लिए निम्न वाक्य देखिए :—

(अ) (1) लड़का जाता है।
(2) लड़का जा रहा है।
(3) काम हो गया।

(आ) खाते जाइए—तीन विभिन्न रूप द्रष्टव्य हैं :

(1) खाते हुए—कृदंतीय विशेषण + √जा

(2) खाकर जाइए—पूर्वकालिक कृदंत + √जा

(3) खाते (और खाते) जाइए—क्रिया + रंजक √जा

खंड (अ) के प्रथम दो वाक्यों में 'गमन' के कार्य का स्वरूप या अवस्था का निर्देश किया गया है; किंतु अंतिम वाक्य में 'कार्य' के समापन की अभिव्यक्ति की गई है।

खंड (आ) की प्रथम दो व्याख्याओं में 'गमन' के मुख्य अर्थ में √जा का प्रयोग हुआ है किंतु तीसरी व्याख्या से स्पष्ट है कि वहाँ वह मूल क्रिया 'खा'—में उस अतिरिक्त अर्थ-छाया का प्रक्षेपण कर रही है जो अर्थ-प्रकृति के अनुसार नित्यताबोधक है।

पूर्ण पक्ष में √जा—धातु √ग–से स्थानापन्न हो जाती है।
उदाहरण के लिए :—

(1) वह जाता है।

(2) वह गया है।

किंतु इसके समानांतर ही निम्न वाक्य रूप-भेद की दृष्टि से विचारणीय हैं —

(1) वह जाता है।

(2) वह गया है।

(3) वह जाएगा।

√जा—के उपरूप √ग—को पूर्ण भविष्यत् के निश्चयार्थ में लगने वाले प्रत्यय '–ग' से भिन्न समझना चाहिए। उपर्युक्त कथन को स्पष्टता की दृष्टि से चित्र रूप में यों प्रस्तुत किया जा सकता है —

'जा–' का उपरूप 'ग₁–'	पूर्ण भविष्यत् में लगने वाला प्रत्यय '–ग'₂
वह गया	वह जाएगा
वह चला गया	वह खाएगा[1]

इसी प्रकार काल रचना की दृष्टि से संभाव्य रूप में भी दोनों 'ग' भिन्न आशय देंगे। यथा—

(1) वह चला गया होगा।

(2) वह गया होगा।

वाच्य की दृष्टि से कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य तीनों ही रूपों में इसका प्रयोग होता है। 'जाना' क्रिया [—ने] है अतः पढ़ना, खाना आदि [+ने] क्रियाओं की भांति पूर्ण पक्ष में वह कर्ता में कर्तृवाच्य सूचक [+ने] परसर्ग को संयुक्त नहीं करती।

उदाहरण के लिए निम्न वाक्य-रचना प्रयोगार्थ को स्पष्ट कर देगी —

(अ) (1) लड़का जाता है ।

(2) लड़की जाती है ।[3]

(आ) (1) लड़का आम खाता है ।

(2) लड़की आम खाती है ।

(3) लड़के ने आम खाया ।

(4) शीला ने आम खाया ।

(इ) (1) लड़का किताव पढ़ता है ।

(2) लड़की किताव पढ़ती है ।

(3) लड़के ने किताव पढ़ी ।

(3) लड़की ने किताव पढ़ी ।

कर्मणि प्रयोग में इस क्रिया का प्रयोग व्याकरणिक शब्द के रूप में होता है । इस संदर्भ म इसका शाब्दिक अर्थ नहीं होता वरन् यह मात्र कर्मवाच्य के प्रकार्य का द्योतन करती है । यथा—

(अ) (1) पुस्तक पढ़ी गई ।

(2) पत्र लिखा गया ।

(आ) (1) यह पुस्तक दसवीं कक्षा में पढ़ाई जाती है ।

(2) इस कलम से पत्र नहीं लिखा जा रहा है ।

ऊपर दिए वाक्यों में क्रिया अपने कर्म के अनुरूप वचन, लिंग, प्रत्यय ग्रहण कर रही है । स्पष्ट है कि कर्मवाच्य क्रिया-प्रयोगों में √जा—का प्रयोग सहकारी क्रिया के रूप में होता है और अपने इस रूप में यह जिस प्रकार का कर्म साथ लेती है, तदनुसार ही इसके लिंग, पुरुष एवं वचन का रूप परिवर्तित होता है । इस संबंध में कुछ अन्य उदाहरण द्रष्टव्य होंगे—

(1) पढ़ने को रोज़-रोज कहा जाता है ।

(2) मुझसे किताव मँगवाई गई है ।

(3) उनसे ग्रंथ लिखवाया गया है ।

(4) उनसे फूल मंगवाए गए हैं ।

भावे प्रयोग में क्रिया अन्य पुरुष, एक वचन व पुल्लिंग रूप लेती है । यथा—

(1) हमसे रहा नहीं जाता।

(2) लड़की से कहा नहीं जाता।

(3) उससे चला न गया।

(4) उनसे कहा न गया।

√जा–से निर्मित क्रिया अपने स्वतंत्र सामान्य रूप में अकर्मक क्रिया है और कर्म की अपेक्षा नहीं रखती; किंतु सहयोगी क्रिया के रूप में उसका सकर्मक रूप क्रिया-संयुक्ति पर निर्भर हो जाता है। तथैव इसमें प्रत्यय भी बदल जाते हैं।

पहले कह आए हैं कि रंजक क्रिया के रूप में 'जाना' क्रिया कई अर्थ-छायाओं को ध्वनित करती है। निम्न उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जाएगी; साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि कर्तारहित वाक्यों में यह एक प्रक्रिया की समाप्ति या पूर्णता की सूचना देने के लिए भी प्रयुक्त होती है।

(अ) (1) लकड़ी कट गई।

(2) कपड़े सूख गए।

(3) काम बिगड़ गया।

(आ) (1) रात कट गई।

(2) हाथ कट गया।

(3) उम्र कट गई।

(4) साथ छूट गया।

(5) सब बीत गया।

ऊपर दिए वाक्यों में से खंड (अ) के प्रथम वाक्य में, लकड़ी का स्वतः कटना संभव नहीं। कार्य-विधान एवं अन्वय की दृष्टि से कर्ता एवं करण की सत्ता (लकड़हारे ने कुल्हाड़ी से लकड़ी काटी) मूल वाक्य में आवश्यक है। किंतु (आ) खंड के प्रथम वाक्य में 'रात' का 'कटना' या 'काटना' क्रिया से कोई सीधा संबंध नहीं है। यहाँ 'कटना' से आशय किसी प्रकार समाप्त होने या बीत जाने से है। इसी प्रकार 'उम्र बीत गई' में नैराश्य भाव की व्यंजना हो रही है। स्पष्ट है कि विवेचन करने पर ऐसे प्रयोग 'कर्ता' या 'करण' या दोनों के लोप की सूचना के अतिरिक्त 'क्रिया' से किसी अन्य अर्थ-ध्वनन की घोषणा करते हैं। खंड (आ) के अंतिम वाक्य में आधार वाक्य किस प्रकार से रूप परिवर्तित कर रहा है, यह भी द्रष्टव्य होगा; यथा —

उन्होंने काम बिगाड़ दिया—आधार वाक्य

=> उनसे काम बिगड़ गया—प्रथम परिवर्तित वाक्य

=> काम बिगड़ गया—द्वितीय परिवर्तित वाक्य

सहकारी क्रिया के रूप में √जा–के कुछ अन्य रूप भी देखे जा सकते हैं। इन्हें संयुक्त क्रिया का नाम दिया जा सकता है। संयुक्त क्रिया के दो रूप संभव हैं।

(1) प्राथमिक क्रिया 'जा'+गौण अन्य क्रिया

(2) प्राथमिक अन्य क्रिया+गौण क्रिया 'जा–'

अपने प्रथम रूप में वह अपनी सहयोगी क्रिया से भाव-वृद्धि पाती है तथा द्वितीय रूप में अन्य क्रिया को भाव-वृद्धि देती है। प्रथम में वह मूल क्रिया है; द्वितीय में सहकारी क्रिया है। उदाहरण के लिए —

(अ) (1) वे जाने लगे–यहाँ क्रिया से कार्य के उपक्रम का आशय व्यक्त हुआ है।

(2) मुझे जाने दो—यहाँ क्रिया में 'आज्ञा' या 'अनुमति' की ध्वनि व्याप्त है।

(3) वह जा गिरी }
(4) वह जा पहुँचा } —यहाँ क्रिया में आकस्मिकता के भाव की व्यंजना हो रही है।

(आ) (1) मर जाओ—यहाँ क्रोधाभिव्यक्ति की गई है।

(2) वे सारे फल खा गए —इस वाक्य में क्रिया द्वारा कार्य-समापन की सूचना व्यंजित है।

(अ) प्रथम प्रकार के वाक्यों के विशद विश्लेषण की यहाँ आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनमें प्राथमिक क्रिया जा— का अर्थ सहकारी अन्य क्रिया पर निर्भर है और तदनुसार ही उसका अर्थ निश्चित होता है।

(आ) द्वितीय प्रकार के उदाहरणों में 'क्रिया की प्रगति की व्यंजना करने वाले प्रयोग' हो सकते हैं जिनमें 'जा' क्रिया गौण होकर आती है; यथा—

(क) (1) वह पढ़ता जाता है।

(2) वह सुनता जाता है।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रयोग भी संभव हैं। यथा —

(ख) अर्थ की पुनरावृत्तिसूचक प्रयोग। निम्न वाक्यों में एक ही प्रकार की शब्द-संयुक्ति दो विभिन्न आशय किस प्रकार दे रही है, यह भी द्रष्टव्य है। पहले वाक्य में 'विज़िट' का आशय अभिव्यक्त हुआ है तथा दूसरे में लाक्षणिक अर्थ प्रमुख हो उठा है तथा अभिधेयार्थ की हानि हुई है।

1. वे यहाँ आते-जाते थे। (अर्थ 'विज़िट' का है।)

2. उनको आता-जाता कुछ नहीं। ('ज्ञान' से आशय है)

संयुक्त क्रियाओं के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त √जा-क्रिया संज्ञा की सहयुति में भी प्रयुक्त होती है। यथा—

(1) गमन करना ।

(2) गवन करना । (ब्रज भाषा में होने वाला प्रयोग)

(3) गौना करना । (गवन> गौना; विवाह के पश्चात् वधू की प्रथम विदा से आशय है ।)

(4) मोल जाना ।

(5) उधार जाना ।

(6) शरण जाना ।

(7) इज्ज़त जाना ।

उपर्युक्त सभी रूपों में रचना की दृष्टि से प्रथम तत्त्व संज्ञा के उपरांत संबंधसूचक या अन्य कारक चिह्न का लोप हुआ है और मूल क्रिया-क्रिया के साथ संज्ञा की संयुक्ति से बनी है । यों अन्वय करें तो——

(क) संज्ञा+जाना

(1) उधार जाना	——उधार के लिए जाना
(2) इज्ज़त जाना	——इज्ज़त का जाना
(3) शरण जाना	——शरण में जाना

(ख) क्रियार्थक संज्ञा+जाना

(1) खाने जाना	——खाने के लिए जाना ।
(2) पढ़ने जाना	——पढ़ने के लिए जाना ।
(3) सोने जाना	——सोने के लिए जाना ।

द्वितीय प्रकार के वाक्यों में क्रियार्थक संज्ञा के साथ 'जाना' की संयुक्ति पर 'ए' परसर्ग संयुक्त होता है और निम्न रूप हो जाते हैं —

खाना > खाने

पढ़ना> पढ़ने

सोना> सोने इत्यादि ।

संयुक्त क्रिया के रूप में √जा—क्रिया दो या दो से अधिक क्रियाओं के साथ भी आती है और इस प्रकार की क्रिया—संयुक्ति वाक्य में संक्षिप्तता के साथ-साथ अर्थ-गौरव की सृष्टि करती है । कभी-कभी अर्थ दुहरे-तिहरे होने लगते हैं । उदाहरण के लिए ये वाक्य द्रष्टव्य होंगे——

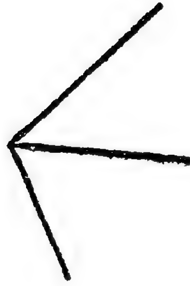
(1) कह जाते तो क्या था



सामान्य अर्थ में 'कहना' के आशय की अभिव्यक्ति

कहकर जाते तो क्या था—दो कार्यों का निर्देश (1) कहना; (2) जाना।

(2) खाते जाइए



खाने के आग्रह की भावना; एक भाव की अभिव्यक्ति; क्रिया-ऐक्य।

खाकर जाना; दो कार्यों का निर्देश (1) खाना, (2) जाना; (कृदंत+क्रिया)

खाते रहिए भाव की व्यंजना; खाना+खाना; दो क्रिया-प्रयोग।

प्रेरणार्थक क्रिया के रूप में √जा—धातु का अपना कोई रूप प्रयुक्त नहीं होता; वह केवल सहकारी क्रिया के रूप में ही आती है और भाव-वृद्धि का आशय देती है। प्रेरणार्थक रूप में √जा—से जवाया* रूप नहीं बनता किंतु 'भिजवाना' क्रिया स्थानापन्न होती है। उदाहरण के लिए—

(1) पत्र गए—आधार वाक्य

(2) पत्र भेजा गया—प्रथम प्रेरणार्थक रूप

(3) पत्र भिजवाया गया—द्वितीय प्रेरणार्थक रूप

अन्य प्रेरणार्थक क्रियाओं के साथ 'जा—'क्रिया भाव-वृद्धि अथवा कार्य संपन्नता का आशय देती है, अन्यत्र कर्मवाच्य सूचक व्याकरणिक शब्द के रूप में प्रयुक्त होती है। यथा—

(1) आया से दूध पिलवाया गया/गया है/गया था।

(2) खाना बनवाया जा रहा है।

(3) खाना बनवाया गया होगा।

(4) खाना बनवाया जाए या नहीं।

(5) खाना बनवाया जाना चाहिए।

(6) खाना बनवाया जाना चाहिए था।

(7) खाना बनवाया जाता होगा ।

(8) खाना बनवाया जा सकता था ।

(9) (उन की आज्ञा पर) खाना बन जाता होगा ।

उक्त प्रयोग सकर्मक एवं अकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं के साथ संभव हैं ; किंतु √जा—का रूप गौण एवं सहकारी ही रहता है ।

अर्थ की आवृत्ति के रूप में भी 'जा–'क्रिया का प्रयोग होता है, यथा–

(1) जा, जा परे हट (दुत्कारने का भाव)

(2) जाओ, जाओ देख लिया तुम्हें । (मान की व्यंजना)

किंतु इन वाक्यों में √जा–क्रिया की व्यंजकता सहयोगी क्रिया पर ही निर्भर करती है ।

'जा'–क्रिया और मुहावरे

सामान्य रूप में 'जा–' क्रिया का प्रयोग सहयोगी कर्ता के स्वरूप (जड़ चेतन, मानव, अमानव, भाव, विचार) की दृष्टि से अर्थ-भेद उत्पन्न कर देता है; ऐसे प्रयोग मुहावरों और कहावतों का रूप-निर्माण भी करते हैं और शैलीगत सौंदर्य की सृष्टि भी । जैसे—

(1) मेरी तो जान जाती है —अवस्था की दयनीयता का कथन

(2) सड़क गाँव जाती है —दिशा का निर्देश

(3) बेचारा मारा गया —सामान्य अर्थ मारा दिया जाना; व्यंजित अर्थ—मुसीबत में पड़ जाना ।

(4) आज तो हम मर गए —थकावट और परेशानी की सूचना

(5) वह आज कट गया —तिरस्कृत हुआ; सामान्य अर्थ में—किसी वस्तु से कट जाना

(6) स्वर्ग गया —मृत्यु की सूचना

(7) वे जाते रहे —मृत्यु की सूचना

(8) चमक जाती रही —नष्ट होने का अर्थ

(9) तुम्हारा क्या जाता है ? —खोने या खर्च होने का अर्थ

(10) दिल बैठा जाता है —मन की खिन्नता या अवसाद की व्यंजना

(11) मुझसे रहा न गया —रोक न पाने की, असमर्थता की सूचना

(12) सब कुछ चुक गया —समाप्ति की सूचना

(13) आया राम गया राम —'गया' विशेषण रूप से कर्ता की अस्थिर स्थिति का संकेत

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'जा–' क्रिया हिंदी की एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण क्रिया है। उसका अपना एक रचना-रूप है और उसके प्रयोग-वैविध्य की भंगिमा भी अपने ही ढंग की है। अन्य क्रियाओं के साथ उसकी सह-युक्ति और उनका चुनाव वक्ता या लेखक के भाषाधिकार, मनोवृत्ति और सामाजिक स्थिति का एक साथ निर्देश देता है। उसके रूप-वैविध्यपूर्ण वहुपक्षीय प्रयोग भाषा में उस क्रिया की प्राचीनता और भाषा के अर्थ-गौरव की एक साथ सूचना देते हैं। ●

पाद-टिप्पणियां :—

1—इस प्रकार व्याकरणिक मैत्नी की दृष्टि से $\sqrt{\text{ग}}$, तथा प्रत्यय 'ग' के रूप इस प्रकार होंगे—

ग_1–(गया) = ग + ϕ + वचन, लिंग प्रत्यय

–ग_2 (जाएगा) = जा + वचन, पुरुष प्रत्यय + ग_2 + वचन, लिंग प्रत्यय

2.—इस संदर्भ में निम्न प्रयोग अग्राह्य कहे जाएंगे —

*(1) मोहन ने गया।

*(2) शीला ने गई।

पंजावी प्रभाववंश दिल्ली के अधिकांश हिंदी-अहिंदी प्राध्यापकों द्वारा बोला जाने वाला 'हमने जाना है' प्रयोग कानों को बड़ा कष्टदायी प्रतीत होता है।

हिंदी क्रियाविशेषण पदबंधों की संरचना

चाँदबाला

हिंदी व्याकरण में 'पदबंध' शब्द की संकल्पना सर्वथा नवीन है। इस संबंध में मुख्य रूप से दो मत हमारे सामने आते हैं। सामान्यत: लोग पदबंध को अँग्रेज़ी 'फ्रेज़' का पर्याय मानते हैं और इस अर्थ में 'फ्रेज़' एक शब्द का भी हो सकता है और एक से अधिक का भी। दूसरा मत डॉ० भोलानाथ तिवारी का है। उनके अनुसार एक से अधिक पदों का वह वाक्येतर अथवा उपवाक्येतर अंश जो किसी वाक्य में एक व्याकरणिक कार्य करे पदबंध है। उदाहरणत:

वहाँ जंगल है।

समुद्र के किनारे स्थित उस सुंदर नगर के चारों ओर जंगल है।

पहले वाक्य में 'वहाँ' स्थान वाचक क्रियाविशेषण है। दूसरे वाक्य में 'समुद्र के किनारे स्थित उस सुंदर नगर के चारों ओर' भी 'वहाँ' की तरह ही स्थान का बोध करा रहा है, अत: यह भी क्रियाविशेषण पद कहा जा सकता है, किंतु दूसरे वाक्य के क्रियाविशेषण में एक से अधिक पद हैं, और वे सारे पद मिलकर एक इकाई हैं, क्योंकि व्याकरण में वे एक ही व्याकरणिक कार्य कर रहे हैं—स्थान का बोध कराने का कार्य, अत: इनकी सामूहिक संज्ञा 'पद' न होकर 'पदबंध' हो सकती है। (भाषा-चिंतन, भोलानाथ तिवारी पृ० 77)।

प्रस्तुत निबंध में हिंदी क्रियाविशेषण पदबंधों की संरचना पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ पदबंध को अँग्रेज़ी 'फ्रेज़' का पर्याय न मान कर उसी रूप में स्वीकार किया गया है, जिसका उल्लेख डॉ० तिवारी ने किया है और जिसमें एक से अधिक पदों का होना अनिवार्य है।

क्रियाविशेषण पदबंध की संरचना के आधारभूत घटक ये हैं — में, पर, से, के लिए, के बाद/के उपरांत एवं पूर्वकालिक कृदंत। इन्हीं के पहल

विभिन्न भाषिक इकाइयों को जोड़कर क्रियाविशेषण पदवंधों की संरचना होती है । रचना के आधार पर इन्हें मुख्य रूप से निम्न वर्गों में रखा जा सकता है ।

(1) संज्ञा पदवंध + परसर्ग (में, से, पर, के लिए, के वाद इत्यादि)

(क) संज्ञा पदवंध + में

सजग कला को ग्रहण करने में हमारी संस्कृति उदार है ।

प्रवंध काव्य के ढांचे में उनके कवित्व का एक मुक्तक आस्वाद ही प्राप्त होता है ।

(ख) संज्ञा पदवंध+से

हिंदी साहित्य के अध्ययन से उन्हें इसका विश्वास हो जाएगा ।

निर्गुणिया संतों के मत से यह सारा विश्व सवद में वँधा है ।

(ग) संज्ञा पदवंध + पर

औषधि साधना के वल पर साधे रहना एक कठिन समस्या हो जाती है ।

इस प्रकार के साहित्य पर शासन द्वारा कानून वनाकर रोक नहीं लगाई जा सकती ।

(घ) संज्ञा पदवंध + के लिए

अपनी उदासी को दूर करने के लिए उसने रेडियो का स्विच खोला ।

विभिन्न विषयों की जानकारी के लिए गहन अध्ययन की आवश्यकता है ।

(च) संज्ञा पदवंध + के वाद/के उपरांत

शादी हो जाने के वाद उसका हुलिया ही वदल गया ।

काफ़ी प्रतीक्षा करने के उपरांत भी उसे निराशा ही हाथ लगी ।

(2) संज्ञा पदवंध+ पूर्वकालिक कृदंत

उसकी अधीरता को लक्ष्य करके पास वैठी मिसेज गुजराल ने कहा ।

सारे दिन की कैद भोगकर मौका पाते ही मेवा कोठरी के वाहर भाग गई ।

(3) संज्ञा पदवंध + निपात (तक)

घर से वाहर जाने तक उसका चेहरा मुरझाया रहा ।

आधी-आधी रात तक मैंने तुम्हारी इंतजार की है ।

(4) संज्ञा पदबंध+ परसर्ग (में, पर, से, को) + पूर्वकालिक कृदंत

(क) संज्ञा पदबंध+ में + पूर्वकालिक कृदंत

अपनी बीन के स्वरों में बंधकर उसने उन्हें नया ही रूप दे दिया है।

चट्टान की ओट में दुबककर किसी मुनासिब जगह पर उनका इंतजार कर सकता था।

(ख) संज्ञा पदबंध + पर + पूर्वकालिक कृदंत

कही हुई बात पर सोचकर वह घबरा कर फिर बोला।

टूटी फूटी बान की खाट पर बैठकर उसे असीम शांति मिली।

(ग) संज्ञा पदबंध + से + पूर्वकालिक कृदंत

ब्रश को साबुन की टिकिया से रगड़कर झाग पैदा कर रहा था।

भाव की उग्रता से डरकर पीछे हटता हुआ कहता गया।

(घ) संज्ञा पदबंध +को + पूर्वकालिक कृदंत

पहले की जिंदगी को भुलाकर नए सिरे से जिंदगी आरंभ कर सकता है।

इसी किस्म की बातों को लेकर हममें जब–तब झड़प हो जाया करती।

(5) संज्ञा पदबंध + निपात + पूर्वकालिक कृदंत

(क) संज्ञा पदबंध + तक + पूर्वकालिक कृदंत

शिक्षा की अंतिम सीढ़ी तक पहुँचकर उसकी हिम्मत खत्म होने लगी।

स्टेशन] के गेट तक जाकर वह वापिस लौट आया।

(ख) संज्ञा पदबंध + निषेध + पूर्वकालिक कृदंत

वह सृष्टि का नियामक न होकर केवल चित् और आनंद का अनंत स्रोत है।

लकड़ी की मेज न बनवाकर स्टील की मेज ही खरीदना ठीक समझा।

(6) संज्ञा पदबंध + परसर्ग + पूर्वकालिक कृदंत

फूल मंदाकिनी की गोद में से लेकर उसका निरीक्षण करने लगा।

लोहे के दरवाजे में से निकलकर ही वह उस तरफ जा सकता था।

(7) संज्ञा पदबंध + परसर्ग (में, से, पर, को) + संज्ञा + पूर्व-कालिक कृदंत

(क) संज्ञा पदबंध + में + संज्ञा + पूर्वकालिक कृदंत

वस्तुओं के अंतस्तल में प्रवेश करके ही कोई निर्णय दिया जा सकता है ।

तत्कालीन लोक साहित्य में प्रतिबिंबित होकर उसका रूप निखर आया ।

(ख) संज्ञा पदबंध + से + संज्ञा + पूर्वकालिक कृदंत

संसार के विषयों से निरपेक्ष होकर वह भक्ति में लग गया ।

जीवनवृत्त लिखने की भावना से प्रेरित होकर ही उसने इस ग्रंथ का निर्माण किया है ।

(ग) संज्ञा पदबंध+ पर+ संज्ञा+ पूर्वकालिक कृदंत

यमुना के तट पर मुरली बजाकर कृष्ण गोपियों को मोहित करते थे ।

पाऊडर के डिब्बे पर पेंट करके तुमने तो उसे नया रूप दे दिया है ।

(घ) संज्ञा+ पदबंध + को + संज्ञा + पूर्वकालिक कृदंत

बसी बसाई गृहस्थी को अकेला छोड़कर वह जंगलों में चला गया ।

शीशे की अलमारी को स्प्रिट लगाकर पोंछने लगा ।

(8) संज्ञा + परसर्ग (में, से, पर, को)+ पूर्वकालिक कृदंत

(क) संज्ञा + में + पूर्वकालिक कृदंत

यह बीमारी अंत में जाकर नितांत घातक सिद्ध होती है।

कार में बैठकर उसने अपना सिर नीचा कर लिया ।

(ख) संज्ञा + से + पूर्वकालिक कृदंत

उधार का पैसा दिवाकर से लेकर मुझे क्यूं दे दिया ।

खाना खाने के बाद कुर्सी से उठकर वाश बेसिन की तरफ गया ।

(ग) संज्ञा+पर+पूर्वकालिक कृदंत

बिस्तर पर लेटकर वह अतीत की स्मृतियों में खो गई ।

तस्वीर को दीवार पर लटकाकर निश्चित हो गया ।

(घ) संज्ञा + को + पूर्वकालिक कृदंत

मां को देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा ।

बुड्ढे को देखकर भी उसने परवाह न की ।

(9) संज्ञा + परसर्ग + परसर्ग + पूर्वकालिक कृदंत

कीड़ में से निकलकर भी कमल की शोभा नष्ट नहीं होती।
दरवाजे में से झाँककर उसने अंदर का सारा दृश्य देखा।

(10) संज्ञा + परसर्ग + संज्ञा + पूर्वकालिक कृदंत

(क) चोरी करने के वाद वह अंधेरे में मुँह छिपाकर भाग गया।
गली में भीड़ देखकर उसका चौंकना स्वाभाविक ही था।

(ख) संज्ञा + से + संज्ञा + पूर्वकालिक कृदंत

ऐहिकता से ऊपर उठकर मानसिक जगत तक पहुँची कविता से प्रगल्भ होकर कहा।

(ग) संज्ञा + पर + संज्ञा + पूर्वकालिक कृदंत

कंधे पर हाथ रखकर समझाने की मुद्रा में वोला।
कपड़े पर पेन्ट करके तुमने तो उसे नया ही रूप दे दिया है।

(घ) संज्ञा+को + संज्ञा + पूर्वकालिक कृदंत

राधा को इशारा करके उसने सारी वात समझा दी।
गुस्से को शांत करके धीमे स्वर से वोली।

(11) संज्ञा पदवंध + परसर्ग+परसर्ग

(क) संज्ञा पदवंध+ में + से

मनुष्य की वहुत-सी कमजोरियों में से ये भी कुछ है।
शहर की गलियों में से जाते हुए मेरा मन वहुत उदास हो जाता है।

(ख) संज्ञा पदवंध + पर + से

घोड़े की पीठ पर से लुढ़क पड़ने की संभावना ही अधिक थी।

(12) संज्ञा पदवंध + निपात + परसर्ग

शांतिनिकेतन की स्थापना ही से देश में खुशी की लहर दौड़ गई।
दूसरों का भला करने ही से मन प्रसन्न रहता है।

(13) विशेषण पदवंध+ से

सारा इंतजाम रईसों की तरह से ही किया गया था।
रुपयों की व्यवस्था वहुत अच्छी तरह से हो गई है।

(14) विशेषण पदवंध+पूर्वकालिक कृदंत

गोली की तरह लुढ़ककर वह सीढ़ियों से नीचे जा गिरी।
काँटों को भी फूलों की सेज-सा मानकर उस पर लेट गया।

(15) विशेषण पदबंध + संज्ञा + परसग

(क) विशेषण पदबंध + संज्ञा + में

थका देने वाली पुनरुक्तियों में वारवार यही कहा गया है
मुक्तक धारा के अंतर्गत आने वाले ग्रंथों में यह स्पष्ट कहा गया है ।

(ख) विशेषण पदबंध + संज्ञा+से

विपत्ति रूपी ग्रीष्म की भीषण ऊष्मा से मेरे मन को कहीं भी चैन नहीं ।

मंदिर के सामने वाले वृक्षों से कुछ फल व पत्ते तोड़ लिए।

(ग) विशेषण पदबंध + संज्ञा + पर

बंबई जाने वाली सड़क पर लुटेरों का भय अक्सर बना रहता है ।
सुनहरी जिल्दवाली किताब पर फूल रखकर चला गया ।

(16) विशेषण पदबंध+संज्ञा + पूर्वकालिक कृदंत

वह तो उसे पगार पाने वाला गुलाम भी नहीं समझता ।
कृष्ण का सा रूप बनाकर तुम वास्तविक कृष्ण तो नहीं हो जाओगे ।

(17) अव्यय पदबंध +परसर्ग (स)

दरवाजे की ओर से उसे एक आकृति आती दिखाई दी ।
उसे वहाँ सरकार की तरफ से बहुत ज़्यादा वजीफा मिल रहा है ।

(18) अव्यय पदबंध+पूर्वकालिक कृदंत

मेज की ओर जाकर उसने सभी चीज़ों को लक्ष्य करते हुए पूछा ।

दीवार की तरफ देखकर वह लगातार बोले जा रहा था ।

उपर्युक्त विश्लेपण से स्पष्ट है कि वाक्य में सर्वनाम पदबंध एवं क्रियापदबंध की अपेक्षा संज्ञा पदबंध, विशेपण पदबंध एवं क्रियाविशेषण पदबंध का प्रयोग ही अधिक होता है ।

क्रियापरक: एक व्याकरणिक कोटि

अशोक कालरा

सुधा कालरा

क्रिया और विशेषण के संबंधों की चर्चा करते हुए कहा जा सकता है कि विश्लेषण के एक स्तर पर ये दोनों किसी एक वर्ग का निर्माण करते हैं। प्रकार्य की दृष्टि से इस वर्ग की सार्थकता इस बात में निहित है कि कभी विशेषण भी क्रिया की भाँति (क्रिया के अभाव में) विधेय का मुख्य अंग बन जाता है।

विशेषण और क्रिया की समानांतर स्थिति को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है--

1. जो व्याकरणिक विभेद क्रिया में लक्षित होते हैं वे ही विशेषण में भी। यथा —

(क) ± स्थित्यात्मकता

(ख) ± चेतनता ग्रहण करने की शक्ति यदि क्रिया में है तो यही अभिलक्षण विशेषण में भी उपलब्ध है।

2. मुख्य क्रिया के अभाव में विशेषण क्रियावत् सिद्ध हो जाता है।

प्रस्तुत लेख में इन दोनों दृष्टियों से विशेषण के प्रकार्यों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रत्येक सामान्य वाक्य में एक उद्देश्य और एक विधेय होता है। इस विधय को क्रिया माना गया है। यदि यह कहा जाए कि वाक्य में क्रियापरक अनिवार्य है तो उन वाक्यों की समस्या भी सुलझ जाएगी जिनमें क्रियापरक क्रिया न होकर (–क्रिया) अर्थात् विशेषण होता है। ऐसी रचनाओं और अस्तित्वबोधक रचनाओं का अंतर स्पष्ट करना भी अनिवार्य है। यथा–

1. सीमा है।

2. सीमा सुंदर है।

पहले वाक्य में सीमा उद्देश्य है और है विधेय, जो एक ओर अर्थ की दृष्टि से अस्तित्वसूचक है अर्थात् मुख्य क्रिया है, दूसरी ओर वर्तमान कालसूचक व्याकरणिक कोटि भी है। किंतु दूसरे वाक्य में विधेय का मुख्य दायित्व सुंदर पर है तथा है केवल वर्तमानकालसूचक व्याकरणिक कोटि ही है। इस वाक्य में सुंदर (+क्रियापरक, —क्रिया) = विशेषण है।

इस तथ्य को सूत्र रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

[क्रियापरक] ⟶ [±क्रिया]
[—क्रिया] = [विशेषण]
[क्रियापरक] ⟶ [±स्थित्यात्मक]

इस सूत्र को क्रियाओं और विशेषणों के प्रयोग देते हुए विस्तार से स्पष्ट किया जा सकता है।

दौड़ना समझना	[+क्रियापरक +क्रिया —स्थित्यात्मक]	ईमानदार शालीन	[+क्रियापरक —क्रिया —स्थित्यात्मक]
लगना जानना	[+क्रियापरक +क्रिया +स्थित्यात्मक]	दुखी छोटा	[+क्रियापरक —क्रिया +स्थित्यात्मक]

[—स्थित्यात्मक, +क्रियापरक] विधेय में ही आज्ञार्थक और प्रेरणार्थक संभव है, [+स्थित्यात्मक, +क्रियापरक] में नहीं। यथा—

1. लड़का दौड़ता है।
2. मैं यह बात समझता हूँ। } [+क्रिया —स्थित्यात्मक]

3. सीमा शालीन है।
4. अनिल ईमानदार है। } [—क्रिया —स्थित्यात्मक]

प्रस्तुत क्रियापरकों के आज्ञार्थक और प्रेरणार्थक इस प्रकार होंगे :—

आज्ञार्थक	प्रेरणार्थक
1. तुम दौड़ो।	अध्यापक लड़कों को दौड़ाता है।
2. बात समझो।	अध्यापक छात्रों को समझाता है।
3. शालीन बनो।	बच्चों को शालीन बनाओ।
4. ईमानदार बनो।	लड़कों को ईमानदार बनाओ।

इसके विपरीत [+ स्थित्यात्मक, + क्रियापरक] में आज्ञार्थक और प्रेरणार्थक संभव नहीं होंगे।

1. मुझे अनिल अच्छा लगता है।
2. मैं सब बातें जानती हूँ। } [+क्रिया +स्थित्यात्मक]

3. सीमा दुखी है।
4. अनिल छोटा है। } [—क्रिया, +स्थित्यात्मक]

इनके समानांतर आज्ञार्थक या प्रेरणार्थक वाक्य बनाना संभव नहीं है।

आज्ञार्थक	प्रेरणार्थक
*1. तुम अच्छे लगो।	* उसे अच्छा लगवाओ।
*2. यह बात जानो।	* यह बात जनवाओ।
*3. दुखी होओ।	* दुखी करवाओ।
*4. छोटे होओ।	* छोटे करवाओ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि [±स्थित्यात्मक] के धरातल पर [+क्रियापरक, ±क्रिया] समानांतर हैं।

[± सजीव] ग्रहण करने की शक्ति के आधार पर भी क्रिया और विशेषण समानांतर हैं।

पढ़ना, बैठना : [+क्रियापरक, +क्रिया, +सजीव]   ज्ञानी, सच्चा [+क्रियापरक, —क्रिया, +सजीव]

टूटना, उखड़ना [+क्रियापरक, +क्रिया, —सजीव]   मीठा, ऊँचा [+क्रियापरक, —क्रिया, —सजीव]

इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं:—

1. सीमा पढ़ती है।
2. अनिल यहाँ बैठता है। } [+क्रिया, +सजीव]
3. सीमा ज्ञानी है।
4. अनिल सच्चा है। } [—क्रिया, +सजीव]
5. प्लेटें टूट गई।
6. वृक्ष उखड़ गए। } [+क्रिया, —सजीव]
7. आम मीठा है।
8. पर्वत ऊँचा है। } [—क्रिया, —सजीव]

इन वाक्यों में [±सजीव] प्रभेदक अभिलक्षण का मूल्य बदलना संभव नहीं है।

निम्नलिखित वाक्य असंगत होंगे :—

*1. सीमा टूट गई है।

*2. अनिल ऊँचा है।

*3. प्लेटें पढ़ती हैं।

*4. आम ज्ञानी है।

कारक व्याकरण में फ़िलमोर (1968) ने विधेय-विशेषण को क्रिया के रूप में ही स्वीकार किया है।

1—The room is hot.
2—It is hot in the room.

फ़िलमोर ने माना है कि प्रथम वाक्य मूल वाक्य है और दूसरा इसी का अन्व-यांतर है। इन दोनों का कारक-बंध भी एक ही है जो इस प्रकार है :— (—L); V = hot.

अँग्रेज़ी के समान हिंदी में इस संकल्पना की दो अभिव्यक्तियाँ संभव नहीं हैं। प्रथम वाक्य का अनुवाद होगा।

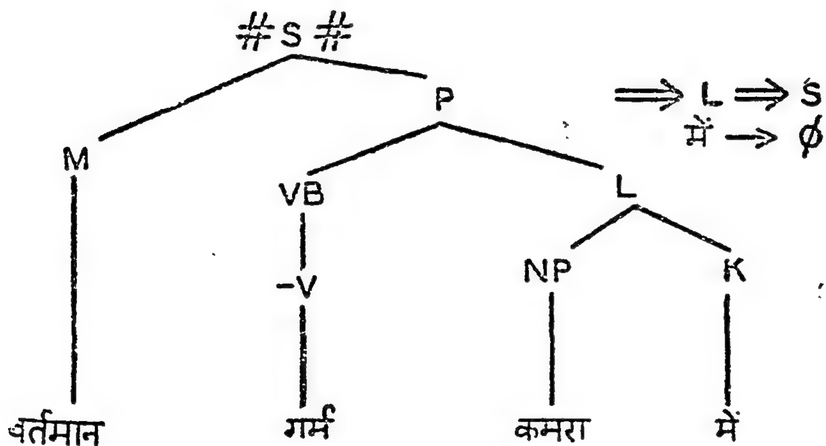
1a. कमरा गर्म है।

किंतु दूसरे वाक्य के लिए यह नहीं कहा जा सकता।

*2a. यह कमरे में गर्म है।

"कमरे में गर्मी है" इस वाक्य का अनुवाद नहीं है वरन् अँग्रेज़ी के इस वाक्य " There is heat in the room " के समानांतर है जो "कमरा गर्म है" के समान न होकर एक भिन्न संरचना है।

"कमरा गर्म है" इस वाक्य को कारक व्याकरण के अनुसार इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।



रचनांतरण नियमों से जब [L=Locative अर्थात् अधिकरण] व्याकरणिक कर्ता बन जाता है तब कारक चिह्न "में" का लोप हो जाता है।

इसी प्रकार कुछ अन्य क्रियापरक वाक्य लिए जा सकते हैं।

"यह सच है कि सीमा दुखी है।"

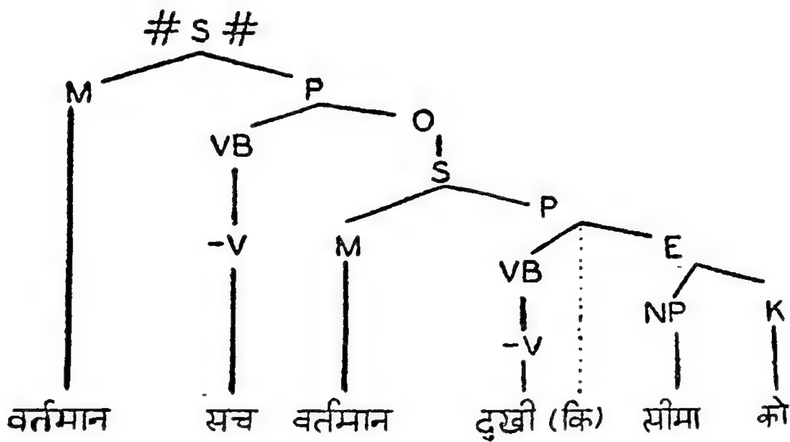
इस वाक्य में एक मुख्य वाक्य है, दूसरा आश्रित।

मुख्य वाक्य——यह सच है।

आश्रित वाक्य——सीमा दुखी है।

यह (सीमा दुखी है) सच है।

यह सच है कि सीमा दुखी है।



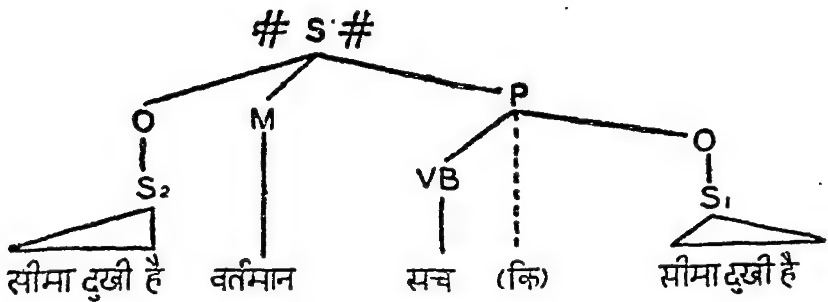
आश्रित वाक्य में व्याकरणिक कर्ता सीमा होने के कारण रचनांतरण नियमों से कारक चिह्न को का लोप हो जाएगा और वाह्य संरचना में यह वाक्य उपलब्ध होगा।

सच है कि सीमा दुखी है।

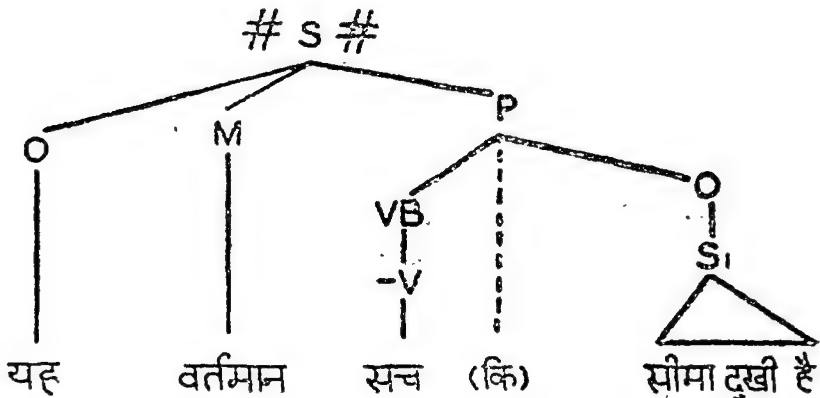
उपर्युक्त वाक्य में सर्वनाम "यह" प्राप्त करने के लिए कुछ रचनांतरण नियमों का प्रयोग करना पड़ेगा जो इस क्रम में है।

1. अनुकृति नियम
2. सर्वनामीकरण
3. M के पहले क्रियापरक VB ले आना

4. क्रियापरक के वाद यदि (O=Object अर्थात् कर्म), वाक्य के रूप में हो तो विकल्प से "कि" का प्रयोग करना। इस प्रकार अनुकृति नियम से यह वाक्य प्राप्त होगा।



दूसरे नियम से S_2 "सीमा दुखी है" का सर्वनामीकरण होकर "यह" प्राप्त होगा।



सर्वनामीकरण के उपरांत तीसरे और चौथे नियमों के प्रयोग से वाह्‌य संरचना में यह वाक्य उपलब्ध होगा।

यह सच है कि सीमा दुखी है।

उपर्युक्त वाक्यों में "गर्म" और "दुखी" क्रियापरक हैं। हिंदी में लगभग इसी प्रकार की कुछ रचनाएँ मिलती हैं जो अर्थ की दृष्टि से समान प्रतीत होती हैं किंतु रचना की दृष्टि से भिन्न हैं। यथा नीचे (अ) और (आ) वाक्यों में अंतर द्रष्टव्य है।

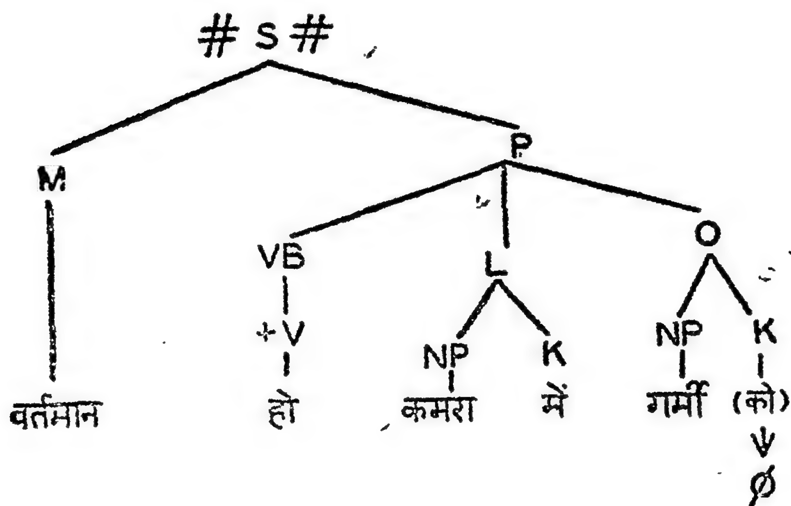
(अ) कमरा गर्म है।

(आ) कमरे में गर्मी है।

(अ) वाक्य में "गर्म" क्रियापरक है पर (आ) वाक्य में "गर्मी" संज्ञा पदबंध है।

(आ) वाक्य का कारक-वंध (अ) वाक्य के कारक वंध से भिन्न होगा।
कमरे में गर्मी है।

हो [—— O+L]



कर्ता की स्थिति में आते ही (O) में कारक-चिह्न "को" का लोप हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह वाक्य "कमरा गर्म है" का अन्वयांतर नहीं है क्योंकि दोनों वाक्यों के कारक-वंध भिन्न हैं।

इसी प्रकार अन्य कारकों में भी भिन्न रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

1. (अ) सीमा दुखी है।

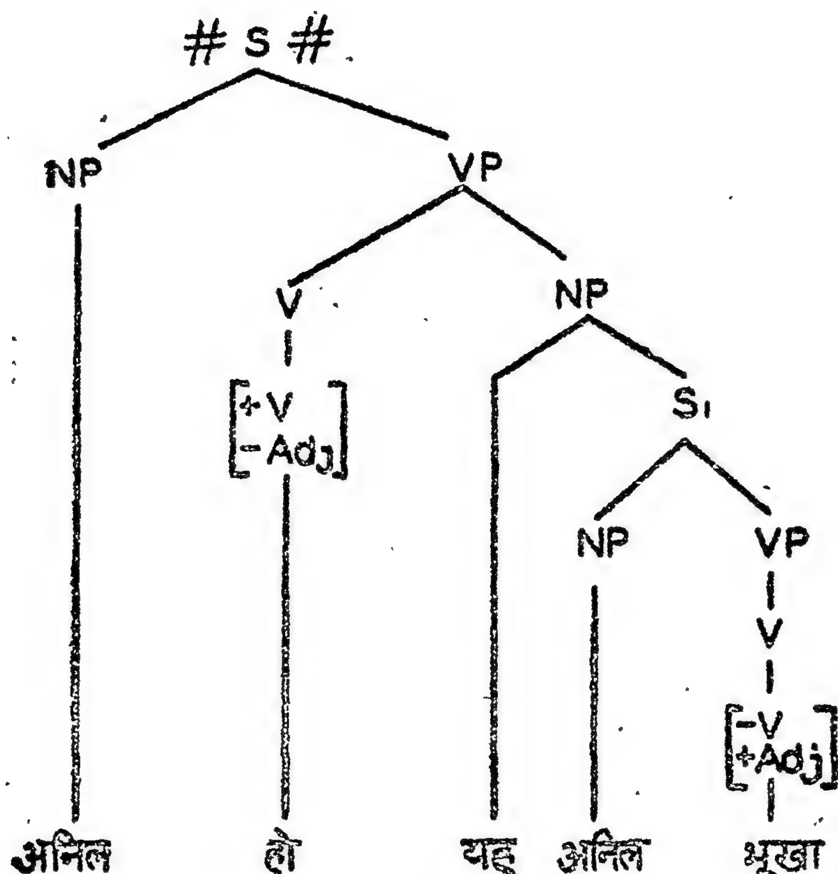
   (आ) सीमा को दुख है।

2. (अ) अनिल भूखा है।

   (आ) अनिल को भूख है।

रॉस (Ross : 1969) ने रचनांतरण व्याकरण के अनुसार इस प्रकार के वाक्यों में एक आधायित वाक्य मानकर इस प्रकार स्पष्ट किया है :

मुख्य	—	अनिल है।
गौण	—	अनिल भूखा है।



कारक-व्याकरण के अनुसार यह सिद्ध हो चुका है कि "अनिल भूखा है" वाक्य में "भूखा" [+ क्रियापरक,–क्रिया] है और "अनिल" भोक्ता [E] (E=Experience) है।

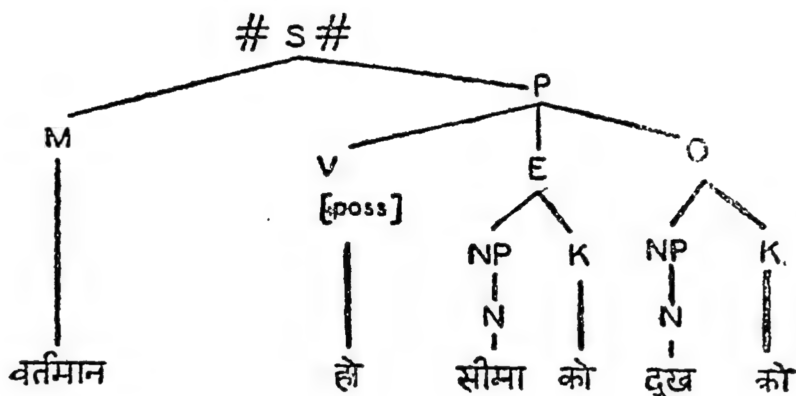
किंतु 1 (आ) और 2 (आ) वाक्यों का कारक-बंध भिन्न है। इन वाक्यों में "सीमा" और "अनिल" [E] हैं तथा "दुख" और "भूख" [O] हैं। इस स्थिति में "होना" [+ क्रियापरक, + क्रिया] है। किंतु यह "होना" अँग्रेज़ी के 'Be' के समान ही नहीं अपितु "has/ve" का भी सूचक है। फ़िलमोर (1969) के अनुसार "has/ve" "be" का आश्रित परिवर्त है।

सीमा को दुख है।

अनिल को भूख है।

इन वाक्यों का कारक-बंध इस प्रकार होगा।·[$\overline{+ \text{poss}}$ O+E]। इन दोनों वाक्यों की आभ्यंतर संरचना समान है। इनमें "है" अस्तित्वसूचक क्रिया न होकर स्वामित्व सूचक क्रिया है।

सीमा को दुख है।



[O] के कर्ता स्थिति में आने से "को" का लोप हो जाता है तथा

X has Y

के समान वाह्य संरचना में

सीमा को दुख है

वाक्य उपलब्ध होता है।

हिंदी में [E] और [O] का संबंध "को" कारक चिह्न से सूचित होता है। जब तक यह [O] अनुभूत्यात्मक रहता है तब तक [E] को चिह्न से युक्त रहता है किंतु जब यह [O] अनुभतिजनक न होकर पदार्थपरक होता है तब संज्ञा [E] न होकर [R=receiver अर्थात् प्राप्तकर्ता] होती है और कारक चिह्न "को" न होकर "के पास" आदि होता है।

सीमा के पास पुस्तकें हैं।

[काचरु (1966) ने भी इस प्रकार के कारक चिह्नों का अंतर स्पष्ट किया है।]

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिंदी में कारक चिह्न भी [E] और [R] के अंतर को स्पष्ट करते हैं। परंतु हिंदी में अँग्रेज़ी के " has/ve " के समान + स्वामित्वसूचक क्रिया मूर्त नहीं है, यह अमूर्त है।

भाषिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाए तब भी विशेषण का क्रिया से एक निश्चित संदर्भ में संबंध स्पष्ट दिखाई देता है।

उदाहरण के लिए यदि हम विधेय में तीन आर्थी-प्रभेदक-लक्षण लें तो एक मूल वाक्य से हम तीन तरह के वाक्य रचनांतरित कर सकते हैं। चेफ़ (1970) ने अपने Generative Semantics में क्रियात्मकता, प्रक्रिया और स्थिति इन तीन प्रकार के वाक्यों के आपसी संबंधों की चर्चा विस्तार से की है।

(1) (2)

धोबी कपड़े धो रहा है। -> कपड़े धुल रहे है।

[+क्रियात्मकता, +प्रक्रिया, +क्रिया] [+प्रक्रिया, +क्रिया]

कर्ता कर्म क्रिया -> कर्म क्रिया

(3) (4)

कपड़े धुले (हुए) हैं -> धुले (हुए) कपड़े

[+ स्थिति] [+विशेषण, +विशेष्य]

इन रचनांतरण नियमों से भी स्पष्ट है कि विशेषण विधेय पदवंध से ही प्रजनित होते हैं। वाजपेयी (1959) ने उद्देश्य-विशेषण, विधेय-विशेषण और क्रिया-विशेषण के अंतर को अच्छी प्रकार स्पष्ट किया है।

1. मीठ फल मुझ दो। (उद्देश्य विशेषण)

2. फल मीठे हैं। (विधेय विशेषण)

3. लड़की मीठा गाती है। (क्रियाविशेषण)

विधेय-विशेषण और क्रियाविशेषण में अंतर है। विधेय-विशेषण में क्रिया नहीं होती, केवल [+ क्रियापरक, –क्रिया] की स्थिति रहती है ; किंतु क्रिया-विशेषण में निश्चित रूप से किसी क्रिया की स्थिति रहती है और उसकी विशेषता विशेषण से सूचित होती है।

(1) वाक्य में उद्देश्य-विशेषण संज्ञा की अपेक्षा गुरु (1952) द्वारा दी गई विशेष्य-विशेषण संज्ञा अधिक संगत प्रतीत होती है।

कृदंतीय विशेषण भी क्रिया से ही प्रजनित होते हैं। जैसे :—

1. (अ) अनिल ने देखा कि सीमा गा रही है।

(आ) अनिल ने गाती हुई सीमा को देखा।

2. (अ) उसने कल जो कपड़े पहने थे वे लांड्री के धुले (हुए) थे।

(आ) उसने कल लांड्री के धुले (हुए) कपड़े पहने थे।

उपर्युक्त वाक्यों में कृदंतीय विशेपण के स्थान पर अन्य विशेषण का प्रयोग भी संभव है। जैसे—

19—7 C.H.D.(ND)/72

अनिल ने सुंदर सीमा को देखा।

उसने कल साफ कपड़े पहने थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी विशेषण विधेय-पदबंध से ही उद्भूत होते हैं तथा क्रियाहीन वाक्यों में विशेषण ही क्रियापरक का कार्य करते हैं। ●

संदर्भ ग्रंथ :

1. Chafe, W. L. 1970 Meaning and the Structure of Language, London, University of Chicago Press, 1970.

2. Fillmore, C. J. 1968 'The Case for Case' in Universals in Linguistic Theory Ed. Bach, E. and Harms, Robert T.; pp. 1-88, New York, Holt, Rinehart.

3. ———— 1969 'Toward a Modern Theory of case' in Modern Studies in English Ed. Reibel David A. and Schane, Sanford A. New Jersey, Prentice-Hall.

4. ———— 1971 "Some Problems for Case Grammar" in Working Papers in Linguistics, No. 10. Ed. by Charles J. Fillmore, Ohio, Department of Linguistics, The Ohio State University, 1971.

5. गुरु, का. प्र. 1952 हिंदी व्याकरण, वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा।

6. Jacobs, R. A. Rosenbaum, P. S. 1968 "Verbals and Particles" in English Transformational Grammar; pp. 100-107, Blaisdell International.

7. Kachru, Y. 1966 An Introduction to Hindi Syntax, Illinois, University of Illinois.

8. Ross, J. R. 1969 "Adjectives as Noun Phrases" in Modern Studies in English Ed. Reibel David A. 'Schane Sanford A.; pp. 352-360, New Jersey, Prentice Hall.

9. वाजपेयी, कि. 1959 हिंदी शब्दानुशासन, वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा।

हिंदी वाक्य संरचना : एक संवृत अधिक्रम व्यवस्था

व्लादिमीर मिल्तनेर

किसी भी घटना अथवा व्यापार का विश्लेषण करते समय हम मन ही मन यह मान लेते हैं कि उसमें कुछ-न-कुछ व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए, अन्यथा विश्लेषण न तो संभव होगा, न संगत। परंतु हर घटना या व्यापार के कई तत्त्व अथवा कई पक्ष होते हैं। देखा जाए तो उसमें सदा "अनेकता में एकता" परिलक्षित होती है। विद्वानों का काम होता है उस घटना या व्यापार का समुचित विश्लेषण करना अर्थात् उस घटना अथवा व्यापार के अंतर्विरोधों का सारतत्त्व बताना, उसकी व्याख्या या विवरण देना तथा उसके भावी विकास अथवा गति के संकेत दे देना।

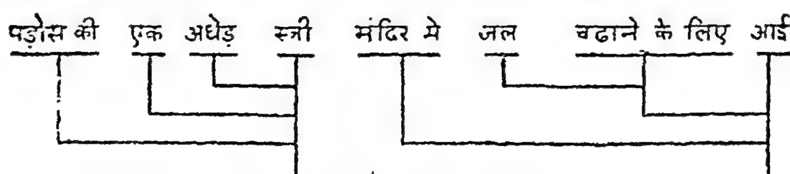
अनेक भाषाविज्ञानियों का मत यह है कि वाक्य को ही वाक्यविन्यास की मूलभूत इकाई मानना चाहिए। पर वास्तव में वाक्य है क्या ? अब तक वाक्य की तीन सौ से अधिक परिभाषाएँ प्रस्तुत की जा चुकी हैं परंतु उनमें से एक भी ऐसी नहीं जो सर्वमान्य और सर्वदामान्य हो। उदाहरणार्थ, हिंदी में तुमने ठीक किया (प्रभाकर निश्चय ही एक वाक्य है और "परंतु राज्य के विधान मंडल के ऐसे अधिनियम के जो समवर्ती सूची में प्रगणित किसी विषय के बारे में संसद के किसी अधिनियम अथवा किसी वर्तमान विधि के विरुद्ध है प्रभाव को दिखाने वाले इस संविधान के उपबंधों के प्रयोजनों के लिए कोई अध्यादेश जो राष्ट्रपति के अनुदेशों के अनुसरण में इस अनुच्छेद के अधीन प्रख्यापित किया गया है, राज्य के विधान मंडल का ऐसा अधिनियम समझा जाएगा, जो राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किया गया था तथा उसके द्वारा अनुमत हो चुका है" (संविधान) भी निस्संदेह एक वाक्य है। अगर हम इस बात का ध्यान रखें कि विभिन्न वाक्यों में न केवल ऊपर जैसा परिमाणात्मक भेद होता है बल्कि गुणात्मक भेद भी होता है तो मैं समझता हूँ कि वाक्य के विषय में यह धारणा वाक्यविन्यास के सही विश्लेषण के लिए समुचित नहीं होगी कि वह वाक्यविन्यास की प्राथमिक इकाई होता है। मेरी दृष्टि में तो संबंधिम की धारणा कहीं अधिक उपयोगी है।

हर वाक्य (और वाक्य की परिभाषा तत्काल करना इतना आवश्यक नहीं है) कुछ तथाकथित वाक्यांशों से निर्मित होता है। वाक्यांश वाक्य का ऐसा भाग होता है जिसके वदले में संवादी प्रश्नवाचक प्रतिनिधि रखा जा सके और उससे वाक्य की संरचना में कोई अंतर न पड़े। (सच तो यह है कि यह वक्तव्य पंडित दामोदर से प्रेरित है जिन्होंने 12 वीं शती में "उक्ति-व्यक्ति प्रकरण" लिखा था। एक उदाहरण लें : "पड़ोस की एक अधेड़ स्त्री मंदिर म जल चढ़ाने के लिए आई" (वर्मा) में बारह शब्द हैं परंतु वाक्यांश केवल आठ हैं, क्योंकि वाक्य के प्रत्येक शब्द के लिए प्रश्नवाचक प्रतिनिधि प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता।

(पड़ोस की एक अधेड़ स्त्री मंदिर में जल चढ़ाने के लिए)

क्या किया ?	आई
कौन (आया) ?	स्त्री
कैसी (स्त्री) ?	अधेड़
कैसी (और) ?	पड़ोस की
कितनी (स्त्री) ?	एक
कहाँ (आई) ?	मंदिर में
किसके लिए (आई) ?	चढ़ाने के लिए
क्या (चढ़ाने के लिए) ?	जल

वाक्यांशों और उनके परस्पर संबंधों के संयोग से वाक्य की संरचना निर्धारित होती है। स्पष्ट है कि वाक्य में स्त्री और पड़ोस की का जो संबंध है वह स्त्री और चढ़ाने के लिए के संबंध से बहुत भिन्न है। इस वाक्य की विन्यासात्मक संरचना को आरेखों के द्‌वारा यों प्रस्तुत किया जा सकता है :



उद्‌धृत वाक्य में जिन वाक्यांशों का सन्निहित संबंध है, वे ये हैं :

आई	:	स्त्री
आई	:	चढ़ाने के लिए
आई	:	मंदिर में
चढ़ाने के लिए	:	जल
स्त्री	:	अधेड़
स्त्री	:	एक
स्त्री	:	पड़ोस की

सन्निहित संबंध वाले ये वाक्यांश-युग्म "संबंधिम" कहलाते हैं। ये ही वाक्य-विन्यास की प्राथमिक इकाइयाँ हैं। वाक्य में यदि वाक्यांश की संख्या n मानें तो संबंधिम की संख्या n-1 होगी। जिन वाक्यांशों का परस्पर संबंध नहीं होता, उनके संबंध को "वहि:विन्यासक्रमात्मक" कहा जा सकता है। किसी भी वाक्य में उनकी संख्या $\frac{(n-1)\quad(n-2)}{2}$ होगी।

प्रत्येक संबंधिम में उसका एक रचनांग वाक्यांश तो प्रधान या शीर्ष होता है और दूसरा आश्रित अथवा विस्तारक। आश्रित वाक्यांश सदा प्रधान का विस्तार करते हैं। उद्धृत वाक्य में एक दृष्टि से आई शीर्ष शब्द है और चढ़ाने के लिए वाक्यांश उसका विस्तारक है ; जवकि दूसरी दृष्टि से चढ़ाने के लिए को शीर्ष कहेंगे और जल को आश्रित। सिद्धांततः वाक्य-विस्तार का कोई अंत नहीं : प्रत्येक वाक्यांश का और विस्तार हो सकता है और इस प्रकार वाक्य-संरचना अधिकाधिक विस्तृत हो सकती है।

हिंदी में (तथा किसी भी और भाषा में) संभावित सही वाक्यों की संख्या अनंत है। हिंदी के जितने भी वाक्य हो सकते हैं उन सवका वर्णन तो कोई कर नहीं सकता। पर विद्वान् को तो इस स्थिति में होना चाहिए कि वह सामान्यतः, और व्यौरेवार, यह वता सके कि हिंदी में बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे शुद्ध वाक्य किस तरह वनाए जा सकते हैं, चाहे उनकी संख्या अनगिनत ही क्यों न हो—वरना उसका काम ही वेकार है। फिर, यह भी आवश्यक है कि वह जो कुछ लिखे उसका आकार सीमित हो। फलतः उसे वाक्य-तत्त्वों को लेकर काम करना चाहिए जिनकी संख्या सीमित होती है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी के संभावित वाक्यांशों और संबंधिम प्ररूपों की संख्या सीमित है।

अव अपने विवेचन को सिद्धांत के साँचे में ढालें। किसी वाक्यसंरचना में मान लीजिए एक वाक्यांश x_1 है। हो सकता है कि वह x_2 के साथ अपने परस्पर संबंध की दृष्टि से प्रधान हो और x_3 के संदर्भ में आश्रित। परंतु यह भी संभव है कि अन्य वाक्य-संरचना में वह x_4 के संदर्भ में प्रधान हो और उसके साथ ही x_5 के संदर्भ में आश्रित हो। उदाहरण के लिए—

उतनी	अच्छी	पुस्तक	(कम मिलती है)
x_2	x_1	x_3	
इससे	अच्छी	पुस्तक	(खरीदना संभव नहीं है)
x_4	x_6	x_5	

परंतु हमें वाक्यांशों के अंतरंग और वहिरंग में अर्थात् उनके प्रकार्यों और प्रकार्यकों में सावधानी के साथ भेद कर लेना चाहिए। मूर्त वाक्य-संरचना में प्रकार्यक जो विन्यासात्मक भूमिका निभाता है, वही वाक्यांश का प्रकार्य है। वाक्यांश का प्रकार्यक या तो कोई शब्दभेद होता है या कुछ शब्दभेदों का रूपात्मक गुच्छ होता है अथवा उपवाक्य तक हो सकता है जो मूर्त वाक्य-संरचना में वाक्यांश-प्रकार्य की अभिव्यक्ति करता है। वाक्यांशों के ये दो पक्ष वास्तव में एक-दूसरे से अभिन्न हैं—वास्तव में उनका अकेले कोई अस्तित्व हो ही नहीं सकता। प्रत्येक

वाक्यांश-प्रकार्य की अभिव्यक्ति एक प्रकार्यक द्वारा होनी चाहिए और वाक्य में कोई ऐसा प्रकार्यक नहीं हो सकता जिसका कोई न कोई प्रकार्य अभिप्रेत न हो।

ऊपर के दोनों वाक्यों में, **अच्छी** एक विशेषण है जो विशेषक का प्रकार्य संपन्न करता है। दोनों वाक्यों में उसका शीर्ष शब्द **पुस्तक** है। दोनों संदर्भों में प्रकार्यक एक ही है—अर्थात् वह विशेष्य है, किंतु प्रकार्य भिन्न है : प्रथम वाक्य में वह कर्ता है, दूसरे में कर्म। **अच्छी** वाले दोनों आश्रित वाक्यांश विशेषक का ही प्रकार्य करते हैं, किंतु उनके प्रकार्यक भिन्न हैं: **उतनी** तो सार्वनामिक विशेषण है और **इससे** संकेतवाचक विशेषण। मूर्त वाक्यसंरचना में वाक्यांशों के वितरण की दृष्टि से वाक्यांशों के प्रकार्य और प्रकार्यक बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। भाषा-सामग्री का विश्लेषण करते समय इस बात को बहुत अच्छी तरह से ध्यान में रखना होगा और जब वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए वाक्यांशों को प्रतीक रूप दिया जाना हो तब भी इसका विशेष ध्यान रखना होगा। उदाहरणार्थ, दोनों वाक्यों के वाक्यांशों को प्रतीकात्मक पद्धति में यों प्रस्तुत किया जा सकता है :

$$\frac{\text{उतनी}}{M\ 832}\quad \frac{\text{अच्छी}}{M\ 51}\quad \frac{\text{पुस्तक}}{S1}$$

$$\frac{\text{इससे}}{M\ 82}\quad \frac{\text{अच्छी}}{M\ 51}\quad \frac{\text{पुस्तक}}{01}$$

यदि M 51, S1 और 01 दोनों का विस्तार कर सकता है और इसके अतिरिक्त यदि M 832 तथा M 82 दोनों उसका विस्तार कर सकते हैं, तब यह सहज ही कहा जा सकता है कि M 832 : M 51 : 01 तथा M 82 : M 51 : S 1 अनुक्रमों का हिंदी में अस्तित्व हो सकता है। **उतनी अच्छी पुस्तक खरीदना संभव नहीं है और इससे अच्छी पुस्तक कम मिलती है**" वाक्य निश्चय ही शुद्ध वाक्य है। प्रत्यक्ष संबंधिमों (और वाक्यों) का जितना अधिक विश्लेषण किया जाएगा, उतने ही अधिक शुद्ध संबंधिम (और वाक्य) उभर कर सामने आते जाएंगे।

मेरी दृष्टि में प्रत्यक्ष संबंधिमों को सूचीबद्ध करने का सबसे सहज तरीका यह है कि उनके सन्निहित वाक्यांशों को तीन खानों में लिख लिया जाए। वाक्यांशों की अधिक्रमिक स्थिति सदा बीच के खाने में देखी जाती है। बाएँ खाने में पूर्ववर्ती वाक्यांशों को सूचीबद्ध किया जाता है और दाएँ ख़ाने में परवर्ती वाक्यांशों को। मैं यह बात ज़ोर देकर कहना चाहूँगा कि वाक्यविन्यास विषयक अन्वेषणों में वाक्यविन्यासात्मक अधिक्रम का महत्त्व होता है, शब्दानुक्रम का नहीं। फलतः पहले ख़ाने के वाक्यांश बीच के खाने वाले वाक्यांशों के संदर्भ में शीर्ष होते हैं और बीच के खाने के वाक्यांश पहले खाने वालों पर तो आश्रित होते हैं किंतु तीसरे खाने वालों के संदर्भ में शीर्ष होते हैं। बीच के खाने में सारे प्रत्यक्ष वाक्यांश आएँगे। जिन वाक्यांशों का विस्तार नहीं हो सकता यानी जो शीर्षत्व प्राप्त नहीं कर सकते वे बाएँ खाने में नहीं आ सकते। (परंतु मेरा विचार है कि हिंदी में ऐसे वाक्यांश होते ही नहीं और अगर होंगे भी तो अत्यंत विरल होंगे) और जो वाक्यांश आश्रित अथवा गौण नहीं हो सकते वे कभी दाएँ खाने में नहीं आते। (परिभाषा के कारण यह बात विधेय-वाक्यांशों के संदर्भ में सत्य है)।

उदाहरण के लिए इन वाक्यांशों को लीजिए :

"सुल्तान की सेना को अपने पुराने अनुभवों के आधार पर विश्वास था कि हिंदुओं में लड़ने वाले दस प्रतिशत से भी कुछ कम होते हैं। (वर्मा)
"मुझ से ज्यादा अनीला को जानने का दावा मत करो" (प्रभाकर)
"संविधान का अतिक्रमण करने पर राष्ट्रपति अनुच्छेद 61 में उपबंधित रीति से किए गए महाभियोग द्वारा पद से हटाया जा सकेगा"। (संविधान)

इन की वाक्यविन्यास प्रणाली को यों अंकित किया जा सकता है :

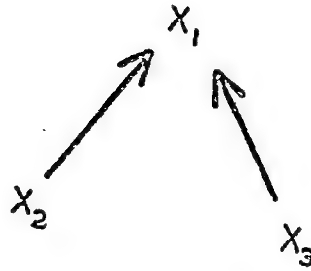
	प्रधान अथवा शीर्ष वाक्यांश	विचाराधीन वाक्यांश	गौण अथवा आश्रित वाक्यांश
1.	–	P21	Sl, Ml, M412
2.	–	P22	01
3.	P21	Sl	M91
4.	P22, M412, M52/412	01	M52
5.	P21, M31, M51	M1	M31, M51, M52, M531
6.	M1	M31	M1
7.	P21	M412	01
8.	M1, M52/1	M51	M1
9. (a)	M1	M52/1	M51, M831
9. (b)	01	M52/412	10, M17
10.	M1	M531	——
11.	M52/412	M71	M81
12.	M71	M81	——
13.	M52/1	M831	——
14.	Sl	M91	——

केवल इन तीन वाक्यों के आधार पर अनेक नए शुद्ध हिंदी वाक्यों का निगमन किया जा सकता है।

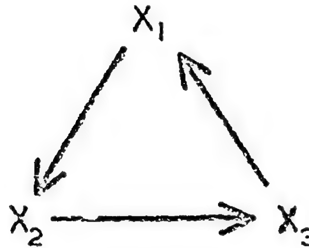
वाक्यांशों का संबंधिमों के रूप में परस्पर संबंध बड़े जटिल तरीके से संपन्न होता है। हिंदी की वाक्यविन्यासप्रणाली के विभिन्न वाक्यांशों की श्रृंखला का सबसे विशिष्ट प्ररूप है, एकपुच्छीय संरचना ; जैसे —

$$X_1 \longrightarrow X_2 \longrightarrow X_3$$

अथवा, द्विपुच्छीय संरचना ; जैसे



तथा पुनरावर्ती रचना (अथवा पुर्नानिवेश) ; यथा —



उदाहरण के लिए, अति सुंदर लड़की एक पुच्छीय संरचना है क्योंकि सुंदर का शीर्ष शब्द लड़की है और अति का शीर्ष शब्द सुंदर। परंतु परसों पूना जाऊंगा द्विपुच्छीय संरचना है क्योंकि "परसों" और "पूना" दोनों "जाऊंगा" पर आश्रित हैं। "पुर्नानिवेश" वाली स्थिति कुछ और भी जटिल होती है; जैसे – "मैंने इस अच्छी फिल्म से ज्यादा अच्छा एकांकी देखा है*" में "अच्छी फिल्म से ज्यादा अच्छा।"

हिंदी में जितने भी वाक्यांश-रूप संभव हैं उन सबसे मिलकर हिंदी वाक्य-विन्यास प्रणाली का निर्माण होता है। हर वाक्यांश का कम-से-कम एक और वाक्यांश के साथ विन्यास-संबंध स्थापित हो सकता है और / अथवा कम से कम एक अन्य वाक्यांश उसके साथ विन्यास-संबंध स्थापित कर सकता है। हिंदी की वाक्यविन्यास प्रणाली में कोई एकल वाक्यांश नहीं होता।

हिंदी की वाक्यविन्यास व्यवस्था के अंतर्गत वाक्यांशों की संख्या या, कम से कम, वाक्यांश-प्ररूपों की संख्या सीमित होती है। कुछ वाक्यांश तो ऐसे होते हैं जो कई-कई वाक्यांशों के साथ अपना विन्यास-संबंध जोड़ सकते हैं, परंतु कई ऐसे होते हैं जो अपेक्षाकृत कम वाक्यांशों के साथ वैसा संबंध जोड़ पाते हैं। वाक्यांशों की कुल संख्या को मान लीजिए हम N से व्यक्त करते हैं। यदि वाक्यांश X_a X_b के साथ विन्यास-संबंध जोड़ सकता है, या दूसरे शब्दों में कहें, यदि X_a का विस्तार X_b से हो सकता है, तो $X^{(b)} = S_{ab}\, Y^{(a)}$ होगा।

---

*लेखक ने अपने मूल लेख में "अच्छी एकांकी देखी है" उदाहरण में स्त्रीलिंग रूप रखा था। अनुवाद में इसे प्रयोग के अनुसार पुल्लिंग कर दिया है—(संपादक)

यदि X_a का विस्तार X_b के द्वारा संभव न हो तो—

$S_{ab}=O$ अथवा $O=S_{ab} Y(^a)$ होगा।

फलतः, वाक्यांशों के सभी संभव युग्मों के लिए, अर्थात् सभी संबंधिमों के लिए हम इस प्रकार का समीकरण प्रस्तुत कर सकते हैं :

$$X(^b) = S_{ab} Y(^a) [_{a}, _{b}= 1, 2.., N; a \ddagger b]$$

परिभाषा के आधार पर हम यह मानकर चल सकते हैं कि $a \ddagger b$ होगा, परंतु यह मान कर चलना जरूर नहीं है।

सामान्यतः हिंदी की वाक्यविन्यास व्यवस्था की आधात्री कुछ-कुछ यों होगी :

$$S= \begin{bmatrix} O & S_{1,2} & \cdots & S_{1,N} \\ S_{2,1} & O & \cdots & S_{2,N} \\ \cdots & \cdots & \cdots & \cdots \\ S_{N,1} & S_{N,2} & \cdots & O \end{bmatrix}$$

या, शायद इससे भी वेहतर ढंग से पेश करें तो यों होंगी।

$$S= \begin{bmatrix} S_{1,1} & S_{1,2} & \cdots & S_{1,N} \\ S_{2,1} & S_{2,2} & \cdots & S_{2,N} \\ \cdots & \cdots & \cdots & \cdots \\ S_{N,1} & S_{N,2} & \cdots & S_{N,N} \end{bmatrix}$$

यह आधात्री हिंदी की वाक्यविन्यास व्यवस्था की संरचना को व्यक्त करती है। चूंकि इस प्रणाली में पुर्नानिवेश विद्यमान हैं, इसलिए यह संवृत प्रणाली है।

हिंदी में 4 प्रकार के वाक्यविन्यासात्मक प्रकार्य होते हैं—विधेय, कर्ता, कर्म, तथा विशेषक; और 31 प्रकार्यक। इससे निष्कर्ष निकलता है कि सिद्धांततः हिंदी में 124 प्रकार के वाक्यांश हो सकते हैं और फलतः $124^2 = 15{,}376$ सिद्धांततः संभव संबंधिम-प्ररूप हो सकते हैं। परंतु वास्तव में हिंदी संबंधिम-प्ररूपों की संख्या इतनी अधिक नहीं है क्योंकि वहुत से ऐसे हैं जो कभी-कभी एकान्वित हो जाते हैं और वहुत से ऐसे हैं, जो कुछ व्याकरणिक प्रतिवंधों के कारण असंभव ही होते हैं। 7,000 हिंदी वाक्यों की 29,467 संबंधिमों के साथ वारीकी से परीक्षा करने के वाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हिंदी में 1180 प्रकार के संबंधिम होते हैं।

परन्तु इस संख्या को निश्चित संख्या नहीं माना जा सकता। हिंदी के हर संभव प्रकार के संबंधिमों की कुल संख्या लगभग 3,000 तक पहुँच सकती है। यों, अव भी 1,180 प्रत्यक्ष (और स्पष्टतः सवसे अधिक प्रयुक्त एवं प्रचलित) संबंधिमों के आधार पर प्रायः अनंतसंख्यक शुद्ध हिंदी वाक्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं—ऐसे वाक्य जो मूल प्रतिदर्श के वाक्यों से गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से भिन्न हों।

अगर हिंदी की वाक्यविन्यास व्यवस्था का तीन खानों वाला विवरण और अधिक वास्तविक वाक्यों के विस्तृत विश्लेषण पर आधारित होता और अगर यहीं आगमनात्मक पद्धति का भी उपयोग किया गया होता तो हमारे सामने वाक्यविन्यास का जो कुंजीफलक उभर कर आता, उसमें न केवल हिंदी की वाक्य-विन्यास व्यवस्था का पूर्ण विवरण होता बल्कि उसके सहारे कितने भी बड़े-छोटे असंख्य शुद्ध हिंदी वाक्य भी प्रस्तुत किए जा सकते थे और उसमें ऐसे वाक्य भी शामिल होते जो न कभी लिखे गए हैं, न बोले गए हैं ; किंतु जो हिंदी व्याकरण-नियमों के अनुसार सर्वथा शुद्ध माने जा सकते हैं ।

भाषा-शिक्षण, यांत्रिक अनुवाद, सामान्य भाषा-सिद्धांत आदि की दृष्टि से इस प्रकार की परियोजना के परिप्रेक्ष्यगत लाभ स्वतः स्पष्ट हैं अतः उनका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है ।●

अनुवाद : महेंद्र चतुर्वेदी

हिंदी वाक्यों में अन्विति व्यवस्था

शशिकुमार शर्मा

0. अर्थ की दृष्टि से संस्कृत भाषा के संदर्भ में साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ की यह परिभाषा भले ही उपयुक्त हो सकती है कि योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति से युक्त पद-समूह वाक्य कहलाता है (वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्ति युक्तः पदोच्चयः); किंतु वाक्य-संरचना की दृष्टि से हिंदी जैसी व्यास-प्रधान भाषाओं के लिए तो अन्विति और शब्दक्रम (पदक्रम) का महत्त्व अन्यतम है। इसका कारण यह है कि इसके वाक्यों में जो एक निश्चित व्यवस्था देखने को मिलती है, वह इन्हीं का परिणाम होती है। वाक्य के विभिन्न घटक एक दूसरे के बाद निश्चित क्रम में आते हैं और वे परस्पर संबद्ध होते हैं। फलस्वरूप भाषा में एक आंतरिक व्यवस्था आती है, जिससे अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति या प्रतीति में सहायता मिलती है। वाक्य का कोई भी शब्द या पद स्वतंत्र नहीं होता; सभी एक दूसरे से संबद्ध होते हैं। और, शब्दों का यह पारस्परिक सम्मिलन भी मनमाने ढंग से नहीं होता, बल्कि एक विशेष पद्धति पर होता है। किंतु, ऐसा भी नहीं होता कि सभी शब्दों का सभी शब्दों से मेल हो, अन्वय हो : ठीक वैसे ही जैसे परिवार के सभी सदस्यों में परस्पर संबंध होते हुए भी न तो सबके संबंध एक-जैसे होते हैं, न ही उनमें एक-सी एकात्मकता होती है।

0.1 हिंदी वाक्यों में कर्ता या कर्म के साथ क्रिया का, विशेष्य के साथ विशेषण का (संबंध और संबंधी का इसी में अंतर्भाव हो जाता है) और संज्ञा के साथ सर्वनाम का अन्वय होता है। उपर्युक्त अन्वय पदबंध, उपवाक्य और वाक्यस्तर पर होते हैं।

0.11 निश्चय ही उपर्युक्त प्रकार की अन्वितियों में से कर्ता या कर्म के साथ क्रिया की अन्विति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और कदाचित् जटिल भी। हिंदी कर्ता या कर्म के साथ क्रिया को अन्वित करते समय निम्नांकित बिंदुओं को ध्यान में रखना पड़ता है--

0.111 क्रिया—काल, विधि

0.112 काल—भूत, वर्तमान, भविष्यत्

0.113 लिंग— पुल्लिंग, स्त्रीलिंग

0.114 वचन — एकवचन, बहुवचन

0.115 प्रयोग का अर्थ—सामान्य, आदरार्थ

0.116 विभक्ति—ऋजु, तिर्यक्

0.117 पुरुप—उत्तम, मध्यम, अन्य।

हिंदी शब्दों की रूप रचना अपेक्षाकृत जटिल है, किंतु इसकी अन्विति और क्रम-व्यवस्था काफी सरल-सहज है। भाषाओं की अन्विति व्यवस्था के निम्नलिखित प्रमुख आधार हो सकते हैं:—

1. स्वन-व्यवस्था
2. तर्क-व्यवस्था
3. स्वनांतरण-व्यवस्था
4. मनोविज्ञान
5. प्रयोग

1. स्वन-व्यवस्था

1.0 संसार की प्रायः सभी भाषाओं की अन्विति-व्यवस्था उनकी स्वन-व्यवस्था से न्यूनाधिक रूप में अवश्य प्रभावित होती है। इसका मुख्य कारण है—स्वनों का भाषा का संतत्त्व (सब्स्टेन्स) होना। भाषा मूलतः मौखिक होती है और वह उच्चारित स्वनों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। भाषाओं की अन्विति-व्यवस्था इसलिए स्वन-व्यवस्था से अवश्य अनुशासित होती है। यदि कोई भाषा स्वन-व्यवस्था के अनुरूप अपना स्वरूप निर्धारित नहीं करती तो वह भाषा व्याकरण-सम्मत नहीं होगी और यदि होगी भी तो वह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी अटपटी लगेगी और उसमें भाषा-सौंदर्य का नितांत अभाव होगा। और, काव्य रचना के लिए विशिष्ट कलात्मक सौंदर्य-युक्त भाषा का कितना महत्त्व है! यह कलात्मकता मुख्य रूप से अन्विति-व्यवस्था से ही आती है।

(क) सड़े पत्ते, गले पत्ते
हरे पत्ते, जले पत्ते,
वन्य पथ को ढँक रहे-से
पंक-दल में पले पत्ते।
....
ये घिनौने घने जंगल
ऊँघते अनमने जंगल। (भवानीप्रसाद मिश्र)

(ख) झूम-झूम बदलियाँ, चूम-चूम बदलियाँ
आँधियाँ उठा रहीं, हलचलें मचा रहीं। (नेपाली)

इसलिए किसी भाषा की स्वन-व्यवस्था उसकी अन्विति-व्यवस्था को बहुत दूर तक प्रभावित करती है। संभवतः यह तथ्य हिंदी के लिए सर्वाधिक सत्य है।

1.1 स्वन-व्यवस्था के अंतर्गत खंडीय और अधिखंडीय दोनों प्रकार के स्वन आते हैं। बलाघात, अनुतान आदि अधिखंडीय स्वन वाक्य के स्वरूप का तो निर्धारण करते ही हैं, साथ ही उसके वाक्यार्थ को स्पष्ट करने में भी सहायता करते हैं। इसके अलावा वे अर्थान्वितियों और अनुतान-इकाइयों का भी निर्माण करते हैं; और अनुतान-इकाइयों के निकटस्थ अवयवों में उपयुक्त मैत्री देखने को मिलती है जो हिंदी में स्वर-सामंजस्य की देन है। एक अनुतान-इकाई के अधिकतर पदों में परस्पर सामंजस्य प्रायः देखा जा सकता है। जैसे—

—उसकी उन्मादिनी जननी की आँखों की-सी विदेशी चमक थी।

—सिर और चेहरे के बाल घुटे हुए थे।

1.11 अनुतान-इकाई से हमारा तात्पर्य है वाक्य के उस अंश से जो एक साँस में बोला या पढ़ा जा सके। छोटे-छोटे वाक्य एक साँस में ही बोले या पढ़े जाते हैं, जबकि बड़े-बड़े वाक्य एक से अधिक साँस में पढ़े जाते हैं। अनुतान-इकाइयों को प्रायः अल्प या अर्ध-विराम और पूर्णविराम से अलग किया जाता है। यदि वाक्य को अनुतान-इकाइयों के अनुसार नहीं पढ़ा जाए तो बड़ा अटपटा लगता है और अर्थ-बोध नहीं होता।

—पुत्र को लेकर वह आई/तो बड़ी चेष्टा से हाथ में पकड़ी गई पुस्तक काँप गई।

—जहाज की कई महत्त्वपूर्ण प्रणालियों की जाँच करने/और उनको प्रमाणित करने का कार्य/दो अलग-अलग इंजीनियरों के सुपुर्द किया जाता है/ताकि मानवीय गलतियों की संभावना कम से कम हो जाए।

—एक खंडहर देवालय के भीतर/बौछारों से बचाव करते/सिमट कर बैठे तीन व्यक्ति/बिजली के उजाले में/पल भर के लिए/तनिक से उजागर होकर/फिर अंधेरे में विलीन हो जाते हैं।

—भीतर गई/'दादी-दादी' पुकारा/रसोईवाले कमरे में झाँका/रहनेवाले कोठे में देखा/पर मैया कहीं न थी।

—आजानुबाहु/चमकते सोने-सी पीनदेह/लंबी सुतवाँ नाक/उभरी ठोड़ी/पतले होंठ/सिर और चेहरे के बाल घुटे हुए/माथे, बाहों और छाती पर वैष्णव तिलक/काया कृश होने पर भी व्यायाम से तनी हुई भव्य लगती थी।

1.2 स्वर और व्यंजन खंडीय स्वन हैं जिनका अन्विति-व्यवस्था में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। किसी भाषा के शरीर की हड्डियाँ यदि व्यंजन हैं तो उसका मांस स्वर ही हैं जो भाषा के स्वरूप को गढ़ते ही नहीं, बल्कि उसको सौंदर्य-संपन्न भी करते हैं। हिंदी के किसी भी वाक्य, उपवाक्य या पदबंध को सरसरी निगाह

से देखने पर यह सत्य उद्घाटित हुए विना नहीं रहता कि हिंदी में स्वर-सामंजस्य की अद्भुत प्रवृत्ति है। स्वर-सामंजस्य एक ओर जहां वाक्य को सुललित बनाता है वहां दूसरी ओर शुद्ध वाक्य के उत्पादन में मार्गदर्शन भी करता है। जैसे—

—लड़का जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे मां-बाप से दूर होता चला जाता है।

—डूबते हुए तारे कितने अच्छे लग रहे थे।

—लड़की रोती हुई आई और हँसती हुई चली गई।

—बेचारा बूढ़ा अकेला बैठा टापता रह जाएगा।

उपर्युक्त वाक्यों में हम देखते हैं कि जिस वाक्य के प्रारंभ में आ आया उस पूरे वाक्य में आ की भरमार है। इसी प्रकार ए और ई की भी स्थिति है। इतना ही नहीं अनुनासिकता की भी आवृत्ति हुई है। इन वाक्यों में क्रियाओं और आकारांत विशेषणों के अलावा विशेषण और क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त क्रियापद (कृदंत) भी स्वर-सामंजस्य से प्रभावित हैं।

1.21 हिंदी आ-बहुल भाषा है और इसमें आ की बड़ी महत्ता है। हिंदी का आ रूप पुल्लिंग बोधक है और आ से यहां मेरा तात्पर्य इसी से है। जहां एक ओर हम इसे हिंदी की विशेषता मानते हैं, वहीं जटिलता का प्रमुख कारण भी। स्वर-सामंजस्य वास्तव में इसी की देन है। आ बहुल भाषा होने के कारण इसे बोलने में विशिष्ट गुरुता का बोध होता है। संक्षेप में हिंदी के स्वरूप निर्धारण में और प्रचार-प्रसार में आ की भूमिका अद्वितीय है। यह कार्य स्थान और स्वरूप की दृष्टि से शब्दों को स्वर-सामंजस्य के द्वारा गाढ़ी मैत्री के सूत्र में पिरो देता है। हिंदी के आ-बहुल पुल्लिंग शब्द लिंग, वचन और परसर्ग से विकृत हो जाते हैं। और निश्चय ही, हिंदी के आ-युक्त शब्द ही अधिकांश में विकारग्रस्त होते हैं। आ-वाले शब्दों के ही ई तथा ए रूप बनते हैं। इस प्रकार हिंदी का लिंग, वचन, पुरुष, विभक्ति आदि अधिकांश में आ पर ही आधृत है। जैसे —

तुम्हारा छोटा लड़का रोता हुआ जा रहा था।

तुम्हारी छोटी लड़की रोती हुई जा रही थी।—लिंग प्रभाव

तुम्हारे छोटे-छोटे बच्चे रोते रहते हैं।—वचन प्रभाव

तुम्हारे छोटे भाई के बड़े लड़के ने....... ।—परसर्ग प्रभाव।

इस प्रकार यदि आ की इतनी प्रमुखता न रहती तो हिंदी लिंग आदि के बखेड़े में शायद ही पड़ती और अपनी मां संस्कृत तथा भगिनी बंगला की भांति इनके प्रभावों से प्रायः युक्त रहती। लिंग के कारण हिंदी की अन्विति व्यवस्था जितनी प्रभावित होती है उतनी शायद ही संसार की कोई अन्य भाषा प्रभावित होती हो। यही कारण है कि हिंदी के शब्दों की रूपरचना तथा वाक्यरचना जटिल प्रतीत होती है। फिर भी स्वर-सामंजस्य से बहुत कुछ राहत मिल ही जाती है।

1.22 किंतु हिंदी में प्रयुक्त सभी आकारांत संज्ञाएँ न तो पुल्लिग हैं, न ही सभी ईकारांत संज्ञाएँ स्त्रीलिंग । इसी प्रकार शेष स्वरांत संज्ञाओं को पुल्लिग-स्त्रीलिंग में बांटने का वहुत वैज्ञानिक पैमाना भी नहीं है । इन कारणों से स्वर-सामंजस्य कभी-कभी साधक वनने के वजाय वाधक भी वन जाता है और गलत निर्देश देता है । स्वर-सामंजस्य की इस प्रवृत्ति के कारण व्याकरणिक नियमों का साथ जरा-सी भी असावधानी के कारण छूट जाने पर ऐसे वाक्य सुनने को मिलते हैं :

* वर्षा हो रहा था ।

* इधर ही हाथी आ रही है ।

* दही खट्टी है ।

* मेरी मोती का नया माला टूट गया ।

1.3 परसर्ग हिंदी भाषा के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं । ये हिंदी वाक्यों में संज्ञाओं के वाद केवल दो स्थितियों को छोड़कर प्रायः सर्वत्न आते हैं और उन दोनों परिस्थितियों में भी विकल्प से आते ही हैं । अकर्मक और अपूर्ण सकर्मक क्रियाओं के साथ ने नहीं आता और अप्राणिवाचक संज्ञाओं के कर्म के स्थान पर आने पर सामान्य स्थिति में को नहीं आता । इस प्रकार परसर्ग इस वात के द्योतक हैं कि वाक्य में ये जहाँ कहीं भी होते हैं, उनके पहले संज्ञा या सर्वनाम अवश्य आया होता है । अर्थान्वितियों और अनुतान-इकाइयों के निर्माण में भी परसर्गों का महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

1.31 परसर्ग स्वयं अपने पूर्व आए पदों या पदवंधों को तो स्वर-सामंजस्य से नियंत्रित करते हैं, किंतु वाक्य के शेष पदों या पदवंधों से उन्हें विलग कर देते हैं । इस प्रकार परसर्ग एक ओर यदि स्वर-सामंजस्य के विधायक तत्त्व हैं तो दूसरी ओर वाधक भी । ये अपने पूर्व आई एकवचन पुल्लिग संज्ञाओं एवं सभी वहुवचन संज्ञाओं और दोनों वचनों के सर्वनामों को प्रभावित करते हैं । ये आकारांत विशेषणों को भी प्रभावित करते हैं—

लड़का+ने	= लड़के ने
(वहुवचन) वालक+को	= बालकों को
छोटा लड़का+से	= छोटे लड़के से
वूढ़ा वाप का सवसे छोटा लड़का+ ने	= वूढ़े वाप के सवसे छोटे लड़के ने

हमारी दृष्टि से उपर्युक्त विचार का कारण भी निश्चित रूप से स्वर-सामंजस्य ही है । अधिकतर परसर्ग ए अंत्य होते हैं— ने, से, में, के लिए आदि, । अतः ये जहाँ आते हैं अपने पूर्व के स्वन को प्रभावित कर देते हैं, अपने रंग में रंग देते हैं । एक तरह से इस प्रक्रिया को संज्ञाओं और परसर्गों की अन्विति माना जा सकता है ।

—राम का घर

—राम के घर का अगला हिस्सा

—राम के हाय के अगले हिस्से का पहला कमरा

—राम के घर के अगले हिस्से के पहले कमरे में

1.32 परसर्गयुक्त संज्ञाओं और सर्वनामों से क्रिया की अन्विति किसी भी स्थिति में नहीं होती। क्रिया की अन्विति हमेशा ऋजु विभक्ति यानी अपरसर्गीय पदों से होती है।

— इस लड़के ने रोटी खाई थी।

— लड़कियों ने केले खाए थे।

— शीला से घड़ा टूट गया था।

— मुझ से रोटी खाई नहीं गई।

— घोड़े से गाड़ी खींची नहीं जाती।

— मुझे रोटी खानी है।

— लड़कियों को कपड़े धोने हैं।

— रानी ने कहा।

— उन्होंने कहा।

— उसी ने सभी केलों को खाया है।

— लड़कों ने लड़की को देखा।

— उसने लाठी को सीधा किया।

उपर्युक्त वाक्यों की क्रियाएँ ऋजु विभक्ति वाली संज्ञाओं से अन्वित हैं, तिर्यक् विभक्ति से नहीं, चाहे वे कर्ता ही क्यों न हों। इसी प्रकार जो कर्म तिर्यक् विभक्ति में हैं यानी परसर्गयुक्त हैं उनसे भी क्रियाएँ अन्वित नहीं हैं। संक्षेप में हिंदी-क्रियाएँ तिर्यक् रूप से कभी अन्वित नहीं होतीं। इनकी अन्विति हमेशा ऋजु रूप से होती है। हाँ, जब कर्ता और कर्म दोनों ही ऋजु विभक्ति में रहते हैं तो वरीयता मिलती है कर्ता कारक को।

1.4 अभी तक सरल कर्ता और कर्म की चर्चा की गई है जिनसे क्रिया की अन्विति के संबंध में कोई विवाद नहीं है। इसी प्रकार सरल विशेष्य और विशेषण की अन्विति के संबंध में भी कोई विवाद नहीं हैं। हिंदी में संयुक्त कर्ता, कर्म और विशेष्य आदि की अन्विति-व्यवस्था वास्तव में जटिल है क्योंकि भिन्न लिंग, भिन्न वचन, और भिन्न पुरुष तथा परसर्ग आदि मिल कर जटिलता बढ़ा देते हैं।

1.41 यद्यपि समलिंगी और समपुरुषी एकवचन के संयुक्त कर्ताओं और कर्मों के साथ क्रिया की अन्विति में विवाद कम हैं, क्योंकि लड़का+लड़का='दो लड़के' हो जाते हैं और ज्यों ही 'लड़के' रूप आया, स्वर-सामंजस्य काम करने लगता है। किंतु गदहा+घोड़ा='गदहा और घोड़ा' ही रहेगा, इसलिए यद्यपि इस संयुक्त कर्ता के साथ बहुवचन की क्रिया का ही लोग प्रयोग करते हैं, किंतु स्वन-व्यवस्था इसमें बाधा डालती है। यही कारण है कि व्याकरण के नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति और कभी-कभी व्याकरण जानने वाले भी असावधानी से ऐसे वाक्यों को प्रायः बोलते और लिखते भी देखे जाते हैं। कदाचित् स्वाभाविक भी ये ही हैं—

—घोड़ा और गधा मैदान में चर रहा है

—बुढ़िया और उसकी बड़ी लड़की इधर ही आ रही है।

—छोटा नागपुर की खानों से कोयला, अभ्रक, लोहा आदि निकाला जाता है।

—तुम्हारे कार्यों से सच्चाई और ईमानदारी प्रकट होती है।

—तुम, वह और मैं चलूंगा।

—उसने नया लोटा और कटोरा बेच दिया है।

इस संदर्भ में अन्विति संबंधी नियमों या अपवादों की विस्तृत चर्चा कामता प्रसाद गुरु के व्याकरण पैरा 568, 577 और आचार्य किशोरी दास वाजपेयी के हिंदी शब्दानुशासन (पृ० 358) में की है।

1.42 समलिंगी और समपुरुषी किंतु भिन्न वचनी दो या दो से अधिक अवयवों वाले संयुक्त कर्ता तथा कर्म की क्रियाओं में भी पूर्ण सहमति का अ ाव पाया जाता है, क्योंकि यहाँ तर्क और स्वर-सामंजस्य में तनाव आ जाता है:—

—उस गिरोह में दस युवक और केवल एक बालक था।

—चार युवतियाँ और एक पाँच वर्ष की बालिका कल शाम से ही गायब है।

—मेरी बरात में चार घोड़े और एक हाथी आया था।

—मेरा सबसे छोटा भाई और दोनों लड़के इसी कालेज में पढ़ रहे हैं।

—मैदान में कुछ बैल, दो-चार भैंसे और एक घोड़ा चर रहा था।

—मैंने कल दो तोते, चार कबूतर और एक सुंदर-सा हिरण-शावक खरीदा है।

1.43 भिन्न लिंगी और भिन्न वचनी किंतु सम पुरुषी दो या दो से अधिक अवयवों वाले संयुक्त कर्ता तथा कर्म की क्रियाएँ भी स्वर-सामंजस्य से प्रभावित होती हैं।

20—7 CHD(ND)/72

—मेरा एक लड़का और दो लड़कियाँ कालेज में पढ़ती हैं।

—मेरी दो लड़कियाँ और एक लड़का कालेज में पढ़ता है।

—मैदान में उस समय बहुत-सी गाय-भैंसें, पाँच-दस बैल और एक काला घोड़ा चर रहा था।

—मैदान में एक घोड़ा, दो बैल और बहुत-सी बकरियाँ चर रही हैं।

—पिताजी, छोटा भाई और माँ दस बजे की गाड़ी से बनारस जा रही हैं।

—धर्मेंद्र, मनोज कुमार और फिल्मजगत् की प्रसिद्ध नर्तकी वसुमती भी वहाँ उपस्थित थी।

—मालवीयनगर कॉलेज में लगभग सौ लड़कियाँ और चार सौ लड़के पढ़ते हैं।

उपर्युक्त वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हैं और प्रयोग में भी हैं।

टिप्पणी : अंतिम से पूर्व का उदाहरण यद्यपि स्वर-सामंजस्य का ही है, किंतु शेष से भिन्न है।

इस संबंध में शिवपूजन सहाय का विचार द्रष्टव्य है—

"यदि वाक्य में दोनों लिंगों और वचनों के अनेक विभक्ति रहित कर्ता हों तो क्रिया बहुवचन में होगी और उसका लिंग अंतिम कर्ता के अनुसार होगा, जैसे, एक घोड़ा, दो बैल और बहुत-सी बकरियां चरती हैं। एक बकरी, दो गाएँ और बहुत-से बैल चरते हैं।" (व्याकरण-दर्पण पृ० 224; 3 ख)

उपर्युक्त कथनों एवं उदाहरणों में हमें दो प्रकार की विसंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो यह है कि जब हम समूह में विभिन्न वस्तुओं अथवा प्राणियों को देखते हैं तो सबसे पहले हमारा ध्यान उस प्राणी पर जाता है जो अधिक संख्या में हैं। इसके बाद उससे कम पर और क्रमशः अंत में अकेले प्राणी पर। अतः वाक्य में इन्हें इसी क्रम से रखना चाहिए। दूसरी बात यह है कि जब अंत में एक वचन का कर्ता आएगा तो क्रिया भी एक ही वचन में होनी चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य इस प्रकार से लिखे जाने चाहिए—

—मैदान में बहुत-सी बकरियाँ, दो बैल और एक घोड़ा चर रहा है।

—मैदान में बहुत से बैल, दो गाएँ और एक बकरी चर रही है।

इस संबंध में डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत अधिक स्पष्ट है जो उपर्युक्त कथन और उदाहरणों से मेल खाता है।

1.44 कर्ता-क्रिया अन्विति के संबंध में गुरु जी का 574 वाँ और 575 वाँ पैरा स्वर-सामंजस्य का ही पोषण करते हैं।

1.5 हिंदी के केवल आकारांत विशेषण और कृदंत अपने विशेष्य के लिंग, वचन और विभक्ति से अन्वित होते हैं—

काला घोड़ा . . . . ।
काली घोड़ी . . . . ।
काले घोड़े . . . . ।
काले घोड़े की टांगें . . . . . . ।
आपकी खरी-खोटी बातें . . . ।
पका-पकाया भोजन . . . . . ।
पकी-पकाई रोटियाँ . . . . . ।

टिप्पणी : उर्दू के 'उम्दा', 'जिन्दा' आदि कुछ **विशेषण लिंग, वचन** आदि के कारण अन्वित नहीं होते । किंतु उर्दू का 'ताजा' अब नियमबद्ध होता जा रहा है । इस प्रकार 'आज की ताजा खबर' का 'ताजा' विशषण अब ताजी खबर/हवा/सब्जी आदि के रूपों में प्रयुक्त होने लगा है ।

1.51. संयुक्त विशेष्यों के पूर्व आने वाला विशेषण पूर्व पद के अनुसार होता है और विधेय-विशेषण उत्तर पद के अनुसार—

—छोटे-छोटे लड़के और लड़कियाँ अच्छी लगती हैं ।

—छोटी-छोटी लड़कियां और लड़के अच्छे लगते हैं ।

1.511 द्वंद्व समासों में अंतिम पद के अनुसार विशेषणों में परिवर्तन होता है—

—पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष. . . . . ।

—पढ़ी लिखी युवक-युवतियाँ.. . . . . ।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों स्थितियों में भी स्वन-नियम ही लागू होते हैं ।

उपर्युक्त उदाहरणों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि विशपण-विशेष्य की अन्विति भी मूलतः स्वर-सामंजस्य की ही देन है । निस्संदेह हिंदी की लिंग-व्यवस्था, वचन-व्यवस्था, विभक्ति-व्यवस्था, पुरुष-व्यवस्था आदि स्वर-सामंजस्य की ही उपज हैं ।

1.6. हिंदी वाक्यों के कर्तृ पूरक एवं कर्म पूरक दोनों में भी स्वर-सामंजस्य की प्रवृत्ति पाई जाती है—

कर्तृ पूरक

—तुम गधे हो ।

—शीला मेरी मित्र/सखी है ।

—श्रीमती इंदिरा गांधी भारत की यशस्वी प्रधानमंत्री हैं ।

—तुम जैसी हो, शीला वैसी नहीं है ।

—नैतिकता कानून से ऊँची है ।

—मेरी पत्नी रंगों की शौकीन है ।

—कपूर साहब तो गुलाब के फूल हैं, किंतु माथुर साहब बबूल के तेज काँटे ।

—आजकल के लड़के बेकारी के कारण मजनू बनते हैं ।

—काले कपड़े शोक के चिह्न माने जाते हैं ।

—इन सबके लिए भावी पीढ़ियाँ आपकी कृतज्ञ होंगी ।

—मुझे यहाँ अकेला-अकेला लगता है ।

—राधा ही श्रीकृष्ण की पटरानी बनी ।

कर्म पूरक

—उसने थाली आधी कर दी ।

—अपनी अभिलाषाओं को पूरी हुई जान मैं प्रसन्न हो उठा ।

—भगवान् ने उसकी इच्छा पूरी करने में काफी विलंब कर दिया ।

—भगवान् तू ने दीदी को इस कदर सीधी क्यों बनाया ।

—राम ने विभीषण को अपना परम भक्त पाया ।

—उसने मुझे मूर्ख समझा ।

—सुग्रीव को राम ने अपना मित्र बनाया ।

किंतु हिंदी में ऐसे वाक्य भी बोले-लिखे जाते हैं—

कर्तृ पूरक

—पत्नी की सुंदरता ही मेरे सर्वनाश का कारण बनी ।

—उनकी एक रकाबी मेरा एक निवाला होता है ।

—झूठ बोलना उसकी आदत हो गई थी ।

—बेटी पराए घर का धन होती है ।

कर्म पूरक

श्रीकृष्ण ने राधा को अपनी पटरानी बनाया । आदि ।

इस संबंध में गुरुजी का 569 वाँ नियम संपूर्णतः द्रष्टव्य है, विशेषकर यह कथन कि " शिष्ट लेखक बहुधा इस बात का विचार रखते हैं कि उद्देश्य पूर्ति के लिंग, वचन यथासंभव वही हों जो उद्देश्य के होते हैं ।"

पूरकों की स्थिति कर्ता या कर्म जितनी स्पष्ट नहीं है । जो पूरक मुख्य होते हैं, वे क्रिया का स्वरूप अपने अनुसार ढाल लेते हैं, किंतु जो गौण होते हैं, क्रिया की अन्विति अपने से नहीं कर पाते ।

1.7. क्रियाविशेषण अव्यय का एक भेद है। अतः यह भी अविकारी है। और तब अन्य शब्द भेद जो क्रियाविशेषण के स्थान पर प्रयोग किए जाएँगे उन्हें भी अविकारी होना चाहिए। हिंदी में इस नियम का प्रायः पालन होता है। किंतु जब वर्तमानकालिक कृदंत विशेषण विशेष्यनिघ्न होने पर क्रिया की विशेषता बताता है तब कर्ता तथा क्रिया दोनों के रंग में रंग जाता है। यह मूलतः विशेषण ही होता है जो विपर्यय के कारण क्रिया के पास आ जाता है और उसकी भी विशेषता बताने लगता है। ऐसे वाक्यों में स्वर-सामंजस्य गजब की छटा उपस्थित करता है।

—लड़का रोता हुआ आया और हँसता हुआ चला गया।

—लड़की रोती हुई आई और हँसती हुई चली गई।

—लड़के रोते हुए आए और हँसते हुए चले गए।

—लड़की भटकती हुई चली गई।

—बाल-मंडली गाती-बजाती हुई चली जा रही थी।

—लड़के झूमते हुए चले जा रहे थे।

1.71. अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदंत पुनरुक्त होकर क्रिया की विशेषता प्रकट करता है और प्रायः ए अंत्य होता है। जैसे—

—मैं लिखते-लिखते थक गया।

—हम काम करते-करते नहीं थके और तुम बैठे-बैठे थक गए।

—शीला हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई।

—आशा कुँवारे जीवन के एकाकीपन को झेलते झेलते ऊब चुकी थी।

—यह कहते-कहते वह चुप हो गई।

—चलते-चलते उसे एक गाँव दिखाई पड़ा।

—चोर मरते-मरते भी सच नहीं बोला।

—मैं गत वर्ष मरते-मरते बचा।

—हरिण देखते ही देखते कहीं गायब हो गया।

किंतु स्वर-सामंजस्य इसका भी साथ छोड़ता प्रतीत नहीं होता। यद्यपि पुनरुक्त रूप में ते-ते रूप ही अधिकतर देखने को मिलता है तथापि कुछेक उदाहरण आ रूप के भी मिल जाते हैं। लगता है, आगे चलकर यही रूप प्रबल हो जाएगा।

—शीला दौड़ी-दौड़ी आई।

—यात्री अनेक देशों में घूमता-घूमता लौटा। (621 ई, गुरु)

—लड़का पढ़ता-पढ़ता सो गया लगता है।

—इस तरह वे पीड़ितों और बीमारों की सेवा करती-करती 80 वर्ष तक जीवित रहीं।

1.72. कतिपय सामान्य विशेषण जो क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं, स्वर-सामंजस्य से प्रभावित हो जाते हैं—

—खंभा टेढ़ा गड़ा है।

—खंभे टेढ़े गड़े हैं।

—धोबी कपड़ा अच्छा धोता है।

—धोबी कपड़े अच्छे धोता है।

—वह सीधा भागता हुआ रसोई में घुस गया।

—झंडियाँ सीधी गाड़ी गई हैं।

किंतु

—उसकी दृष्टि नीचे थी।

—उसकी दृष्टि नीची थी।

—शील: अकेले जा रही है।

—शीला अकेली जा रही है।

एक वाक्य का **नीचे** स्थानवाचक क्रियाविशेषण है, जबकि दूसरे वाक्य में **नीची** अवस्थाबोधक विशेषण है।

1.73. स्वर-सामंजस्य के कारण ही निम्नलिखित संरचनात्मक भिन्नता दिशाबोधक क्रियाविशेषणों में देखने को मिलती है—

—दाईं ओर।

—मकान के दोनों ओर

—घर की तरफ

—घर के चारों तरफ

1.8. वाक्य-स्तर पर संयोजकों में भी स्वर-सामंजस्य आसानी से देखा जाता है—

जब . . . . तब

जब-जब. . . . . . . तब-तब

जब तक. . . . . . . तब तक

ज्योंही . . . . . त्योंही

जो. . . . . तो

यद्यपि. . . . . तथापि

जैसे. . . . . ऐसे

जैसे-जैसे . . . . वैसे-वैसे आदि ।

1.81. इतना ही नहीं और आदि से संयुक्त समानाधिकरण उपवाक्यों की संरचना एक-सी होनी चाहिए और जब वे एक-सी होंगी तो स्वर-सामंजस्य वहाँ होगा ही ।

—लोग नदियों के किनारे घर बनाकर रहने लगे और खेतीबारी करके अपना भरण-पोषण करने लगे ।

—मैं विद्यालय में पढ़ता हूँ और घर पर केवल खेलता हूँ ।

इनके विपरीत निम्नांकित वाक्यों को देखिए—

—वह आठवीं कक्षा में पढ़ता है और हमेशा घर पर पढ़ता रहता हैं ।×

—रानी बहुत चिंतित रहने लगी और रह-रहकर तोते को कोसती जाती थी ।×

—धीरे-धीरे आकाश में बादल छाने लगे और जोरों की वर्षा हो रही है ।×

—हम उस रूमाल को हिला रहे थे और चप्पलें बीच हवा में ऊपर-नीचे झूल रही थीं ।×

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वर-सामंजस्य शुद्ध वाक्यों के निर्माण मे सर्वाधिक सहायक है, किंतु कुछ परिस्थितियों में यह बाधक भी बन जाता है। जिन स्थितियों में यह बाधक बन जाता है उनका विशेष रूप से उल्लेख कर छात्रों को हिंदी की अन्विति-व्यवस्था की शिक्षा सफलतापूर्वक दी जा सकती है।

2 तर्क

2.0 अन्विति-व्यवस्था को प्रभावित करनेवाला दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है तर्क। यद्यपि तर्क का सीधा संबंध अर्थ से होता है, तथापि अन्विति-व्यवस्था भी इससे कुछ परिस्थितियों में प्रभावित हो जाती है। हालांकि हिंदी के अधिकतर अन्विति-नियम स्वर-सामंजस्य पर आधृत हैं तो भी कतिपय स्थितियों में यह स्वर-सामंजस्य को बलपूर्वक पीछे धकेल कर आगे आ जाता है।

2.1. और तथा इसके पर्यायों से बने ऋजु संयुक्त कर्ता एवं कर्म के साथ क्रिया की अन्विति में स्वर-सामंजस्य और तर्क में रस्साकसी हो जाती है। जैसे—

—बूढ़ा और बच्चा आ रहे हैं ।

—घोड़ा और गधा चर रहे हैं ।

—लोहा और कोयला सस्ते बिकते हैं।

—उसके जीवन में उत्साह और साहस नित्य बढ़ते गए।

—मैंने लोटा और कटोरा खरीदे।

—मैंने संपूर्ण बल और साहस उस काम में लगा दिए।

2.2. इसी प्रकार दो से अधिक अवयवों के ऋजु कर्ताओं और कर्मों में भी बहुवचन की क्रिया का प्रयोग बहुधा होता है—

—राम, श्याम और मोहन घर जा रहे हैं।

—मैदान में गाय, भैंस और बकरी चर रही हैं।

—बिहार में लोहा, कोयला और अभ्रक प्रचुर परिमाण में मिलते हैं।

—उसके जीवन में उत्साह, धैर्य और साहस नित्य बढ़ते गए।

—मैंने गत वर्ष दस बैल, दो घोड़े और एक हाथी खरीदे।

—हमने पाकिस्तान से हुए युद्ध में अपना सारा बल, वैभव और कौशल दाव पर लगा दिए।

—मैंने आज केला, संतरा और अमरूद भरपेट खाए हैं।

2.3. भिन्न पुरुषी संयुक्त कर्ताओं में भी बहुवचन की क्रिया का ही प्रयोग करना वांछित है—

—तुम, वह और मैं एक ही साथ चलेंगे।

—तुम और मैं चलेंगे।

—पंत जी, मैथिलीशरण जी, बच्चन जी और मैं मिले। (दिनकर)

टिप्पणी : (1) भिन्न पुरुषी पदबंधों का प्रयोग कर्म के साथ में नहीं होता।

(2) चूंकि भाववाचक संज्ञाओं का प्रयोग अधिकतर लेखक एकवचन में ही करते हैं—उनके वाचनीय होने के कारण, इसलिए भाववाचक के शब्द-समूहों का भी प्रयोग बहुधा एकवचन में ही करने की प्रवृत्ति देखने में आती है—

—मेरा साहस, धैर्य और उत्साह नित्य बढ़ता गया।

—ज्यों-ज्यों उसका घर निकट आ रहा था त्यों-त्यों एक अज्ञात भय, आशंका और संदेह उसे जकड़ते जा रहा था।

—इसमें विश्वास, तपस्या और श्रद्धा है, मृत्यु की पराजय और क्षुद्रता नहीं।

—उसके चेहरे पर कातरता और अवसाद था।

2.4. किंतु भिन्न लिंगी और भिन्न वचनी ऋजु संयुक्त कर्ताओं और कर्मों की क्रियाओं की अन्विति कर्ता या कर्म के अंतिम अंश, लिंग, वचन, के अनुसार होती है।

—मुझे दो घोड़े, दस बैल और एक गाय खरीदनी है।

—मैंने एक संतरा, दो आम और एक मौसमी खरीदी।

टिप्पणी : संप्रति अधिकतर लेखक जिन संयुक्त कर्ताओं और कर्मों से बहुवचन का बोध होता है, प्रायः बहुवचन में ही उनका प्रयोग करते हैं।

—क्षोभ, क्रोध और उद्विग्नता मेरे मन पर छा गए हैं।

स्वर-सामंजस्य और तर्क में गहरी रस्साकसी देखने में आती है। ऐसी स्थिति में मेरी दृष्टि से, वरीयता स्वर-सामंजस्य को मिलनी चाहिए; क्योंकि यह हिंदी की प्रकृति के अधिक अनुकूल है जिसके परिणामस्वरूप प्रयोक्ताओं से कम भूलें होने की संभावना रहेगी। फिर भी, संप्रति हिंदी में किए जा रहे प्रयोगों को भली प्रकार जाँच कर एक निश्चय कर लेना वांछनीय है।

कुछ सयाने लेखक जब इस विवाद में फँस जाते हैं तो पं० किशोरी दास वाजपेयी की सम्मति मानकर समुदायवाचक शब्द का सहारा लेकर अथवा शब्दों के क्रम को उलट-फेर कर मुक्ति की साँस लेते हैं। मेरी दृष्टि में ऐसा तभी करना चाहिए जब अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए ऐसा करना आवश्यक हो। क्योंकि उपर्युक्त दोनों युक्तियाँ सभी स्थितियों के लिए न तो अनुकूल हैं न ही उपयुक्त, क्योंकि ऐसा करने से अर्थ पर प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी अर्थ भी बदल जाता है—

—लड़के-लड़कियाँ सभी चले गए।

—तुम, वह और मैं तीनों साथ चलेंगे।

—मेरे माँ-बाप, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष, धन-दौलत सब कुछ छिन गए।

3. रचनांतरण

3.0 रचनांतरण और प्रजनक व्याकरण के जन्मदाता नोएम चॉम्स्की ने सिद्ध कर दिया है कि संसार की प्रायः सभी भाषाओं में पाँच-सात से अधिक मूल वाक्य नहीं होते, शेष सभी वाक्य उन्हीं से रचनांतरित होते हैं, व्युत्पन्न होते हैं। हिंदी में छह मूल वाक्यों ने अनगिनत वाक्य इस विधि से बना लिए हैं और अनगिनत वाक्य नित्य बना रहे हैं। जब मूल वाक्य रचनांतरित होकर नए वाक्यों का निर्माण करते हैं तो हो सकता है कि वे अपनी पूर्व स्थिति को बनाए रखें, पूर्णतया रचनांतरित हो जाएँ अथवा किंचित् परिवर्तित हो जाएँ। रचनांतरण में पहले दो या अधिक मूल वाक्य विभिन्न संयोजकों द्वारा आपस में जुड़ते हैं जिसके फलस्वरूप संयुक्त या मिश्र वाक्य व्युत्पन्न होते हैं। ऐसे वाक्यों में मूल वाक्य उपवाक्य बन जाते हैं। इसके आगे की प्रक्रिया पदबंध संरचना है जिसके अंतर्गत उपवाक्य कट-छँटकर पदबंध में रचनांतरित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मूल वाक्यों या उपवाक्यों की यावत्स्थिति नहीं रह पाती। उनका स्वरूप किंचित् या संपूर्णतः परिवर्तित हो जाता है। परिणामस्वरूप अन्विति-व्यवस्था प्रभावित हो जाती है।

—किताब मेरी है। किताब मेज पर पड़ी है।=जो किताब मेज पर पड़ी है वह मेरी है=मेज पर पड़ी किताब मेरी है।

—फूल खिल रहे हैं। फूलों को मत तोड़ो।=जो फूल खिल रहे हैं उन्हें मत तोड़ो=खिलते हुए फूलों को मत तोड़ो।

—शाम ढली। हम लोग घर पहुंच गए। =जब तक शाम ढली तब तक हम लोग घर पहुंच गए=शाम ढलते-ढलते हम लोग घर पहुँच गए।

—अध्यापक अंदर आया। छात्र खड़े हो गए। =ज्यों ही अध्यापक अंदर आया, त्योंही छात्र खड़े हो गए। =अध्यापक के अंदर आते ही सब छात्र खड़े हो गए।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि एक आधायक वाक्य है और दूसरा आधायित वाक्य। आधायक वाक्य प्राय: ज्यों का त्यों रह जाता है, किंतु आधायित वाक्य पदबंध में रचनांतरित होने के क्रम में कट-छँट जाता है। किंतु स्मरण रहे कि वह काट-छाँट स्वन-नियमों के ही अनुसार होती है।

3.1. मूल वाक्य के विशेषण अथवा कृदंत और समानाधिकरण जिस रूप में विधेय स्थान पर आते हैं प्राय: उसी रूप में अपने विशेष्य के पूर्व भी आते हैं—

—मैंने आम खाए। आम मीठे थे।=मैंने जो आम खाए वे मीठे थे।=मैंने मीठे आम खाए।

—उसने पुस्तक छोड़ दी। पुस्तक खुली थी।=उसने जो पुस्तक छोड़ दी वह खुली थी=उसने पुस्तक खुली छोड़ दी।

—मैं आज कपड़े पहनूंगा। कपड़े धोबी के धोए हुए हैं।=जो कपड़े धोबी के धोए हुए हैं, मैं उन्हें आज पहनूंगा।=धोबी के धोए कपड़े ही मैं आज पहनूंगा।

—हम लोग पटना जा रहे हैं। पटना बिहार की राजधानी है।=पटना जो बिहार की राजधानी है (वहाँ) हम लोग जा रहे हैं।=हम लोग बिहार की राजधानी पटना जा रहे हैं।

3.2. उपवाक्य स्तर पर क्रिया-पदों का रचनांतरण अत्यंत महत्वपूर्ण है; क्योंकि इसके द्वारा विभिन्न प्रकार के संबंधों एवं अर्थों को अभिव्यक्त करना संभव है। उक्त रचनांतरण के फलस्वरूप कतिपय स्थितियों में क्रियापद ज्यों का त्यों रह जाता है, किंतु अधिकतर स्थितियों में परिवर्तित हो जाता है।

निम्नांकित उदाहरण संक्षेप में दिए गए हैं—

—आम सड़ गए। आम पड़े थे। =आम पड़े-पड़े सड़ गए।

—लड़का कविताएँ लिख रहा है। लड़का वहाँ बैठा है। =वहाँ बैठा हुआ लड़का कविताएँ लिख रहा है / लड़का वहां बैठा-बैठा कविताएँ लिख रहा है।

—गाड़ी अचानक रुक गई। गाड़ी चल रही थी।=गाड़ी चलती हुई अचानक रुक गई।

किंतु—

—राम दीवान पर लेटता है। राम पढ़ता है।=राम दीवान पर लेटता है और पढ़ता है।=राम दीवान पर लेट कर पढ़ता है।

—पिताजी आएंगे। मैं जाऊंगा। =जब पिताजी आएंगे तब मैं जाऊंगा। = पिताजी के आने पर मैं जाऊंगा।

—शीला हंस रही थी। शीला ने कहा। =जब शीला हंस रही थी तब उसने कहा। =शीला ने हंसते हुए कहा।

—वह चल रहा था। उसने कहा।=जब वह चल रहा था तब उसने कहा। = उसने चलते-चलते कहा।

—मैंने उसे पुकारा। वह नहीं आया।=यद्यपि मैंने उसे पुकारा तो भी वह नहीं आया।=मेरे पुकारने पर भी वह नहीं आया।

स्मरणीय है कि विकारी रूप विशेषण या विशेष्य क्रियाविशेषण का काम करता है और अविकारी रूप क्रियाविशेषण का।

4. मनोविज्ञान

4.0 मानव भाषा का प्रयोक्ता ही नहीं; बल्कि उसका सर्जक और नियामक भी है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि मानव-मनोविज्ञान भाषा को उसके कुछ क्षेत्रों में प्रभावित करे।

4.1 आदरार्थ में बहुवचन का प्रयोग मानव-मनोविज्ञान का एक उदाहरण है और कदाचित् हिंदी की अपनी विशिष्टता भी। जैसे—

—पिता जी आज पटना जा रहे हैं।

—वे वहाँ कुछ दिनों तक रहेंगे।

—श्रीमती इंदिरा गांधी यहाँ आज ही पधार रही हैं।

4.2. अभी तक तो आदरार्थ में बहुवचन रूप ही व्याकरण सम्मत माना जाता रहा है, किंतु स्त्रीलिंग कर्ताओं के साथ पुल्लिंग बहुवचन क्रियाओं का प्रयोग भी अब सुनने को मिलने लगा है। जैसे—

—माता जी अभी तक नहीं आए हैं।

—बहन जी आज देर से आएंगे।

—शीला जी, आप भी मेरे साथ चल रहे हैं न ?

इसका कारण है संभवतः आदरणीय व्यक्ति का सामर्थ्यवान होना या उसमें सामर्थ्य का आभास होना। जहाँ सामर्थ्य और शक्ति है वहाँ > परुषता > पौरुष > पुल्लिंग का सहज आभास होने ही लगता है।

4.3. निम्नांकित वाक्यों में भी मानव-मनोविज्ञान ही कार्य करता प्रतीत होता है—

—राजा और रानी आए ।

—बाघ और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं ।

—मेरे भाई बहन पढ़े-लिखे हैं ।

हिंदी के वैयाकरणों ने उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर ऐसी स्थितियों में इस प्रकार का नियम बना दिया है कि "यदि भिन्न-भिन्न लिंगों की दो (या अधिक) प्राणिवाचक संज्ञाएं एक वचन में आएं तो क्रिया बहुधा बहुवचन में आती है।" ('गुरु' 570) लगभग यही विचार वाजपेयी जी ने भी अपनी भाषा में व्यक्त किया है। किंतु उपर्युक्त वाक्यों की स्थिति ऐसी नहीं है। राजा और बाघ क्रमशः 'रानी' और 'बकरी' से अधिक महत्त्वपूर्ण ही नहीं, बल्कि मानव-मन पर हावी भी हैं। इस-लिए क्रिया पुल्लिंग बहुवचन में आई है। बाद में गुरु जी (570अ) एवं वाजपेयी जी ने (पृ० 59–60) इस नियम का विस्तार द्वंद्व समास तक किया है। "कई एक द्वंद्व समासों का प्रयोग इसी प्रकार होता है जैसे, स्त्री-पुत्र भी अपने नहीं रहते (गुटका) बेटा-बेटी सबके घर होते हैं, उनके मां-बाप गरीब थे।" (570ऊ) "'नर-नारी' में द्वंद्व समास है और अंतिम पद के अनुसार क्रिया शब्द की कल्पना की जा सकती है; परंतु हिंदी में ऐसी जगह सामान्य प्रयोग होता है—पु० अन्य-पुरुष" (पृ० 359)

आचार्य रामलोचन शरण ने अपनी पुस्तक 'व्याकरण-चंद्रोदय' के पृ० 188 पर 'समास प्रयोग' पर विचार करते हुए इस विषय को और स्पष्ट किया है—"द्वंद्व समास से बने समस्त शब्द का लिंग अंतिम खंड के अनुसार होता है, परंतु जिसमें पूर्व खंड की प्रधानता हो उसका लिंग उसी खंड के अनुसार होता है; जैसे—आज ही हमारे राजा-रानी आए हैं।

नोट—1. "कुत्ते-बिल्ली खाए डालते हैं। नर-नारी आए हैं। माता-पिता अच्छे हैं। कितने दिन-रात गुजर गए।" इत्यादि वाक्य भी प्रयोग में हैं।

2. तत्पुरुष, कर्मधारय और द्विगु के लिंग अंतिम अंश के अनुसार और बहुव्रीहि के विशेष्य के अनुसार होते हैं। जैसे—गंगाजल मीठा है।..."

उपर्युक्त उद्धरणों एवं विवेचनों से स्पष्ट है कि सभी 'संज्ञा समासों' का लिंग-निर्णय या रूप-रचना उनके अंतिम पद के अनुसार ही होती है जो स्वन-व्यवस्था के ही अनुकल है।

—यहां का हवा-पानी अच्छा है।

—पत्र-पत्रिकाएं मेज पर रखी थीं।

इसलिए उपर्युक्त उदाहरण-वाक्यों को या तो विशेष प्रयोग मानना होगा अथवा मानव-मनोविज्ञान की सक्रियता—भला राजा-रानी को स्त्रीलिंग एकवचन में कैसे रखा जाए।

यह उदाहरण निम्नांकित रचनांतरण का उदाहरण है।

राजा आए।

रानी आई।

इन दोनों वाक्यों के कर्ताओं में निश्चय ही 'राजा' की प्रधानता है, इसलिए क्रिया को उसी के अनुसार रखा गया है।

गुरुजी की दी हुई व्यवस्था के अनुसार अव पुल्लिग वहुवचन का ही अपवाद-रहित प्रयोग हो रहा है। इस प्रयोग की स्वीकृति का कारण नियमों की सरलता में तो है ही, साथ ही समाज में पुरुषों की प्रधानता भी है। वाजपेयी जी ऐसे वाक्यों में लिंग विविधता का नितांत अभाव वताते हैं।

4.4. मानव-मनोविज्ञान का एक दूसरा उदाहरण सुनने में आता है, जव स्त्रियाँ अपने लिए 'हम' या 'हम लोग' सर्वनाम का प्रयोग करती हैं। ऐसी स्थितियों में निर्विवाद प्रयोग निम्नांकित क्रिया-रूप का ही होता है।

ठहरो शीला, हम लोग भी चल रहे हैं।

सहेलियों के साथ हम भी चले जाएंगे।

वर्तमान संसार में पुरुषों और स्त्रियों में समानता के लिए होड़ मच गई है और वे किसी भी क्षेत्र में पुरुषों की वरावरी के लिये कटिवद्ध प्रतीत होती हैं। अतः अपने लिए उन्हें स्त्रीलिंग की क्रिया का प्रयोग करते हुए झिझक होती है। कदाचित् इसका एक अन्य कारण भी हो सकता है—सर्वनाम प्रयोग। सर्वनाम यद्यपि अपनी पूर्वगामी संज्ञा के लिंग-वचन के अनुसार ही आता है, किंतु यह होता है लिंग निर्विशेष ही। अतः 'हम' या 'हम लोग' के साथ पुल्लिग वहुवचन क्रिया का ही प्रयोग होता है। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि स्त्रियाँ वोलचाल में शुद्धि-अशुद्धि का विना विचार किए ही पुल्लिग वहुवचन का प्रयोग करती हैं। किंतु सभी स्त्रियों द्वारा ऐसा ही प्रयोग करना उपर्युक्त कथन की पुष्टि नहीं करता। कुछ भी हो, यहाँ प्रमुख कारण है मानव-मनोविज्ञान ही—पुरुषों जैसा व्यवहार करना ही।

किंतु जव कोई स्त्री अपने लिए मैं का प्रयोग करती है तव वह निर्विवाद रूप से वोलती है—

—मैं जा रही हूं।

—मैं अभी आई।

इस प्रकार तीसरा कारण सार्थक प्रतीत नहीं होता।

टिप्पणी : 'हम जा रहे हैं' और 'मैं जा रही हूं' की स्वनात्मक दृष्टि से परीक्षा करने पर शायद स्वर-सामंजस्य प्रवृत्ति का आभास हो।

5. प्रयोग

भाषा में कुछ विशेष प्रयोग जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध भी हो सकते हैं, चल पड़ते हैं और वाद में अधिकतर प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयोग किए जाने पर वैयाकरण द्वारा स्वीकार कर लिए जाते हैं। कुछ प्रसिद्ध लेखक भावविशेष की अभिव्यक्ति के लिए व्याकरण के नियमों का अतिक्रमण करते हैं। यदि ऐसा करने

पर सचमुच विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति आदि होती है तो वह गृहीत हो जाती है। किंतु भाषा का अतिक्रमण मात्र अतिक्रमण के लिए होने पर वैसा प्रयोग व्यक्ति-सीमित रह जाता है। हमारी दृष्टि से 'राजा-रानी आए', 'बहन जी ! आप कब तक आएंगे', 'माता जी अभी नहीं आए हैं' और महिलाओं द्वारा 'हम भी चलते हैं' आदि को विशेष प्रयोग माना जा सकता है। 'इफ़ आई वर. . . .' इफ़ ही कम ('इफ ही वुड कम' का संक्षिप्त रूप) आदि जैसे अंग्रेज़ी में विशेष प्रयोग हैं, वैसे प्रयोग हिंदी में संभवतः नहीं हैं।

संप्रति हिंदी में अन्विति-व्यवस्था अनिश्चित-सी है और इसमें एकरूपता का नितांत अभाव है। संयुक्त कर्ताओं और कर्मों तथा विशेष्यों के साथ क्रियाओं और विशेषणों को क्रमशः अन्विति बिठाने में प्रायः कठिनाई अनुभव होती है। उपर्युक्त संदर्भ में गुरुजी प्रभृति वैयाकरणों ने जो नियम दिए हैं, वे न तो अपने में पूर्ण हैं और न ही सुलझे हुए। हिंदी के वैयाकरणों ने मुख्य रूप से हिंदी की अन्विति-व्यवस्था क्या है इस प्रश्न पर ही विचार किया है, वे कोई निश्चित आधार-बिंदु प्रस्तुत नहीं कर सके हैं।

इस निबंध में अन्विति की समस्याओं को उनके कारणों के साथ संक्षेप में विश्लेषित करने और उनका निदान कुछ आधार-बिंदुओं पर प्रस्तुत करने का लघु प्रयास किया गया है। इसमें हिंदी की अन्विति व्यवस्था क्या है, पर तो विचार किया ही गया है, किंतु विशेष बल दिया गया है क्यों पर। और इसी क्यों का उत्तर देते समय कुछ आधार प्रस्तुत किए गए हैं जिनका औचित्य कोई राष्ट्रीय संस्था ही हिंदी के विद्वान् लेखकों की सहायता से कर सकती है। हिंदी की यह जटिल समस्या तात्कालिक समाधान चाहती है, क्योंकि इसका सीधा संबंध भाषा-व्यवहार से है।●

ज-प्रकार के सम्मिश्र वाक्यों में विशेषीकरण

वी० रा० जगन्नाथन

हिंदी के सम्मिश्र वाक्यों में ज-प्रकार के संबं वाचक वाक्य प्रधान हैं। ज-प्रकार के वाक्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

संज्ञात्मक—जो......वह

विशेषणात्मक—जितना......उतना
जैसा......वैसा

क्रियाविशेषणात्मक— जब......तब (समय)
जहाँ......वहाँ (स्थान)
जिधर......उधर (दिशा)
जैसे......वैसे (रीति)

ज-प्रकार के वाक्यों में संज्ञात्मक और क्रियाविशेषणात्मक वाक्य ही वास्तव में संबंधवाचक हैं, विशेषणात्मक नहीं। क्योंकि संज्ञात्मक सम्मिश्र वाक्य के दो उपवाक्यों में कर्ता या कर्म की अनन्यता सूचित होती है। ऊपर के चारों क्रिया-विशेषणात्मक सम्मिश्र वाक्यों के दो उपवाक्यों में क्रमश: क्रिया के समय, स्थान, दिशा और रीति की एकता प्रकट होती है। लेकिन विशेषणात्मक सम्मिश्र वाक्यों में अनन्यता का भाव नहीं, बल्कि तुलना का भाव प्रधान है। इसमें दो वस्तुओं की मात्रा या स्तर की तुलना की जाती है। तीनों प्रकारों के लिए रचनांतरण के नियम बनाने से इस भिन्नता का आधार अधिक अच्छी तरह प्रकट हो सकता है।

संज्ञात्मक उपवाक्य :

*र०-संबंध : X + NP + Y => [NP + जो + X + Y
जो + NP + X + Y
जो + X + Y]

---

*र.=रचनांतरण नियम

इस नियम के वाद जो + (NP) + PP => जिस + (NP) + PP का नियम लागू होता है।

पूरे वाक्य के संदर्भ में निम्न प्रकार से द्‌वि-आधारी रचनांतरण का नियम लागू होता है।

क्षिप्त वाक्य : × (1) + NP (2) + Y (3)

आधार वाक्य : × (4) + NP (5) + Y (6)

परिणाम : जो + 2 + 1 + 3 + वह + 4 + 6

उदा० लड़का मेरा भाई है।

शाम को लड़का आया था। =>

जो लड़का शाम को आया था, वह मेरा भाई है।

क्रियाविशेषणात्मक उपवाक्य :

र०— जहाँ : X + क्रि० वि० (स्थान) + Y => [जहाँ / जिस जगह] + X + Y

र०— जव : X + क्रि० वि० (समय) + Y => [जव / जिस समय] + X + Y

र०— जिधर : X + क्रि० वि० (दिशा) + Y => [जिधर / जिस ओर] + X + Y

र०— जैसे : X + क्रि० वि० (प्रकार) + Y => [जैसे / जिस तरह / जिस प्रकार] + X + Y

रचनांतरित उपवाक्यों में संवंधसूचक (ज–आदि) शब्दों का स्थान वाक्यों में वदल सकता है।

इन वाक्यों में द्‌वि-आधारी रचनांतरण का एक उदाहरण देखा जा सकता है।

क्षिप्त वाक्य : X (1) + क्रि० वि० (2) + Y (3)

आधार वाक्य : X (4) + क्रि० वि० (5) + Y (6)

परिणाम : जहाँ + 1 + 3 [(वहाँ) / क्रि० वि० (स्थान)] + 4 + 6

उदा० मैं उस होटल में ठहरता हूँ।

उस होटल में जगह नहीं है। =>

जहाँ मैं ठहरता हूँ, उस होटल में जगह नहीं है।

संज्ञा तथा क्रियाविशेषण के वाक्यों को लेने के बाद हम विशेषणात्मक वाक्यों को लें ।

इन्हें देखने से पहले द्‌वि-आधारी रचनांतरण के परिणामस्वरूप जो वाक्य मिलें, उन्हें देखें और उनके आधार पर क्षिप्त और आधार वाक्य निकालने की कोशिश करें ।

जिस तरह संज्ञा और क्रियाविशेषण वाक्यों में दो मूल वाक्य उसी अर्थ में मिलते हैं, उसी तरह विशेषण वाक्यों में मिलना मुश्किल है । अगर हम किसी तरह दो वाक्यों में उस अर्थ को प्रकट करने की कोशिश करें, तो दिए गए वाक्य के निम्न प्रकार के उपवाक्य बनेंगे ।

मैं जितना खाना खाता हूं, उतना मेरी पत्नी नहीं<==

'मैं खाता हूं । मेरी पत्नी नहीं खातीं'

ये निरर्थक वाक्य है ।

'मैं बहुत खाता हूं । मेरी पत्नी बहुत नहीं खातीं '

इनमें पहला उपवाक्य भिन्न अर्थ देता है, जबकि 'जितना' वाले वाक्य में 'बहुत' का अर्थ निहित नहीं है ।

'मैं एक मात्रा में खाना खाता हूं ।' 'मेरी पत्नी उस मात्रा में नहीं खातीं ।' ये उपवाक्य अस्वाभाविक और अप्रयुक्त हैं ।

इसी तरह 'जैसा' वाला वाक्य लीजिए ।

मैं जैसी कमीज़ चाहता हूं, वैसी कमीज़ यहां नहीं है <==

मैं कमीज़ चाहता हूं । कमीज यहां नहीं है ।

ये वाक्य दूसरे अर्थ वाले हैं ।

मैं एक तरह की कमीज़ चाहता हूं । उस तरह की कमीज़ यहां नहीं है ।

यहां अर्थ प्रकट होता है, लेकिन 'एक तरह की' का इस संदभ में प्रयोग अप्रयुक्त है । जैसे—;

'मैंने कल जैसा खाना खाया था' को 'मैंने कल एक तरह का खाना खाया था' नहीं कहा जा सकता । संज्ञा तथा क्रियाविशेषण उपवाक्यों के इस भेद का कारण यह है कि संज्ञा और क्रिया उपवाक्य वास्तव में संबंधसूचक होते हैं और विशेषण उपवाक्य तुलनामूलक होता है । तुलना की स्थिति एक उपवाक्य से स्पष्ट नहीं होती । दोनों उपवाक्यों की उपस्थिति ही उस तुलना के स्वरूप को स्पष्ट करती है । अगर रचनांतरण का नियम देना चाहते हैं, तो 'मैं इतना खाना नहीं खाऊंगा', 'मैं ऐसी ही कमीज़ लूंगा ' को आधार वाक्य बनाया जा सकता है, लेकिन 'मैं उतने रुपये नहीं दूंगा' अपने में पूर्ण उपवाक्य नहीं है, जिसके आधार पर रचनांतरण का नियम बनाया जा सके । इसमें तुलना निहित है, जो प्रकरण से ही स्पष्ट हो सकती है ।

संज्ञा उपवाक्यों में संज्ञा को विशेषीकृत करके, सम्मिश्र वाक्य को एक सामान्य वाक्य बनाया जा सकता है । लेकिन हिंदी में संज्ञा उपवाक्य के विशेषीकरण का नियम सरल नहीं है। संज्ञा उपवाक्यों में विशषीकरण के कुछ सामान्य रूप निम्न प्रकार से हो सकते हैं :—

र०—लोप (पूरक) : NP + जो + पूरक + कोप्यूला => पूरक+ NP

नेहरू, जो हमारे प्रधानमंत्री थे=>हमारे प्रधानमंत्री नेहरू

लड़के, जो कमज़ोर हैं=>कमज़ोर लड़के ।

र०—लोप (कृदंत) : जो +NP + × + कृदंत + कोप्यूला => × + कृदंत +NP

जो लड़का गाँव से आया (हुआ है)=>गाँव से आया हुआ लड़का

जो बस चलती (होती) है=>चलती बस

जो चिट्ठी भेजी गई है=>भेजी गई चिट्ठी

जो लोग आने वाले हैं=>आने वाले लोग

कृदंत वर्ग के अंदर ही वाच्य (भेजा गया) को भी लिया गया है, क्योंकि इस का प्रकार्य कृदंत का ही है। आजकल कई जगह 'रहा' की क्रियाओं का भी विशेषीकरण देखने को मिलता है, जैसे 'भाग रहे लोग' 'हो रहा काम' आदि। इसका प्रयोग निश्चित हो जाने पर उक्त नियम में आवश्यक विस्तार और सुधार करना होगा।

ऊपर बताया गया है कि संज्ञा उपवाक्यों में विशेषीकरण कठिन है, क्योंकि सभी क्रियाओं का विशेषीकरण नहीं होता। जैसे, 'ने' युक्त सकर्मक वाक्यों में या भविष्यत्काल के वाक्यों में विशेषीकरण नहीं होता । इनका विशेषीकरण अगर संभव हो, तो ऊपर दिए गए क्रिया के कृदंत रूप से होता है ।

उदाहरण :

जो लोग खाना खाते (होते) हैं=>खाना खाते लोग

जिन लोगों ने खाना खाया=> ?

जिस आदमी ने चोट खाई=>चोट खाया हुआ आदमी

जो लड़का शाम को आएगा=>शाम को आने वाला लड़का

उसने जो किताब बेची=>(जो किताब बेची गई)
=>बेची गई किताब

उसने जो किताब मेज पर रखी=>(जो किताब मेज पर रखी हुई है)
=>मेज पर रखी हुई किताब

जो किताबें बिकीं=>बिकी (हुई) किताबें आदि ।

इन उदाहरणों से प्रकट होगा कि हर क्रिया का हर संदर्भ में विशेषीकरण नहीं होता। जहाँ होता है वहां क्रिया का कृदंत रूप ही विशेषण के तौर पर आता है।

विशेषणात्मक (ज—प्रकार) के वाक्यों में विशेषीकरण की प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल है। इसका रचनांतरण नियम निम्न प्रकार से है।

$$\text{र०—वि} \begin{bmatrix} \text{जितना} \\ \text{जैसा} \end{bmatrix} : \text{वि}_1 + \begin{bmatrix} \text{क्रि० वि० (स्थान)} + (PP) \\ \text{क्रि० वि० (समय)} + (PP) \\ NP \end{bmatrix}_1$$

$$+ \times + \text{वि}_2 + \begin{bmatrix} \text{क्रि० वि० (स्थान)} + (PP) \\ \text{क्रि० वि० (समय)} + (PP) \\ NP \end{bmatrix}_2 + \begin{bmatrix} \times \\ \text{नहीं} (\times) \end{bmatrix} \Rightarrow$$

$$\begin{bmatrix} \text{क्रि० वि० (स्थान)} + (PP) \\ \text{क्रि० वि० (समय)} + (PP) \\ NP \end{bmatrix}_2 + \begin{bmatrix} \text{क्रि० वि० (स्थान)} \\ \text{क्रि० वि० (समय)} \\ NP\ (oblique) \end{bmatrix}_1$$

$$+ \text{वि}_1 + \begin{bmatrix} \times \\ \text{नहीं} \quad \times \end{bmatrix}$$

क्रियाविशेषण (स्थान)

कलकत्ते में जितनी वारिश होती है, उतनी दिल्ली में नहीं ==>
दिल्ली में कलकत्ते जितनी वारिश नहीं होती।

कल जितनी गर्मी थी, आज उतनी नहीं है ==>
आज, कल जितनी वारिश नहीं है।

जैसी कमीज़ आपके पास है, वैसी मेरे पास नहीं है ==>
आप की जैसी कमीज़ मेरे पास नहीं है।

मैं जैसा वीर हूं, वैसा कोई नहीं ==>
मुझ जैसा वीर कोई नहीं है।

मुझे उतने रुपए नहीं मिलते जितने आपको मिलते हैं ==>
मुझे आप जितने रुपए नहीं मिलते।

जैसा व्यवहार पागल करते हैं, वैसा ही व्यवहार वह भी करता है ==>
वह पागलों जैसा व्यवहार करता है।

अशोक होटल जितना वड़ा है, उतना अकवर नहीं ==>
अकवर होटल अशोक जितना वड़ा नहीं है।

जितना काम कल हुआ, आज उतना भी काम नहीं हुआ ==>
आज, कल जितना भी काम नहीं हुआ।

जैसा काम वह कर सकता है...... ==> उस जैसा काम

जैसी वातें वच्चे करते हैं...... ==> वच्चों जैसी वातें

यह विशेषीकरण तभी सिद्ध हो सकता है, जब उस वाक्य में विशेषण-विशेष्य भाव को प्रकट करने की स्थिति हो। 'जितने रुपए मैं चाहता हूँ' का विशेषीकरण संभव नहीं है, क्योंकि 'मुझ जितने रुपए', 'मेरे जितने रुपए' यहाँ निरर्थक होंगे। 'मुझ जैसा वीर' 'मेरी जितनी तनखाह' स्पष्ट विशेषण-विशेष्य संबंध को प्रकट करते हैं। इसलिए भाषा के वाक्यों की आंतरिक संरचना ही प्रकट करेगी कि किन वाक्यों में विशेषीकरण संभव है।

यह विशेषीकरण कई शब्द-वर्गों के साथ बनता है।

जैसा :

<u>सर्वनाम</u>— मेरे जैसा (जैसा मेरा है)
मुझे जैसा (जैसा मैं हूँ)

<u>संज्ञा</u>— बच्चे जैसा, बच्चों जैसा, लड़कियों जैसा
बच्चों का जैसा, घर का जैसा

<u>क्रियाविशेषण</u>—कल जसा, कलकत्ते जैसा, वहाँ जैसा

यहाँ कुछ शब्दों में 'का' का प्रयोग निरर्थक है। 'कल जैसा खाना', 'कल का जैसा खाना' दोनों एक ही अर्थ प्रकट करते हैं।

<u>क्रियार्थक संज्ञा</u>—हिनहिनाने जैसी आवाज, पढ़ाने जैसा मुश्किल काम, दुबारा आने जैसी हरकत

<u>कृदंत</u>— प्रेस की हुई जैसी कमीज, छपे हुए जैसे अक्षर, शिल्पी ने मूर्ति को लिखते जैसे 'पोज' में चित्रित किया है।

जितना :

<u>संज्ञा</u>— मुर्गे जितना बड़ा, पहाड़ जितना बड़ा, दिल्ली जितनी सुविधाएँ

<u>सर्वनाम</u>— मुझ जितना, उस जितना, मेरी जितनी तनखाह

<u>क्रियाविशेषण</u>—कल जितनी गर्मी, वहाँ जितनी बारिश

संज्ञा और दोनों प्रकार के विशेषण उपवाक्यों में ऐसा वर्ग विभाजन नहीं है कि इनके प्रयोग के स्थान निश्चित किए जा सकें। यद्यपि तीनों में प्रकार्य भिन्नता है, तीनों में समानता भी है जिससे एक के साथ दूसरे का आना संभव होता है। उदाहरण के लिए—

मुझे [वह / वसा] कपड़ा चाहिए, जो आप लाए थे ⟹

मुझे आप का जैसा कपड़ा चाहिए।

यहाँ 'वह' का अर्थ, उसी कपड़े से नहीं, बल्कि 'वैसा' से ही है। 'जितना' और 'जैसा' वाले उपवाक्यों में अर्थ-भिन्नता दिखाई पड़ती है। उदाहरण के तौर पर

वंबई जितनी सुविधाएँ दिल्ली में नहीं हैं ।

वंबई जैसी सुविधाएँ दिल्ली में नहीं हैं ।

पहले वाक्य में वंबई में ज़्यादा सुविधाएँ होने का अर्थ प्रकट होता है और दूसरे वाक्य में वंबई और दिल्ली में भिन्न प्रकार की सुविधाएँ होने का ।

आप मुझ जितना काम नहीं कर सकते ।

आप [मुझ / मेरे] जैसा काम नहीं कर सकते ।

लेकिन कहीं-कहीं मूल वाक्य में 'जितना' होने पर भी विशेषीकृत वाक्य में 'जैसा' ही अधिक स्वाभाविक लगता है ।

जितना आराम घर में मिलता है, उतना और जगह नहीं =>

घर जैसा आराम और जगह नहीं मिलता ।

आप के पास सुंदर कमीज है=> [जैसी / जितनी] सुंदर कमीज आपके पास है ।

इस वाक्य में 'जितना' कमीज़ों की संख्या के लिए नहीं, वल्कि सुंदरता की मात्रा के लिए आता है । इस कारण यहाँ दोनों रूप उसी अर्थ को प्रकट करते हैं । लेकिन इसका मतलव यह नहीं कि तीनों के विशेषणों के स्थान एक ही हों । केवल कुछ संदर्भों में तीनों विशेषण एक दूसरे के साथ आते हैं । वाक्य की आंतरिक संरचना ही इन स्थलों का विश्लेषण कर सकती है ।●

हिंदी में निजवाचकता रचनांतरण

करुमूरि वी० सुब्बाराव

प्रस्तुत लेख में मैं हिंदी में निजवाचकता से संबद्ध वाक्यविन्यास संबंधी कुछ समस्याओं पर विचार करूँगा ।[1] मेरे विचार में मुख्य रूप से रचनांतरण व्याकरण तथा प्रजनक अर्थविज्ञान के अंतर्गत हिंदी विश्लेषण सामग्री द्वारा प्रस्तुत समस्याओं का समाधान संभव नहीं है अतः वर्तमान सिद्धांत में कुछ पुन-रीक्षण की आवश्यकता है । मैंने कुछ सैद्धांतिक महत्त्व के आंशिक समाधान प्रस्तुत किए हैं । मैं निम्नलिखित पहलुओं पर चर्चा करना चाहूँगा ।

(1) हिंदी में निजवाचकता से संबंधित नियमों का निर्धारण (2) हिंदी में निजवाचकता रचनांतरण की चक्रीय प्रकृति (3) हिंदी में कर्ता उत्थापन, पूरकतासूचकों में परिवर्तन, प्रेरणार्थकता जैसे अन्य रचनांतरणों के साथ-साथ निजवाचकता रचनांतरण का क्रम निर्धारण करना; हिंदी के 'को' वाक्य तथा निजवाचक रचनांतरणों की परस्पर क्रिया पर विचार करना । (4) हिंदी के संदर्भ में निजवाचकता संबंधी सर्वभाषा नियमों के दावों का परीक्षण तथा (5) हिंदी में निजवाचकता रचनांतरण संबंधी विशिष्ट समस्याएँ ।

1. हिंदी में पुरुषवाचक सर्वनामों को, ठीक अँग्रेज़ी की तरह, तीन पुरुषों तथा दो वचनों में वर्गीकृत किया जा सकता है ।

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	मैं	हम
द्वितीय पुरुष	तू (लघुतावाचक)	तुम (अनौपचारिक) आप (आदरार्थक)
तृतीय पुरुष	वह (दूरी सूचक)	वे (दूरी सूचक)
	यह (निकटतासूचक)	ये (निकटता सूचक)

इनके संबंधवाचक रूप निम्नलिखित हैं :—

प्रथम पुरुष	मेरा	हमारा
द्वितीय पुरुष	तेरा (लघुतासूचक)	तुम्हारा (अनौपचारिक)
		आपका (आदरार्थक)
तृतीय पुरुष	उसका	उनका
	इसका	इनका

इन सभी संबंधवाचक रूपों का निजवाचक रूप "अपना" बनता है। सभी संबंधवाचक सर्वनाम तथा निजवाचक सर्वनाम—"अपना" वचन तथा लिंग के अनुसार परिवर्तित होते हैं।

हिंदी में निजवाचक सर्वनाम अपने आप+परसर्ग है। हिंदी में यह रूप अँग्रेज़ी के सभी निजवाचक सर्वनामों—myself, ourselves, yourself, himself, herself, itself, themselves—का अनुवाद पर्याय है।

अब हम हिंदी संबंधसूचक निजवाचकों पर विचार करेंगे। नीचे वाक्य (1) तथा (2) पर विचार कीजिए।

(1) यह मेरी किताब है।

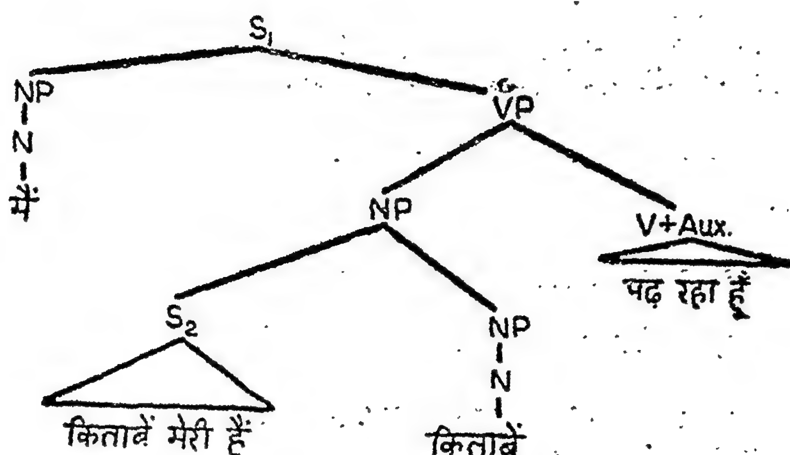
(2) मैं अपनी किताबें पढ़ रहा हूँ।

ऊपर (1) में मेरी संबंधसूचक सर्वनाम है और (2) में "अपनी" संबंधसूचक निजवाचक सर्वनाम है। हिंदी में (3) जैसा वाक्य अव्याकरणिक होगा।

(3) *मैं मेरी किताबें पढ़ रहा हूँ।

वाक्य (2) की आधारभूत संरचना इस प्रकार है।

(4) मैं...किताबें मेरी हैं...किताबें...पढ़ रहा हूँ।



पहले संबंधवाचक संकुचन नियम लागू होगा, जिसके परिणामस्वरूप वाक्य (5) प्राप्त होगा ।

(5) मैं मेरी किताबें पढ़ रहा हूँ ।

वाक्य (2) प्राप्त करने के लिए वाक्य (5) पर निजवाचक नियम लागू करना होगा । हिंदी में संबंधसूचक निजवाचक रचनांतरण को I की तरह निर्धारित किया जा सकता है ।

I. संबंधसूचक निजवाचक रचनांतरण (अनिवार्य)

$$\text{SD}: \left[\begin{array}{l} NP_1 \ldots\ldots\ldots X \ldots\ldots NP_2 \ldots\ldots \\ S \qquad\qquad\qquad\quad [+\text{Anaphoric}] \end{array} \left\langle \begin{array}{l} +\text{p.p.} \\ +\text{poss.} \end{array} \right\rangle \begin{array}{r} \ldots\ldots Y \\ S \end{array}\right]$$

SI	1	2	3	4	5
SC	1	2 $<+\text{Refl}>$ U 3-4			5

(यहाँ p.p. परसर्ग तथा Poss. संबंधसूचक सर्वनाम के लिए है ।)

शर्तें :—(i) 1=3

(ii) 3 पर 1 का नियंत्रण

1 पर 3 का नियंत्रण

$\left[\begin{array}{c} NP \\ +\ \text{Anaphoric} \end{array}\right]$ यह संकेत करता है कि सर्वनामीकरण नियम पहले से ही लगाया जा चुका है, इसलिए दूसरी बार आने वाले सह-समुद्दिष्ट संज्ञापदबंध को (+Anaphoric) अंकित किया गया है । स्वनप्रक्रियात्मक नियम $<+\text{Refl}>$ U 3–4 को "अपना" के रूप में प्रतिपादित करेंगे ।

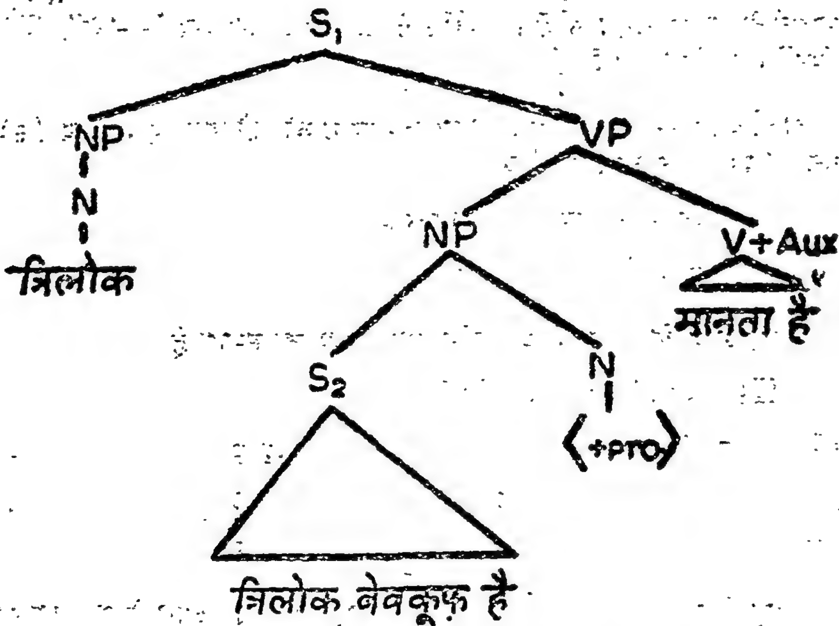
अब हम उन निजवाचकता रचनांतरणों पर विचार करेंगे जिनसे अपने-आप+परसर्ग युक्त वाक्य व्युत्पन्न होते हैं । वाक्य (6) तथा (7) पर विचार कीजिए ।

(6) त्रिलोक उसको बेवकूफ़ मानता है ।

(7) त्रिलोक अपने आपको बेवकूफ़ मानता है ।

वाक्य (7) में अपने आपको निजवाचक सर्वनाम है और वाक्य (7) की आधारभूत संरचना (8) है ।

(8)



वाक्य (7) प्राप्त करने के लिए (8) पर निम्नलिखित संक्रियाएँ लागू होंगी।

S_2 चक्र पर कोई महत्त्वपूर्ण संक्रिया लागू नहीं होगी। S_1 चक्र पर कर्ता उत्थापक रचनांतरण[2] लगाने से S_2 का कर्ता S_1 के उक्त कर्म का स्थान ले लेगा। दूसरी बार आने वाले त्रिलोक का सर्वनामीकरण करने के बाद अपने आपको प्राप्त करने के लिए निजवाचक बनाया गया है। (6) में निजवाचक रचनांतरण लागू नहीं होगा क्योंकि कर्ता तथा बाह्य उक्त कर्म की संदर्भ-सूचकता एक नहीं है। (8) पर लागू किया जाने वाला निजवाचक रचनांतरण अनिवार्य है तथा निम्नलिखित रूप से उसका नियमन किया जा सकता है।

II. निजवाचक रचनांतरण (अनिवार्य)

SD :	[NP_1 ... S	Y ...	NP_2 ... [+Anaphoric]	< +p.p. ±poss. >	... Z S]
SI	1	2	3	4	5
SC	1	2 <+Refl> U 3-4			5

शर्तें :

(i) 1 = 3

(ii) 1 और 3 परस्पर नियंत्रित हैं।

स्वनप्रक्रियात्मक नियम $< + \text{Refl.} >$ U 3-4 को अपने आप+ परसर्ग के रूप में प्रस्तुत करेंगे। NP_2 के बाद आने वाले परसर्ग—"से", "में", "पर" तथा "को" आदि हैं।

अपने आप + परसर्ग में आप का विकल्प से लोप हो जाता है। वाक्य (9) तथा (10) पर विचार कीजिए।

(9) वह अपने आप में खुश रहता है।

(10) वह अपने में खुश रहता है।

यह-आप के लोप को यों अभिव्यक्त किया जा सकता है।

III. "आप" का लोप (वैकल्पिक)

SD	X	अपने आप	p.p.	Z
SI	1	2	3	4
SC	1	अपने	3	4

यह नियम तभी लागू किया जाना चाहिए जब अपने आप के बाद परसर्ग हो। यदि इस प्रतिबंध की अवहेलना की गई और (11) जैसे वाक्य पर इसे लागू किया गया तो (12) जैसा अव्याकरणिक वाक्य व्युत्पन्न होगा।

(11) वह अपने आप बाहर गया।

(12) *वह अपने बाहर गया।

संबंधसूचक निजवाचक नियम तथा निजवाचकता नियमों पर गहराई से विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि ये दोनों स्वरूप तथा संरचना की दृष्टि से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं इसलिए इन दोनों नियमों को मिलाकर एक कर दिया जाना चाहिए। इनको मिला देने पर जो संशोधित निजवाचक नियम बनेगा वह इस प्रकार होगा।

IV. निजवाचक रचनांतरण (अनिवार्य)—(संशोधित)

$$\text{SD:} \begin{bmatrix} NP_1 \ldots\ldots Y \ldots\ldots NP_2 \ldots\ldots & \left< \begin{matrix} +\text{p.p.} \\ \text{poss.} \end{matrix} \right> & \ldots Z \\ S \qquad\qquad [+\text{Anaphoric}] & & S \end{bmatrix}$$

SI :	1	2	3	4	5
SC :	1	2	$<+\text{Refl.}>$ U 3-4		5

शर्तें :

(i) 1=3

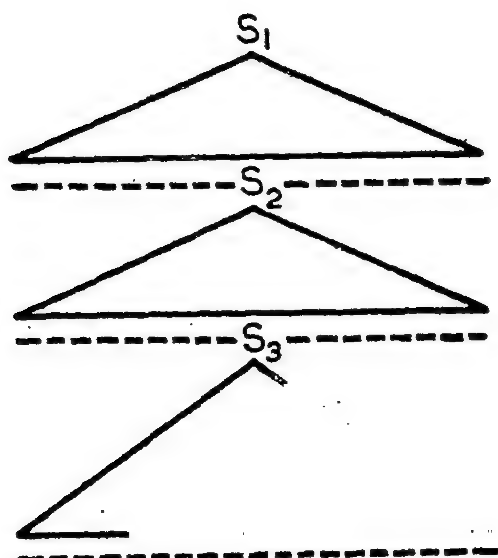
(ii) 1 तथा 3 परस्पर नियंत्रित

स्वनप्रक्रियात्मक नियम <+ Refl.> U-3— $\left\langle \begin{matrix} +p.p. \\ +poss \end{matrix} \right\rangle$ को

अपना तथा < + Refl. > U 3— $\left\langle \begin{matrix} +p.p. \\ -poss \end{matrix} \right\rangle$ को अपने आप +

परसर्ग के रूप में प्रस्तुत करेंगे ।

2. इस खंड में हम हिंदी में निजवाचकता नियमों की चक्रीय प्रकृति पर विचार करेंगे । (कुछ) रचनांतरणों के चक्रीय अनुप्रयोग की धारणा चौम्स्की (1965) द्वारा प्रस्तावित की गई है और रॉस (1967) तथा लेकाफ (1966) ने इस संबंध में चर्चा की है । इस परिकल्पना के अनुसार कुछ क्रमवद्ध रचनांतरण नियमों को आधायित वाक्यों के सब से निचले वाक्य पर निरपेक्ष रूप से लागू किया जाता है । नीचे प्रस्तुत की गई संरचनाओं में S_3 पर रचनांतरण एक निश्चित क्रम से लागू होंगे ।

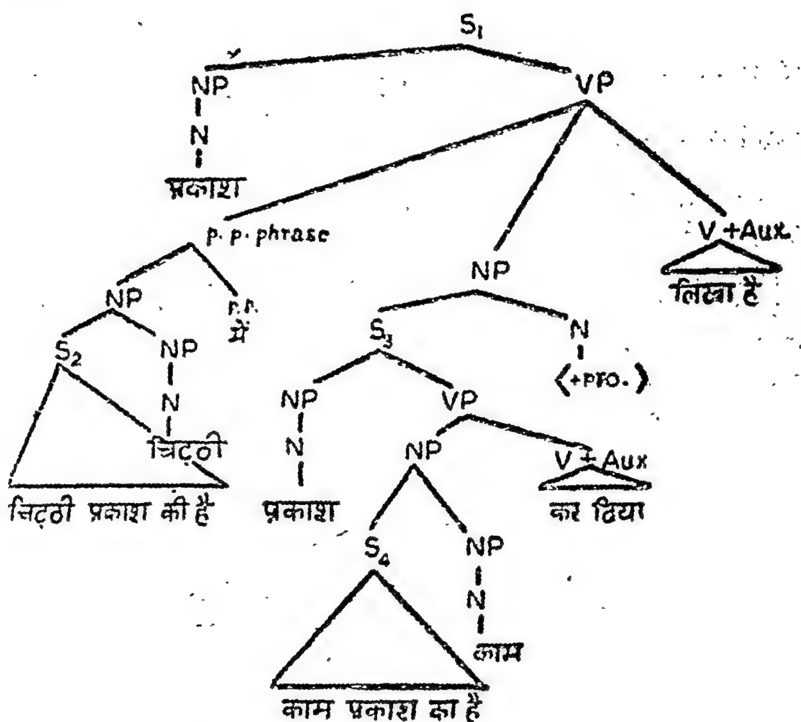


S_3 पर नियम लागू करने के वाद हम S_2 पर आ जाएँगे और S_2 पर एक वार फिर उन्ही नियमों को लगाएँगे और S_1 पर आकर फिर उन्हीं नियमों को लागू करेंगे । यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि किसी वाक्य पर मान लीजिए S_3 पर एक रचनांतरण लगाने के बाद वही रचनांतरण उसी चक्र में उसी "वृक्ष" पर दोबारा लागू नहीं किया जा सकता । साथ ही किसी भाषा के व्याकरण में पूर्वचक्रीय तथा पश्चचक्रीय नियम हो सकते हैं । (विस्तृत चर्चा के लिए संदर्भ सूची देखें)

निजवाचकता रचनांतरण चक्रीयक्रम में लागू होते हैं, यह दिखाने के लिए हमें वाक्य (13) पर विचार करना होगा ।

(13) प्रकाश ने अपनी चिट्ठी में लिखा है कि उसने अपना काम कर दिया । वाक्य (13) की आधारभूत संरचना (14) होगी ।

(14)



S_4 चक्र पर कोई भी तात्कालिक महत्त्व का रचनांतरण लागू नहीं होगा। S_3 चक्र पर संबंधसूचक संकुचन रचनांतरण लगाने से प्रकाश प्रकाश का काम कर दिया प्राप्त होगा। सर्वनामीकरण तथा निजवाचकता रचनांतरण लगाने से प्रकाश का का परिवर्तन अपना में होगा। S_2 चक्र पर कोई रचनांतरण लागू नहीं होगा। S_1 चक्र पर संबंधसूचक संकुचन लगाने से प्रकाश की चिट्ठी में प्राप्त होगा। सर्वनामीकरण तथा निजवाचकता रचनांतरण लगाने से प्रकाश अपनी चिट्ठी में तथा वह अपना काम कर दिया प्राप्त होगा। प्रकाश अपनी चिट्ठी में लिखा है कि वह अपना काम कर दिया प्राप्त करने के लिए पूरकतासूचक परिवर्तन, वहि:स्थापन, तथा <+pro> लोप रचनांतरणों को क्रम से लगाना होगा। अंत में ने स्थापन तथा अन्य रचनांतरण लगाकर (13) प्राप्त किया जाएगा। चारों चक्रों में रचनांतरणों का क्रम इस प्रकार होगा।

S_4 चक्र	S_3 चक्र	S_2 चक्र	S_1 चक्र
कोई नहीं	संबंधसूचक संकुचन सर्वनामीकरण निजवाचकता	कोई नहीं	संबंधसूचक संकुचन सर्वनामीकरण निजवाचकता पूरकतासूचक वहि:स्थापन <+ pro> लोप

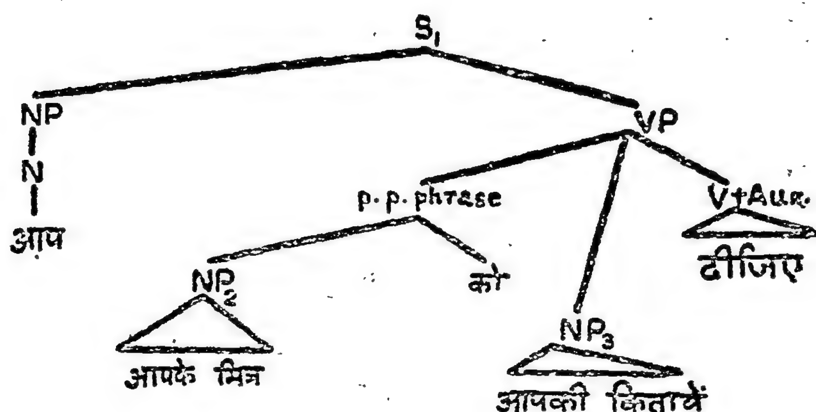
यह देखा जा सकता है कि वाक्य (13) प्राप्त करने के लिए निजवाचकता रचनांतरण दो बार लागू होता है अर्थात् एक बार S_3 चक्र पर और दूसरी बार S_1 चक्र पर। विभिन्न वाक्यों पर उसी रचनांतरण को लगाने से यह सिद्ध होता है कि निजवाचकता रचनांतरण चक्रीय क्रम में है।

इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध होता है कि निजवाचकता रचनांतरण एक ही समय में इस शर्त पर एकाधिक संघटकों पर लगाया जा सकता है कि वे निज-वाचकता नियम की सभी शर्तें पूरी करते हैं।

(15) (आप) अपने मित्रों को अपनी किताबें दीजिए।

संबंधसूचक रचनांतरण लागू करने के बाद वाक्य (15) की आधारभत संरचना यह होगी।

(15क)



वाक्य (15) प्राप्त करने के लिए (15क) के S_1 चक्र के NP_2 तथा NP_3 पर एक ही समय निजवाचक रचनांतरण लगाना होगा, जिससे आप+संबंध-सूचक की दोबारा उपस्थिति अपना में बदल जाएगी।

अंग्रेजी में निजवाचकता रचनांतरण को चक्रीय नियम के रूप में माना जाता है परंतु मेकाले (1968) मानते हैं कि अंग्रेजी में निजवाचक रचनांतरण शब्द पूर्व रचनांतरण है।[3] अपनी मान्यता की पुष्टि के रूप में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं—"ऐसा विश्वास करना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि सभी नामिकीकरण वस्तुत: एक **शब्दपूर्व** रचनांतरण द्वारा व्युत्पन्न हैं।" ('मोटे टाइप' मेरी ओर से है)। परन्तु मेकाले अपने प्रस्ताव की पुष्टि के लिए कोई तर्क नहीं देते। वे आगे चलक कहते हैं कि नामिकीकरण रचनांतरण से पहले निजवाचक रचनांतरण लगाय जाना चाहिए, इस प्रकार निजवाचकता रचनांतरण शब्दपूर्व रचनांतरण होगा। यह ज्ञातव्य है कि "मेकाले" ने नामिकीकरण रचनांतरण को शब्दपूर्व सिद्ध करने के लिए कोई वाक्यविन्यासीय या अर्थपरक तर्क प्रस्तुत नहीं किया है। अत: उनका यह प्रस्ताव कि निजवाचकता रचनांतरण शब्दपूर्व रचनांतरण है, प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता।[4]

हिंदी में निजवाचकता रचनांतरण को शब्दपूर्व सिद्ध करने के लिए अभी तक कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं।

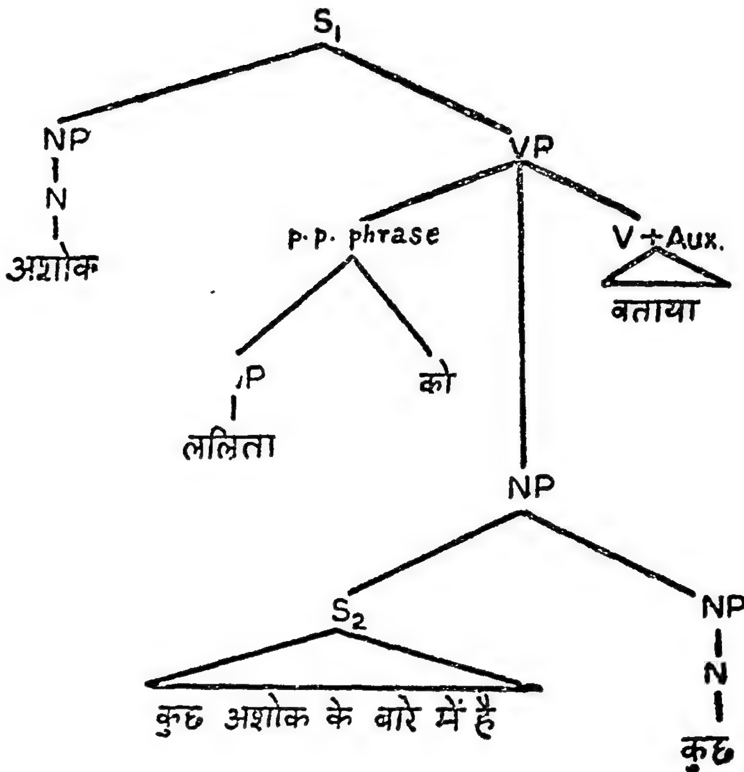
3. पिछले खंड में हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि निजवाचक रचनांतरण एक चक्रीय नियम है। इस खंड में हम हिंदी में निजवाचक रचनांतरण तथा अन्य रचनांतरणों के सापेक्षिक क्रम की चर्चा करेंगे। वाक्य (16) तथा (17) देखिए।

(16) अशोक ने ललिता को अपने बारे में कुछ बताया।

(17) अशोक ने ललिता से अपने लिए चाय बनाने को कहा।

यहां ध्यान दिया जाए कि केवल वाक्य (17) बहुअर्थी है, वाक्य (16) नहीं। वाक्य (16) में अपना का संबंध केवल अशोक से है, जबकि (17) में संबंधसूचक निजवाचक का संबंध अशोक या ललिता में से किसी से भी हो सकता है। इसका कारण यह है कि वाक्य (16) तथा (17) बाह्य संरचना के स्तर पर एक से प्रतीत होते हैं, जबकि उनकी आधारभूत संरचनाएँ भिन्न हैं। (17) की आधारभूत संरचना (सरलीकृत) (18) है।

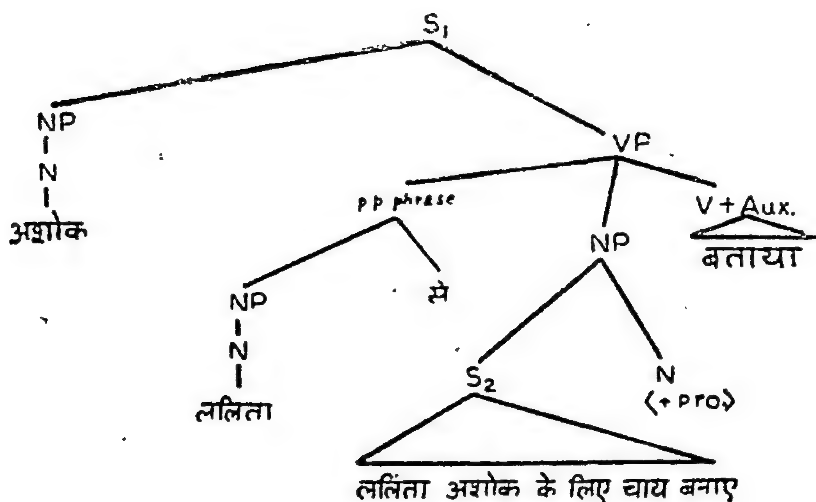
(18)



S_1 चक्र पर संबंधसूचक संकुचन रचनांतरण लगाने से कुछ अशोक के बारे में प्राप्त होता है। इस प्रकार S_2 पर्व मिट जाता है और कुछ अशोक के बारे में पदबंध का कर्ता तथा वाक्य का कर्ता संज्ञा पदबंध अशोक एक ही वाक्य पर्व द्वारा शासित होते हैं। (16) की व्युत्पत्ति के लिए इस चरण पर निजवाचक रचनांतरण लागू होता है।

यदि अपना का संबंध अशोक से हो तो वाक्य (17) की आधारभूत संरचना (19) होगी।

(19) [अशोक ललिता से [ललिता अशोक के लिए चाय बाए] कहा]
S_1 S_2 S_2 S_1

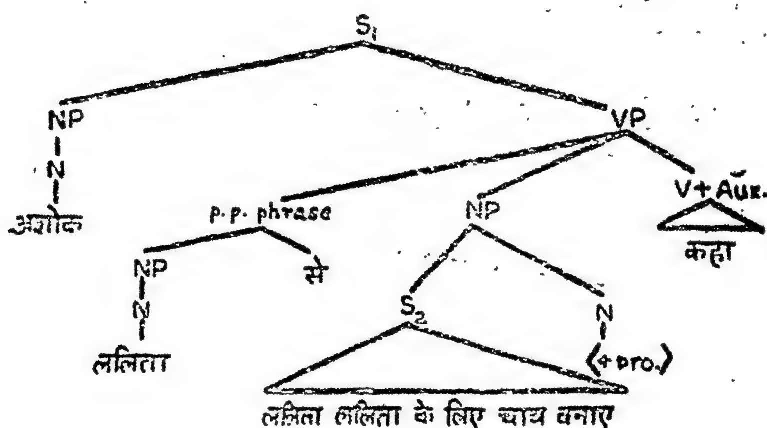


वाक्य (19) में S_2 चक्र पर कोई महत्त्वपूर्ण रचनांतरण लागू नहीं होता। S_1 चक्र पर पूरकतासूचक परिवर्तन का –ना रचनांतरण लगाने से अशोक ललिता से ललिता+का अशोक के लिए चाय बनाना+को कहा प्राप्त होता है। समसंज्ञापदबंध लोप रचनांतरण लागू होने से तद्रूपी संज्ञापदबंध ललिता का लोप हो जाता है और वाक्य S_2 की छँटाई हो जाती है, इसलिए ललिता की दूसरी उपस्थिति के बाद का अपने आप कट जाता है। निजवाचक रचनांतरण लगाने से अशोक के लिए के स्थान पर अपने लिए प्राप्त होता है। रचनांतरण का क्रम इस प्रकार होगा

S_2 चक्र	S_1 चक्र
कोई नहीं	पूरकतासूचक परिवर्तन समसंज्ञापदबंध लोप; निजवाचकता

यदि अपना का संबंध 'ललिता' से हो तो (17) की आधारभूत संरचना (20) होगी ।

(20) $[_{S_1}$ अशोक ने ललिता से $[_{S_2}$ ललिता ललिता के लिए चाय बनाए$]_{S_2}$ कहा$]_{S_1}$



वाक्य (20) में S_2 पर निजवाचक रचनांतरण लगाने पर 'ललिता अपने लिए चाय बनाए प्राप्त होगा । S_1 चक्र पर पूरकतासूचक परिवर्तन तथा समसंज्ञापदबंध लोप रचनांतरण लगाने से (17) प्राप्त होगा । इस स्थिति में सम संज्ञापदबंध लोप रचनांतरण से S_2 का संज्ञापदबंध ललिता मिट जायगा । वाक्य (20) पर लागू होने वाले रचनांतरण ये हैं ।

S_1 चक्र—निजवाचकता

S_1 चक्र—पूरकतासूचक परिवर्तन; समसंज्ञापदबंध लोप

नीचे प्रेरणार्थक तथा निजवाचक रचनांतरणों के सापेक्ष क्रम के बारे में यहाँ चर्चा की जा रही है । वाक्य (21) को लीजिए ।

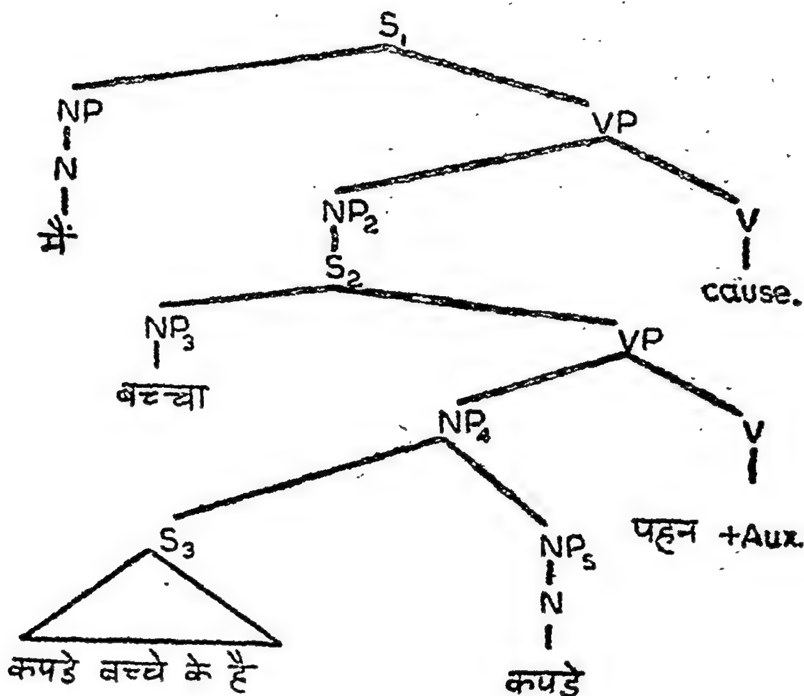
(21) मैंने बच्चे को अपने कपड़े पहनाए ।

ध्यान दीजिए कि यहाँ अपने का संबंध केवल मैं से है न कि बच्चा से । अपना का संबंध बच्चा से जोड़ने वाले वाक्यों की व्युत्पत्ति अवरुद्ध करने के लिए मैंने अपने लेख (1967) में यह मत प्रस्तुत किया था कि प्रेरणार्थक रचनांतरण को सर्वनामीकरण तथा निजवाचकता रचनांतरणों से पहले लगाया जाना चाहिए । प्रस्तावित क्रम अपर्याप्त है क्योंकि यदि ये नियम वृक्षों पर चक्रीय क्रम से लागू

होते हैं तो प्रत्येक आधायित वाक्य तथा साथ ही साथ आधात्री वाक्य पर भी लागू होने चाहिए। यदि निजवाचकता रचनांतरण चक्रीय है तब इसे "वृक्ष चित्र" के प्रत्येक वाक्य पर लागू होने से रोका नहीं जा सकता और इसके फलस्वरूप गलत अर्थ प्रतिपादित करने वाले वाक्य व्युत्पन्न हो सकते हैं। क्लाइमन (1971) तथा काचरु (1971) का कहना है कि हिंदी में प्रेरणार्थक रचनांतरण अंग्रेजी की तरह शब्दपूर्व रचनांतरण है (कृ० टिप्पणी 4 देखें), अर्थात् अर्थपरक पर्व क्रिया+प्रेरणार्थक के शब्द सन्निवेशन रचनांतरण के माध्यम से कोशीश शब्द द्वारा प्रतिस्थापित होने से पहले प्रेरणार्थक रचनांतरण लागू होता है। यदि इसी प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाए तब क्लाइमन तथा काचरु के अनुसार (21) जैसे वाक्यों में "अपना" का संबंध केवल क्रिया उत्प्रेरक से संबंधित होगा। अर्थात् इस वाक्य में मैं से संबंधित होगा, बच्चा से नहीं। इस नए प्रस्ताव के अंतर्गत हम (21) की व्युत्पत्ति को एक-एक कर प्रस्तुत करेंगे।

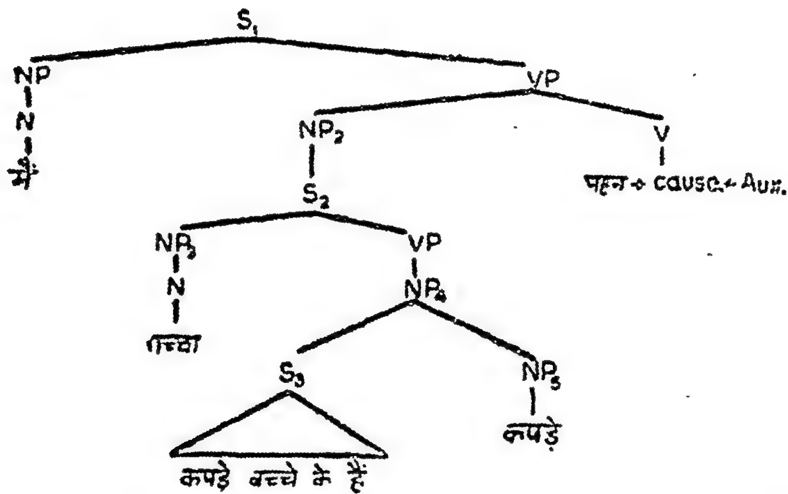
नए प्रस्ताव के अंतर्गत (21) की आधारभूत संरचना इस प्रकार होगी।

(22)



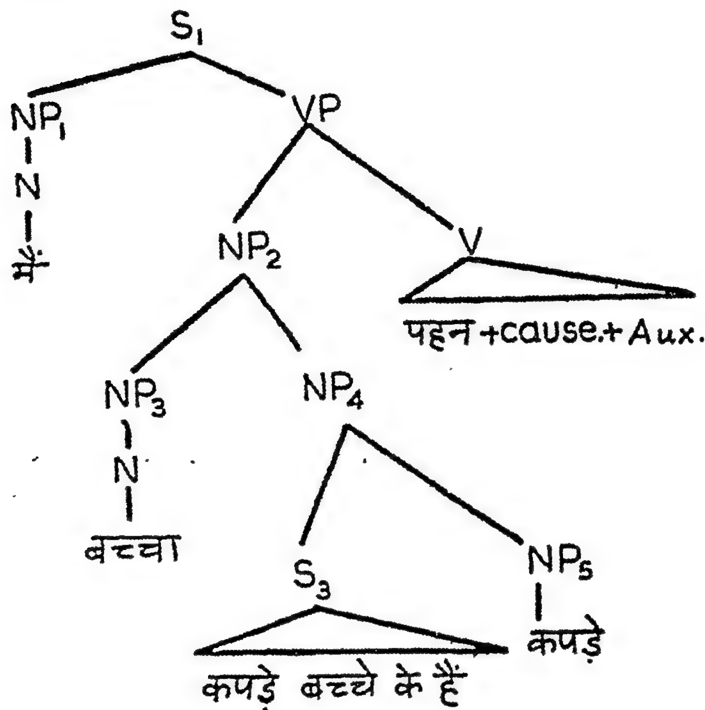
वाक्य (22) पर विधेय उत्थापक रचनांतरण लगाकर (23) प्राप्त किया जाता है। यह रचनांतरण क्लाइमन तथा काचरु के अनुसार शब्दपूर्व रचनांतरण है।

(23)



ध्यान दीजिए कि रॉस तथा अन्य (1966) ने प्रस्तावित वृक्ष छँटाई नियम में उन रीतियों की चर्चा नहीं की है जिनके अंतर्गत क्रियापद जसे पर्व कट जाते हैं। ऐसा लगता है कि क्लाइमन तथा काचरु मानते हैं कि शब्दपूर्व नियम द्वारा एक बार सबसे निचली क्रिया के उठने पर नियंत्रित करने वाला क्रियापद पर्व कट जाता है और रॉस की वक्ष छँटाई रीतियों को लागू करने के लिए समुचित संरचना प्रदान करता है। वाक्य 21 को सही बाह्य संरचना तक पहुँचने के लिए य मान्यताएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी कुछ समस्याएं शेष रह जाती हैं। यदि हम क्रियापदबंध और उसके फल-स्वरूप S_2 पर्व को मिटा द तो शेष संरचना इस प्रकार की लगेगी।

(24)



ध्यान दीजिए कि किसी चक्रीय नियम को लगाने से पहले ही S_2 पर्व लुप्त हो जाता है।

अतः यह मत प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रेरणार्थक रचनांतरण शब्दपूर्व नियमों को लगाने से क्रियापदबंध तथा S_2 पर्व तत्काल नहीं मिट जाते। उस स्थिति में (23) पर चक्रीय नियम इस रूप में लगाए जाएंगे :

S_3 —कोई नियम लागू नहीं होता।

S_2 – S_3 तथा NP_5 का नियंत्रण NP_4 करता है, यह (i) निजवाचकता तथा (ii) संबंधवाचक संकुचन रचनांतरणों के लिए शर्त पूरी करता है। इस प्रकार ये दोनों नियम उस क्रम में लागू होते हैं।

उक्त रचनांतरणों के फलस्वरूप जो संरचना प्राप्त होती है उसका संरचनात्मक विवरण निजवाचकता रचनांतरण के लिए उपयुक्त होगा। समस्या यह है कि सही संरचना प्राप्त करने के लिए निजवाचकता रचनांतरण को रोकना होगा। इस प्रकार क्रियापदबंध पर्व तथा परिणामस्वरूप S_2 इस स्थिति में मिट जाते हैं। तब यह निजवाचकता को लागू होने से रोकते हैं।

यह सुझाव दो समस्याएँ पैदा करता है। यदि पर्व-लोप तथा वृक्ष छँटाई रीतियाँ हैं तब वाक्यविन्यासीय नियमों के अनुसार उनका क्रम तय नहीं किया जा सकेगा। दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त स्थिति में निजवाचकता को रोका भी नहीं जाएगा। यदि यही स्थिति होगी तब यह वाक्य द्विअर्थी नहीं होता।

(25) शर्मिला ने बच्चे को अपने कपड़े पहनाए।

परंतु मूल हिंदी भाषी इस वाक्य के दो अर्थ लगाते हैं।[5] एक, **अपना** का संबंध **शर्मिला** से है तो दूसरे में **अपना** का संबंध **बच्चा** से जोड़ते हैं। मैं मानता हूँ कि मुझे सिर्फ एक ही ऐसा उदाहरण मिला है जिसमें **पहन** क्रिया तथा संज्ञाएँ **वयस्क** के मुकाबले में **बच्चे** के अर्थ को व्यक्त करती हैं। यदि ऐसा हो तो एक ही अपवाद यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी है कि निजवाचकता तथा प्रेरणार्थकता की परस्पर क्रियाशीलता के संबंध में और अधिक कार्य किए जाने की आवश्यकता है। यहाँ यह ध्यान दिया जाए कि इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्रेरणार्थक रचनांतरण शब्दपूर्व नहीं है। यह केवल इस बात की ओर संकेत करता है कि यह हो सकता है कि निजवाचकता रचनांतरण प्रेरणार्थक रचनांतरण को शब्दपूर्व नियम के रूप में सिद्ध न कर सके।

अब हम प्रेरणार्थक वाक्यों पर चर्चा करेंगे जिनकी आधारभूत संरचना में आधायित वाक्य रहता है। वाक्य (26) तथा (27) देखिए।

(26) प्रकाश ने आग लगा कर अपना झंडा जला डाला।

(27) प्रकाश के आग लगाने से उसका झंडा जल गया।

यह द्रष्टव्य है कि (26) में तो संबंधसूचक निजवाचक है पर (27) में संबंधवाचक सर्वनाम हैं। संयोजक कृदंत विशेषण लगाकर का आधारभूत कर्ता प्रकाश है और यह समरूपता के कारण मिट जाता है। संयोजक कृदंत विशेषण के मिट जाने का प्रमाण वाक्य (28) से मिलता है।

(28) हम लोगों ने वहाँ जाकर देखा।

वाक्य (28) की आधारभूत संरचना (29) की तरह ही है :—

(29) [हम लोग [हम लोग वहाँ गए] देखा]
S_1 S_2 S_2 S_1

हिंदी में यदि क्रिया+ने क्रिया है तो पूर्णतावाची पक्ष में परसर्ग ने वाक्य के कर्ता के साथ लगता है। जाना क्रिया −ने क्रिया है और देखना +ने। यह द्रष्टव्य है कि देखना आधात्री वाक्य की क्रिया है और तार्किक कर्ता हम लोग के साथ 'ने' लगता है। आधात्री वाक्य के कर्ता के स्थान पर आधायित वाक्य का कर्ता रखा जाए तब (30) जैसा वाक्य प्राप्त होना चाहिए।

(30) हम लोग वहाँ जाकर देखा।

लेकिन (30) अव्याकरणिक है। इसलिए आधायित वाक्य के कर्ता का लोप कर दिया जाता है, आधात्री वाक्य के कर्ता का नहीं।

वाक्य (26) में संबंधसूचक निजवाचक सर्वनाम अपना है, क्योंकि तब तक निजवाचक नियम लागू हो चुका होता है। प्रकाश और प्रकाश का एक ही वाक्य द्वारा नियंत्रित होते हैं और आधायित वाक्य छँट जाता है। (27) में निजवाचकता रचनांतरण लागू नहीं होता क्योंकि व्युत्पत्ति की उस स्थिति में जहाँ निजवाचक नियम लागू होता है, वहाँ संज्ञापदबंधों में समरूपता नहीं है अर्थात् आधात्री वाक्य झंडा प्रकाश का है का कर्ता झंडा है और आधायित वाक्य का कर्ता प्रकाश है। अतः हिंदी में (31) जैसे वाक्य अव्याकरणिक होंगे।

(31) *प्रकाश के आग लगाने से अपना झंडा जल गया।

निजवाचकता की चर्चा में एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचनांतरण कर्ता-उत्थापन रचनांतरण है। उपयुक्त परिवेश में आधायित वाक्य का कर्ता उठकर आधात्री वाक्य का कर्म बन जाता है। कर्ता उत्थापन रचनांतरण (32) जैसे वाक्यों पर लागू होता है।

(32) कुछ लोग बेईमानी को गुनाह मानते हैं।

वाक्य (32) की आधारभूत संरचना (33) है।

(33) [कुछ लोग [बेईमानी गुनाह हैं] N मानते हैं]
S_1 S_2 S_2 $<+pro>$ S_1

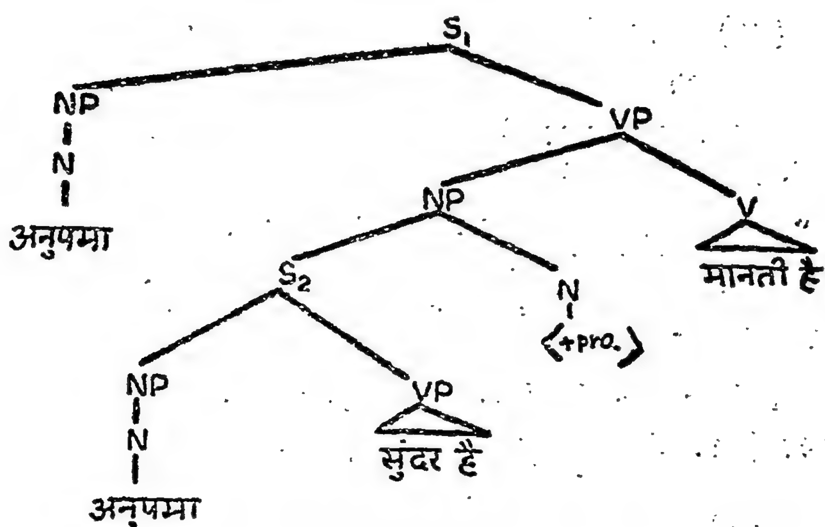
S_2 चक्र पर कोई संगत रचनांतरण लागू नहीं होता। कर्ता-उत्थापन रचनांतरण S_1 चक्र पर लागू होता है जिसके फलस्वरूप आधायित-वाक्य का कर्ता वेईनानी उठकर उक्त कर्म की स्थिति में आ जाता है। S_2 का है मिट जाता है और छँटाई की शर्तें S_2 को भी मिटा देती हैं।

वाक्य (34) की व्युत्पत्ति के लिए निजवाचकता रचनांतरण को कर्ता-उत्थापन रचनांतरण के बाद लागू किया जाना चाहिए।

(34) अनुपमा अपने आपको सुंदर मानती है।

वाक्य (34) की आधारभूत संरचना (35) है।

(35)



S_2 चक्र पर निजवाचकता रचनांतरण लागू नहीं होगा क्योंकि संज्ञापदबंधों की समरूपता परस्पर नियंत्रित नहीं है। S_1 चक्र पर आधायित वाक्य का कर्ता उठकर आधाती वाक्य का कर्म बन जाता है। इसके बाद निजवाचकता रचनांतरण लागू होता है, जिससे अनुपमा की दूसरी उपस्थिति अपने आप में परिवर्तित हो जाती है। यदि S_1 चक्र पर निजवाचकता रचनांतरण कर्ता उत्थापन रचनांतरण से पहले लागू होगा तब (36) जैसा अव्याकरणिक वाक्य प्राप्त होगा।

(36) *अनुपमा$_1$ उसको$_1$ सुंदर मानती है।

अतः क्रम इस प्रकार होगा।

कर्ता-उत्थापन

निजवाचकता

निजवाचकता रचनांतरण समानाधिकरण समुच्चयबोधक पर लागू नहीं होता। वाक्य (37) तथा (38) इसकी पुष्टि करते हैं।

(37) हम और हमारे दोस्त दिल्ली जा रहे हैं।

(38) हम अपने दोस्तों के साथ दिल्ली जा रहे हैं।

वाक्य (37) की आधारभूत संरचना (39) है।

(39) $\Big[$ [हम दिल्ली जा रहे हैं] और [हमारे दोस्त दिल्ली जा रहे हैं] $\Big]$
S_1 S_1 S_2 S_2
S_3 S_3

S_2 या S_1 पर निजवाचकता रचनांतरण लागू नहीं होता। निजवाचक रचनांतरण S_3 चक्र पर भी लागू नहीं होता क्योंकि 'हम' और हमारा एक ही वाक्य पर्व द्वारा नियंत्रित नहीं है। (38) की आधारभूत संरचना (40) है।

(40) [हम हमारे दोस्त के साथ दिल्ली जा रहे हैं]
S_1 S_1

निजवाचक रचनांतरण S_1 चक्र पर लागू होता है और हमारे परिवर्तित होकर अपने हो जाता है।

हिंदी में वाक्यों की एक कोटि है जिसे को-वाक्य कोटि कहा जाता है।[6] ऐसे वाक्यों में तार्किक कर्ता के साथ को परसर्ग लगता है और तार्किक कर्म वाक्य का व्याकरणिक कर्ता बन जाता है। वाक्य (41) में रमेश वाक्य का आधारभूत कर्ता है।

(41) रमेश को अपना अपमान होना बुरा लगा।

वाक्य (41) की आधारभूत संरचना (42) है।

(42)

S_1
NP — N — रमेश
VP
NP
S_2
N — ⟨+ pro.⟩
बुरा
V — लग + Aux.
NP
S_3 — अपमान रमेश का है
NP — N — अपमान
VP — हो + Aux.

ऊपर के वृक्ष में "लग" अर्थ की दृष्टि से विधेय है और वाक्यविन्यासीय

अभिलक्षणों की दृष्टि से कोशगत शब्द 'लग' से भिन्न है। (42) से (41) प्राप्त करने के लिए निम्न रचनांतरण लगाए जाएँगे।

S_2 चक्र पर संबंधसूचक संकुचन लगाने से **रमेश का अपमान** हो +Aux प्राप्त होगा। S_1 चक्र पर पूरकता सूचक परिवर्तन से

[रमेश [रमेश+का अपमान हो+ना] [बुरा लग +Aux] प्राप्त होगा।
S_1 NP N VP VP] S_1

व्युत्पत्ति की इस अवस्था में निजवाचकता रचनांतरण लागू होता है और **रमेश+का** का परिवर्तन **अपना** में हो जाता है। यदि **को** का संबंध **रमेश** से स्थापित करने वाला रचनांतरण निजवाचकता से पहले लगेगा तो निजवाचकता के लिए समरूपता लुप्त हो जाएगी और इस प्रकार यह लागू नहीं होगा। अतः को जोड़ने वाले से पहले निजवाचकता रचनांतरण लागू होगा।

यह ज्ञातव्य है कि **अपना अपमान होना** संज्ञापदबंध S_1 के संज्ञापदबंध के बाईं ओर ले जाया जा सकता है जैसा कि (43) में किया गया है। ऐसे वाक्यों को पश्चगामी निजवाचकता का उदाहरण नहीं मानना चाहिए।

(43) अपना अपमान होना रमेश को बुरा लगा।

4. इस खंड में हम निजवाचकता रचनांतरण संबंधी कुछ सार्वभाषिक लक्षणों की हिंदी के संदर्भ में परीक्षा करेंगे।

रॉस (1967) कहते हैं "मेरा अनुमान है कि निजवाचकता नियम **सार्वभाषिक** रूप में संबंधवाचक उपवाक्यों में लागू नहीं होते। वे संकुचित संबंधवाचक उपवाक्यों में भी लागू नहीं होते।" (पृष्ठ 153) [मोटे टाइप मेरी ओर से] रॉस के अनुसार, संक्षेप में कहा जा सकता है कि संकुचित संबंधवाचक उपवाक्यों पर निजवाचकता रचनांतरण लागू नहीं होता। लेकिन रॉस की मान्यता के विपरीत हिंदी में निजवाचकता नियम संकुचित संबंधवाचक उपवाक्यों पर लागू होते हैं जिनके फलस्वरूप समान संज्ञापदबंध+परसर्ग की दूसरी उपस्थिति निजवाचक सर्वनाम में बदल जाती है। वाक्य (44) देखिए।

(44) अपने कमरे में बैठे हुए लोगों को मैं नहीं जानता।

वाक्य (44) की आधारभूत संरचना (सरलीकृत) (45) है।

(45) [मैं [वे लोग मेरे कमरे में बैठे हुए हैं] [उन लोगों को] नहीं जानता]
S_1 S_2 S_2 NP S_1
NP

पहले S_1 पर संबंधवाचक संकुचन नियम लागू होता है जिससे **मेरे कमरे में बैठे लोग** प्राप्त होता है। यह वाक्य न होकर व्युत्पन्न घटक संरचना का एक संज्ञापदबंध है। इस प्रकार निजवाचक रचनांतरण की शर्त पूरी होती है और यह लागू

होकर संज्ञापदबंध +का की दूसरी समान उपस्थिति को अपना में परिवर्तित करता है। इस प्रकार (44) प्राप्त होता है। इन दोनों रचनांतरणों का क्रम इस प्रकार है :—

संबंधवाचक संकुचन

निजवाचकता

अतः हम देखते हैं कि संकुचित संबंधवाचकों में निजवाचकता लागू न होने का रॉस का अनुमान सही नहीं है।

दूसरा सार्वभाषिक लक्षण सहसमुद्दिष्ट संज्ञापदबंधों का स्थानांतरण-परीक्षण करता है। पोस्टल के पारण सिद्धांत के अनुसार रचनांतरण की संरचना-सूची में दिया गया संज्ञापदबंध किसी नियम द्वारा इस तरह पुनः क्रमित नहीं किया जा सकता जिससे वह सहसमुद्दिष्ट संज्ञा पदबंध को पार कर जाए। इस प्रकार अंग्रजी में वाक्य (46) का कर्मवाचीकरण नहीं किया जा सकता, क्योंक सह समुद्दिष्ट संज्ञापदबंध के स्थानांतरण की आवश्यकता पड़ती है।

(46) John hit himself

(47) *Himself was hit by John

(48) *John was hit by himself

यदि निजवाचकता के बाद कर्मवाच्य रचनांतरण लागू हो तो हमें (47) वाक्य प्राप्त होगा और यदि पहले हो तो वाक्य (48) प्राप्त होगा।

हिंदी में कर्मवाच्यीकरण तीन चरणों में संपन्न होता है। (1)कर्ता के साथ से जोड़ना तथा क्रिया के साथ या+जा जोड़ना (2) कर्ता का वैकल्पिक स्थानांतरण और (3) कर्ता का वैकल्पिक लोप। वाक्य(54)का कर्मवाच्य रूप (55)—(57) होगा।

(49) माधवी ने वह तस्वीर देखी।

(50) माधवी से वह तस्वीर देखी गई।

(51) वह तस्वीर माधवी से देखी गई।
(कर्ता स्थानांतरण के बाद)

(52) वह तस्वीर देखी गई।
(समुचित संदर्भ में कर्ता लोप के बाद)

हिंदी में निजवाचकता रचनांतरण कर्ता लोप से पहले लागू होता है। अन्यथा निजवाचक नियम के लिए शर्त पूरी नहीं होती और उसके परिणामस्वरूप अव्याकरणिक वाक्यों का प्रजनन होता है।

हिंदी में कर्मवाच्य नियम उन वाक्यों पर लगता है जिन पर संबंधसूचक निजवाचक लागू हो चुका हो। वाक्य (53) का कर्मणि रूप (54) होगा।

(53) मालती ने अपना काम किया ।

(54) मालती से अपना काम किया गया ।

हिंदी में **अपने आप**+परसर्ग युक्त वाक्यों का कर्मवाच्यीकरण संभव है । वाक्य (55) का कर्मणि रूप (56) है ।

(55) यह बुरी खबर सुनकर वह अपने आपको सँभाल नहीं सका ।

(56) यह बुरी खबर सुनकर उससे अपने आपको सँभाला नहीं गया ।

यह द्रष्टव्य है कि वाक्य (56) के कर्ता को सहसमुद्दिष्ट संज्ञा पदबंध **अपने आपको** से पहले रखा जा सकता है । इस संबंध में वाक्य (57) द्रष्टव्य है ।

(57) यह बुरी खबर सुनकर अपने आपको उससे संभाला नहीं गया ।

यद्यपि हिंदी में कर्ता का स्थानांतरण वैकल्पिक है फिर भी (57) जैसा वाक्य पोस्टल के सहसमुद्दिष्ट संज्ञापदबंधों की सार्वभाषिकता की धारणा के विरुद्ध प्रमाण प्रस्तुत करता है ।

5. इस भाग में, हम कुछ ऐसे वाक्यों पर चर्चा करना चाहेंगे जिनका उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार विश्लेषण समस्याएँ उपस्थित करता है ।

हिंदी में निजवाचकता नियम, जिसे अनिवार्य माना जाता है, वह आधान-युक्त वाक्यों में वैकल्पिक प्रतीत होता है । इस वाक्य पर विचार कीजिए ।

(58) मैंने कुछ लोगों को मेरे$_1$ कमरे में बैठकर मेरे$_2$ बारे में बातें करते हुए सुना ।

कुछ हिंदी मातृभाषी यह समझते हैं कि **मेरे$_1$** तथा **मेरे$_2$** के स्थान पर **अपने** का प्रयोग किया जा सकता है, कुछ दूसरे यह मानते हैं कि **मेरे$_1$** के स्थान पर **अपना** अनिवार्य रूप से तथा **मेरे$_2$** के स्थान पर वैकल्पिक रूप से रखा जा सकता है । कुछ अन्य हिंदीभाषियों के अनुसार **मेरे$_1$** के स्थान पर **अपने** का प्रयोग नहीं किया जा सकता किंतु **मेरे$_2$** के स्थान पर किया जा सकता है । अभी यह निश्चित नहीं है कि **मेरे** और **अपना** के परिवर्तन को कैसे स्पष्ट किया जाए । लेकिन ऊपर वर्ग-2 के मातृभाषियों के लिए संबंधसूचक सर्वनाम की वाक्य के कर्ता से 'दूरी' संभवतः निजवाचक रचनांतरण की अनिवार्यता अथवा वैकल्पकता की निर्णायक प्रतीत होती है । इस संबंध में अधिक अध्ययन किए जाने की आवश्यकता है ।

एक दूसरी स्थिति जहाँ निजवाचकता वैकल्पिक है, वाक्य (59) में हो सकती है ।

(59) प्रसाद ने ललिता से $\left\{\begin{array}{l}\text{उसके लिए}\\ \text{अपने लिए}\end{array}\right\}$ चाय बनाने को कहा ।

यह द्रष्टव्य है कि (59) में **उसके लिए** का संबंध प्रसाद, या ललिता या किसी अन्य व्यक्ति से है जबकि **अपने लिए** का संबंध या तो **प्रसाद** से है या **ललिता** से है, किसी अन्य व्यक्ति से नहीं है। यदि हिंदी में निजवाचकता अनिवार्य हो तब **उसके लिए** का संबंध **प्रसाद** या **ललिता** से न होकर किसी अन्य व्यक्ति से होना चाहिए। उल्लेखनीय है कि 'ललिता ललिता के लिए चाय बनाए' एक अन्य वाक्य 'प्रसाद ने कहा' का आधायित वाक्य है।

(60) 'ललिता ललिता के लिए चाय बनाए'

इस अनाधायित वाक्य में सर्वनामीकरण तथा निजवाचकता रचनांतरण अनिवार्य रूप से लागू किए जाएँगे। यदि सर्वनामीकृत रूप **'उसके लिए'** आता है तो उसका संबंध **ललिता** से नहीं होगा, बल्कि वह किसी अन्य पुरुष की ओर संकेत करेगा। यहाँ यह दुहराना उचित जान पड़ता है कि वाक्य (59) में **उसके लिए** का संबंध **ललिता** से है। निजवाचक नियम की वैकल्पिकता सिद्ध करने के लिए हम कह सकते हैं कि जहां संदर्भ में अस्पष्टता हो, अर्थात् जब एक सर्वनाम का संबंध एकाधिक संज्ञापदबंधों से हो तब हिंदी में निजवाचक रचनांतरण वैकल्पिक होगा। इस प्रस्ताव से निजवाचक नियम की (60) में अनिवार्यता तथा (59) में वैकल्पिकता प्रमाणित हो जाती है। न रचनांतरण व्याकरण और न ही प्रजनक अर्थविज्ञान ऐसी स्थितियों की क्रियाविधि का प्रतिपादन करते हैं।

संबंधसूचक निजवाचकता युक्त वाक्यों में भी संदर्भ के संबंध में अभी भी समस्या है। वाक्य (61) तथा (62) पर विचार कीजिए।

(61) कुसुम ने मोहिनी को अपने ही कमरे में अपना ही कुर्ता सीते हुए देखा।

(62) कुसुम मोहिनी को अपने कमरे में अपना कुर्ता सीते हुए देखकर नाराज़ हो गई।

(62) अस्पष्ट है। एक अर्थ में **अपना** की दोनों उपस्थितियों का संबंध **कुसुम** से लगता है और दूसरे अर्थ में **मोहिनी** से। यह संभावना है कि (61) भी द्विअर्थी हो लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। मैं नहीं जानता कि इन तथ्यों को कैसे स्पष्ट किया जाए। निजवाचक नियम के प्रयोग का निर्धारण शायद **कहना** या **देखना** आदि क्रियाओं के अभिलक्षणों अथवा उन क्रियाओं तथा कृदंत तथा क्रिया-+-कर क्रियाविशेषणों की विशेषताओं से संबंध रखता है।

किंतु नया प्रस्ताव उस रूप में लागू नहीं होता जैसा कि उससे आशा की जाती है। इसके अनुसार यदि संदर्भ में बहुअर्थता हो, तो निजवाचक नियम वैकल्पिक होगा। लेकिन हिंदी में ऐसे वाक्य भी हैं, जिनमें संदर्भगत बहुअर्थता न होने पर भी निजवाचकता वैकल्पिक है। वाक्य (63) की आधारभूत संरचना को देखते हुए यह आशा की जा सकती है कि निजवाचकता नियम अनिवार्य रूप से लागू होंगे लेकिन ऐसा होता नहीं है।

(63) सुरेश को {उसका / अपना} यों अपमानित होना बुरा लगा ।

यदि हम यह मानें कि 'अमुक का अपमानित होना' संज्ञापदवंध न होकर एक वाक्य है तव निजवाचकता विल्कुल लागू नहीं होनी चाहिए, लेकिन यह अवश्य लागू होती है । यदि हम निजवाचक नियमों में इस प्रकार का संशोधन कर लें कि वे ऐसे संज्ञापदवंधों पर लागू नहीं होंगे जिनके सह-उपवाक्य नहीं होते तव कई अव्याकरणिक वाक्य प्रजनित हो सकते हैं । अन्य वाक्यों के साथ-साथ वाक्य (64) द्रष्टव्य है ।

(64) *हम और अपने दोस्त मूवी देखने गए ।

चूंकि मेरा नया प्रस्ताव केवल कुछ ही वाक्य प्ररूपों पर लागू होता है इसलिए मैं उन कारणों के वारे में निश्चित नहीं हूँ जो हिंदी में निजवाचक नियमों की अनिवार्यता अथवा वैकल्पिकता का निर्धारण करते हैं ।

6. मैं समझता हूँ कि इस लेख में मैंने प्रश्नों का उत्तर देने के वजाय प्रश्न ही अधिक उठाए हैं । मैंने जो समस्याएँ उठाई हैं उनमें से कुछ समस्याओं का समाधान सर्वनामीकरण, प्रेरणार्थकता, क्रियाविशेषीकरण, कृदंत रचना आदि अन्य वाक्यविन्यासीय प्रक्रियाओं के साथ निजवाचकता की परस्पर क्रिया तथा छँटाई की दशाओं का विस्तृत अध्ययन करने पर खोजा जा सकता है । शव्दपूर्व नियमों के प्रयोग के वाद पर्व लोप तथा वृक्ष छँटाई की दशाओं की संक्रिया का अधिक विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए ।

मैं हिंदी में निजवाचकों से संवंधित कई समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका हूँ । फिर भी मैं आशा करता हूँ कि वर्तमान अध्ययन आगे इस दिशा में किए जाने वाले अनुसंधान के लिए लाभप्रद दिशा प्रदान करेगा ।

पाद टिप्पणियाँ

1. इस शोधकार्य को करने के लिए एशियाई अध्ययन केंद्र ने ग्रीष्म 1969 में जो अनुदान दिया था उसके लिए मैं उसका धन्यवाद करता हूँ । इस शोधपत्र को तैयार करते समय दिए गए अमूल्य सुझावों एवं टिप्पणियों के लिए मैं अपनी निर्देशिका डॉ० यमुना काचरु का भी कृतज्ञ हूँ । इस शोध-पत्र की योजना की आधारस्वरूप चर्चा के लिए मैं पुलवर्ती सत्यनारायण तथा प्रोत्साहन के लिए डॉ० व्रज वी० काचरु का आभारी हूँ ।

2. यह शव्द किपार्स्की तथा किपार्स्की ने दिया है । अतिरिक्त विवरण के लिए देखें किपार्स्की तथा किपार्स्की (1968) ।

3. शव्दवादियों की परिकल्पना के अनुसार व्युत्पत्ति में सभी रचनांतरण शाव्दिक अंर्तनिविष्टि के वाद लागू होते हैं । अर्थात् सभी रचनांतरण शाव्दिक सामग्री पर लागू होते हैं । इसके विपरीत रचनांतरणवादी यह मानते हैं कि प्ररणार्थकता जैसे कुछ रचनांतरण शव्दपूर्व हैं—उनका ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ रचनांतरण शाव्दिक अंर्तनिविष्टि से पहले भी लागू किए जा सकते हैं । इस प्रकार शव्दपूर्व रचनांतरण उन वृक्षों पर लागू होता है जिनका अंत अर्थपरक सामग्री में न होकर शाव्दिक सामग्री में होता है ।

4. मैकाले (1968) भी यह मानते हैं कि प्रेरणार्थक शव्दपूर्व रचनांतरण है । यद्यपि अंतःप्रज्ञा की दृष्टि से उनकी मान्यता सही प्रतीत होती है फिर भी इस मान्यता की पुष्टि में उनके शोध-पत्र में पर्याप्त वाक्यविन्यासीय अथवा अर्थपरक

प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए गए हैं। अतिरिक्त चर्चा के लिए देखें —चॉम्स्की (1970), फोडोर (1970) तथा मोर्गन (1969)—

5. डॉ० यमना काचरु ने ऐसे वाक्यों की अस्पष्टता के बारे में बताया।

6. देखें काचरु (1970)।

REFERENCES :

CHOMSKY, NOAM. 1965. Aspects of the theory of syntax. Cambridge, Mass. : MIT Press.

———1970. Some empirical issues in the theory of transformational grammar. Reproduced by Indiana University Linguistics Club.

FODOR, JERRY. 1971. Three reasons for not deriving 'kill' from 'cause to die'. Linguistic Inquiry. 1:4 429-438.

KACHRU, YAMUNA. 1970. The Syntax of ko-sentences in Hindi-Urdu. Papers in Linguistics. 2:2 219-314.

———1971. Causative sentences in Hindi revisited. In this volume.

KIPARSKY, PAUL and CAROL. 1968. Fact (To appear in Recent advances in linguistics, ed. by Manfred Bierwisch and Karl Erich Heidolf.)

KLEIMAN, ANGELA B. 1971. Some aspects of the causative constructions in Hindi. In this volume.

LAKOFF, GEORGE. 1966. Deep and surface grammar. Mimeographed.

———1969. On generative Semantics. Reproduced by Indiana University Linguistics Club.

LONGACKER, RONALD W. 1969. On pronominalization and the chain of command. Modern studies in English, ed. by David A. Reibel and Stanford A. Schame, 160-86. Englewood Cliffs, N. J. Prentice Hall.

MORGAN, JERRY L. 1969. On arguing about semantics. Papers in linguistics 1:1.

McCAWLEY, JAMES D. 1968. Lexical insertion in a transformational grammar without deep structure. Papers from the fourth regional meeting, Chicago Linguistics Society, Department of Linguistics, University of Chicago.

POSTAL, PAUL. D. 1968. Crossover phenomena. Yorktown Heights, New Jersey : IBM Corporation.

ROSS, JOHN R. 1966. A proposed rule of tree-pruning. Mathematical Linguistics and Automatic Translation, Report No.:NSF-17 Harvard University Computation Laboratory.

———1967. Constraints on variables in syntax. MIT doctoral dissertation.

SUBBARAO, KARUMURI V. 1967. Some aspects of pronominalization and reflexivization in Hindi. Paper presented at the Conference on Hindi Syntax at the Inter-University Rotating Summer Program in South Asian Studies, University of Illinois.

व्यतिरेकी विश्लेषण

शिवेंद्र किशोर वर्मा

दो या दो से अधिक भाषाओं के स्वनिक, रूपिक, और आर्थिक तत्त्वों के तोलन वर्णनात्मक (तुलनात्मक-वर्णनात्मक) अध्ययन को व्यतिरेकी विश्लेषण की संज्ञा दी जाती है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए वर्णन की आवश्यकता होती है। तुलना तो दो भाषाओं के वर्णन की ही की जाती है। और वर्णन का अर्थ होता है भाषाई संबंधों का व्याख्यात्मक अध्ययन। व्याख्यात्मक वर्णन के लिए सैद्धांतिक आधार अनिवार्य होता है। यह आधारभूत सिद्धांत किसी भाषाविशेष का सिद्धांत न होकर मानवीय भाषा का सिद्धांत होता है जिसके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य किस तरह भाषा के माध्यम से स्वन और अर्थ के बीच बहुस्तरीय शृंखलाएँ स्थापित करता है। इसमें मानव शिशु के भाषा सीखने की क्रिया पर प्रकाश डालने की शक्ति होती है।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि जिन कोटियों और तत्त्वों की तुलना की जाए उनका सिद्धांताधारित सुव्यवस्थित वर्णन उपलब्ध हो। जब हम दो भाषाओं के स्वनों, रूपों और अर्थों का तुलनात्मक विश्लेषण करते हैं तो वस्तुतः हम उन भाषाओं की व्यवस्था की शृंखलाओं का अध्ययन करते हैं। प्रत्येक भाषा के अंदर तत्त्वों के पारस्परिक संबंधों की व्यवस्था-शृंखलाएँ होती हैं।

अनुभूति के स्तर पर भाषाएं सामान्यतः समान होती हैं। भाषा का प्रयोग अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए होता है। संसार की भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता है—मूल अनुभूति की एकता और अभिव्यक्ति की अनेकता। किसी भी भाषा का व्यक्तित्व उसकी अभिव्यक्ति के विशेष नियमों में प्रतिबिंबित होता है। संसार की सभी भाषाओं में विधानार्थक वाक्यों का रचनांतरण प्रश्नार्थक वाक्यों में किया जा सकता है। निम्नलिखित उदाहरणों पर विचार कीजिए :

हिंदी

विधानार्थक वाक्य . मोहन घर जा रहा है।

प्रश्नार्थक वाक्य . . मोहन कहाँ जा रहा है ?

अंग्रेजी

		1 2 3 4
विधानार्थक वाक्य	.	Mohan is going home.

		4 2 1 3
प्रश्नार्थक वाक्य	.	Where is Mohan going?

हिंदी और अंग्रेजी दोनों ही में प्रश्नार्थक वाक्य विधानार्थक वाक्यों के ही परिवर्तित रूप होते हैं, पर रचनांतरण के नियम एक नहीं होते । रचनांतरण के नियम भाषा-विशिष्ट हुआ करते हैं। हिंदी में केवल 'घर' के स्थान पर प्रश्नार्थक शब्द 'कहाँ' के प्रयोग से ही विधानार्थक वाक्य का रचनांतरण प्रश्नार्थक वाक्य में हो गया, पर अंग्रेजी में दो परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ी है—अंग्रेजी के सभी प्रश्नार्थक वाक्यों में प्रथम सहायक क्रिया उद्देश्य के पहले आती है और प्रश्नार्थक शब्द का प्रयोग वाक्य के प्रथम स्थान में होता है। एक से अधिक प्रश्नार्थक शब्द रहने पर वे अन्य स्थानों में भी आ सकते हैं।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि हिंदीभाषियों को अंग्रेजी सीखने में प्रश्नार्थक वाक्यों के विशेष नियमों को सीखना होगा। उद्देश्य और प्रथम सहायक क्रिया का स्थानांतरण कैसे होता है, इस पर ध्यान देना होगा। यदि विधानार्थक वाक्य में सहायक क्रिया प्रत्यक्ष रूप में न हुई, तो प्रश्नार्थक वाक्य में एक डमी क्रिया 'do' का प्रयोग करना होता है—इसे भी सीखना होगा। इस पर ध्यान न देने के ही कारण निम्नलिखित अशुद्ध वाक्यों का प्रयोग देखने को मिलता है—

*Where he lives these days?
[शुद्ध रूप—Where does he live these days?]

अंग्रेजी भाषियों को हिंदी सीखने में हिंदी के रचनांतरण नियमों को सीखना होगा। उन्हें यह सीखना होगा कि हिंदी विधानार्थक वाक्यों को एक या अधिक तत्वों के स्थान पर 'क-शब्द' का प्रयोग कर प्रश्नार्थक वाक्यों में रचनांतरित किया जा सकता है। इस नियम पर ध्यान न देने के कारण ही निम्नलिखित वाक्यों का प्रयोग देखने को मिलता है—

*कहाँ मोहन जा रहा है ?
मोहन कहाँ जा रहा है ?

*क्या मोहन है ?

मोहन क्या है ?

व्यतिरेकी भाषाविज्ञान की दृष्टि से हिंदी और अंग्रेजी के विधानार्थक और प्रश्नार्थक वाक्यों की समानता और असमानता को निम्नलिखित रूप में दिखाया जा सकता है ।

समानता	असमानता	
विधानार्थक वाक्य ⇕ प्रश्नार्थक वाक्य	वहिस्तलीय संरचना	
	सं प.+सं प.+क्रि प./?	हिंदी
	?+स क्रि.+सं प.+क्रि प.+सं प.	अंग्रेजी

[सं प.=संज्ञा पदबंध; क्रि प.=क्रिया पदबंध; स क्रि.=सहायक क्रिया]

दोनों ही भाषाओं में विधानार्थक वाक्य का रचनांतरण प्रश्नार्थक वाक्य में हो सकता है। हिंदी के रचनांतरण-नियमानुसार प्रश्नसूचक शब्द (?) का प्रयोग उस तत्त्व के स्थान में होता है जिस पर प्रश्न किया जाता है। अंग्रजी में प्रश्नसूचक शब्द वाक्य के प्रथम स्थान में आता है और साथ ही प्रथम सहायक क्रिया को उद्देश्य संज्ञा पदबंध के पहले रखा जाता है।

द्वितीय भाषा-शिक्षण में अशुद्धियों के विश्लेषण और उस विश्लेषण पर आधारित पाठ्य सामग्री का विशेष महत्त्व होता है । अशुद्धियों का विश्लेषण निम्नलिखित आयामों पर किया जा सकता है —

1. अशुद्धियों की पहचान
2. अशुद्धियों का वर्णन
3. अशुद्धियों का उद्गम
4. उपचार व्यवस्था

अशुद्धियों की पहचान और उनका वर्णन उस भाषा के वैज्ञानिक वर्णन के आधार पर किया जाता है । उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि :—

"राम कहा कि वह जाएगा"

अशुद्ध है क्योंकि इसमें वहिस्तलीय स्तर पर हिंदी के 'ने' प्रयोग के नियम का उल्लंघन किया गया है । यह तो मूल समस्या का एक छोटा-सा अंग है । मूल प्रश्न तो यह है कि इस तरह की अशुद्धियाँ क्यों होती हैं ? इनका उद्गम कहाँ है ? यदि इन प्रश्नों पर ठीक से विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इनमें से बहुतेरी अशुद्धियाँ द्वितीय भाषा या अन्य भाषा में मातृभाषा के नियमों के प्रयोग के कारण होती हैं ।

हिंदी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में भूतकाल और वर्तमानकाल के बीच कड़ी जोड़ी जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई कार्य भूतकाल में शुरू हुआ हो और अभी भी चल रहा हो तो इसकी अभिव्यक्ति क्रिया और क्रिया-विशेषण के विशेष रूपों के प्रयोग द्वारा की जा सकती है। निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान दीजिए :—

(क) मोहन ने सुबह आठ बजे पढ़ना शुरू किया।

(ख) अभी दिन के ग्यारह बजे हैं।

(ग) मोहन अभी भी पढ़ रहा है।

इन तीनों वाक्यों का रचनांतरण एक वाक्य में किया जा सकता है :

(क) + (ख) + (ग) ——> मोहन सुबह आठ बजे से पढ़ रहा है।

ध्यान देने की बात यह है कि क्रिया का रूप जो (ग) में है वही इस नए वाक्य में भी है—मोहन अभी पढ़ रहा है। मोहन सुबह आठ बजे से पढ़ रहा है। अंग्रेजी में भी भूत और वर्तमान के संबंध को जोड़ने के अपने नियम हैं जो हिंदी से भिन्न हैं। जब कोई कार्य भूतकाल में प्रारंभ हुआ हो और वर्तमान में भी चल रहा हो तो इसकी अभिव्यक्ति के लिए अंग्रेज़ी में Present Perfect Progressive रूप का प्रयोग किया जाता है, पर जो कार्य अभी (वर्तमान) में चल रहा है उसके लिए Present Progressive रूप का प्रयोग किया जाता है। निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान दीजिए :—

(a) Mohan started working at eight this morning.
(b) It's eleven o'clock now.
(c) Mohan is still working.

इन तीनों वाक्यों का रचनांतरण निम्नलिखित वाक्य में किया जा सकता है :

(a) + (b) + (c) ——> Mohan has been working since eight this morning.

ध्यान देने की बात यह है कि इस नए वाक्य में क्रिया का जो रूप है वह अन्य वाक्यों में प्रयोग किए गए रूप से भिन्न है। वर्तमान में is working का प्रयोग किया गया है और भूत-वर्तमान में has been working का। हिंदी और अंग्रेज़ी दोनों के इस बहिस्तलीय अंतर को ध्यान में रखना अनिवार्य है। गहन संरचना स्तर पर हिंदी और अंग्रेजी द्वारा अभिव्यक्त अनुभूतियों में कोई अंतर नहीं। मुख्य अंतर है उनकी बहिस्तलीय संरचना में। कहा जा सकता है कि भाषा की व्याकरणिक विभिन्नता उनके उन रचनांतरण नियमों में होती है जिनके द्वारा वे गंभीर अनुभूतियों को विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक ढाँचों से निकालते हुए बाह्य रूप में अभिव्यक्त करती हैं।

व्यतिरेकी विश्लेषण द्वारा हमें मानवीय भाषाओं की समानता और असमानताओं को समझने में सहायता मिलती है। एक भाषा बोलने वाले को दूसरी भाषा सीखने में क्या-क्या कठिनाइयाँ हो सकती हैं—इन पर प्रकाश इस

विश्लेषण से पडता है। संभव है इनमें से बहुत-सी कठिनाइयाँ सीखने वाले के सामने आएँ ही नहीं। यह भी संभव है कि कुछ कठिनाइयाँ ऐसी भी हों जिनका व्यतिरेकी विश्लेषण से पता नहीं चले। अन्य भाषा सीखने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ होती हैं। व्यतिरेकी विश्लेषण में केवल उन कठिनाइयों का व्याख्यात्मक वर्णन मिलता है जिनका कारण होता है—मातृभाषा के नियमों का अन्य भाषा में प्रयोग।

तोलन वर्णनात्मक अध्ययन से हमें यह समझने में सहायता मिलती है कि बालक किस तरह अपनी मातृभाषा के नियमों को आत्मसात् करता है और फिर द्वितीय भाषा के नियमों को अपनाने में उसे मातृभाषा से कितनी सहायता मिलती है और कितनी रुकावट पैदा होती है।

यह आशा की जाती है कि व्यतिरेकी विश्लेषण के आधार पर कुछ ही दिनों में भाषाओं की व्याकरणिक कोटियों के संबंधों को दिखलाने वाला कोश तैयार हो जाएगा। ❂

शब्दार्थविज्ञान

तथा

कोशविज्ञान

हिंदी समापिका क्रिया-रूपों का अर्थतात्त्विक विवेचन

कालीचरण बहल

1. हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व का विवेचन प्रस्तुत लेख का मुख्य विषय है। लेख के भाग 2 में हम हिंदी समापिका क्रिया-रूपों की तालिका प्रस्तुत करेंगे, तत्पश्चात् भाग 3 में कामता प्रसाद गुरु द्वारा लिखित हिंदी व्याकरण में इन क्रिया-रूपों की अर्थतत्त्व संबंधी मान्यताओं का उल्लेख करते हुए हम गुरु की कतिपय भ्रांत धारणाओं का विवेचन करेंगे।[1] तदनंतर हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व के संबंध में अपनी मान्यताएं प्रस्तुत करेंगे। इन क्रिया-रूपों की अर्थतात्त्विक योजना के दो अंग हैं—(1) अर्थतत्त्व की अभिसंज्ञक संरचना तथा (2) उसकी अभिव्यंजक संरचना। लेख के भाग 4 में अभिसंज्ञक संरचना का विवरण प्रस्तुत किया जाएगा तथा भाग 5 में अभिव्यंजक संरचना का। लेख के अंत में (भाग 6 में) हम क्रिया-रूपों का पुनरुल्लेख करके और प्रत्येक क्रिया-रूप के अपने विवेचनानुसार पारिभाषिक नामकरण विषयक सुझाव प्रस्तुत करेंगे।

2. हिंदी समापिका क्रिया-रूपों की संख्या के बारे में हिंदी के वैयाकरणों में काफी मतभेद है। इस मतभेद का मूल कारण जो भ्रांतियां हैं उनका उल्लेख करते हुए हमने अपने ग्रंथ A Refercnce Grammar of Hindi[2] में इन समापिका क्रियारूपों की संख्या निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। अत: प्रस्तुत लेख में संख्या संबंधी विवाद में न जाकर हमने अपने उक्त ग्रंथ में निर्धारित संख्या को ही अपने अर्थतत्त्व के विवेचन का आधार माना है।

2.1 हिंदी समापिका क्रिया-रूपों की कुल संख्या 22 है। इन 22 क्रिया-रूपों का निर्देश जाना क्रिया के द्वारा निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(क) पूर्णतावाचक कृदंत से बनने वाले रूप

(1) गया होता

(2) गया होगा

(3) गया हो

(4) गया था

(5) गया है

(6) गया

(ख) अपूर्णतावाचक कृदंत से बनने वाले रूप

(7) जाता होता

(8) जाता होगा

(9) जाता हो

(10) जाता था

(11) जाता है

(12) जाता

(ग) नामधातु से बनने वाले रूप

(13) जाना होता

(14) जाना होगा

(15) जाना हो

(16) जाना था

(17) जाना है

(18) जाना

(घ) धातु के साथ प्रत्यय लगा कर बनने वाले रूप

(19) जाइएगा

(20) जा

(21) जाएगा

(22) जाए

उपरिलिखित समस्त क्रिया-रूप, रूप संख्या (19, 20) को छोड़कर अन्य पुरुष, पुल्लिग, एकवचन रूप हैं। रूप-संख्या (19, 20) का निर्देश उनके मध्यम पुरुष, एकवचन रूपों द्वारा किया गया है।

3. कामता प्रसाद गुरु ने अपने हिंदी व्याकरण में हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्व के दो मुख्य आयाम स्वीकार किए हैं जिन्हें उन्होंने काल तथा अर्थ की संज्ञाओं से अभिहित किया है। पहले हम गुरु की कालविषयक धारणाओं का विवेचन करेंगे; तत्पश्चात् अर्थविषयक धारणाओं का।

3.1. काल नामक तत्त्व की गुरु ने (हिंदी व्याकरण, पृष्ठ 260 पर) निम्न परिभाषा दी है :—

"357—क्रिया के उस रूपांतर को काल कहते हैं जिससे क्रिया के व्यापार का समय तथा उसकी पूर्ण व अपूर्ण अवस्था का वोध होता है, जैसे मैं जाता हूं (वर्तमान काल)। मैं जाता था (अपूर्ण भूत काल)। मैं जाऊंगा (भविष्यत् काल)।"

जैसा कि गुरु की उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है, उन्होंने क्रिया-व्यापार के समय तथा क्रिया-व्यापार की अवस्था* इन दो तत्त्वों को काल के आयाम के अंतर्गत माना है। क्रिया-व्यापार के समय का उन्होंने त्रिविध विभाजन किया है जिसे उन्होंने वर्तमान, भूत और भविष्यत् से अभिहित किया है। अवस्था के उप-आयाम के भी उन्होंने तीन भेद माने हैं—अपूर्ण, पूर्ण तथा सामान्य। सामान्य अवस्था के बारे में उन्होंने निम्न शब्दों में निर्देश किया है :—

"क्रिया के जिस रूप से केवल काल का वोध होता है और व्यापार की पूर्ण वा अपूर्ण अवस्था का वोध नहीं होता उसे काल की सामान्य अवस्था कहते हैं।" (हिंदी व्याकरण, पृष्ठ संख्या 261)।

काल के आयाम के उपरोक्त भेदों और उपभेदों को गुरु ने निम्न चित्र द्वारा दर्शाया है[3] :—

काल	सामान्य	अपूर्ण	पूर्ण
वर्तमान	वह चलता है	वह चल रहा है	वह चला है
भूत	वह चला	{ वह चल रहा था वह चलता था	वह चला था ×
भविष्य	वह चलेगा	×	×

चित्र संख्या (1)

काल की आयाम संबंधी उपरोक्त योजना के आधार पर हिंदी समापिका क्रिया-रूपों का उनका अर्थ तात्त्विक निरूपण नितांत भ्रांतिपूर्ण है। इसका कारण यह है कि उन्होंने (1) प्राकृतिक समय की भाषा में अवस्थिति मानी है, (2) समय तथा अवस्था को एक ही मुख्य तत्त्व के दो भेद माना है, और (3) समय और अवस्था इन दो उपआयामों में से समय को मुख्य तत्त्व तथा अवस्था को गौण तत्त्व मानकर इन क्रिया-रूपों की अर्थतात्त्विक योजना निर्धारित की है।

3.1.1. अब हम अपनी प्रथम आपत्ति पर विचार करेंगे। संसार की सब भाषाओं के क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व में समय के भूत, वर्तमान और भविष्य के अनुसार प्राकृतिक विभाजन को एक आद्य तत्त्व मानते हुए भी उसकी प्रत्येक

*Aspect के लिए अवस्था का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग। शब्दावली आयोग ने इसके लिए 'पक्ष' रखा है—संपादक।

भाषा में, विशेष कर हिंदी में, स्वतः सिद्ध अवस्थिति मान लेना एक सैद्धांतिक भूल है। किसी भी भाषा के क्रिया-रूपों का अर्थतत्त्व प्राकृतिक नियमों पर आधारित न होकर भाषावैज्ञानिक तत्वों पर आधारित होता है। इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए यह देखना आवश्यक है कि हिंदी में भविष्यत् समय का कितने क्रिया-रूपों के द्वारा बोध होता है। निम्नलिखित वाक्यों में समस्त मोटे टाईप के क्रिया-रूप ऐसे हैं जिनसे यह बोध होता है कि उन वाक्यों में प्रयुक्त क्रियाओं का व्यापार भूत अथवा वर्तमान में न होकर भविष्य में होने वाला है। प्रत्येक उदाहरण के अंत में उस वाक्य में प्रयुक्त क्रिया-रूप की संख्या का भी निर्देश कर दिया गया है। साथ ही प्रत्येक उदाहरण के नीचे कोष्ठों में उसके अभिप्राय की व्याख्या भी दे दी गई है।[4]

पान्सा के साथ-ही-साथ इस बार पेरियनायकी भी भाग रही थी। (4)

(पान्सा के साथ-ही-साथ इस बार पेरियनायकी ने भी निकट भविष्य में भाग जाने की योजना बना ली थी।)

हमारे शिविर में वह तभी तक रह सकती है जब तक कि हमने उसको काशी या किसी अन्य तीर्थ में सुविधापूर्वक रहने की व्यवस्था नहीं कर पाई है। (5)

(हमारे द्वारा उसके लिए काशी या किसी अन्य तीर्थ में निकट भविष्य में सुविधापूर्वक रहने की व्यवस्था न कर पाने तक वह हमारे शिविर में रह सकती है।)

——और, कचनार को उनके पंजे से मुक्त किया जाए, यह और कहीं हो ही नहीं सकती, परंतु गुंसाई बहुत हैं, बाहर निकल कर उनके ऊपर आक्रमण किया और उन्होंने हमारा विध्वंस किया। (6)

(——और, कचनार को उनके पंजे से मुक्त किया जाए, वह और कहीं हो ही नहीं सकती, परंतु गुंसाई बहुत हैं, बाहर निकल कर जैसे ही हम उनके ऊपर आक्रमण करेंगे वे हमारा विध्वंस कर देंगे।)

——मैं तुम दोनों को पुलिस के हवाले करता हूँ। (11)

(——मैंने अपने मन में निश्चय कर लिया है कि मैं तुम दोनों को पुलिस के हवाले कर दूं और मुझे यह कार्य अविलंब करना है।)

यदि कल आप मेरे साथ चलते, तो वह काम अवश्य हो जाता। (12)

(यदि आप कल (कल जो आने वाला है) मेरे साथ चलें (परंतु आपकी ऐसी इच्छा नहीं है,) तो मैं ऐसा निश्चयात्मक रूप से कह सकता हूं कि वह काम अवश्य हो जाएगा।)

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिंदी में उन क्रिया-रूपों के अतिरिक्त जिन्हें केवल भविष्यत्कालिक रूप माना जाता है अन्य क्रिया-रूपों के द्वारा भी भविष्य में होने वाले क्रिया-व्यापार का बोध होता है। अब हम क्रिया-रूप

संख्या (21) और (22) के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जिन्हें गुरु तथा अन्य वैयाकरण निर्विवाद रूप से भविष्यत्कालिक क्रिया-रूप मानते हैं। इन वाक्यों की विशेषता यह है कि इनमें मोटे टाइप के भविष्यत्कालिक क्रिया-रूप अन्य अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इन उदाहरणों के अभिप्राय की व्याख्या भी उनके नीचे कोष्ठकों में दे दी गई है।

झुनिया . . . बाहर निकले तो चारों ओर से वाग्बाणों की ऐसी वर्षा हो कि जान बचाना मुश्किल हो जाए। (22)

(झुनिया . . . आज तक जब कभी भी बाहर निकली है तो चारों ओर से वाग्बाणों की ऐसी वर्षा हुई है कि (उसका अपनी) जान बचा सकना सदा ही मुश्किल हुआ है तथा इस बात की भविष्य में भी होने की संभावना है यद्यपि ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।)

जिस गृहस्थी में पेट की रोटियाँ भी न मिलें, उसके लिए इतनी खुशामद क्यों ? (22)

(जिस गृहस्थी में कभी पेट भरने के लिए रोटियाँ नहीं मिलीं और न ही भविष्य में मिलने की संभावना है, उसके लिए इतनी खुशामद क्यों ?)

तो सुनिए फिलासफर हमेशा मुर्दा-दिल होते हैं, जब देखिए, अपने विचारों में मग्न बैठे हैं। आपकी तरफ ताकेंगे मगर आपको देखेंगे नहीं, आप उनसे बात किए जाएँ, कुछ सुनेंगे नहीं। जैसे शून्य में उड़ रहे हों। (21)

(तो सुनिए फिलासफर मुर्दा-दिल होते हैं, जब देखिए, अपने विचारों में मग्न बैठे हैं। लगता तो ऐसे है कि वे आपकी तरफ ताक रहे हैं मगर (विश्वास मानिए) इस बात की कोई संभावना नहीं कि वे आपको देख रहे हैं . . . ।)

ऊपर हमने उन क्रिया-रूपों के उदाहरण दिए हैं जिन्हें भविष्यत्कालिक क्रिया-रूप नहीं माना जाता परंतु उनसे भविष्य में होने वाले क्रिया-व्यापार का बोध होता है। साथ ही हमने भविष्यत्कालिक क्रिया-रूप माने जाने वाले रूपों के उदाहरण दे कर यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि इन रूपों का प्रयोग भविष्य से इतर अर्थों में भी हो सकता है। इन दो प्रकार के उदाहरणों से यह तथ्य स्वतः स्पष्ट है कि हिंदी क्रिया-रूपों में 'भविष्यत्' समय काल का कोई स्वतंत्र उपआयाम नहीं है। गुरु द्वारा स्थापित काल के उपआयाम समय के दो भेदों अर्थात् भूत और वर्तमान की हिंदी क्रिया-रूपों के अर्थतत्व में स्वतंत्र अवस्थिति मानना तो सर्वथा युक्तिसंगत है परंतु भविष्य के बारे में ऐसा नहीं है। इन तर्कों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्व की योजना में काल का आयाम प्राकृतिक समय-विभाजन के अनुरूप नहीं है।

3.1.2. अब हम अपनी द्वितीय आपत्ति पर विचार करेंगे। गुरु ने समय और अवस्था को एक ही मूल तत्व के दो भेद मानकर हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्व की जो योजना प्रस्तुत की है उससे यह बोध होता है कि उन समस्त क्रिया-रूपों में (जिनको उन्होंने अपने व्याकरण के पृष्ठ (261)

पर दिए गए चित्र में उद्धृत किया है) समान रूप से ये दोनों उपआयाम विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए चला रूप में समय (भूत) और अवस्था (सामान्य, जो कि पूर्ण और अपूर्ण अवस्थाओं की अनुपस्थिति को द्योतित करती है) दोनों की अवस्थिति उन्होंने मानी है।

हमारा तर्क यह है कि क्रिया-रूप संख्या (6) से न तो भतकाल का बोध होता है और न ही सामान्य अवस्था का। इस क्रिया-रूप में यदि कोई तत्त्व निहित है तो वह है केवल क्रिया-व्यापार की पूर्णता। अर्थात्, जैसा कि निम्न उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि क्रिया-रूप संख्या (6) से क्रिया-व्यापार की भूत अथवा भविष्य दोनों समयों में पूर्णता का बोध होता है।

वह कल बहुत देर से घर आया।

(अर्थात् उसने कल (भूतकाल में) घर आने की क्रिया के व्यापार को समय पर पूरा करने में विलंब किया।)

यदि वह कल बहुत देर से घर आया तो उसे सजा मिलेगी।

(अर्थात् यदि वह कल (भविष्यत् काल में) घर आने की क्रिया के व्यापार को समय पर पूरा करने में विलंब करेगा तो उसे सजा मिलेगी।)

जैसाकि उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है, भूत में क्रिया-व्यापार की पूर्णता अथवा भविष्य में क्रिया-व्यापार की पूर्णता, इन दोनों स्थितियों में पूर्णता का द्योतन ही क्रिया-रूप संख्या (6) को समापवर्तक तत्त्व है। इसलिए रूप संख्या (6) को भूतकाल की सामान्य अवस्था का रूप मानना भ्रांतिपूर्ण है।

क्रिया रूप (6) के प्रयोग के जो उदाहरण हमने ऊपर दिए हैं उनसे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि हिंदी क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व में काल और अवस्था दो स्वतंत्र आयाम हैं। इसी समस्या पर हम अगले भाग में और विचार करेंगे।

3.1.3. अब हम अपनी तृतीय आपत्ति पर विचार करेंगे। ऊपर हम यह प्रमाणित कर चुके है कि काल तथा अवस्था हिंदी क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व के दो स्वतंत्र आयाम हैं। इस कथन का एक अर्थ यह हो सकता है कि एक की विद्यमानता में दूसरे की भी अनिवार्य विद्यमानता मानना हिंदी क्रिया-रूपों की अर्थतात्त्विक योजना के लिए संगत नहीं है। हमारे उक्त कथन का अभिप्राय इतना ही है कि हिंदी क्रिया-रूपों की अर्थतात्त्विक योजना में अवस्था नामक तत्त्व एक मुख्य तत्त्व है और काल एक गौण तत्त्व। इस कथन से यह अर्थ निकलता है कि काल की अवस्थिति अवस्था की विद्यमानता पर निर्भर है; किंतु इसके विपरीत नहीं हो सकता (अर्थात् अवस्था की अवस्थिति के लिए काल की विद्यमानता भी अनिवार्य नहीं)।

गुरु ने अपनी अर्थतात्त्विक योजना में काल को अनिवार्य तत्त्व माना है और अवस्था को वैकल्पिक। इसलिए उनको पूर्ण और अपूर्ण अवस्थाओं के अभाव में एक नई अवस्था, जिसे उन्होंने सामान्य की संज्ञा दी है, कल्पित करनी पड़ी है।

3.1.4. गुरु के काल नामक आयाम पर विचार करते हुए जिन निष्कर्षों पर हम पहुँचे हैं अब उनका एक बार फिर उल्लेख कर देना चाहते हैं। वे निष्कर्ष निम्न शब्दों में व्यक्त किए जा सकते हैं :—

(1) हिंदी क्रिया-रूपों की अर्थतात्त्विक योजना काल (अर्थात् समय) और अर्थतत्त्व के आधार पर नियोजित नहीं है।

(2) इन क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व की योजना प्राकृतिक समय-विभाजन पर आधारित न होकर भाषावैज्ञानिक नियमों के अनुसार नियोजित है। इसका अर्थ यह है कि हिंदी क्रिया-रूपों में भविष्यत् कोई स्वतंत्र तत्त्व न होकर अन्य तत्त्वों द्वारा प्रासंगिक रूप से व्यक्त होता है।

(3) हिंदी क्रिया-रूपों की अर्थतात्त्विक योजना के मुख्य तत्त्व हैं : अवस्था के आयाम की विद्यमानता तथा इसका अभाव। इसी तथ्य को हमने लेख के भाग 4 में + अवस्था तथा — अवस्था कह कर संकेतित किया है।

3.2. गुरु ने अपने व्याकरण के पृष्ठ संख्या (263) पर अर्थ* की भिन्न परिभाषा दी है।

"359—क्रिया के जिस रूप से विधान करने की रीति का बोध होता है उसे अर्थ कहते हैं, जैसे, लड़का जाता है (निश्चय), लड़का जावे (संभावना), तुम जाओ (आज्ञा), यदि लड़का जाता तो अच्छा होता (संकेत)।"

आगे चल कर गुरु ने अर्थ नामक तत्त्व के पाँच उपभेद माने हैं—(1) निश्चयार्थ, (2) संभावनार्थ, (3) संदेहार्थ, (4) आज्ञार्थ, (5) संकेतार्थ। इसी विषय में आगे चल कर सूत्र (क) पृष्ट संख्या (265) पर उन्होंने कहा है कि "हिंदी में निश्चयार्थ क्रिया का कोई विशेष रूप नहीं है। जब क्रिया किसी विशेष अर्थ में नहीं आती तब उसे सुभीते के लिए निश्चयार्थ सें मान लेते हैं"। गुरु के इस कथन से स्पष्ट है निश्चयार्थ का हिंदी क्रिया-रूपों की अर्थतात्त्विक योजना में कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकार उनका संकेत नामक उपभेद भी अर्थ का भेद नहीं है। गुरु ने संकेतार्थ का निर्देश करने के लिए तीन उदाहरण दिए हैं :—

वह चलता।

वह चलता होता।

वह चला होता।

इनमें से प्रथम वाक्य क्रिया-रूप संख्या (12) का उदाहरण है। इस रूप का प्रयोग केवल गुरु द्वारा प्रतिपादित संकेतार्थक तक ही सीमित नहीं है। गुरु के संकेतार्थक प्रयोग के अतिरिक्त रूप-संख्या (12) के अन्य प्रयोग निम्न प्रकार हैं :—

---

*लेखक ने यहाँ mood के लिए 'अर्थ' शब्द को ही पारिभाषिक रूप में स्वीकार किया है। शब्दावली आयोग ने इसके लिए 'वृत्ति' निश्चित किया है—संपादक।

(क) भूत में क्रिया-व्यापार की पुनरावृत्ति :

गद वह इस सुद्दर भरपूर जोर से फेंकते कि कुत्ता ले आए और कुत्ता ले आता साहब !

(ख) भविष्य के लिए प्रस्ताव :

महाराज को सविनय सांकेतिक सलाह देते हुए उन्होंने अपने पत्र में यह भी सुझाया कि उक्त धन का उपयोग भी यदि नगर के व्यावसायिक पुनर्संगठन के लिए हो सकता तो उनके स्वर्गीय संबंधी की आत्मा को परम शांति लाभ होता।

गुरु ने संकेतार्थ की निम्न परिभाषा दी है :—

"संकेतार्थ क्रिया से ऐसी दो घटनाओं की असिद्धि सूचित होती है जिससे कार्य-कारण का संबंध सूचित होता है, . . . ।"[5]

यह स्पष्ट है कि गुरु की संकेतार्थ की परिभाषा क्रिया-रूप संख्या (12) के ऊपर दिए गए दोनों उदाहरणों पर लागू नहीं होती। इसलिए इस क्रिया-रूप को संकेतार्थ का रूप मानना युक्तिसंगत नहीं है।

क्रिया-रूप संख्या (1) और (7), जिनका निर्देश गुरु ने चला होता और चलता होता उदाहरणों द्वारा किया है, वास्तव में अर्थ (mood) के प्रयोग नहीं हैं। जिस आधार पर गुरु ने अर्थ के आयाम के तीन अन्य उपभेद—संभावना, संदेह और आज्ञा—माने हैं उसी आधार पर संकेत को अर्थ का उपभेद नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि अर्थ एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा वाक्य का वक्ता, वाक्य में प्रयुक्त क्रिया के कर्ता और क्रिया-शब्द द्वारा द्योतित क्रिया-व्यापार के संबंध में अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। गुरु के अर्थ के आयाम के तीन उपभेद : संभावना, संदेह और आज्ञा इस तत्त्व की जो परिभाषा हमने दी है उस पर आधारित हैं। इसलिए यह कहना पर्याप्त होगा कि वक्ता के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति जो कि अर्थ के आयाम का मूल आधार है क्रिया-रूप संख्या (1) और (7) से कदापि सूचित नहीं होती। अतः गुरु के अर्थ के पाँचवें भेद संकेत की भी हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व में अवस्थिति मानना युक्तिसंगत नहीं है।

3.2.1. क्रिया-रूप संख्या (1) गया होता और (7) जाता होता के साथ क्रिया-रूप संख्या (13) जाना होता को सम्मिलित किया जाना चाहिए। अब हम इन तीनों क्रिया-रूपों के संबंध में कतिपय अन्य भ्रांतियों का निराकरण करने का प्रयत्न करेंगे। कतिपय वैयाकरणों ने इन रूपों को (अर्थात् (1) और (7) को) भूत संभावनार्थ के रूप माना है[6]। इन क्रिया-रूपों का भूत अथवा संभावना इन दोनों तत्त्वों से कोई संबंध नहीं है। हमारे इस कथन का तात्पर्य यह है कि रूप संख्या (1), (7) और (13) से भूत, संभावना आदि का द्योतन न होकर केवल क्रिया-व्यापार की असिद्धि का बोध होता है तथा क्रिया-व्यापार की असिद्धि क्रिया-व्यापार के काल पर आश्रित नहीं है। अब हम इस कथन के आशय को कतिपय उदाहरण देकर स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। निम्नलिखित वाक्य में रूप-संख्या (1) के द्वारा भूतकाल में क्रिया-व्यापार की असिद्धि का द्योतन होता है :—

अंत में उसने तय किया, कलावती के सामने कायदे का ही वर्ताव किया होता तो अच्छा होता . . . ।

इस वाक्य का अभिप्रत अर्थ है कि क्रिया के कर्ता ने किसी अन्य व्यक्ति (अर्थात् कलावती) के सामने कायदे का वर्ताव (इस वाक्य के कथन से पूर्व) नहीं किया किंतु यदि जैसा उसने किया वैसा न करके (अर्थात् उसके विपरीत) वह अच्छा वर्ताव कर पाता तो वहुत अच्छा होता ।

अव हम क्रिया-रूप संख्या (1) और (7) के कतिपय उदाहरण देते हैं जिनसे क्रिया-व्यापार की भविष्य में असिद्धि द्योतित होती है :

उसे ऐसी स्त्री की भी कामना रही, जो केवल मनोविनोद और क्रीड़ा के लिए होती, जो जीवन के आदि से अंत तक केवल प्रेयसी वनी रह सकती और जिसके प्रति पुरुष कर्तव्य के वंधन में न वंधा होता ।

परंतु यदि यही क्रिया पालतू तेंदुए से कराई जा सकती होती . . . . ।

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि क्रिया-रूप (1), (7) और (13) का सामान्य अर्थ है क्रिया-व्यापार की असिद्धि, और क्रिया-व्यापार की यह असिद्धि भूत और भविष्य इन दोनों समयों पर आश्रित न होकर अपने आप में एक स्वतंत्र तत्त्व है ।

3.3.2. अब हम क्रिया-रूप संख्या (13-18) का सामान्य अर्थ स्थिर करने का प्रयत्न करेंगे ।

क्रिया-रूप संख्या (1–6) तो पूर्णावस्था के रूप हैं, रूप-संख्या (7–12) अपूर्णावस्था के रूप हैं और रूप-संख्या (19–22) में केवल अर्थ (mood) नामक तत्त्व विद्यमान है । रूप-संख्या (13–18) की स्थिति हिंदी समापिका क्रिया-रूपों की अर्थतात्त्विक योजना में रूप संख्या (1–12) और (19–22) के मध्यवर्ती है, अर्थात् रूप-संख्या (13–18) न तो अवस्थावाची रूप है और न ही अर्थवाची । ये क्रिया-रूप केवल इस तथ्य का संकेत करते हैं कि वक्ता अपने श्रोता को क्रिया के कर्ता द्वारा क्रिया-व्यापार के किए जाने की सूचना मात्र देना चाहता है । वस्तुत: इन रूपों के प्रयोग द्वारा वक्ता इस तथ्य का (अर्थात् क्रिया का कर्ता किसी भी काल में क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त है या नहीं इस वात का) निश्चयात्मक कथन न करके कर्ता पर क्रिया-व्यापार का आरोप मात्र कर देता है । इसी तथ्य को हमने संकेत की संज्ञा से अभिहित किया है ।

इसी प्रकार रूप-संख्या (13–18) और (19–22) में जो सामान्य अर्थ-भेद होता है उसे यह कह कर दर्शाया जा सकता है कि रूप-संख्या (13–18) में वक्ता द्वारा कर्ता पर क्रिया-व्यापार के परोक्ष आरोप का वोध होता है तथा रूप संख्या (19–22) में वक्ता द्वारा कर्ता पर क्रिया-व्यापार के प्रत्यक्ष आरोप का वोध होता है ।

4. ऊपर हमने हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व के संबंध में कतिपय भ्रांतियों का उल्लेख करते हुए उनका निराकरण करने का प्रयत्न किया है। अब हम हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व के विषय में अपनी मान्यताओं का उल्लेख करेंगे। हिंदी क्रिया-रूपों की अर्थतात्त्विक योजना के दो सापेक्ष पक्ष हैं। इनमें प्रथम को हमने अभिसंज्ञक संरचना की संज्ञा दी है तथा द्वितीय को अभिव्यंजक संरचना की। कामता प्रसाद गुरु आदि अन्य वैयाकरणों ने हिंदी क्रियारूपों के अर्थतत्त्व के जो आयाम अवस्था, अर्थ, काल इत्यादि माने हैं वे सब अभिसंज्ञक संरचना के अंतर्गत आते हैं। लेख के भाग 4.1 में दी गई नियमावली इसी अभिसंज्ञक संरचना को अभिव्यक्त करती है। हमारी नियमावली और गुरु की योजना में अंतर इतना ही है कि गुरु की योजना का आधार परंपरागत परिपाटी है किंतु हमारी नियमावली में अभिव्यक्त अभिसंज्ञक संरचना क्रिया शब्द द्वारा वर्णित क्रिया-व्यापार, क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त सहयोगी अर्थात् कर्ता तथा कर्म, वक्ता का श्रोता से कथन-व्यापार तथा कथन-व्यापार में प्रवृत्त सहयोगी अर्थात् वक्ता तथा श्रोता, इन चार आद्य तत्त्वों पर आधारित है।[7]

4.1. अब हम हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व की अभिसंज्ञक संरचना से संबंधित नियमों का निर्धारण करेंगे। हमारी मान्यता है कि हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व की अभिसंज्ञक संरचना को निम्नलिखित नियमावली द्वारा समुचित रूप से नियोजित किया जा सकता है।

[क्रिया-रूप प्रत्यय]	⟶	[±अवस्था]
[+अवस्था]	⟶	[±पूर्णता]
[+पूर्णता]	⟶	[±असिद्धि]
[— पूर्णता]	⟶	[±असिद्धि]
[— अवस्था]	⟶	[±संकेत]
[+संकेत]	⟶	[±असिद्धि]
[— असिद्धि]	⟶	[±अर्थ]
[+अर्थ]	⟶	[±संभावना]
[— अर्थ]	⟶	[±काल]
[+काल]	⟶	[±भूत]
[— संकेत]	⟶	[±आदेश]
[+आदेश]	⟶	[±उपदेशात्मकता]
[— आदेश]	⟶	[±संभावना]

4.2. अब हम अर्थतत्त्व की उपरोक्त कोटियों से हिंदी समापिका क्रिया-रूपों की तादात्म्यता स्थापित करेंगे। यह तादात्म्यता चित्र संख्या (2) से सूचित

होती है। इस चित्र में प्रत्येक अर्थ-कोटि के नीचे क्रिया-रूप संख्या का कोष्ठकों में निर्देश कर दिया गया है।

चित्र संख्या 2

हिंदी क्रिया-रूपों के अर्थतत्व की अभिसंज्ञक संरचना का वृक्ष

4.3. अब हम हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व की उपरोक्त कोटियों का वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

+ अवस्था नामक तत्त्व से क्रिया-व्यापार की पूर्णता अथवा अपूर्णता का द्योतन होता है। + पूर्णता से क्रिया-व्यापार की पूर्णता और —पूर्णता से क्रिया-व्यापार की अपूर्णता का संकेत अभिप्रेत है। रूप-संख्या (1-6) पूर्णावस्था के रूप हैं, और रूप-संख्या (7-12) अपूर्णावस्था के। यद्यपि अवस्था नामक तत्त्व की स्थिति काल (अर्थात् समय) और अर्थ (mood) से सर्वथा स्वतंत्र है तो भी यह तत्त्व काल और अर्थ तत्त्वों से क्रिया-रूप (1-12) में संगति रखता है। क्रिया-रूप (13-22) में अवस्था तत्त्व की विद्यमानता का सर्वथा अभाव है।

— अवस्था में, अर्थात् उन क्रिया-रूपों में जिन में [रूप-संख्या (13-18) में] अवस्था नामक तत्त्व विद्यमान नहीं है, मुख्य तत्त्व हैं +संकेत; जिसका अर्थ है वक्ता द्वारा क्रिया के कर्ता और क्रिया-व्यापार के संबंध को संकेतित करना और—संकेत। समस्त संकेत क्रिया—रूपों में केवल अर्थ नामक तत्त्व विद्यमान है। रूप-संख्या (19-22) ऐसे रूप हैं जिनमें केवल अर्थ नामक तत्त्व की ही अवस्थिति है।

समस्त +पूर्णता, —पूर्णता और +संकेत रूपों में +असिद्धि और —असिद्धि के अनुसार उपभेद होते हैं। + असिद्धि से अभिप्राय है असिद्धि नामक अर्थतत्त्व की विद्यमानता और — असिद्धि से अभिप्राय है असिद्धि तत्त्व का अभाव। +असिद्धि तत्त्व से क्रिया-व्यापार की असिद्धि सूचित होती है। रूप-संख्या (1), (7) और (13)+असिद्धि रूप हैं।

— असिद्धि क्रिया-रूपों में +अर्थ, अर्थात् अर्थ नामक तत्त्व की विद्यमानता और — अर्थ, अर्थात् अर्थ नामक तत्त्व की विद्यमानता के विषय में वक्ता की अप्रतिज्ञा का द्योतन अभिप्रेत है। समस्त +अर्थ क्रिया-रूपों से क्रिया के कर्ता और क्रिया-व्यापार के प्रति वक्ता के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होती है।

— संकेत क्रिया-रूपों में +आदेश (अर्थात् वक्ता द्वारा कर्ता को क्रिया-व्यापार मे प्रवृत्त होने का आदेश) तथा — आदेश (अर्थात् वक्ता द्वारा कर्ता को क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त होने के आदेश का विधान) नामक तत्त्व विद्यमान हैं। क्रिया रूप-संख्या (19 और 20) +आदेश क्रिया-रूप हैं। +आदेश रूपों में रूप-संख्या (19) में + उपदेशात्मकता नामक तत्त्व विद्यमान है और रूप-संख्या (20) में उपदेशात्मकता। +उपदेशात्मकता से अभिप्राय है वक्ता द्वारा कर्ता को क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त होने का उपदेश। और —उपदेशात्मकता से अभिप्राय है वक्ता द्वारा कर्ता को क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त होने की आज्ञा का विधान।

—आदेश रूपों [रूप-संख्या (21) और (22)] और —असिद्धि तथा +अर्थ रूपों [रूप संख्या (2) और (3), (8) और (9) तथा (14) और (15)] में +संभावना [अर्थात् वक्ता द्वारा कर्ता की क्रिया-व्यापार में असंदिग्ध रूप से (संभावित) प्रतिपत्ति) और – संभावना [अर्थात् वक्ता द्वारा कर्ता की क्रिया-व्यापार में संदिग्ध (संभावित) प्रतिपत्ति] तत्त्वों की अवस्थिति है।

समस्त— असिद्धि रूपों में जो रूप —अर्थ और +काल हैं; उनमें +काल (अर्थात् क्रिया-व्यापार का वक्ता के कथन से पूर्व घटित हो चुकना अथवा न हो

चुकना) और—काल (अर्थात् क्रिया-व्यापार के वक्ता के कथन से पूर्व घटित हो चुकने अथवा न हो चुकने के बोध की वक्ता द्वारा अप्रतिज्ञा) नामक तत्वों की अवस्थिति है। रूप संख्या (4) और (5), (10) और (11) तथा (16) और (17) में+काल तत्त्व है और रूप संख्या (6), (12) और (18) में —काल तत्त्व।

+काल रूपों में (अर्थात् रूप संख्या (4), (10) और (16) में)+भूत (अर्थात् क्रिया-व्यापार का वक्ता के कथन से पूर्व घटित हो चुकना) नामक तत्त्व विद्यमान है। और रूप संख्या (5), (11) और (17) में —भूत (अर्थात् क्रिया-व्यापार के वक्ता के कथन से पूर्व घटित हो चुकने के संबंध में वक्ता की अप्रतिज्ञा) नामक तत्त्व की अवस्थिति है।

4.4. हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थ तत्त्व की अभिसंज्ञक संरचना से संबंधित नियमों के संक्षिप्त वर्णन के उपरांत हम अब इन नियमों में निहित कतिपय मान्यताओं का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करेंगे।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, समस्त+अवस्था क्रिया-रूपों में+ चिह्न से अवस्था नामक तत्त्व की विद्यमानता का बोध अभिप्रेत है और—अवस्था क्रिया-रूपों में चिह्न के द्वारा अवस्था नामक तत्त्व की विद्यमानता के अभाव का बोध अभिप्रेत है। + अवस्था और —अवस्था तत्वों के आधार पर समस्त हिंदी क्रिया-रूप दो कोटियों में विभाजित हो जाते हैं। रूप संख्या (1-12) एक कोटि में आते हैं और रूप संख्या (13-22) दूसरी कोटि में। हमारे द्विविध विभाजन का आधार यह है कि समस्त+अवस्था रूपों वाले क्रिया-रूपों से क्रिया-व्यापार के वास्तविक घटन का बोध होता है और समस्त —अवस्था क्रिया-रूपों से क्रिया-व्यापार के वास्तविक घटन के बोध का अभाव द्योतित होता है। अपने कथन को हम निम्न उदाहरणों से प्रमाणित करने का प्रयत्न करेंगे। नीचे हम रूप संख्या (6), (11), (17), (21) और (22) के कतिपय प्रयोग उद्धृत करेंगे। प्रत्येक उदाहरण के नीचे उसके अभिप्राय की व्याख्या भी दे दी गई है।

यदि राम आया तो मैं उसे आपका संदेश देदूंगा (6)

(यदि राम भविष्य में आना क्रिया के क्रिया-व्यापार को पूरा करेगा तो मैं उसे आपका संदेश दे दूंगा।)

यदि राम आता है तो मैं उसे आपका संदेश दे दूंगा। (11)

(यदि राम निकट भविष्य में आना क्रिया के क्रिया-व्यापार को एक बार फिर करता है (क्योंकि आमतौर पर वह ऐसा किया करता है) तो मैं उसे आपका संदेश दे दूंगा।)

यदि राम को आना है तो मैं उसे आपका संदेश दे दूंगा। (17)

(यदि राम ने अपने आने का कोई संकेत किया है तो मेरा विचार है कि राम आना क्रिया के क्रिया-व्यापार को करेगा ही और यदि निकट भविष्य में वह ऐसा करे तो मैं आपका संदेश उसे दे दूंगा।)

यदि राम आएगा तो मैं उसे आपका संदेश दे दूंगा । (21)

(मेरा विचार है कि राम के द्वारा आना क्रिया के क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त होने की संभावना है और यदि संभावना सत्य सिद्ध हुई तो मैं उसे आपका संदेश दे दूंगा ।)

यदि राम आए तो मैं उसे आपका संदेश दे दूंगा । (22)

(मेरे विचार में राम के द्वारा आना क्रिया के क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त होने की संभावना है लेकिन मैं निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकता । यदि राम आना क्रिया के क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त होने का निर्णय कर ले और उस क्रिया-व्यापार को कर लेता है तो मैं उसे आपका संदेश दे दूंगा ।)

उपरोक्त वाक्यों और उनकी व्याख्या से स्पष्ट है कि क्रिया रूप संख्या (1-12) और (13-22) में प्रकार-भेद है, जिसका आधार है अवस्था की विद्यमानता और उसका अभाव । किंतु क्रिया-रूप संख्या (1-6) और (7-12) में, तथा (13-18) और (19-22) में प्रकार-भेद नहीं है ।

समस्त — पूर्णता रूपों से + पूर्णता रूपों के समान ही क्रिया व्यापार की पूर्णता का बोध तो होता ही है किंतु इसके अतिरिक्त इन रूपों से (अर्थात् — पूर्णता रूपों से) क्रिया-व्यापार की सर्वथा एकांगी पूर्णता लक्षित नहीं होती जैसी कि + पूर्णता रूपों से होती है । इसका अर्थ है कि — पूर्णता रूप क्रिया-व्यापार की अपूर्णता अथवा एक से अधिक वार घटित होकर भी उसकी पूर्णता की अप्राप्ति का द्योतन करते हैं ।

क्रिया-रूप संख्या (13-18) और (19-22) का अर्थ-भेद यह कह कर दर्शाया जा सकता है कि रूप संख्या (13-18) से कर्ता की क्रिया-व्यापार में अपरोक्ष प्रवृत्ति के संकेत का द्योतन होता है और रूप संख्या (19-22) से कर्ता की क्रिया-व्यापार में परोक्ष तथा अपरोक्ष प्रवृत्ति का द्योतन होता है । इस अपरोक्ष प्रवृत्ति के कारण हिंदी वाक्यों में क्रिया के साथ रूप संख्या (13-17) का प्रयोग होने पर कर्ता के वाचक शब्द के साथ 'को' विभक्ति लगाने का व्याकरणों में विधान है ।

4.5. उपरोक्त विवेचन में हमने क्रिया-रूपों में वाच्य, पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार होने वाले भेदों का तथा उन भेदों में निहित कोटियों के अर्थतत्त्व का वर्णन नहीं किया है । हमारी मान्यता है क्रिया-रूपों में वाच्य, पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार जो विकार होता है वह हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व का अंग न होकर क्रिया के कर्ता एवं कर्म से संबंधित है । इसलिए हमने उन तत्वों का इस लेख में कोई उल्लेख नहीं किया ।

5. अब हम लेख के भाग 4 में स्थिर की गई अर्थतात्त्विक अभिसंज्ञक संरचना में अंतर्निहित अभिव्यंजक संरचना का स्पष्ट उल्लेख करेंगे । अभिव्यंजक संरचना का संबंध उन पूर्वधारणाओं से है जिनके आधार पर हिंदी-समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व की अभिसंज्ञक संरचना की वक्ता और श्रोता में सिद्धि होती है । इस तथ्य को निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है :—

राम प्रतिदिन चार वजे घर आता है ।

उपरिलिखित वाक्य की अर्थवत्ता की सिद्धि के लिए निम्न तीन तथ्यों की पूर्वधारणा करना अनिवार्य है :—

(1) राम, अर्थात् वह व्यक्ति जिसका वक्ता ने श्रोता से उल्लेख किया है, एक ऐसा व्यक्ति है जिससे वक्ता और श्रोता दोनों परिचित हैं ।

(2) वक्ता को कर्ता द्वारा क्रिया-व्यापार के एक निश्चित समय पर किए जाने का परिज्ञान है ।

(3) वक्ता ने राम नामक व्यक्ति के प्रति अपने परिज्ञान के आधार पर श्रोता को इस वात की सूचना दी है कि राम नामक व्यक्ति अमुक समय पर अपने घर आता है ।

उपरोक्त तीनों तथ्यों में से तथ्य (1) और (3) ऐसे तथ्य हैं जिनकी पूर्वधारणा का क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व की अभिव्यंजक संरचना की दृष्टि से महत्त्व प्रासंगिक है । इसलिए इन दोनों तथ्यों को हम प्रासंगिक तथ्य कहेंगे और उनकी पूर्वधारणा को प्रासंगिक पूर्णधारणा । प्रासंगिक तथ्यों की पूर्वधारणा इसलिए करनी पड़ती है कि कभी-कभी भाषा के वाक्य संदर्भों में उन्हें व्यक्त नहीं किया जाता । जैसे, उपरोक्त वाक्य "राम प्रतिदिन चार वजे घर आता है" के आगे निम्नलिखित संदर्भ जोड़ दिया जाए तो प्रासंगिक तथ्य (1) और (3) की पूर्वधारणा की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

मोहन ने श्याम से पूछा कि राम प्रतिदिन कितने वजे घर आता है ।

श्याम ने मोहन के प्रश्न के उत्तर में उसे वताया कि राम प्रतिदिन चार वजे घर आता है ।

अर्थात् तथ्य (1) और (3) ऐसे तथ्य हैं जो वाक्य-संदर्भों में व्यक्त रहते हैं । वाक्य-संदर्भों में व्यक्त न रहने पर उनकी परिकल्पना वाक्य के प्रसंग से की जा सकती है । इसीलिए ऐसे तथ्यों को प्रासंगिक तथ्य कहा गया है और उनकी पूर्वधारणा को प्रासंगिक पूर्वधारणा ।

किंतु तथ्य (2) एक ऐसा तथ्य है जो न तो वाक्य-संदर्भों में व्यक्त रहता है और न हीं वाक्यों के प्रसंगानुसार संदर्भों से परिकल्पित किया जा सकता है । वक्ता का कर्ता के क्रिया-व्यापार का परिज्ञान एक ऐसा तत्त्व है जो क्रिया-रूपों की अभिसंज्ञक संरचना में अंतर्निष्ठ रहकर अभिव्यंजक संरचना को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है । इसलिए वक्ता का कर्ता का क्रिया-व्यापार विपयक परिज्ञान एक अंतर्निष्ठ तथ्य हैं और उसकी पूर्वधारणा एक अंतर्निष्ठ पूर्वधारणा । किसी भी भापा के अयतत्त्व में अंतर्निष्ठ पूर्वधारणाएँ ऐसे तथ्यों का संकेत करती हैं जिनकी अवस्थिति को माने विना अभिसंज्ञक संरचना की अभिव्यंजक व्याख्या नहीं की जा सकती । अव हम संक्षेप में इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे ।

अवस्था के आयाम से क्रिया-व्यापार की अवस्था (अर्थात् पूर्ण अथवा अपूर्ण) का बोध होता है और यह बोध एक अभिसंज्ञक तत्त्व है। साथ ही साथ इस बोध का आधार है—वक्ता को इस तथ्य का परिज्ञान होना कि क्रिया का कर्ता क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त है। अर्थात् कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति अवस्था के अभिसंज्ञक तत्त्व में अंतर्निष्ठ एक ऐसा तत्त्व है जिसकी पूर्वधारणा किए बिना अवस्था के तत्त्व की अर्थ-सिद्धि नहीं हो सकती। रूप संख्या (1-12) में अवस्था तत्त्व की विद्यमानता और रूप संख्या (13-22) में इसके अभाव को समझने के लिए कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति की पूर्वधारणा की अनिवार्यता का उल्लेख हम लेख के भाग 4.4 में कर आए हैं। यहाँ पर हम इतना ही कहना चाहते ह कि कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति की पूर्वधारणा वक्ता का कर्ता के क्रिया-व्यापार का परिज्ञानजन्य एक अभिव्यंजक संरचनात्मक तत्त्व है, और ऐसे समस्त अभिव्यंजक संरचनात्मक तत्त्वों का निर्देश समस्त अभिसंज्ञक आयामों की कर्ता-परिज्ञानपरक व्याख्या प्रस्तुत करके ही किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। अब हम हिंदी समापिका क्रिया-रूपों की अभिसंज्ञक संरचना के समस्त आयामों की कर्ता-परिज्ञानपरक व्याख्या प्रस्तुत करेंगे। इस व्याख्या से क्रिया-रूपों की अभिव्यंजक संरचना स्वतः ही परिलक्षित हो जाएगी।

5.1. अवस्था के आयाम के क्रिया-व्यापार की अवस्था अर्थात् पूर्णावस्था तथा अपूर्णावस्था का जो बोध होता है, उससे यह भी परिलक्षित होता है कि कर्ता क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त है। कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति की पूर्वधारणा के अनुसार क्रिया-व्यापार की पूर्णावस्था से कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति की पूर्णता परिलक्षित होती है और क्रिया-व्यापार की अपूर्णावस्था से कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति की अपूर्णता। कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति की पूर्णता अथवा अपूर्णता के आगे चलकर असिद्धि, संभावना, काल तथा इन सबके अभाव की स्थिति के अनुसार अन्य भेद होते हैं।

कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति के भाव और कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति के अभाव—इन दोनों अभिव्यंजक संरचनात्मक तत्त्वों का निर्देश हम लेख के भाग 4.4 में उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर चुके हैं। लेख के भाग 4.4 में हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि रूप-संख्या (1-12) में कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति के भाव से अभिप्राय है—कर्ता के क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त होने के भाव का बोध और रूप संख्या (13-22) में कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति के अभाव से अभिप्राय है—कर्ता के क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त होने के अभाव का बोध। अतः इन सब तथ्यों के विषय में यहाँ पुनरुल्लेख न करके रूप संख्या (13-18) में अंतर्निहित+संकेत के आयाम की वक्ता की कर्ता के क्रिया-व्यापार की परिज्ञानपरक व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

5.2 अब हम रूप-संख्या (13-18) में अंतर्निहित वक्ता के कर्ता के क्रिया-व्यापार विषयक परिज्ञान का स्पष्टीकरण निम्न उदाहरण द्वारा करेंगे।

राम तुमको तो आज गाँव जाना था।

इस वाक्य की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है।

(राम तुमने तो मुझे (भूतकाल में किसी समय) यह बताया था (1) अथवा तुम्हारे बारे में मुझसे किसी अन्य व्यक्ति ने यह कथन किया था (2) कि तुम आज गाँव जाओगे लेकिन तुम अभी तक गाँव न जाकर यहाँ ही हो।)

उपरोक्त व्याख्या में मोटे टाइप के वाक्य (1) और (2) का संबंध वक्ता के कर्ता के क्रिया-व्यापार विषयक परिज्ञान से है। अर्थात् कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति के विषय में वक्ता का परिज्ञान स्वयं वक्ता में अवस्थित न होकर वक्ता को कर्ता के विषय में दी गई सूचनाओं (जिनका संकेत हमने मोटे टाइप के वाक्यों से किया है) में आधृत है। दूसरे शब्दों में इसी तथ्य को कहा जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि रूप संख्या (13-18) के प्रयोगों में वक्ता के कर्ता के क्रिया-व्यापार विषयक परिज्ञान की पूर्वधारणा स्वतः सिद्ध न होकर (जैसा कि रूप-संख्या (1-12) के प्रयोगों में होता है) आनुषंगिक होती है।

क्योंकि रूप संख्या (13-18) के प्रयोगों में वक्ता के कर्ता के क्रिया-व्यापार विषयक आनुषंगिक परिज्ञान की पूर्वधारणा अंतर्निहित है, इसलिए जहाँ तक वक्ता का संबंध है वह अपने श्रोता से अपने कर्ता के क्रिया-व्यापार विषयक आनुषंगिक परिज्ञान के आधार पर कर्ता की क्रिया-व्यापार में यदृच्छया प्रवृत्ति का ही संकेत करता है। उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि कर्ता ने अपने गाँव जाने की इच्छा प्रकट की किंतु वह गाँव नहीं गया। अतः कर्ता की क्रिया-व्यापार में यदृच्छया प्रवृत्ति की हिंदी क्रिया-रूपों की अभिसंज्ञक संरचना के+संकेत तत्त्व की अर्थ-सिद्धि के लिए पूर्वधारणा करना अनिवार्य है और कर्ता की यदृच्छया प्रवृत्ति की यह पूर्वधारणा इन क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व की अभिव्यंजक संरचना का ही अंग है।

क्रिया-रूप संख्या (19-22) से, जिनमें — अवस्था और — संकेत के आधार पर केवल अर्थ नामक अभिसंज्ञक तत्त्व की विद्यमानता का उल्लेख हमने किया है, कर्ता की क्रिया-व्यापार में अप्रवृत्ति का द्योतन होता है। यह तथ्य इतना स्वतः सिद्ध है कि इस पर कुछ भी विचार करना हमें आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

5.3. अब हम+असिद्धि क्रिया-रूपों के (अर्थात् रूप संख्या (1), (7) और (13) के) अभिव्यंजक संरचनात्मक पक्ष पर विचार करेंगे।+असिद्धि तत्त्व का अभिसंज्ञक संरचना में अर्थ है—क्रिया-व्यापार की असिद्धि। अभिव्यंजक संरचना में क्रिया-व्यापार की असिद्धि का अर्थ होता है—क्रिया-व्यापार का वांछित रूप में सिद्ध न होकर अवांछित रूप में सिद्ध होना, अथवा वांछित रूप में सिद्ध होने की अवस्था में अवांछित सिद्धि का न होना। क्रिया-व्यापार की अवांछित सिद्धि तथा अवांछित असिद्धि की पूर्वधारणा वक्ता के कर्ता के क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति (+अवस्था रूपों में) अथवा यदृच्छया प्रवृत्ति (+संकेत रूपों में) विषयक परिज्ञान के आधार पर ही की जा सकती है। इस तथ्य को हम अब एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

> दूर क्यों जाते हैं, खुद मेरी खुशामदी सफलताओं का ब्यौरा सुनिए न ? कभी साहब कुल 8 रु० महीने के कंपोजीटर थे। 15 साल बाद इस तेज़ी के जमाने में बहुत होता तो 50 रु० के हो गए होते। हाथ में स्टिक पकड़ते-पकड़ते ठेकें पड़ गई होतीं। स्टूल पर बैठते-बैठते कमर कमान हो गई होती — बहुत मुमकिन था कि शीशे की गर्मी श्वास-प्रश्वास द्वारा फेफड़ों तक पहुँच गई होती और अब तक हमें हमारे बिरादरी वालों ने सत्यधाम भी पहुँचा दिया होता। लेकिन वह तो यह कहिए कि तकदीर हमारी अच्छी थी..।

उपरोक्त उदाहरण में समस्त मोटे टाइप की क्रियाओं द्वारा वांछित रूप में क्रिया-व्यापार की सिद्धि होने की अवस्था में अवांछित रूप में क्रिया-व्यापार की असिद्धि का द्योतन होता है। अर्थात् इस उदाहरण में कर्ता की विभिन्न क्रिया-व्यापारों में प्रवृत्ति की पूर्णता की अवांछित सिद्धि के उल्लेख द्वारा उनके वांछित क्रिया-व्यापार की सिद्धि का उल्लेख भी अभिप्रेत है।

रूप संख्या (1) और (7) में किसी भी क्रिया-व्यापार में कर्ता की प्रवृत्ति, अथवा रूप संख्या (13) में कर्ता की यदृच्छया प्रवृत्ति और इन दोनों की अवांछित सिद्धि के उल्लेख द्वारा क्रिया-व्यापार की वांछित असिद्धि अथवा अवांछित असिद्धि की परिकल्पना वस्तुतः क्रिया के कर्ता अथवा उसके क्रिया-व्यापारजन्य न होकर वक्ता के (कर्ता के क्रिया-व्यापार विषयक) परिज्ञान से प्रसूत पूर्वधारणा-जनित एक अभिव्यंजक तत्त्व है। इस अभिव्यंजक तत्त्व की पूर्वधारणा किए बगैर +असिद्धि नामक अभिसंज्ञक तत्त्व की अर्थ-सिद्धि वाक्यों में नहीं हो सकती।

ऊपर हम क्रिया-व्यापार की अवांछित असिद्धि का उदाहरण दे चुके हैं। अब हम अवांछित सिद्धि का एक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे:—

जब तुम्हें अपने मन से नहीं जाना है तो फिर मैं जाने को क्यों कहूँ? तुम्हें **रोकना होता**, तो रोक न देते? तुम्हारे सामने ही तो गए होंगे। (13)

उपरोक्त उदाहरण में वक्ता ने श्रोता से (जो कि क्रिया-व्यापार का कर्ता भी है) यह कथन किया है कि कर्ता ने किसी व्यक्ति को, जो घर से जा रहा था, रोकने का प्रयत्न नहीं किया। क्योंकि कर्ता ने रोकने का प्रयत्न नहीं किया, इससे वक्ता ने यह अनुमान कर लिया कि कर्ता की घर छोड़ने वाले व्यक्ति को रोकने की यदृच्छा नहीं थी। साथ-ही-साथ वक्ता कर्ता से इस बात की भी अपेक्षा रखता था कि वह (अर्थात् कर्ता) उस व्यक्ति को जाने से रोक लेगा परंतु कर्ता ने ऐसा नहीं किया। अतः उपरोक्त वाक्य में वक्ता सापेक्ष क्रिया-व्यापार की सिद्धि न होकर कर्ता निरपेक्ष (अर्थात् अवांछनीय) क्रिया-व्यापार सिद्धि का उल्लेख है।

5.4. अब हम रूप संख्या (2, 3) (**गया होगा, गया हो**), (8,9) (**जाता होगा, जाता हो**), (14,15) (**जाना होगा, जाना हो**) और (21, 22) (जाएगा, जाए) में अंतर्निहित अभिसंज्ञक तत्त्व+संभावना की अभिव्यंजक संरचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करेंगे। +संभावना का अभिसंज्ञक अर्थ है—ऐसा कोई भी संभाव्य क्रिया-व्यापार जिसकी कर्ता में प्रतिपत्ति असंदिग्ध है तथा —संभावना का अभिसंज्ञक अर्थ है ऐसा संभाव्य क्रिया-व्यापार जिसकी कर्ता में प्रतिपत्ति संदिग्ध है। कोई भी संभाव्य क्रिया-व्यापार ऐसा व्यापार होता है जिसकी कर्ता में असंदिग्ध अथवा संदिग्ध प्रतिपत्ति के औचित्य का प्रतिपादन वक्ता अपने अनुभव के आधार पर कर सकता है। वक्ता द्वारा कर्ता में प्रतिपन्न क्रिया-व्यापार के औचित्य के अपने अनुभवानुसार प्रतिपादन की पूर्वधारणा किए बगैर समस्त ± संभावना क्रिया-रूपों में विद्यमान अभिसंज्ञक तत्त्व संभावना की हिंदी वाक्यों में अर्थ-सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए कर्ता में प्रतिपन्न असंदिग्ध अथवा संदिग्ध क्रिया-व्यापार ± संभावना का अभिसंज्ञक अर्थ है और उस क्रिया-व्यापार

के औचित्य का कर्ता के अनुभवानुसार प्रतिपादन + संभावना की अभिव्यंजक व्याख्या। अब हम इस तथ्य का स्पष्टीकरण कतिपय उदाहरणों द्वारा करेंगे।

सुबह-सुबह अभी नींद नहीं खुली थी कि बीच की मंजिल के किरायेदारों के लड़के ने आकर दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोला, तो उसने...कहा, "अंकल जी नीचे कोई आपसे मिलने के लिए आई है।"

मुझसे मिलने के लिए ? मुझे आश्चर्य हुआ कि सुबह-सुबह वहाँ मुझसे कौन मिलने के लिए आ सकती है। मगर फिर सोचा कि हो सकता है नीलिमा आई हो कि मैं चलकर एकबार उसकी प्रेक्टिस देख लूं। एक ख्याल यह भी आया कि संभव है सुषमा ही दफ्तर से मेरा पता पूछकर चली आई हो।

उपरोक्त उदाहरण में निम्न तथ्यों का संकेत है :—

(क) वक्ता को इस बात की सूचना कि कोई उससे मिलने आया है,

(ख) वक्ता की आश्चर्याभिव्यक्ति, क्योंकि वह किसी के अपने घर पर आने की प्रत्याशा नहीं करता, तथा

(ग) वक्ता को किसी के आने की सूचना तो मिली किंतु यह नहीं बताया गया कि आगंतुक व्यक्ति कौन है।

(घ) तथ्य (ख) और (ग) के आधार पर वक्ता की आगंतुक व्यक्ति के बारे में परिकल्पना, जिसकी अभिव्यक्ति "हो सकता है नीलिमा आई हो" तथा "यह भी संभव है सुषमा...चली आई हो", वाक्यों द्वारा हुई है।

उपरोक्त उदाहरण में वक्ता की आगंतुक व्यक्तिविषयक परिकल्पना में एक और तथ्य निहित है और वह तथ्य यह है कि वक्ता (यद्यपि वह आगंतुक व्यक्ति को जान नहीं पाया है और न ही किसी के अपने घर आने की प्रत्याशा करता है तथापि) उस व्यक्ति के बारे में (जो उसके घर आया है) यह सोचता है कि वह व्यक्ति कौन हो सकता है। परिकल्पना (घ) में जिन वाक्यों का उल्लेख किया गया है, वे दोनों वाक्य वक्ता के आगंतुक व्यक्ति के विषय में अपने से किए गए प्रश्न के उत्तर हैं, अर्थात् वह व्यक्ति या तो नीलिमा है या सुषमा। लेकिन इन दोनों में से किसी एक का निश्चय इस उदाहरण में अभिप्रेत नहीं है। आ ंतुक व्यक्ति की जानकारी तथा आगंतुक के आने की प्रत्याशा इन दोनों के अभाव में वक्ता ने उपरोक्त संदर्भ में नीलिमा तथा सुषमा नामक दोनों संभाव्य व्यक्तियों में आना क्रिया-व्यापार की प्रतिपत्ति की है और उस प्रतिपत्ति के औचित्य का प्रतिपादन अपने अनुभव के आधार पर यह सोचकर किया है कि वह नीलिमा तथा सुषमा नामक दो व्यक्तियों से परिचित है और अन्य सब व्यक्तियों में से (जिन्हें वह जानता है) इन दोनों का ही उसके घर आना उसे सर्वाधिक उचित जंचता है। साथ-ही-साथ क्योंकि इन दोनों व्यक्तियों का वक्ता को अपने घर आना एक सा उचित जंचता है इसलिए वास्तव में आगंतुक कौन है इसका संदेह बराबर बना रहता है।

उपरोक्त तर्कों से यह तो प्रमाणित हो जाता है कि वक्ता ने संभाव्य क्रिया-व्यापार आना की नीलिमा तथा सुषमा नामक कर्ताओं में संदिग्ध प्रतिपत्ति की है, क्योंकि वह अपने अनुभव के आधार पर नीलिमा अथवा सुषमा दोनों ही के आने के औचित्य का प्रतिपादन तो कर सकता है किंतु इन दोनों में से किसी एक का निश्चय नहीं। इस प्रमाण के आधार पर उपरोक्त वाक्यांशों अर्थात् "... कि हो सकता है नीलिमा आई हो..."और "... कि संभव है सुषमा... चली आई हो" की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है।

(...कि हो सकता है जो व्यक्ति आया है वह व्यक्ति नीलिमा हो...)

(...कि संभव है जो व्यक्ति आया है वह व्यक्ति सुषमा हो।)

ऊपर दिए गए उदाहरण में वक्ता ने आगंतुक व्यक्ति के विषय में अपनी परि-कल्पना के औचित्य का जो प्रतिपादन किया है उसका आधार वक्ता की कर्ता और क्रिया-व्यापार विषयक परिज्ञानजन्य पूर्वधारणा ही है, कुछ अन्यथा नहीं। हमारा उपरोक्त उदाहरण संभाव्य क्रिया-व्यापार की कर्ता में संदिग्ध प्रतिपत्ति का उदा-हरण है। अब हम असंदिग्ध प्रतिपत्ति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

यदि हम उपरोक्त उदाहरण में "हो सकता है नीलिमा आई हो" तथा "संभव है सुषमा...चली आई हो" वाक्यांशों में "आई हो" (2) के स्थान पर "आई होगी" (3) कर दें तो यह नवीन उदाहरण वक्ता के संभाव्य क्रिया-व्यापार की कर्ता में असंदिग्ध प्रतिपत्ति का निर्देश करेगा। इस नवीन उदाहरण में निम्न तथ्यों का संकेत होगा।

(ङ) वक्ता को इस बात की सूचना कि कोई उससे मिलने आया है,

(च) वक्ता की आश्चर्याभिव्यक्ति क्योंकि वह किसी के अपने घर आने की प्रत्याशा तो करता, किंतु जिस समय वह व्यक्ति आया है उस समय नहीं, तथा

(छ) उसे यह नहीं बताया गया कि आगंतुक व्यक्ति कौन है।

(ज) तथ्य (च) और (छ) के आधार पर आगंतुक व्यक्ति के बारे में वक्ता की परिकल्पना जिसकी अभिव्यक्ति वह यह कह कर करेगा कि "हो सकता है नीलिमा आई होगी..." तथा "यह भी संभव है सुषमा...चली आई होगी"।

"आई हो" के स्थान पर "आई होगी" का वैकल्पिक प्रयोग इस आधार पर होगा कि वक्ता को नीलिमा अथवा सुषमा दोनों के आने की प्रत्याशा तो है लेकिन जिस समय वह व्यक्ति आया है उस समय नहीं। इन दोनों असंदिग्ध प्रतिपत्या-त्मक उक्तियों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है:

(कि हो सकता है जो व्यक्ति आया है वह व्यक्ति नीलिमा है...)

(कि यह भी संभव है जो व्यक्ति चला आया है वह व्यक्ति सुषमा है)

उपरोक्त दोनों व्याख्याओं की संदिग्ध प्रतिपत्यात्मक व्याख्याओं से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी असंदिग्ध प्रतिपत्ति का आधार है व्याख्या के अंश "...वह व्यक्ति नीलिमा है" "और...वह व्यक्ति सुषमा है"। और हमारी

संदिग्ध प्रतिपत्ति का आधार है व्याख्या के अंश "... वह व्यक्ति नीलिमा हो" और "...वह व्यक्ति सुषमा हो" ।

ऊपर हमने संभाव्य पूर्ण क्रिया-व्यापार की कर्ता में असंदिग्ध अथवा संदिग्ध प्रतिपत्ति तथा उनके वक्ता द्वारा औचित्य प्रतिपादन के ही उदाहरण दिए हैं । यहाँ पर अब हम यह कह देना चाहते हैं कि रूप संख्या (8, 9) और (14, 15) क्रमशः अपूर्णावस्था तथा + संकेत के ± संभावना रूप ही हैं । रूप संख्या (21) **(जाएगा)** और (22) **(जाए)** में भी ± संभावना तत्व की ही प्रधानता है । इन दो रूपों से भविष्यत् समय का जो बोध होता है वह हिंदी समापिका क्रिया-रूपों की अर्थतात्विक योजना में मुख्य तत्त्व न होकर एक प्रासंगिक अर्थ- रूपांतरण है ।

5.5. अब हम काल के अभिसंज्ञक तत्व की अभिव्यंजनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करेंगे । ऊपर हम यह कह चुके हैं कि काल के आयाम की संगति + अवस्था तथा + संकेत इन दोनों आयामों से है । इसका अर्थ यह है कि रूप संख्या (4, 5) **(गया था, गया है)**, (10, 11) **(जाता था, जाता है)** और (16, 17) **(जाना था, जाना है)** में ही कालतत्त्व की विद्यमानता मानना अभिप्रेत है । –काल रूपों (अर्थात् रूप संख्या (6), (12) और (18) के विषय में विचार हम लेख के भाग 5.6 में करेंगे ।

काल के हमने दो भेद दर्शाए हैं, अर्थात् + भूत तथा — भूत । + भूत का अभिसंज्ञक अर्थ है क्रिया-व्यापार का भूतकाल में घटित होना, और –भूत का अभिसंज्ञक अर्थ है क्रिया-व्यापार के भूतकाल में घटित होने के संबंध में वक्ता की अप्रतिज्ञा । इन्हीं ± भूत-तत्वों की अभिव्यंजक व्याख्या यह कह कर की जा सकती है कि कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति अथवा यदृच्छया प्रवृत्ति का काल के आयाम के द्वारा परिसीमन वक्ता के कर्ता के क्रिया-व्यापार के परिज्ञान में अंतर्निहित प्रयोजन द्वारा होता है । अब हम इस तथ्य को कतिपय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करेंगे :

राम कल सात बजे घर आया था

राम कल सात बजे घर आया है

उपरोक्त दोनों वाक्यों में कर्ता द्वारा किए गए क्रिया-व्यापार का, अर्थात् उसके घर पर आने के समय का, दोनों वाक्यों में समान रूप से उल्लेख है; किंतु **आया था** और **आया है** के अर्थ-भेद का आधार क्या है ? इन वाक्यों के अर्थ-भेद का आधार कर्ता की क्रिया-व्यापार में प्रवृत्ति के बारे में वक्ता के परिज्ञान को समझने पर ही स्पष्ट हो सकता है । उपरोक्त दोनों वाक्यों से इतना स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रथम वाक्य में + भूत और द्वितीय वाक्य में — भूत की विद्यमानता क्रिया-व्यापार के समय पर आधारित नहीं है । इसलिए इन वाक्यों के अर्थ को समझने के लिए वक्ता की पूर्वधारणा के अनुसार इन वाक्यों में अंतर्निहित वक्ता के प्रयोजन को स्पष्ट करना आवश्यक है । इन दोनों वाक्यों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है :

प्रथम वाक्य की व्याख्या

(मैं (अर्थात् वक्ता) आपसे (अर्थात् अपने श्रोता से) कहता हूँ कि राम (जिसका हम वक्ता और श्रोता दोनों से कोई संबंध है), जो कि इस समय यहाँ अनुपस्थित है, कल सात बजे घर आया और ऐसा करके उसने अनुचित काम किया है, इत्यादि)

द्‌वितीय वाक्य की व्याख्या

(मैं (अर्थात् वक्ता) आपसे (अर्थात् अपने श्रोता से) कहता हूँ कि राम (जिसका हम वक्ता और श्रोता दोनों से कोई संबंध है), जो कि इस समय यहाँ उपस्थित है, कल सात बजे घर आया और ऐसा करके उसने अनुचित काम किया है, इत्यादि।)

प्रथम उदाहरण में कर्ता की अनुपस्थिति की पूर्वधारणा और द्‌वितीय उदाहरण में उसकी उपस्थिति की पूर्वधारणा ही दोनों वाक्यों में क्रमश:+भूत और—भूत क्रिया-रूपों के प्रयोग का मुख्य आधार हैं। कर्ता की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति की पूर्वधारणाओं के अतिरिक्त कई प्रकार के अन्य तथ्यों की भी पूर्वधारणा की जा सकती है, जिनका +भूत और —भूत के अर्थ-भेद की सिद्‌धि में महत्त्व है। हम एक और उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

मैंने आज खाना 12 बजे खाया था।

मैंने आज खाना 12 बजे खाया है।

इन दोनों वाक्यों की प्रयोजनीयता को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि प्रथम वाक्य में वक्ता का प्रयोजन श्रोता को यह बताना हो सकता है कि कर्ता ने आज खाना बहुत जल्दी खा लिया और शायद उसे फिर से भूख लग आई है, इत्यादि। दूसरे वाक्य का प्रयोजन यह बताना हो सकता है कि कर्ता ने आज खाना विलंब से खाया, इसलिए उसे अभी भूख नहीं है, इत्यादि। अत: उपरोक्त वाक्यों में+भूत तथा—भूत की व्याख्या, वक्ता की कर्ता विषयक पूर्वधारणा (जिस का उल्लेख "भूख लग आई है" तथा "अभी भूख नहीं है" द्‌वारा माना जा सकता है) के अनुसार ही की जा सकती है।

विस्तार भय के कारण काल के आयाम के विषय में वक्ता की पूर्व-धारणाओं का पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता।

5.6 अब हम उन तीन क्रिया-रूपों, अर्थात् रूप संख्या (6) (**गया**), रूप संख्या (12) (**जाता**) और रूप संख्या (18) (**जाना**) पर विचार करेंगे। इन तीनों रूपों को हमने क्रिया-रूपों की अभिसंज्ञक संरचना में—काल माना है। इन रूपों को—काल मानने का अभिप्राय यह है कि इन रूपों की अभिव्यंजक संरचना में प्रयोजनीयता क्रिया-व्यापार में अंतर्निहित असिद्‌धि, अर्थ तथा काल नामक अर्थतत्त्वों के अनुसार नहीं है। वक्ता इन रूपों के माध्यम से कर्ता द्‌वारा कृत अथवा कार्य क्रिया-व्यापार का उल्लेख करके कर्ता द्‌वारा कृत अथवा कार्य क्रिया-व्यापार के प्रति अपनी अभिज्ञा की अभिव्यक्ति मात्र करता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए निम्न वाक्य लिए जा सकते हैं :

जैसे ही कन्या का जन्म हुआ, माता-पिता का ध्यान सबसे पहले उसके विवाह की कठिनाइयों की ओर गया । (6)

गेंद वह इस सुदूर भरपूर जोर से फेंकते कि कुत्ता ले आए और कुत्ता ले आता साहब ! (12)

फिर उन्होंने कहा—तनखाह की कोई बात नहीं,तुम्हें जितने पैसों की जरूरत हो ले लिया करना । (18)

प्रथम वाक्य का अभिप्राय इस वाक्य में प्रयुक्त क्रिया-व्यापारों की अर्थात् किसी का जन्म होना और उसके माता-पिता के ध्यान का किसी ओर जाना की असिद्धि, संभावना, तथा कालानुसार घटित होने की प्रक्रिया का उल्लेख करना नहीं है । इस वाक्य में वक्ता का उद्देश्य श्रोता को वाक्य में व्यक्त तथ्य का स्मरण कराना मात्र है । अर्थात् इस वाक्य में प्रयुक्त क्रिया-व्यापारों का उल्लेख करके वक्ता ने कर्ता के कृत क्रिया-व्यापार में निहित तथ्यों के प्रति अपनी अभिज्ञा की ही अभिव्यक्ति की है ।

द्वितीय उदाहरण में भी इसी प्रकार किसी के द्वारा जोर से दूर गेंद फेंकना तथा कुत्ते का उस गेंद को ले आना आदि घटनाओं का, जिन्हें वक्ता ने कई बार देखा है, वाक्यों में प्रयुक्त क्रिया-व्यापारों द्वारा उल्लेख करके उसने भूत में घटित इन घटनाओं का स्मरण करते हुए उनके प्रति अपने आश्चर्य को ही व्यक्त किया है ।

तृतीय उदाहरण में वक्ता ने कर्ता से यह कह कर कि तुम्हें जितने पैसों की जरूरत पड़े ले लिया करना, अपनी कर्ता के प्रति धारणा का स्मरणात्मक उल्लेख मात्र करके कर्ता की क्रिया-व्यापार में यदृच्छया प्रवृत्ति का संकेत किया है । अर्थात् इस वाक्य का उद्देश्य भी वक्ता की एक तथ्य के प्रति उसकी अपनी अभिज्ञा की अभिव्यक्ति ही है, अन्यथा कुछ नहीं ।

अब हम—काल के तीनों रूपों में विद्यमान अभिव्यंजक तत्त्व, अर्थात् वक्ता की कर्ता एवं उसके क्रिया-व्यापार के प्रति अभिज्ञा को एक अन्य ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे । लेख के भाग संख्या 5.5 में +भूत तथा –भूत के निम्न उदाहरण दिए गए हैं । इनके साथ एक और वाक्य नीचे दिया जा रहा है जिसमें **आना** क्रिया के पूर्णतावाचक रूप का ही प्रयोग है ।

राम कल सात बजे घर आया था (+भूत)

राम कल सात बजे घर आया है (—भूत)

राम कल सात बजे घर आया (—काल)

उपरोक्त तीनों वाक्यों में प्रयुक्त **आना** क्रिया के क्रमशः रूप संख्या (4), (5) और (6) का प्रयोग हुआ है । इन वाक्यों का पारस्परिक अर्थ-भेद यह कह कर नहीं दर्शाया जा सकता है कि प्रथम वाक्य में क्रिया की पूर्णावस्था के भूत में घटित होने का निर्देश है, द्वितीय में वर्तमान में तथा तीसरे में किसी अन्य प्रकार से । जहाँ तक हिंदी समापिका क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व की अभिसंज्ञक संरचना

का प्रश्न है तीनों वाक्यों में उल्लिखित क्रिया-व्यापार की पूर्णता का एक ही समय में घटित होना इन वाक्यों का अभिसंज्ञक अर्थ है। अर्थात् तीसरे वाक्य में घटित क्रिया-व्यापार में + भूत तथा—भूतकाल अंतर्निहित तो हैं किंतु उनमें से किसी का भी स्पष्टोल्लेख न होने के कारण यह वाक्य एक श्लिष्ट वाक्य है, जिसका पहला अर्थ वह है जो प्रथम वाक्य का है। इस वाक्य का दूसरा अर्थ द्वितीय वाक्य के अर्थ के अनुसार है और तीसरा एक इतर अर्थ भी है जो प्रथम और द्वितीय वाक्यों के अर्थों से भिन्न है। इस तृतीय अर्थ को हमने वक्ता की कर्ता के क्रिया-व्यापार के प्रति अभिज्ञा कह कर व्यक्त किया है।

6. अब हम लेख के भाग 2.1 में तालिका-बद्ध रूपों को उनके पारिभाषिक नामों के साथ उद्धृत करेंगे। ये पारिभाषिक नाम हमारे इन हिंदी क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व के विवेचन पर आधारित हैं और केवल सुझाव के रूप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

(क) पूर्णतावाचक कृदंत से बनने वाले रूप	पारिभाषिक नाम
(1) गया होता	असिद्ध पूर्णतावाचक
(2) गया होगा	असंदिग्ध पूर्णतावाचक
(3) गया हो	संदिग्ध पूर्णतावाचक
(4) गया था	पूर्ण भूतवाचक
(5) गया है	पूर्ण वर्तमानवाचक
(6) गया	पूर्णतावाचक
(ख) अपूर्णतावाचक कृदंत से बनने वाले रूप	**पारिभाषिक नाम**
(7) जाता होता	असिद्ध अपूर्णतावाचक
(8) जाता होगा	असंदिग्ध अपूर्णतावाचक
(9) जाता हो	संदिग्ध अपूर्णतावाचक
(10) जाता था	अपूर्ण भूतवाचक
(11) जाता है	अपूर्ण वर्तमानवाचक
(12) जाता	अपूर्णतावाचक
(ग) नामधातु से बनने वाले रूप	
(13) जाना होता	असिद्ध संकेतवाचक
(14) जाना होगा	असंदिग्ध संकेतवाचक
(15) जाना हो	संदिग्ध संकेतवाचक
(16) जाना था	सांकेतिक भूतवाचक

(17) जाना है	सांकेतिक वर्तमानवाचक
(18) जाना	संकेतवाचक

(घ) धातु के साध्य प्रत्यय लगा कर बनने वाले रूप

(19) जाइएगा	उपदेशवाचक
(20) जा	विधिवाचक
(21) जाएगा	असंदिग्ध संभावनावाचक
(22) जाए	संदिग्ध संभावनावाचक

पाद टिप्पणियाँ :

1. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी (काशी, सं० 2027) नवाँ पुनर्मुद्रण ।
2. द यूनिवर्सिटी आफ शिकागो (मीमियोग्राफ्ड, 1967)
3. इस चित्र में वह चल रहा था, वह चल रहा है वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट रूप चल रहा था, और चल रहा है क्रिया-रूप न होकर संयुक्त क्रिया रूप हैं ।
4. इस लेख में उदाहरणस्वरूप दिए गए क्रिया-रूपों के अधिकांश वाक्य-प्रयोग हिंदी साहित्य के विविध ग्रंथों से लिए गए हैं किंतु उन ग्रंथों के नामों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है ।
5. हिंदी व्याकरण, पृष्ठ (265)
6. देखो एडविन ग्रीव्ज़, हिंदी ग्रामर, (बनारस, 1896) पृ० 153 ।
7. इन चारों आद्य तत्वों का उल्लेख रोमन याकोब्सन ने अपने लेख "शिफ्टर्ज़, वर्बल कैटगोरीज़, एंड द रशियन वर्ब", हार्वर्ड विश्वविद्यालय, (लिथोग्राफ्ड, 1956) में किया है । रोमन याकोब्सन की इन चार आद्य तत्वों पर आधारित भाषा के क्रिया-रूपों में अंतर्निहित अर्थतात्त्विक योजना अपने आप में मौलिक होते हुए भी इन क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व के एक ही पक्ष (अर्थात् अभिसंज्ञक पक्ष) का ही उद्घाटन करती है । प्रस्तुत लेख के लेखक ने अपने ग्रंथ *A Reference Grammer of Hindi* में Verbal Endings शीर्षक अध्याय में क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व के अभिसंज्ञक पक्ष का विस्तृत रूप से विचार किया है । किंतु इन क्रिया-रूपों के अर्थतत्त्व के अभिव्यंजक पक्ष की धारणा प्रस्तुत लेख की एक मौलिक धारणा है जिसका उल्लेख इस लेख में प्रथम बार ही किया जा रहा है । इस विषय में लेखक श्री अंजनी सिन्हा का उनके कतिपय सुझावों के लिए आभारी है ।

हिंदी क्रिया शब्दों की आर्थी व्याख्या

कृष्णगोपाल रस्तोगी

शब्द के दो पक्ष हैं—रूप और अर्थ। शब्द का आर्थी पक्ष प्रधान है क्योंकि उस पर शब्द का 'शब्दत्व' टिका है। जब किसी शब्द का अर्थ अन्य शब्दों के अर्थ से भिन्न नहीं रह पाता अथवा बदलते हुए परिवेश में उस अर्थ की आवश्यकता नहीं रहती या कोई अन्य शब्द इस अर्थ को अपेक्षाकृत स्पष्ट तथा सुनिश्चित रूप में व्यक्त करने लगता है तो पहला शब्द मर जाता है और उसका रूप मृत शरीर की भाँति उपयोगी नहीं रह पाता। शब्द के आर्थी पक्ष के दो उप-पक्ष हैं—उसकी संकल्पना और उसका प्रयोग। शब्द की संकल्पना उसके प्रयोग को नियंत्रित करती है और उसके प्रयोग से संकल्पना का स्वरूप निर्धारित होता है। पुनश्च, शब्द के प्रयोग पर दो प्रकार के प्रतिबंध लगे होते हैं—पहले, प्रकरणात्मक और दूसरे व्याकरणिक। उदाहरणार्थ, 'राम ने रावण का वध/हत्या किया/की' वाक्य में 'हत्या' शब्द पर प्रकरणात्मक प्रतिबंध लगा है और 'भैंस ने खरबूजा/पत्थर कुचल दिया' वाक्य में 'पत्थर' शब्द पर व्याकरणिक प्रतिबंध है क्योंकि कुचलना क्रिया का कर्म नरम होना चाहिए। प्रयोग का प्रकरणात्मक पक्ष शब्द का संबंध वस्तु जगत से स्थापित करता है और व्याकरणिक अथवा वाक्य-संरचनात्मक पक्ष भाषाई जगत से। उपर्युक्त सूचनात्मक पक्ष के अतिरिक्त शब्द के अर्थ का भावनात्मक पक्ष भी होता है। भावनात्मक दृष्टि से कुछ शब्द सकारात्मक होते हैं और कुछ नकारात्मक, पर कुछ शब्दों की संकल्पना प्रसंगानुसार सकारात्मक अथवा नकारात्मक होती है, उदाहरणार्थ, 'टहलना' सकारात्मक संकल्पना है और 'भागना' नकारात्मक तथा 'चलना' प्रसंगानुसार सकारात्मक अथवा नकारात्मक होता है।

इस प्रकार शब्द के अर्थ के चार पक्ष हैं—संकल्पनात्मक, भावनात्मक, प्रकरणात्मक तथा व्याकरणिक अथवा वाक्य-संरचनात्मक। संकल्पनात्मक तथा भावनात्मक पक्ष शब्दों का परस्पर 'व्यतिरेक' दिखाते हैं और प्रकरणात्मक तथा व्याकरणिक पक्ष उनके 'वितरण' की जानकारी देते हैं।

प्रस्तुत लेख में भाषाविज्ञान के मूल सिद्धांतों, व्यतिरेक तथा वितरण, के आधार पर जिन दो पर्याय श्रृंखलाओं की आर्थी व्याख्या प्रस्तुत की गई है उनमें

से एक शारीरिक क्रियाओं की है और दूसरी प्रधानतया मानसिक क्रियाओं की। क्रियाओं की आर्थी व्याख्या चार शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत की गई है और अंत में 'विशेष' के अंतर्गत केवल अत्यंत महत्त्वपूर्ण बिंदु दिए गए हैं। व्याख्यांतर्गत आए अत्यंत सूक्ष्म अथवा अस्पष्ट कथनों को स्पष्ट करने के लिए तथा प्रकरणात्मक अथवा व्याकरणिक प्रतिबंधों की पुष्टि के लिए दोनों पर्याय शृंखलाओं के अंत में उदाहरण के रूप में वाक्य दिए गए हैं। व्याकरणिक अथवा प्रकरणात्मक प्रति-बंधों के उल्लंघन के परिणामस्वरूप होने वाले अस्वीकृत प्रयोग × से चिह्नित हैं।

शारीरिक क्रियाएं

चलना आदि वर्ग

इस पर्याय शृंखला में उन्नीस क्रियाएँ हैं—(1) चलना (2) दौड़ना (3) भागना (4) लपकना (5) टहलना (6) घूमना (7) डोलना (8) फिरना (9) लौटना (10) आना (11) जाना (12) निक-लना (13) गुज़रना (14) उड़ना (15) उमड़ना (16) मँडराना (17) विचरना (18) रेंगना (19) सरकना। तुलनात्मक आर्थी विश्ले-षण तथा विशेष व्याख्या के लिए इनका वर्गीकरण निम्नलिखित उपवर्गों में किया गया है :—

(क) चलना, दौड़ना, भागना, लपकना।

(ख) टहलना, घूमना, डोलना, फिरना, लौटना।

(ग) आना, जाना, निकलना, गुज़रना।

(घ) उड़ना, उमड़ना, मँडराना, विचरना।

(ङ) रेंगना, सरकना।

(1) व्यतिरेक :

(क) संकल्पनात्मक

चलना[1] की आर्थी व्यापकता सर्वाधिक है। यह क्रिया गतिशीलता की द्योतक है। दौड़ना, भागना, लपकना और टहलना में चलने और आगे बढ़ने की मूल क्रियाएं होती हैं। घूमना, डोलना,[2] फिरना, लौटना, आना,[2] जाना,[2] निकलना,[2] गुज़रना तथा विचरना में चलने की क्रिया वैकल्पिक हैं। इसके अतिरिक्त घूमना, डोलना, फिरना और मँडराना में आगे बढ़ना और वापस आना, दोनों क्रियाएं निहित हैं और लौटना तथा आना में केवल वापस आना। जाना, निकलना, गुज़रना, उड़ना, विचरना, रेंगना और सरकना में आगे बढ़ने की क्रिया निहित है। उड़ना में ऊपर जाने की क्रिया होती है जबकि उमड़ना[3] में घनीभूत होने और केंद्र पर आने की, और मँडराना[3] में केंद्र पर बार-बार आने की। *

---

*क्रियाओं पर अंकित संख्या व्याख्या के अंत में दिए गए वाक्यों के क्रमांक की द्योतक है।

उड़ना, रेंगना और सरकना क्रियाओं को छोड़कर शेष क्रियाओं में साधन के रूप में पैरों का प्रयोग होता है। इन में से पहली दो क्रियाओं के केवल मुहावरेदार प्रयोगों में पैरों का प्रयोग होता है पर उन में साधन गौण हो जाते हैं। उड़ना[4] के मुहावरेदार प्रयोग में गति की तीव्रता तथा रेंगना[5] और सरकना में गति की मंदता प्रधान तत्त्व हो जाती है। पैरों के प्राणहीन हो जाने पर ही कर्ता पैरों के बल सरकता है। उड़ने में परों का प्रयोग होता है, रेंगना में पेट का और सरकना[6] में पेट, पीठ, हाथ या पैरों का। लपकना, टहलना, डोलना, विचरना, रेंगना और सरकना क्रियाओं को छोड़कर शेष में किसी वाहन या यान का उपयोग किया जा सकता है। घूमना,[7] लौटना, आना, जाना तथा विचरना में पैरों का भी प्रयोग किया जाता है। चलना, लपकना, टहलना, डोलना, उड़ना, उमड़ना और विचरना को छोड़कर शेष क्रियाएं सांप जैसे कीड़े-मकोड़ों द्वारा भी की जाती हैं। ये इन क्रियाओं को करने में पेट का प्रयोग करते हैं।

दौड़ना, भागना, लपकना और उमड़ना में गति तीव्र होती है; टहलना, डोलना, फिरना, रेंगना तथा सरकना में धीमी और विचरना में मध्यम तथा धीमी। शेष क्रियाओं में गति तीव्र, मध्यम अथवा मंद, प्रसंगानुसार कैसी भी हो सकती है।

चलना, दौड़ना, भागना, लपकना, टहलना, रेंगना और सरकना क्रियाएं केवल थल पर होती हैं, केवल गति की तीव्रता बताने के लिए दौड़ना[8] क्रिया का आधार जल भी हो सकता है। उड़ना क्रिया का आधार केवल वायुमंडल है पर इसके मुहावरेदार प्रयोगों में इसका आधार थल भी हो सकता है। उड़ना क्रिया का आधार केवल वायुमंडल है पर इसके मुहावरेदार प्रयोगों में इसका आधार थल भी हो सकता है। विचरना[9] का आधार थल या वायुमंडल हो सकता है। शेष क्रियाओं का आधार थल, जल या वायुमंडल होता है।

घूमना, डोलना, फिरना और मँडराना किसी एक परिसीमित स्थान में की जाने वाली क्रियाएं हैं पर घूमना, फिरना और मंडराना उस स्थान के चारों ओर भी की जाने वाली क्रियाएं हैं, जैसे, 'पृथ्वी अपनी कीली पर भी घूमती है और सूर्य के चारों ओर भी।' लौटना उसी स्थान की ओर होने वाली क्रिया है जिस स्थान से कर्ता कहीं गया है और आना श्रोता तथा/अथवा वक्ता की ओर आने की दिशा की द्योतक क्रिया है जबकि जाना, श्रोता तथा/अथवा वक्ता से विपरीत दिशा में की जाने वाली क्रिया है। सरकना आगे, पीछे, दाएँ तथा बाएँ किसी ओर को भी की जा सकती है। शेष केवल आगे की ओर की जाने वाली क्रियाएं हैं।[10, 11, 12]

(घ) भावनात्मक

टहलना तथा घूमना सकारात्मक संकल्पनाएँ हैं और भागना नकारात्मक। शेष क्रियाएं प्रसंगानुसार सकारात्मक अथवा नकारात्मक संकल्पनाएं हैं।

(2) वितरण :

(क) प्रकरणात्मक

दौड़ना, भागना और लपकना क्रियाएं चलने में शीघ्रता करने के उद्देश्य से की जाती हैं। निकलना क्रिया सामान्य रूप में भी हो सकती है और गुज़रना

की अपेक्षा शीघ्रता से भी। टहलना और घूमना स्वास्थ्य लाभ के लिए की जाने वाली क्रियाएँ हैं। इसके अतिरिक्त टहलना में समय बिताने का उद्देश्य भी हो सकता है और घूमना में मनोरंजन भी। डोलना और फिरना निरुद्देश्य या अनुपयुक्त उद्देश्य से की जाने वाली क्रियाएँ हैं पर डोलना में समय बिताने का उद्देश्य हो सकता है, जैसे 'माँ की प्रतीक्षा में यह बालक यहाँ घंटों से डोल रहा है।' उमड़ना और मँडराना क्रियाएँ इकट्ठा होने के उद्देश्य से की जाती हैं पर मँडराना में चक्कर लगाने का अनुपयुक्त उद्देश्य भी हो सकता है। विचरना समय बिताने के लिए की जा सकती है और निरुद्देश्य भी। शेष क्रियाएँ सामान्य रूप में की जाने वाली हैं।

(ख) वाक्य-संरचनात्मक

टहलना[13] क्रिया का कर्ता केवल मानवीय होता है, लपकना तथा गुजरना क्रिया का कर्ता मानव या पशु होता है तथा उमड़ना का अप्राणिवाचक और मानव या मानवीय व्यापार, जैसे, 'आज प्यार उमड़ा पड़ता है।' गुजरना क्रिया के कर्ता गतिहीन अप्राणिवाचक तथा छोटे-मोटे पक्षी या कीड़े-मकोड़े नहीं होते। भागना, फिरना, विचरना तथा सरकना क्रियाओं के कर्ता अप्राणिवाचक को छोड़कर कोई भी हो सकता है। उड़ना क्रिया के कर्ता परों की सहायता से उड़ने वाले पक्षी तथा यंत्र की सहायता से उड़नेवाले यान होते हैं। भागना तथा फिरना क्रियाओं का कर्ता अप्राणिवाचक को छोड़कर कैसा भी हो सकता है। शेष क्रियाओं का कर्ता प्राणिवाचक अथवा अप्राणिवाचक, किसी भी प्रकार का हो सकता है। ये सभी क्रियाएँ आत्मनेपदी हैं।

विशेष

क्रमशः बाएँ, दाएँ पैरों को ऊपर उठाकर आगे बढ़ने के लिए उन्हें जमीन पर आगे रखना चलना कहलाता है। चलना से दौड़ना, भागना और लपकना में दो अंतर हो जाते हैं—पहला, पैरों को उठाकर आगे रखने की गति में तीव्रता आ जाती है और दूसरा, पैरों के बीच का फासला, अर्थात् डग भी बड़ा हो जाता है। दौड़ना और भागना में परस्पर दो विशेष अंतर हैं। पहला, दौड़ना[14] क्रिया कर्ता अपनी इच्छा से करता है जबकि भागना[15] किसी बाह्य कारण से। दूसरा, भागना क्रिया कर्ता दर्शकों की दृष्टि से ओझल होने के लिए करता है जबकि दौड़ना में यह आवश्यक नहीं है। लपकना क्रिया में गति और डग की लंबाई तो बढ़ जाती है पर उसमें दौड़ना तथा भागना क्रियाओं की भाँति कर्ता आगे कूदने की क्रिया नहीं करता। इसलिए, यह कहा जाता है 'लपक कर चलो', 'लपक कर दौड़ो' नहीं।

घूमना, टहलना की अपेक्षा अधिक व्यापक है। टहलना के स्थान पर घूमना का प्रयोग कर लिया जाता है पर घूमना के स्थान पर टहलना का नहीं।[16,17] टहलना और घूमना में तीन अंतर देखे गए हैं। पहला, टहलना में पैदल चलना आवश्यक है जबकि घूमना किसी यान में बैठकर भी किया जाता है। दूसरा, टहलने के लिए फासला थोड़ा होता है जबकि घूमने के लिए अधिक भी हो सकता है। तीसरा, टहलना स्वास्थ्य-लाभ के उद्देश्य से किया जाता है जबकि घूमना मनोरंजन के लिए भी। घूमना में कहीं जाकर वापस आने का भाव भी निहित है,

टहलने में ऐसा नहीं है । फिरना में भी वापस आने का भाव निहित है । लौटना का तो अर्थ ही वापस आना है । आस-पास चलना या किसी वस्तु का हिलना भी डोलना कहलाता है । आना[18,19] वक्ता तथा/अथवा श्रोता की दिशा में होता है तथा जाना[20,21] उनसे विपरीत दिशा में ।

निकलना और गुज़रना में तीन अंतर हैं । पहला, निकलना मार्ग के अंतिम सिरे से अपेक्षाकृत अधिक संबंधित है जबकि गुज़रना पूरे मार्ग से । दूसरा, निकलना में कम समय की अपेक्षा है और इसी कारण क्रिया में निरंतरता भी कम है जबकि गुज़रना में ये दोनों बातें अपेक्षाकृत अधिक हैं । तीसरा, निकलना में कर्ता मार्ग की वस्तुओं, व्यक्तियों तथा अन्य प्राणियों के प्रति तथा मार्ग में आए व्यक्ति तथा अन्य प्राणी उसके प्रति अपेक्षाकृत उदासीन होते हैं, जबकि गुजरना में इसके विपरीत स्थिति है । अतएव, रास्ते से चूहा, मेंढक आदि, ऐसे जीवजंतु नहीं गुज-रते; आदमी, राजा काफला, हाथी जैसे कर्ता ही गुजरते हैं ।

उड़ना का परों से सहसंबंध है । पक्षी तो परों की सहायता से उड़ते ही हैं । वायुयान, हैलीकॉप्टर आदि में भी परों की व्यवस्था है । इसलिए, वे भी उड़ते हैं पर रॉकेट के साथ उड़ना क्रिया का प्रयोग नहीं किया जाता । रॉकेट बंदूक की गोली या बम के गोले की तरह छोड़ा जाता है । विचरना में कर्ता की अनिश्चित मन:स्थिति होती है । यह मन:स्थिति चाहे कर्ता की स्वेच्छा से हो या उसकी विवशता के कारण ।

आगे बढ़ने के लिए चलना मानव, पशु, पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े, परंतु परों वाले सभी कर्ताओं की स्वाभाविक क्रिया है, उड़ना केवल पक्षियों की, रेंगना साँप जैसे कीड़ों की तथा सरकना छिपकली जैसे कीड़े-मकोड़ों की । रेंगना क्रिया पेट के बल की जाती है जबकि सरकना, पेट, पीठ, नितंब, हाथ और पैर आदि शरीर के विभिन्न अंगों के सहारे की जाती है । रेंगना में पेट थल से लगा भी रहता है और थोड़ा उठा भी । थल से शरीर को उठाने से ही उसमें गति आती है । यदि पेट या उपर्युक्त में से शरीर का कोई अंग थल पर से न उठे, उससे रगड़ खाता चले तो उसे सरकना कहते हैं । रेंगना और सरकना में गति की मंदता इनका विशेष आर्थी संकेत है । मुहावरेदार प्रयोगों में केवल गति की मंदता प्रदर्शित करने के लिए इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है । [22,23] अंतर केवल इतना है कि रेंगना में कीड़ों का पेट और मानवीय कर्ताओं तथा पशु, पक्षियों के पैर थल से ऊपर उठते हैं जबकि सरकना में शरीर का अंग थल से रगड़ता चलता है ।

उदाहरण :

1. लड़का चल रहा है हवा चल रही है । बात चल रही है । व्यवसाय चल रहा है ।
2. हिंडोला हवा में डोल रहा है । चिड़िया आई/गई । हवाईजहाज इस रास्ते से निकला
3. अधिक वर्षा होने के कारण नदी उमड़ चली । मंदिर की ओर भीड़ उमड़ पड़ी । फूल के चारों ओर भौंरे मंडरा रहे हैं ।

4. पुलिस के देखते-देखते चोर माल लेकर उड़ गया ।

5. क्या रेंग रहे हो, तेज क्यों नहीं चलते ?

6. यह अपाहिज फकीर पेट/पीठ/हाथों/पैरों/नितंबों के बल सरकता है ।

7. आज यहाँ वहुत से कवूतर घूम रहे हैं ।

8. अव की वार दौड़ में कितनी नावें दौड़ी ?

9. पक्षी आकाश में विचर रहे हैं ।

10. रेलगाड़ी पीछे की ओर चल*/जा रही थी ।

11. मोहन पीछे की ओर दौड़*/लौट रहा है ।

12. मोहन दाँई*/वाई* ओर को चल/दौड़/टहल/रहा है ।

13. पिता जी टहलने गए हैं । यदि आप उनसे मिलना चाहते हैं तो थोड़ी देर में आइए । रमेश/घोड़ा*/मोर*/साँप* टहल रहा है ।

14. वह रोज दो मील दौड़ता/भागता* है ।

15. सिपाही को देखते ही चोर दौड़*/भाग गया ।

16. मेरे पिताजी अभी-अभी टहलने/घूमने गए हैं ।

17. वह कल वंवई घूमने/टहलने* गया ।

18. मोहन ने राम से कहा "यहाँ आओ ।"

19. मोहन ने राम से कहा "मैं तुम्हारे घर आऊँगा ।"

20. मोहन ने राम से कहा " यहाँ से जाओ ।"

21. मोहन ने राम से कहा "मैं रमेश के घर जाऊँगा ।"

22. राम ने मोहन से कहा "क्या रेंग रहे हो शीघ्र चलो ।"

23. दौड़ में कछुआ रेंगता चला और खरगोश दौड़कर ।

प्रधानतया मानसिक क्रियाएं—

वहलाना आदि वर्ग

इस पर्याय शृंखला में वारह क्रियाएँ हैं । (1) वहलाना (2) पटाना (3) रिझाना (4) ललचाना (5) लुभाना (6) वहकाना (7) फुसलाना (8) भरमाना (9) तरसाना (10) ठगना (11) छलना (12) झुठलाना । तुलनात्मक आर्थी विश्लेषण तथा विशेष व्याख्या के लिए इन क्रियाओं का वर्गीकरण आगे लिखे उपवर्गों में किया गया है :

(क) वहलाना, पटाना रिझाना ललचाना, लुभाना ।

(ख) वहकाना, फुसलाना, भरमाना ।

(ग) तरसाना, ठगना, छलना, झुठलाना ।

प्रथम उपवर्ग की क्रियाओं में कर्म को उसके लाभ की कोई बात बताकर उसकी सहर्ष स्वीकृति प्राप्त की जाती है, दूसरे उपवर्ग की क्रियाओं में कर्म को भ्रम में डालकर या उसे मूर्ख बनाकर उसकी स्वीकृति प्राप्त की जाती है और तीसरे उपवर्ग की क्रियाओं में कर्म की इच्छा या स्वीकृति के बिना उसे दुखी किया जाता है और कष्ट या हानि पहुँचाई जाती हैं ।

(1) व्यतिरेक :

(क) संकल्पनात्मक

वहलाना, पटाना और रिझाना क्रियाओं में केवल किसी को मनाने की मूल क्रिया होती है और छलना में केवल मूर्ख बनाने की । पर वहकाना, फुसलाना, भरमाना तथा ठगना में किसी को मनाना और मूर्ख बनाना, दोनों क्रियाएँ होती हैं । भरमाना और झुठलाना में किसी व्यक्ति को उसकी बात से हटाने की क्रिया भी होती है । ललचाना और लुभाना में कर्म को उत्साहित अथवा उत्तेजित करने तथा उसमें मानसिक विकार उत्पन्न करने की मूल क्रियाएँ होती ह । तरसाना में कर्म को दुखी किया जाता है । अनुभूति की दृष्टि से वहलाना, वहकाना, फुसलाना और भरमाना क्रियाएँ मानसिक तथा बौद्धिक हैं । ठगना प्रधानतया शारीरिक तथा झुठलाना प्रधानतया वौद्धिक हैं और रिझाना, ललचाना, लुभाना, तरसाना तथा छलना प्रधानतया मानसिक क्रियाए हैं ।

क्रिया के स्वरूप की दृष्टि से वहलाना, ललचाना तथा फुसलाना निरंतर तथा रुक-रुक कर होने वाली क्रियाएँ हैं जबकि ललचाना इन दोनों रूपों के अतिरिक्त आकस्मिक रूप में भी होती है । पटाना, रिझाना और तरसाना निरंतर होने वाली क्रियाएँ हैं, ठगना तथा झुठलाना आकस्मिक रूप में और लुभाना तथा छलना निरंतर अथवा आकस्मिक रूप में होने वाली क्रियाएँ हैं । भरमाना, तरसाना और छलना प्रसंगानुसार वाह्य रूप से होती हैं अथवा नहीं जबकि रिझाना और लुभाना अनभिव्यक्त रहती हैं । शेष क्रियाएँ अभिव्यक्त होती हैं ।

ललचाना, वहकाना, फुसलाना, भरमाना तथा झुठलाना में तिरस्कार और उपेक्षा दोनों भाव होते हैं । लुभाना में प्यार और प्रसन्नता का भाव होता है पर आतुरता का भाव ललचाना और लुभाना दोनों में होता है । ठगना और छलना में तिरस्कार और उपेक्षा के अतिरिक्त दुःख का भाव भी होता है । वहलाना और पटाना में प्यार और संतुष्टि के विशेष भाव होते हैं । रिझाना में केवल प्रसन्नता का तथा तरसाना में दुःख और आतुरता के भाव होते हैं ।

वहलाना क्रिया में प्रयास की मात्रा अधिक, सामान्य अथवा कम कैसी भी होती है जबकि वहकाना में केवल कम होती है और ललचाना, फुसलाना तथा ठगना में सामान्य होती है । शेष क्रियाओं में यह मात्रा अधिक होती है । ये सभी क्रियाएं ऐसी हैं जिनमें किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा होती है ।

(ख) भावनात्मक

वहलाना क्रिया सकारात्मक संकल्पना है और पटाना, रिझाना तथा लुभाना प्रसंगानुसार सकारात्मक अथवा नकारात्मक । शेष क्रियाएँ नकारात्मक संकल्पनाएँ हैं ।

2. वितरण :

(क) प्रकरणात्मक

वहलाना और छलना क्रिया का कारण आंतरिक होता है तथा पटाना, लुभाना और तरसाना का आंतरिक अथवा/तथा वाह्य । शेष क्रियाओं का कारण वाह्य होता है । वहलाना, पटाना, रिझाना, ललचाना, लुभाना, वहकाना और फुसलाना क्रियाओं में कर्ता का उद्देश्य कर्म से अपनी बात मनवाना होता है । इसके अतिरिक्त, ललचाना का उद्देश्य कर्त्ता के हित में कोई काम कराना भी होता है जवकि पटाना, वहकाना तथा फुसलाना का उद्देश्य अपना काम कराना और दूसरे को हानि या कष्ट पहुँचाना भी हो सकता है । वहलाना का उद्देश्य किसी को शांत करना तथा/अथवा अपना काम निकालना भी होता है तथा रिझाना और लुभाना में कर्म को खुश करना भी । भरमाना और तरसाना का उद्देश्य कर्म को हानि या कष्ट पहुँचाना होता है, जवकि ठगना और छलना में अपना काम निकालना और कर्म को हानि या कष्ट पहुँचाना दोनों होता है । झुठलाना का उद्देश्य कर्म को झूठा सावित कर उसे शांत या चुप करना होता है ।

(ख) वाक्य संरचनात्मक

लुभाना का कर्ता प्राणिवाचक अथवा अप्राणिवाचक, कैसा भी होता है । शेप क्रियाओं का कर्ता केवल मानवीय होता है । वहलाना, ललचाना, फुसलाना तथा तरसाना का कर्म अप्राणिवाचक को छोड़कर कैसा भी होता है जवकि पटाना का कर्म अप्राणिवाचक भी हो सकता है । शेष क्रियाओं का कर्म मानवीय होता है । रूप की दृष्टि से इन क्रियाओं का कर्म स्थूल होता है पर पटाना का संकल्पनात्मक सूक्ष्म कर्म भी होता है । वहलाना तथा तरसाना का कर्म दुखी होता है पर वहलाना का कर्म क्रिया से पूर्व दुखी होता है और तरसाना का कर्म इस क्रिया के कारण ही दुखी होता है । पटाना का कर्म कर्ता के अनुकूल होता है । शेप क्रियाओं का कर्म सीधा-सादा होता है । रिझाना, लुभाना, फुसलाना, ठगना और छलना आत्मनेपदी क्रियाएँ हैं । तरसाना और झुठलाना परस्मैपदी क्रियाएँ हैं । शेष क्रियाएँ उभयपदी हैं ।

विशेप :

वहलाना क्रिया का कर्म कर्ता से छोटा होता है और रिझाना क्रिया का कर्म कर्ता से वड़ा । पटाना, ललचाना और लुभाना क्रिया का कर्म कर्ता के समान तथा उससे छोटा अथवा वड़ा होता है । पटाना और ललचाना योजनापूर्ण क्रियाएँ हें पर पटाना अधिक योजनावद्ध होती है । वहलाना क्रिया वच्चे के रोने, रूठने या इसी प्रकार की अन्य किसी क्रिया को रोकने के लिए की जाती है जवकि ललचाना क्रिया किसी से कोई अनुचित कार्य को कराने के लिए की जाती है । पटाना क्रिया

भी किसी कार्य को कराने के लिए की जाती है पर वह कार्य उचित भी हो सकता है और अनुचित भी। रिझाना क्रिया उचित कार्य के परिणामस्वरूप होती है।

वहकाना, फुसलाना तथा भरमाना में कर्ता कर्म को मूर्ख वनाता है। भरमाना में वह उसे भ्रम मे डाल देता है जिससे कर्म कोई कार्य करते-करते रुक जाता है पर वहकाना में वह उसे कोई झूठी वात वता कर या तो उचित कार्य से विमुख कर देता है या गलत कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। इन तीनों क्रियाओं में कर्म विवेकहीन होकर अपनी स्वीकृति दे देता है। भरमाना में कर्म में वौद्धिक भ्रम पैदा कर दिया जाता है।

तरसाना, ठगना, छलना तथा झुठलाना क्रियाएँ भी कर्म को मूर्ख बनाने के लिए की जाती हैं पर इन क्रियाओं में कर्म की स्वीकृति नहीं होती। तरसाना और झुठलाना में क्रिया होते-होते कर्म को इन क्रियाओं का पता चल जाता है पर ठगना और छलना में कर्म को इनकी जानकारी वाद में होती है। तरसाना में कर्म की इच्छा को पूरा न होने देना, उसे किसी वस्तु को देने का प्रलोभन देकर और फिर न देकर दुखी किया जाता है। झुठलाना में कर्म की सच्ची वात को झूठा घोषित कर तर्क से इस प्रकार काटा जाता है कि उसकी वात न चले और वह आगे भी कुछ न कह सकने की स्थिति में आ जाए। ठगना क्रिया रुपया पैसा आदि भौतिक पदार्थों से संवंधित है पर छलना मानसिक क्रिया है। इसके अतिरिक्त छलना ठगना की अपेक्षा अधिक योजनावद्ध होती है।

उदाहरण :

1. उसने मुझ से वीस रुपए ठग/छल* लिए।
2. सभा में उसने मुझे ऐसा झुठलाया/भरमाया कि मैं आगे कुछ न कह सका।
3. हजार रुपए के नोट देखकर वह ललचा गया।
4. वह उसे घंटों वहकाता/भरमाता/ठगता*/झुठलाता*/रहा।
5. उसने मुझे वहला/वहका*/फुसला/पटा/भरमा/ललचा कर मेरा सारा धन ले लिया।
6. उसके सुंदर चेहरे ने मेरा मन लुभा/ललचा* लिया।
7. वच्चा वहुत देर से रो रहा है। इसे तनिक वहला/फुसला*/पटा*/रिझा*/वहका* लो।
8. नौकर ने अपने परिश्रम से मालिक को रिझा/पटा लिया है। मैंने उसके नौकर को पटा लिया है; अव तुम्हारा काम अवश्य हो जाएगा।
9. उसने उसे एक वात कह कर ही वहका/फुसला*/पटा*/रिझा* लिया।
10. वह वच्चे को खि नि देता रहा पर उसे वहला न सका।

11. त्यागी व्यक्ति को कोई क्या तरसा सकता है ?

12. धन के अभाव में लड़कों ने पिता को खूब तरसाया ।

13. उसके सौंदर्य ने मेरा मन लुभा लिया ।

14. उसने यह सौदा पटा लिया ।

15. उसने उसे फुसला/रिझा/ठग/छल लिया/दिया*

16. मैंने अपने दोस्त को आगरा चलने के लिए रिझा*/पटा लिया है ।

17. उसने अपने अफसर को ऐसा पटाया है कि वह चाहे कुछ करता रहता है पर उसका अफसर उससे कुछ नहीं कहता ।

18. मेरे अच्छे से नौकर को उसने बहका लिया ।

19. ठग बच्चे को बहका/फुसला कर ले गया ।

20. समझाने के बजाय हरि ने मोहन को ऐसा भरमाया कि वह अपनी समस्या कभी हल न कर सका ।

21. प्रेमिका को यह विश्वास नहीं होता था कि उसका प्रेमी सब कुछ देने के बाद भी उसे छलेगा ।

शब्द-निःसत्वता

शिवनंदन कपूर

आत्मा और ईश्वर की एकरूपता के संबंध में रवींद्र ठाकुर का एक मुक्तक स्मरण आ रहा है। रूपक फूल और फल का है। फूल गर्व के साथ फल से कहता है, "फल ओरे फल ! तू मुझसे कितनी दूर रहता है ?" फूल का प्रश्न सुनकर, फल कहता है, "ओ मेरे फूल भाई, तुम्हारे अंतर में ही तो मैं नित्य रहता हूँ।" अर्थ को भी शब्द या वाणी का फूल-फल कहा गया है। भाव थोड़ा भिन्न है। पर ईश्वर और आत्मा की एकता को लक्षित करता है। "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह", निरुक्तम्, 1-20।

शब्दों के अर्थों में स्थिति, परिवेश, साहचर्य, प्रयोग-भेद के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। शब्द की परिवर्तनशीलता के कारण, भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीयम्' में कहा था, "किसी शब्द के उच्चारण के समय, उससे जो अर्थ लक्षित होता है, वही उसका अर्थ कहा जाता है। अर्थ का कोई और लक्षण नहीं है"——

'यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।

तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥" वाक्यपदीयम्, 2/328

प्रकृति के समान भाषा के क्षेत्र में भी अस्तित्व का संघर्ष चलता है। जीवन-संग्राम में विजयी चिरकाल तक अपनी सत्ता स्थिर रखता है। दुर्बल शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। शब्दों की भी यही दशा देखने में आती है। विशिष्ट रूप से शक्ति-संपन्न शब्द दीर्घायु पाते हैं। कुछ अल्पायु होकर समाप्त हो जाते हैं। कितने ही शब्दों का आज अस्तित्व नहीं है। मानव जीवन के लिए अनुपयोगी शब्द धीरे-धीरे जीर्ण होते-होते समाप्त हो जाते हैं। ऐसे शब्द सत्त्वहीन अर्थात् शक्ति या प्राण-रहित हो जाते हैं। वे अपनी विशेषता खो बैठते हैं। अँग्रेजी के 'आफुल', 'ड्रेडफुल', 'हारिबुल' आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। बंगला में भी प्रचंड, भीषण, भयानक, दारुण, भयंकर, आदि इसके उदाहरण हैं। ये अपनी मूल विशेषता छोड़कर, केवल 'अधिक', 'या' 'अत्यधिक' के द्योतक रह गए हैं। हिंदी में यह निःसत्वता बंगला के प्रभाव से आई है।

इस प्रकार की सत्त्वहीनता के अनेक कारण हैं। सभ्यता, सामाजिक-व्यवहार, शिष्टता, चाटुकारिता, अन्य शब्द का साहचर्य इसका हेतु होता है। सामाजिक व्यवहार के कारण समाज में एक दूसरे को भाई या बहन संबोधन देने की परंपरा हो गई है। परंपरा पालन के कारण नर्स को 'सिस्टर' कहा जाता है। कहने वाले के मन में कोई स्नेह-भावना नहीं रहती। वह तो विशिष्ट संबोधन की प्रचलन-परंपरा का पालन मात्र करता है। ईसाई पादरी को इसी प्रकार 'फादर' संबोधित करते हैं।

चाटुकारिता :

स्वार्थ सिद्ध करने के लिए मनुष्य गधे को भी बाप बनाता है। भावात्मक एकता का प्रश्न नहीं उठता। संबोधन भी नाम-मात्र का रहता है। भिखारी प्रत्येक व्यक्ति को, भिक्षा-प्राप्ति के लिए 'सेठ' कहता है। भले ही, वह व्यक्ति स्वयं अकिंचन क्यों न हो। यदि क्षमता और इच्छा का संयोग हुआ, तो सामान्य जन भी उसे कुछ न कुछ दे ही देता है। स्वार्थजन्य चाटुकारिता के ही कारण गरीबों को चूसने वाला भी 'गरीब-परवर' कह दिया जाता है। एक कण अन्न भी न देने वाला 'अन्न-दाता' संबोधित किया जाता है। निष्ठुर और हिंसक भी 'दया-निधान', 'कृपा-निधान', 'दयालु' आदि संबोधन पा जाता है। धर्म और नीति से शून्य जनों को उनके चाटुकार 'धर्मावतार' कहते हैं।

संभाषण और भाषण

संभाषण में भी शिष्टाचार-वश हम, अनजाने में अनेक शब्दों को शक्तिहीन बना डालते हैं। 'सज्जन' शब्द 'भद्र' व्यक्ति का परिचायक था। बातचीत के प्रसंग में प्रायः इसका प्रयोग 'व्यक्ति' मात्र का उद्बोधक बन गया है। "एक सज्जन आए थे।" "लीजिए, वे सज्जन आ गए।" इस प्रकार के वाक्य इसकी पुष्टि करते हैं। 'महाशय' का अभिप्राय है, 'महा आशय वाला'। 'आशय' अलंकृत रूप में 'हृदय' का द्योतक बना। इस प्रकार 'महाशय' 'उदार हृदय' हो गया। किंतु संबोधन में इसका इतना अधिक प्रयोग हुआ कि यह घिसे हुए सिक्के के समान अपनी मूल क्षमता खो बैठा। हर ऐरा-गैरा व्यक्ति 'महाशय' कहलाने लगता है। 'महाशय' के प्रचार में आर्यसमाज ने भी योग-दान दिया है। आर्यसमाज में प्रविष्ट जनों में अपने को आर्य लिखने की तथा परस्पर 'महाशय' संबोधित करने की परंपरा चली थी। हीन-भावना से ग्रस्त निम्न जाति के लोगों के लिए तो यह एक विशेष आवरण बन गया। वे अपने को निम्न जाति का न लिख कर, गर्व से 'आर्य' उल्लिखित कर सकते थे। ऐसे ही कुछ व्यक्तियों ने 'महाशय' को भी 'उपनाम' के रूप में ग्रहण कर लिया। मैंने 'महाशय' पान-वाले, तथा 'महाशय' दर्जी की दुकानें देखी हैं। इस प्रकार आर्यसमाज ने प्रत्येक को 'आर्य' (श्रेष्ठ) तथा 'महाशय' (उदार-हृदय) बनाया। परिणामतः ये शब्द सामान्य संबोधन मात्र रह गए। 'श्रीमान्' भी इसी परंपरा में 'संपत्ति या शोभा संपन्न' नहीं रह गया। अकिंचन और कुरूप भी 'श्रीमन्' का संबोधन पा जाता है।

भाषण-गत संबोधन भी शब्दों को शक्तिहीन बना देता है। कुछ सिक्के तो बाजार में खूब चले। चलते-चलते उनका अवमूल्यन हो ही गया। 'सज्जनो' के बिना तो भाषण का श्री-गणेश ही नहीं होता। भले ही उपस्थित व्यक्तियों में सज्जन कोई भूले से ही मिले। यही दशा 'देवियों' की भी है। यदि विद्यमान महिलाओं को भाषण कर्ता 'देवियो' से कुछ भी निम्न स्तर का संबोधन दे, तो वह भाषण देने में तो अकुशल सिद्ध होगा ही, साथ ही, महिला-वर्ग रुष्ट होकर चल देने का प्रयास करेगा। इस प्रकार साधारण से साधारण महिला 'देवी', अर्थात् 'देव-पत्नी' बन जाती है। भाषण देने वाले के मन में भी किसी को 'देव-पत्नी' बनाने का विचार नहीं रहता। वह तो केवल परंपरागत संबोधन का प्रयोग भर करता है।

प्रार्थना-पत्रों के संबोधन भी इसी प्रकार भावना शून्य होते हैं। बिना पूज्य भावना के ही प्रार्थना-पत्र लिखने वाला संबोधित व्यक्ति को मान्यवर, श्रीमान्, महोदय आदि लिखता है। व्यक्ति की पात्रता का उसमें कोई विचार नहीं रहता। परंपरा-पालन के इस क्रम में ही, वह अंत में 'आज्ञाकारी' लिखता है, भले ही आज्ञा-पालन से वह कोसों दूर रहा हो।

साहचर्य से अवमूल्यन :

कुछ शब्द दूसरे जीवंत शब्दों के साहचर्य में अपनी शक्ति खो बैठते हैं। प्रारंभ में वे उन शब्दों को सहारा देने के विचार से साथ पकड़ते हैं। किंतु धीरे-धीरे शक्ति-हीन बन कर वे अपना वर्चस्व उस सहयोगी शब्द में ही समाहित कर देते हैं। उनका संबंध मात्र दास और स्वामी जैसा रह जाता है। वे केवल 'अधिक' के वाचक रह जाते हैं। हिंदी में ऐसे प्रयोगों का प्रचलन बंगला के प्रभाव से आया है। 'दारुण' का अर्थ 'उग्र' है। 'भीषण' भी 'भयंकर' का परिचायक रहा है। किंतु दोनों ही अपनी भयंकरता त्याग कर 'अधिक' की व्यंजना करने लगे हैं। एक उदाहरण प्रेमचंद जी के 'कायाकल्प' से प्रस्तुत है, "यह एक रात की भीषण चिंता, दारुण वेदना, और दुस्सह ताप सृष्टि थी।" का० क०-122।

कुछ शब्द तो सम्मान के शिखर से लुढ़क कर पतन के गर्त में जा पड़ते हैं। विकास के अद्भुत रूप उनके जीवन-क्रम में दृष्टिगत होते हैं। 'घोर' (घुर+अच्) का अर्थ मूलतः 'सम्मान्य' है (मोनियर विलियम्स)। 'ऋग्वेद' में यह 'उदात्त', या 'उत्कृष्ट' के अर्थ में प्राप्त है, "घोरः सन्क्रत्वा जनिष्ठा अषाव्हः" (7-28-2)। वैदिक युग में ही यह 'उदात्त' से अपकृष्ट होकर 'भयानक' हो गया था। 'अथर्ववेद' में इसका प्रयोग 'भयानक' के अर्थ में भी है, 'क्रूरः' यदिह घोरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं (अथर्ववेद, 19/9/14)। इस परिवर्तन का एक कारण है। 'शिव' सम्मान्य या 'उदात्त' होने से 'घोर' कहे गए। उनका प्रलयकारी रूप भयप्रद है। अतः 'घोर' ने 'भयानक' रूप भी ग्रहण कर लिया। हिंदी में यह 'भयंकर' से अब मुख्यतः 'अधिक' का ही वाचक बनता जा रहा है। 'घोर निराशा' इसका प्रमाण है। कभी-कभी किसी प्रबल शब्द का पल्ला पकड़ कर ये मुरझाते शब्द भी पनपने लगते हैं। 'घोर विपत्ति' में यह भयानकता का आभास देता हुआ 'प्रबल' बन गया है। 'घोर' के तुलनात्मक रूप अन्य भाषाओं में इस प्रकार हैं— घोर—Gothic—gaurs; old high German—Gōrag, Latin—fumas।

'मराठी' में घोर' शब्द 'विशाल' का द्योतक है (मराठी इंग्लिश कोष)। बंगला में यह 'भयंकर', 'विकट' के अतिरिक्त 'गाढ़', 'घन', 'अत्यंत', 'असदृश', 'विषम', 'दुर्गम', आदि अर्थों में अभिहित है। बंगला में इसका प्रयोग कई अर्थों में हुआ। यथा—

1. अंधकार—"आमि चक्षुते देखि घोर" (मनसामंगल, 167)
2. 'मादकता का व्यंजक' —"भांगेर घोरे नयन फिरे" (दुर्गापंचरात्रि)
3. 'विषम संकट' का द्योतक "डरे छिरा मरे घोरे" (कवि किंकण 'चंडी', 253)

'वज्र' का अर्थ 'कठोर' है (मोनियर विलियम्स)। किंतु प्रयोग में आते-आते इसकी विशेषता विलुप्त हो गई। यह भी 'घोर' के समान 'अत्यधिक' का व्यंजक रह गया। हिंदी का निम्न उदाहरण इस कथन की पुष्टि करता है, "इस वज्र मूर्खता की दवा चाँटे के सिवाय कुछ न थी।" (कर्मभूमि, प्रेमचंद, पृ०-46)।

प्रयोगाधिक्य स निष्प्राणता :

प्रयोगाधिक्य भी शब्दों की शक्ति-हीनता का कारण होता है। इसका प्रमाण 'श्री' शब्द के विकास में उपलब्ध है। 'श्री' का अर्थ 'ऐश्वर्य' या 'शोभा' है। आदर प्रकट करने के लिए किसी व्यक्ति के नामोच्चार के पूर्व 'श्रीयुत' या 'श्रीमान्' का प्रयोग किया जाता रहा। इसके मूल में अपनी संस्कृति की परंपरा रही। यह 'श्रीयुत' या 'श्रीमान्' संकुचित होकर 'श्री' रह गया। कारण बहुधा लोग 'श्रीयुत' को 'श्री' लिखने लगे। 'श्री' का इतना प्रयोग हुआ कि अब न तो वक्ता के मन में संबोधित व्यक्ति के प्रति आदर-भावना रहती है, न प्राय: 'श्री' से विभूषित व्यक्ति ही 'शोभा' अथवा 'ऐश्वर्य' युत रहता है। वक्ता तो केवल पुरातन-परंपरा का पालन करता है। फिर मुहावरों में तो वह समर्थ शब्दों से सहयोग करते हुए भी, नि:सत्त्व हो जाता है। 'श्री गणेश' में 'श्री' का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। सामान्य-सी बातों में भी 'श्री गणेश' का प्रयोग होता है। यह 'साधारणीकरण' अति प्रयोग के कारण है।

इसी प्रयोगाधिक्य का शिकार 'धुरंधर' भी हुआ है। वैसे उसके जीवन में कम उत्थान-पतन नहीं हुए। 'धुरंधर' का मूल अर्थ है, "धुर को धारण करने वाला"। 'धुर' को धारण करने वाले 'बैल' होते हैं। उन्हीं पर सारा भार होता है। कालांतर में इनका रूपकात्मक अर्थोत्कर्ष हुआ। 'धुरंधर' का प्रयोग उसी व्यक्ति के लिए होने लगा, जिसके ऊपर सारा भार हो। यह 'भारवाही' व्यक्ति उस कृत्य में प्रधान या श्रेष्ठ स्थान रखता था। अत: इस प्रकार 'धुरंधर' का अर्थ 'प्रधान' हो गया। 'विक्रमोर्वशीय' में यह 'प्रधान' के अर्थ में अभिहित है, "कुलधुरंधरो भव" (5)। हिंदी में प्रत्येक विद्वान् के लिए चाहे, वह श्रेष्ठ या 'प्रधान' न हो 'धुरंधर' का प्रयोग होने लगा। अब धुरंधर 'अत्यधिक' का परिचायक हो गया। उसमें प्रधानता का भाव नहीं रहा। वह केवल 'विद्वान्' का पोषक भर रह गया। 'धुरंधर' का व्यंग्य रूप में प्रयोग उसे अपकर्ष की ओर भी ले जाता है, यथा 'धुरंधर आदमी'।

'विराट्' का भी प्रयोग हर शब्द के साथ कर देने की परिपाटी है। जब भी हम किसी वस्तु, विषय या क्रिया का चरम उत्कर्ष दिखाने बैठते हैं, तो 'विराट्' को नहीं भूलते। इस अत्यधिक प्रयोग की प्रवृत्ति से 'विराट्' भी लघुता को प्राप्त हो गया है। मूल रूप में इसका अर्थ 'शासक' है। 'ऋग्वेद' में यह इस अर्थ में प्रयुक्त भी हुआ है (ऋग्वेद, 10/166/1)। हिंदी में यह 'अतिविशाल' से संकुचित होकर, मात्र 'अति' रह गया। राजनीतिक दलों ने तो विराट् की ओर छीछालेदर की है। छोटी-मोटी सभा को भी 'विराट् सभा' का रूप देने में देर नहीं लगती जैसे वह भी कोई रबड़ का तंबू हो।

'अपार' (नास्ति पारं यस्य) का अर्थ है, 'पार या विरुद्ध तट रहित।' बाद में इसका साधारणीकरण हो गया। रूपक रूप में किसी भी वस्तु या विषय के 'सीमा-रहित' होने पर उसे 'अपार' की संज्ञा दी जाने लगी। 'रामायण' में वाल्मीकि ने इसका प्रयोग 'दुर्जेय' के अर्थ में किया है, 'रावणश्च महाशत्रुरपारः प्रतिभाति मे।' हिंदी में यह अब अन्य शब्दों का पोषक बन कर, केवल 'अति', या 'अत्यधिक' का द्योतक रह गया है। यथा, 'अपार वैभव', 'अपार बल'।

'प्रकांड' (प्रकृष्टः कांडः) का मूल अर्थ है, 'किसी वृक्ष का तना'। वृक्ष में तना ही श्रेष्ठ, या सर्व-प्रधान होता है। अतः 'श्रेष्ठ' या 'सर्वप्रमुख' के रूप में इस का प्रयोग होने लगा (मंत्रिप्रकांडः – 'राजतरंगिणी', 6-260)। मराठी में भी इसका अर्थ 'श्रेष्ठ' है। किंतु हिंदी में अन्य शब्दों के साहचर्य से वह सहगामी मात्र बन कर, 'अत्यधिक' का वाचक रह गया है। सर्व-प्रमुखता का भाव लुप्त हो गया है।

कुछ शब्द प्रसंग-विशेष से आंशिक रूप से शक्ति-हीन हुए हैं। पूर्ण निःसत्त्व न होकर, वे जरा-जीर्ण हो गए हैं। संभव है, काल का प्रवाह कभी उन्हें पूर्ण निःसत्त्व कर दे। 'विषम' का अर्थ है 'नतोन्नत' (विगतो विरुद्धो वा समः)। संस्कृत साहित्य में यह इस अर्थ में प्रयुक्त भी है। (मुद्राराक्षस, 3-32)। नतोन्नत वस्तु कठिनाई उपस्थित करती है। अतः 'पंचतंत्र' में यह 'कठिन' के विकसित रूप में भी दृष्टिगत हुआ (4-50)। इसी आधार पर 'भर्तृहरि' ने इसका प्रयोग 'कष्टप्रद' के अर्थ में किया (3-106)। 'विपत्ति' 'कष्टप्रद' होती ही है। इस कारण 'नीति-शतक' में उन्होंने 'विषम' को 'विपत्ति' के अर्थ में भी प्रयुक्त किया (नीति, 96)। हिंदी में इसका प्रयोग 'अत्यधिक' के रूप में ही मुख्यतः हो रहा है। कहीं-कहीं यह अप्रचलित प्रयोग में अपनी मूल शक्ति का आभास भी कराता है। यथा, "जैनब बेगम ने उसकी पिशाचभीरुता को लक्षित करके अपनी विषम चातुरी का परिचय दिया।" (रंगभूमि-174)। यहाँ प्रसंगवश ही, चातुरी के विशेषण रूप में 'विषम' की योजना हुई है। 'अत्यधिक' का अर्थ देते हुए भी, उससे कुटिलता का आभास हो रहा है।

'अदम्य' का अर्थ है, "जिसका दमन न हो सके।" किंतु हिंदी में 'अदम्य' शब्द 'अदम्य साहस' जैसे प्रयोगों में 'अत्यधिक' का ही द्योतक हो गया है। कुछ शब्द दूसरों के साथ प्रयुक्त होने पर अपनी शक्ति खो बैठते हैं। 'हृष्ट' का अर्थ 'प्रसन्न' है किंतु 'हृष्ट-पुष्ट' में वह पुष्ट के साथ ऐसा बंध गया है कि न केवल अपनी स्वतंत्र सत्ता खो बैठता है अपितु बस 'पुष्ट' की पुष्टि कर रहा है। यहाँ वह केवल

'अत्यधिक' के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'प्रताप' का मूल अर्थ, 'प्रचंड ताप' है। संस्कृत में 'शक्ति', 'वीरता', 'ऐश्वर्य' आदि अर्थों में उसका प्रयोग हुआ है। पर हिंदी में पुण्य के साथ प्रयुक्त होने पर 'पुण्य-प्रताप' केवल 'प्रभाव' का संकेत करता है। उसकी शक्ति का ह्रास हो जाता है। 'मराठी' में 'प्रताप' वीरता, बल, आदि के साथ 'स्वर्ण-मुद्रा विशेष' का संकेतक है। यह स्वर्ण-मुद्रा धारवाड़ में चलती थी, और दो रुपयों के बराबर होती थी। 'तीव्र' भी मूलतः 'चंड' का वाचक था। किंतु हिंदी में 'तीव्र इच्छा' जैसे प्रयोगों में वह 'अत्यधिक' का ही संकेतक है।

कभी-कभी लेखक किसी शब्द पर विशेष बल डालने के लिए उसका प्रयोग उसके किसी पर्याय या मिलते-जुलते अर्थ वाले शब्द के साथ करते हैं। 'अधम' मूलतः 'निम्नतम' का वाचक था। 'ऋग्वेद' में इसका प्रयोग इस अर्थ में प्राप्त है (1-24-15)। इसीलिए इसका संयोग गर्ह्य वस्तुओं या व्यक्तियों के साथ किया जाने लगा। 'रसमंजरी' में 'अधम' 'उपपति भेद' का संकेतक है। कारण, वह अपनी दुश्चरित्रता के लिए समाज में निंद्य माना जाता था। लैटिन में भी 'इनफिमस' 'अधम' का अर्थ देता है। 'अर्ध मागधी' में इसने 'दुष्ट' का रूप ग्रहण किया है (अहो वयइ कोहेणं माणेणं अधमा गई, 'उत्तराध्ययन' 9-54)। हिंदी में भी यह 'दुष्ट', या 'नीच' का पर्याय बना। किंतु हिंदी के अधोलिखित प्रयोग में यह 'अत्यधिक' का ही अर्थ दे रहा है। ऐसा, लेखक के बल देने की प्रवृत्ति के कारण हुआ है। उदा०—"उन्हें अपनी अधम नीचता, अपनी घोरतम पशाचिक प्रवृत्तियों पर ऐसा शोकमय पश्चात्ताप कभी न हुआ होगा।" ('प्रेमाश्रम', प्रेमचंद, पृ० 230)

'अनेक' का अर्थ है, "जो एक न हो"। इसी से यह 'बहु' का वाची हुआ। 'मराठी' में भी यह 'असंख्य' तथा 'विभिन्न' का पर्याय है। हिंदी में 'अनेक धन्यवाद' में 'अनेक' की शक्ति नष्ट हो चुकी है। वह 'मेनी मेनी' का अनुवाद भर है। मन की भावना से उसका कोई संबंध नहीं। 'धन्यवाद' की भी यही स्थिति है। आजकल सामान्य से सामान्य काम या साधारणतम बात के लिए भी 'धन्यवाद' या साधुवाद दे दिया जाता है। आधुनिक सभ्यता के प्रवाह में वह अति सामान्य हो गया है। 'अतिपरिचयात् अवज्ञा' इसी को कहते हैं।

हिंदी पारिभाषिक शब्दावली की समस्याएँ

पी० गोपाल शर्मा

भूमिका :

हिंदी पारिभाषिक शब्दावली की समस्याएँ अनेक और विविध प्रकार की हैं। अँग्रेज़ी शब्दावली की प्रकृति और ढाँचे को सामने रखे बिना, जिससे हिंदी को दाय-भाग के रूप में बहुत कुछ प्राप्त हुआ है, अथवा विज्ञान मात्र की भाषा के अंतरंग का समुचित स्पष्टीकरण किए बिना, हिंदी पारिभाषिक शब्दावली की समस्याओं का पृथक् अध्ययन करने से वर्तमान आशंकाओं और दुराग्रहों के दूर होने के बजाय दृढ़ होने की ही ज्यादा संभावना है। आधुनिक भाषाविज्ञानी, अधिकांशतः अर्थ-पक्ष को अपने अध्ययन के दौरान विचार-परिधि से दूर ही रखते हैं। किंतु अपने विषय के प्रसंग में मुझे रूप और अर्थ पर एक साथ विचार करना होगा और भाषा को एक ऐसी मनोदैहिक, संश्लिष्ट सत्ता मान कर चलना होगा जिसके बहुविध व्यावहारिक पक्ष में एक स्पष्ट सोद्देश्य गति परिलक्षित होती है। एक समुदाय के सदस्य के रूप में मनुष्य वाक्-रूप और अर्थ के बीच एक पारस्परिक संगति स्थापित करता चलता है जिसे आज शास्त्रीय शब्दों में हम भाषिक-व्यवहार कहते हैं। इतिहास और संस्कृति के विकास की परवर्ती अवस्थाओं में भाषाश्रित व्यवहार में रूपिमों और अर्थिमों में अत्यंत विकसित उद्दीपन-अनुक्रियाबंध (उ—अ—बंध)[1] स्थापित हो जाते हैं और जब उच्च अमूर्तावलंबी चिंतन होता है और उसमें संकेतावली का उपयोग किया जाता है तो एक अकेले वर्ण के साथ ही अर्थ की अपरिवर्त्य संगति स्थापित हो जाती है, नहीं तो बीजगणित का जन्म ही न होता और आइन्स्टीन का $E=Mc^2$ जैसा समीकरण कैसे बनता ?[2]

एक और तथ्य का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है अर्थात् 'संकेत' और 'संकेतित वस्तु' में परस्पर जनन-शीलता होती है। यह प्रवृत्ति मानो, भाषा की मनोदैहिक सत्ता में ही निहित होती है।[3] इसके कारण शब्द और अर्थ के बीच संगति में जड़ता उत्पन्न हो जाती है। वस्तु-जगत् के प्रति वैज्ञानिक वृत्ति इस जड़त्व को झकझोरती है जिसके फलस्वरूप 'प्रचलित संप्रत्यय' का नवरचनाओं के रूप में पुनर्गठन किया जाता है तथा न केवल संकेतबद्ध अर्थ ही

परिवर्तित होते हैं वरन् बहुधा संकेतों का भी रूपांतरण करना पड़ जाता है; अथवा उनके स्थान पर यदि आवश्यक हो तो दूसरे संकेतों का भी प्रयोग करना पड़ता है ।

	शब्द	अर्थ	
साहित्य	चाल (गति) तेजी, शीघ्रता, वेग	स्थिति में अनिर्दिष्ट परिवर्तन	अर्थात्मक जड़त्व सामान्य कोश में दिए अर्थ
	1. वेग .	किसी पिंड की एक निश्चित दिशा में स्थिति के परिवर्तन की दर	अर्थ - परिवर्तन
विज्ञान (पारिभाषिक शब्द)	2. चाल .	किसी भी दिशा में अपने पथ के अनुरूप स्थिति में परिवर्तन की दर	नवरचनाएँ
साहित्य .	क्षमता .	रखने भरने की समाई अथवा धारण करने, ग्रहण करने इत्यादि की क्षमता ।	अर्थात्मक जड़त्व सामान्य कोश में दिए अर्थ
विज्ञान (पारिभाषिक शब्द)	1. क्षमता समाई 2. धारिता .	विभिन्न परिभाषाएँ धारिता इंजीनियरी-विशिष्ट दशाओं में बैटरी द्वारा प्रदान की गई विद्युत् की मात्रा	अर्थपरिवर्तन नवरचनाएँ

0.2. अर्थों का यह वैज्ञानिक संस्कार इस प्रकार बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है और भावप्रधान साहित्य में सौंदर्य के सर्जक रूप और विन्यास गौण और प्राय: नगण्य हो जाते हैं। अतएव पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करने वाली विशेषीकृत भाषा का अध्ययन, बोली जाने वाली भाषा से आरंभ किया जाए तो

भ्रामक सिद्ध होता है क्योंकि इससे अन्वेषक सैद्धांतिक मार्गावरोधों से आगे नहीं बढ़ पाता। [4]इस कार्य में तो उसके लिए अर्थ प्राथमिक होता है फिर उसकी दृष्टि शब्दरूपों के रचनादर्शों का विश्लेषण करती है। ये शब्द रूप एक दृष्टि में ही असामान्य और यांत्रिक प्रतीत होते हैं किंतु उनकी रचना सुचिंतित और सुव्यवस्थित दिखाई देती है। असामान्यता प्रायः अर्थ और रूप, दोनों ही में मिलती है।

0.2.1. यदि अर्थ से आरंभ करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि विज्ञान के आविर्भाव ने वस्तुजगत् के प्रति हमारी दृष्टि में आमूल परिवर्तन कर दिया। वस्तुनिष्ठ चिंतन को अभूतपूर्व प्रधानता मिली। मनुष्य की धारणाओं और संप्रत्ययों का इंद्रिय प्रत्यक्षों की भाषा में विश्लेषात्मक पुनर्गठन किया गया। ललित-साहित्य की सौंदर्य-मान्यताएं, जो अर्थ की तरलता से पोषित की गई हैं, विज्ञान की अभिवृद्धि के लिए बाधक मानी गईं। वर्जितों की सूची में अलंकार का स्थान प्रथम हुआ। 'एक शब्द, एक अर्थ' सर्वोपरि मार्गदर्शक सिद्धांत बन गया। जोशुआ इ्वाटमाओ ने इस स्थिति का सम्यक् वर्णन इन शब्दों में किया है :— "मूलभूत समस्या तो भाषा को, जिसे भौतिकी ने परास्त किया है, विज्ञान की नए संप्रत्ययों की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना है जिनके लिए भाषा-प्रतीक अब बिल्कुल ही अपर्याप्त हो गए हैं।" हक्सले विज्ञान को Organised common sense (सुव्यवस्थित सर्वबोध) की परिभाषा दे सकते थे और उन्होंने ऐसा किया भी है, परंतु उसमें अधिकांश तो अब uncommon nonsense (असामान्य अनर्थक) है और वह भी ऐसा जो अपने नए संप्रत्ययों (नवरचनाओं) और इंद्रियों से प्राप्त तथाकथित 'प्राथमिक' आधार-सामग्री में कोई सहसंबंध स्वीकार नहीं करता। अतएव विज्ञानियों को एक ओर भाषा और दूसरी ओर अपने विज्ञानों की समस्याओं से साथ ही साथ जूझना पड़ता है। ये समस्याएं कवि और उपन्यासकार की भाषात्मक समस्याओं से बिल्कुल ही अलग होती हैं, बल्कि यह कहना उचित जान पड़ता है कि ये अनेक आयामों वाली शब्द-पहेली हल करने वाले की समस्याओं से अधिक मिलती-जुलती हैं— "कोई शब्द बैठाने का यत्न किया जाए परंतु ऐसा शब्द एक ही होगा जो सब ओर से सब खानों के लिए ठीक बैठेगा।" इसी तरह की वरण-आविष्कार प्रक्रिया से, पिछली कई शताब्दियों में पारिभाषिक शब्द जमा हो गए हैं। यही मिल कर पाश्चात्य 'वैज्ञानिक शब्दावली' के नाम से विख्यात है। कुछ विद्वानों ने तो इस तरह की नवरचनाओं से भरपूर भाषा को 'भौतिक-वस्तु-भाषा'[5] नाम ही देने में संकोच नहीं किया।

0.2.2. रूपात्मक अध्ययन किया जाए तो इस 'भौतिक-वस्तु-भाषा' के रूपिमों में विभिन्न-पक्षीय विलक्षणता दिखाई देती है। भाषाविज्ञानी को तो उसमें विभिन्न ऐतिहासिक और सांस्कृतिक वातावरणों के रूपिमों का शीघ्र ही पता लग सकता है। उसमें शब्द-निर्माण के लिए एक अति विकसित अंतर्निर्मित-तंत्र निहित है, विभिन्न प्राचीन भाषाओं के व्याकरणों का अबाध प्रयोग उपलब्ध होता है। इस तरह न केवल वह भाषा संकर है बल्कि अत्यंत यांत्रिक है। अंग्रेज़ी वैज्ञानिक शब्दावली इसका ज्वलंत प्रमाण है। सबसे बुरी बात तो यह है कि यह भाषा एक शोचनीय नियतिवाद का स्पष्ट दृष्टांत प्रस्तुत करती है क्योंकि विज्ञान और टेक्नालॉजी के क्षेत्रों में आतुर प्रयोग के फलस्वरूप यह प्राचीन भाषाओं

की महाक्षमता के सामने असहाय-सी झुकती आई है। ये भाषाएं हैं लेटिन और ग्रीक, जिनसे मुक्ति पाने के लिए वह बहुत समय से छटपटा रही है। हिंदी पारिभाषिक शब्दावली, जोकि बहुत बाद में इस क्षेत्र में आई है, इन्हीं लक्षणों से ग्रस्त है। इनके अतिरिक्त इसे अपने ही देशकाल की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

1.0. हिंदी पारिभाषिक शब्दावली :

पिछले लगभग 120 वर्षों में हुए हिंदी की पारिभाषिक शब्दावली के विकास का अध्ययन एक बड़ा ही मनोरंजक और विचारोत्तेजक विषय है। समस्त शब्दावली में विविध विचारवर्गों का समागम, शब्दों के ताने-बाने और शैलीगत विशेषता से स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है। परंतु उनमें एक समानता है। वे अधिकांशतः, अंग्रेज़ी तकनीकी शब्द संग्रहों, कोषों और पुस्तकों में उपलब्ध वैज्ञानिक और तकनीकी पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद हैं। वे पश्चिमी पारिभाषिक शब्दों के रूपिमिक अनुकरण हैं। उनका निर्माण वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य के सतत अनुवाद या निर्माण कार्य के दौरान सहज अंग के रूप में नहीं हुआ है। वे तो साथ-साथ चलने वाली एक से पंजर-विन्यास से युक्त शब्द इकाइयाँ हैं जिनके अर्थों की निश्चितता कल्पित है। एक ओर तो वे अपने आदर्श (अंग्रेज़ी शब्दावली) से पोषण ग्रहण करती हैं और दूसरी ओर विशेषज्ञ-वर्गों की सम्मति से। परंतु ऐसा न समझें कि यह नियति मात्र हिंदी की ही है। इस आरंभिक अनिवार्यता में तो सभी विकासमान देशों की राष्ट्रभाषाएं भी हिंदी की सहभागिनी हैं।

1.1. इस लेख में मुझे अपने विचार भौतिक-विज्ञानों के गिनेचुने बुनियादी संप्रत्ययों तक ही सीमित रखने होंगे। किंतु ये ही हिंदी पारिभाषिक शब्दावली की प्रधान समस्याओं के पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत कर देंगे। एक ही भौतिक वस्तु अथवा घटना के लिए हिंदी में शब्दों अथवा पर्यायों की विस्मयकारी बहुलता है। यह तथ्य जहाँ एक ओर भाषा की समृद्धि का द्योतक है वहाँ दूसरी ओर कुछ कठिनाइयाँ भी उपस्थित कर देता है : एक सामान्य-सी वस्तु 'वाटर' के लिए हिंदी शब्द हैं—पानी, जल, नीर, वारि, आप्, अंबु, सलिल इत्यादि। हिंदी के आरंभिक गद्य में, जो कि प्रधानतः साहित्यिक निबंध ही होता था, इन पर्यायों का प्रयोग स्थिति, आशय और शैली के अनुरूप कर दिया जाता था। कोई समस्या नहीं थी। फिर जब 20वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में शिल्प विषयक वर्णनात्मक गद्य लिखा गया तो लेखक ज्यादातर पानी और जल शब्द का ही प्रयोग करने लगे। 'पानी' के अर्थ में तो मुहावरों में कुछ लाक्षणिकता भी आ गई है, 'जल' प्रायः इस उलझन से मुक्त रहा है। परंतु हम इस तथ्य से विमुख नहीं हो सकते कि भारत में या, हो सकता है कि कुछ अन्य पूर्वी देशों में भी, प्राचीन विज्ञानों अथवा शास्त्रों में एक ही विषय-प्रसंग में बिना किसी भ्रम या संदिग्धता के एक ही भौतिक-वस्तु के लिए अनेक आलंकारिक अभिधान प्रयुक्त होते थे, जैसे गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद इत्यादि में।

1.2. एक निश्चित परिभाषित अर्थ अनेक पर्यायों से ऊपर उठकर, आचार्यों के बीच अपरिवर्त्य कैसे बना रहा, यह एक बड़ा रहस्य है। ऐसा लगता है कि मानव मस्तिष्क में एक ही अनुक्रिया का बहुविध-अनुबंधन संभव होता है। शायद, शास्त्रों को काव्यमयी वाणी देने की पूर्वी प्रवृत्ति, जिसमें अंतर्दृष्टि को आँख के

इंद्रिय-व्यापार से अधिक महत्त्व दिया जाता था, इस आलंकारिक शब्द प्रचुरता का कारण हो। परंतु इससे यह महत्त्वपूर्ण बात तो सिद्ध हो ही जाती है कि यदि विज्ञान (उसकी विषयवस्तु) भली-भाँति और गहराई से आत्मसात् किया जाए तो एक ज्ञान-विषय-प्रसंग में एक संप्रत्यय के लिए अनेक शब्दों के प्रयोग को सहन कर लेता है जब तक कि वह गणित में ही परिवर्तित न हो जाए। यहाँ मैं इसकी ज्यादा चर्चा नहीं करना चाहता क्योंकि इससे मुझे अपना प्रस्तुत प्रसंग छोड़ कर मानव-बोध प्रक्रिया की गहराइयों और अर्थ-तत्त्व के मनोविज्ञान में भटक जाने का दोषी ठहराया जाएगा। वर्तमान विचार-स्थिति में तो 'भौतिक-वस्तु-भाषा' इसके सिवाय और दूसरी नहीं कि जो प्रकृति की घटना अथवा वस्तु को संरचना, व्यापार, गुणधर्म आदि की द्योतक भाषा में विविध प्रकार से व्यक्त करती है। वास्तव में उपर्युक्त अनेक पर्यायों में एक संप्रत्यय के घटक विभिन्न प्रत्यक्ष-बोध सन्निहित होते हैं। जैसे—पारा (गुण), रसधातु (वर्गीकरण), महारस (रासायनिक क्रिया), चपल (लक्षण) आदि।

पारिभाषिक शब्द की अनेकता, अब वैज्ञानिक-अध्ययन के लिए लाभकर नहीं मानी जाती। यह उलझन तो पैदा करती ही है, साथ ही प्रत्यक्ष-बोध से प्राप्त आधार सामग्री का वहाँ भी संमिश्रण कर देती है जहाँ प्रत्येक इंद्रिय-प्रत्यक्ष के पृथक् विशेषाध्ययन की आवश्यकता आज की प्रधान पद्धति है और इसीलिए विभिन्न पक्षान्वषी पृथक् विज्ञानों का जन्म हुआ है। हिंदी 'एक शब्द, एक संप्रत्यय' सिद्धांत के अनुसार चलने का कठिन प्रयास कर रही है।

1.3. इस प्रसंग में, उभर कर सामने आए एक शोचनीय लक्षण पर हमें गंभीरता से विचार करना है। आधुनिकीकरण की शीघ्रता के दौरान हिंदी ने न केवल वैज्ञानिक नव-संप्रत्ययों का ही आरोपण किया है (ऐसा करना अनिवार्य था) बल्कि एक (पूर्व रचित) ढाँचे के नमूने को भी अपने पर थोप लिया है। विदेशी शब्दों में आबद्ध संप्रत्यय हमारे वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में विभिन्न अर्थिमों की इकाइयों के ऐसे संयोजनों के रूप में प्रस्तुत होते हैं जो अंग्रेज़ी भाषा के रूपिमिक ढांचे के अनुरूप तैयार हो सके हैं (इसमें अंग्रेज़ी द्वारा प्राचीन यूरोपीय और आधुनिक भाषाओं तथा अरबी इत्यादि से उधार ली गई शब्द-निर्माण-विधाएं भी सम्मिलिति हैं।) उदाहरणार्थः —

वातानुकूलित Air-conditioned

अल्पदृश्यता Low-visibility

अ	तुल्य	काल	इक
सम	समय	इक	

a	syn	chron	ous
con	tempor	ary	

यह लक्षण हिंदी के विकास की दिशा में नियति का विधायक बन रहा है। भारत के वैज्ञानिक और भाषाविज्ञानी संभवत: अपने आपको अंग्रेज़ी में व्यक्त वैज्ञानिक-संप्रत्ययों की परिभाषा के चंगुल से छुड़ा नहीं पा रहे हैं; क्योंकि उनके लिए विज्ञान बहुत कुछ भाषा का पर्याय बन चुका है। अतएव वर्तमान स्थिति में इससे मुक्ति की संभावना नहीं दिखाई देती क्योंकि 'नव संप्रत्ययों' का संस्कार करने में इस बात की संभावना रहती है कि कहीं हम विज्ञान की विशेष शाखा के प्रकृति को देखने के कोण से दूर न हो जाएं। प्रकाश (लाइट) से हट कर 'दृश्यता' (विज़िबिलिटी) पर आने का मतलब भौतिकी से वैमानिकी के क्षेत्र में आ जाना होता है, जिसके कारण विज्ञान क्षेत्र की परवर्ती भाषाओं में अंग्रजी के अनुकरण पर दो पृथक् शब्दों की आवश्यकता होती है।

2.0. हिंदी शब्दों का चुनाव :

पहली समस्या तो हिंदी के अनेक पर्यायों में से एक 'भौतिक-वस्तु-शब्द' का चुनाव है। साधारण समझ की कसौटी तो यह होगी कि कौन-सा शब्द, उसका व्यवहार करने वालों के मस्तिष्क में अपेक्षित वैज्ञानिक संप्रत्यय, शीघ्रता से और यथार्थ रूप से जाग्रत करता है। परंतु हिंदी जैसी शब्द-बहुल भाषाओं में बहुत समय से विज्ञान-साहित्य में दो या तीन पर्यायों के प्रयोग ने कोई गंभीर उलझन उत्पन्न नहीं की, क्योंकि वे अलग ही रहे हैं और उनका प्रयोग भी सीमित रहा है। परंतु शैक्षिक दृष्टि से इस प्रकार पर्यायों का प्रयोग विज्ञान के शिक्षण में बहुत बाधक सिद्ध होता है। अतएव अनेक पर्यायों में से एक शब्द चुनने के लिए कसौटी शब्द की शिक्षण-क्षमता होनी चाहिए। डॉ० कोठारी ने लिखा है —'विज्ञान के बुनियादी संप्रत्ययों की जड़ बहुधा आदिम अनुभव में होती है, अतएव किसी व्यक्ति का विज्ञान क्षेत्र में शिक्षारंभ तब तक स्वाभाविक न होगा और उसका ज्ञान तथा समझ तब तक सशक्त और विस्तृत नहीं होंगे जब तक कि वह किसी संप्रत्यय के अर्थ में एक शब्द का कक्षा के भीतर और किसी दूसरे शब्द का कक्षा के बाहर प्रयोग करता रहेगा।[6] अतएव सारी समस्या तो शिक्षा के माध्यम पर ही केंद्रित हो जाती है।

2.1. प्रसिद्ध वैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री का यह कथन इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करता है कि अंग्रेज़ी के माध्यम से दी गई (लगभग एक शताब्दी तक) विज्ञान-शिक्षा भारतीय जनसमुदाय में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की गति को तीव्र नहीं कर पाई है। विज्ञान अब केवल प्रकृति पर विजय का साधन नहीं माना जाता। विज्ञान क्रमश: उत्तरोत्तर मनुष्य के विचारों, वृत्तियों और एक दत्त स्थिति के प्रति व्यक्ति और समाज की अनुक्रियाओं का पुनर्विधान करता जा रहा है। इस विचार को शब्दों और परंपरागत अर्थों के साहचर्य में जड़त्व आ जाने और विज्ञान के हस्तक्षेप द्वारा नई दृष्टि से इन साहचर्यबंधों के नव-संस्कार करने की क्रिया का उल्लेख करते हुए पैरा 0.1 में स्पष्ट किया जा चुका है। भारत के व्यक्तित्व में विज्ञान गहराई से तब तक नहीं पैठ सकता जब तक कि नए अर्थ पुराने अर्थों को भाषा के प्रतीकों द्वारा झकझोरते नहीं और कक्षा के बाहर के समुदाय की भाषा कक्षा के भीतर नहीं लाई जाती।

इस देश के अधिकांश वैज्ञानिक और विज्ञान-अध्यापक इस जाज्वल्यमान सत्य को स्वीकार करने में बड़ी असुविधा का अनुभव करते हैं।

2.2. आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विस्तृत संदर्भ में भाषा-माध्यम विषयक शैक्षणिक उपादेयता का सिद्धांत यह मान कर चलता है कि कक्षा के बाहर एक विस्तृत समुदाय का परिवेश है। इस सिलसिले में मातृभाषा की बात एक दुविधा उत्पन्न करती है। क्या मातृभाषा की बोली को चुना जाए जो प्राथमिक शिक्षा देने के पश्चात् स्पष्टतः अपर्याप्त सिद्ध होने लगती है या एक परिनिष्ठित भाषा को चुना जाए जो पर्याप्त विकसित है और जिसका उत्तरोत्तर विकास होता ही जा रहा है। कौन-सी मातृभाषा? मात्र जीव-विज्ञान की दृष्टि से जन्मदात्री की बोली या पोषण देने वाली माँ की भाषा या एक बड़े समुदाय की भाषा जिसका बड़े दायरे में प्रयोग होता है और जिसकी समृद्धि का यत्न निरंतर किया जा रहा है। मुझे ऐसा लगता है कि 'मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा' के सिद्धांत में शिक्षा की दृष्टि से 'मातृभाषा' शब्द की परिभाषा देना अत्यंत आवश्यक है। बोली या उप-भाषा जो बुनियादी वैज्ञानिक संप्रत्ययों के लिए शब्द प्रदान करती है, ऐसी न हो कि बाद में वैज्ञानिक को जब नए शब्द बनाने हों तो वह असमर्थ साबित हो।

3. प्राचीन भाषाओं की शरण :

अंग्रेज़ और अमरीकी वैज्ञानिकों ने प्राचीन भाषाओं की शब्दावली और व्याकरण की शरण इसलिए ली कि water जैसे शब्दों से अन्य शब्द-रचना न तो सुकर, न परिष्कृत और न ही उर्वर प्रतीत हुई। वे चाहते तो watrate, waterout, waterulic, watroid, water electric जैसे शब्द बना-सकते थे। किंतु ,वैज्ञानिक संप्रत्ययों के स्रष्टा केवल अंग्रेज़ और अमरीकन ही नहीं थे। उन्होंने महाद्वीप के वृहत् वैज्ञानिक समुदाय के लिए सुबोधता को ध्यान में रखकर शब्द रचे या स्वीकारे। उन्हें विश्लिष्ट प्रकृति वाली आधुनिक भाषाएं अति आकुंचित और संश्लिष्ट संप्रत्ययों के लिए उपयुक्त प्रतीत नहीं हुई। साहित्य और आम बोलचाल की भाषा के शब्दों में दूसरे अर्थों के साहचर्य की दुराशंका के कारण वैज्ञानिक उनसे भड़कते रहे। इसके विपरीत प्राचीन भाषा के व्याकरणों में उन्हें आंतरिक यंत्र-क्रियात्मकता मिली जिसका सरलता से उपयोग हो सकता था और जिससे बड़ी संख्या में शब्द-निर्माण किया जा सकता था।

इस तरह प्राचीन भाषा के शब्दों और अभिव्यक्तियों की ठूंसठांस से भरपूर आधुनिक भाषा का वाक्य-समुच्चय ही आज की विज्ञान-भाषा बनता जा रहा है।

3.1. इस स्थिति में विकसित और विविध साहित्य से परिपूर्ण तथा शब्द-निर्माण की बड़ी क्षमता रखने वाली एक विस्तृत समुदाय की भाषा को ही शैक्षिक मातृभाषा की मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। इस भाषा में इतनी क्षमता हो कि अर्थ की अनेक सूक्ष्मताओं के लिए वह नाम देने में समर्थ हो। वर्तमान स्थिति में, (उदाहरण के लिए अवधी या बुंदेली नहीं) हिंदी ही ऐसी भाषा है जिसे विद्यार्थी वर्ग की अग्रगामी और बहुप्रयोजन शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकारा जा सकता है।

3.2 बोलियों अथवा उपभाषाओं की अपनी अनेक सीमाएं होती ह। यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें विकास करने की अथवा शब्द उधार लेने की सामर्थ्य नहीं है। परंतु यह तो मानना ही होगा कि वे वैयक्तिक और व्यावहारिक स्तरों मे

ऊपर नहीं उठ पाई हैं। उनमें लोक-साहित्य को छोड़ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से संबंधित सामग्री नगण्य मात्रा में ही है। बोलियों और उपभाषाओं की धातुओं के आधार पर निर्मित शब्द उन परंपरागत पारिभाषिक शब्दों से मेल नहीं खाते जिनका प्रयोग उनके दैनंदिन जीवन में होता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए उपभाषाओं की धातुओं से बने कुछ शब्द दृष्टांत स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

पनियाया	hydrated	पनटोंटी	hydrant
पनचलियल	hydraulic	पनशक्ल	hydroid
पनबिजलिया	hydro-electric		

इनकी तुलना में बोलियों और भाषाओं में संस्कृत के अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन मिलता है। जैसे करम (कर्म), मोक्ष, द्वैत, भगति (भक्ति), न्याय आदि।

3.2.1. बोलियों और उपभाषाओं में उपसर्गों का प्रयोग कम ही होता है। बद, सु, बिन जैसे थोड़े ही उपसर्गों से काम चल जाता है। इस प्रवृत्ति के कारण पृथक् विशेषणों के प्रयोग की आवश्यकता होती है जिसके फलस्वरूप विचारों को संश्लिष्ट या संहत रूप में प्रस्तुत करने वाले समस्त पदों के लिए गुंजाइश नहीं रह जाती। अतएव प्रचलन और सुबोधता की कसौटी का प्रयोग दूरदर्शिता से ही करना उचित प्रतीत होता है।

फलत: विज्ञान के बुनियादी संप्रत्ययों के लिए पारिभाषिक शब्द अथवा धातुएँ ऐसे भंडार से लेनी पड़ीं, जिसमें कि उपसर्ग और प्रत्यय लगाने और समस्त शब्द बनाने की प्रचुर संभावनाएँ थीं। इस प्रसंग में संस्कृत भाषा और व्याकरण की शक्ति का ही सहारा लिया गया जो कि न केवल हिंदी के लिए बल्कि अनेक भारतीय भाषाओं के लिए भी शब्द और शब्द-निर्माण-विधाएँ प्रदान करती रही हैं।

3.2.2. इस सदी के चौथे दशक में हिंदुस्तानी तनों (stems) में उपसर्ग और प्रत्ययों को जोड़ कर एक सरल पारिभाषिक शब्दावली तैयार करने का प्रयत्न हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय ने किया था। जिसके उदाहरण हैं : चाल–बढ़ाव acce; eratopm पलटकारी reaction अणुयाना atomize ।[7] परंतु उसने अपने साहसपूर्ण प्रयत्न सामाजिक विज्ञानों के दायरे में ही सीमित रखे। इस प्रयोग को मान्यता प्राप्त नहीं हुई और अंत में इसे छोड़ ही देना पड़ा।

3.2.3. इस बात से मन में बहुत खेद उत्पन्न होता है कि भारत के बहुत कम वैज्ञानिक अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली में प्राचीन और रूढ़िवादी तत्त्वों की बहुलता पर रोष प्रकट करते हैं और अधिकांश जरा भी अवसर पाने पर हिंदी की नई शब्दावली को 'जबड़ातोड़' और 'जीभ मरोड़' कह कर उसका परिहास करते हैं। हमारा आशय यह नहीं है कि विज्ञान की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले सरल और प्रचलित शब्दों को किसी बहाने हटा कर संस्कृत शब्द रख दिए जाएं। परंतु आज की हिंदी शब्दावली का परीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि

वैज्ञानिक शब्द-श्रृंखला का निर्माण करने में हिंदी के लिए संस्कृत भी उसी तरह सशक्त स्रोत सिद्ध हुई है जिस तरह ग्रीक और लैटिन भाषाएं अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दावली के लिए पुष्टिकर सिद्ध हुई हैं ।

4 1. प्राचीन भाषा से पारिभाषिक शब्दों के चुनाव का प्रश्न :

संस्कृत की समृद्धि का हमने लाभ तो उठाया परंतु तत्सम अथवा तद्भव रूपों में उसके शब्दों के प्रयोग ने अपनी अलग समस्याएं खड़ी की हैं । विज्ञान के एक ही संप्रत्यय को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न पर्यायों द्वारा व्यक्त किया है । कारण स्पष्ट ही है । जैसा कि हम सभी जानते हैं, भाषा का विकास उसके बड़े पैमाने पर प्रयोग किए जाने से ही होता है । हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएं अनेक कारणों से विज्ञान-शिक्षा की माध्यम नहीं बन पाईं । अतएव इस विषय का साहित्य भी पनप नहीं पाया और बहुत अल्पमात्रा में लिखा गया । पुस्तक-प्रकाशन कार्य भी शब्दावली-निर्माण के लिए एक संगठित प्रयास के अभाव में प्रगति नहीं कर सका ।

इस प्रकार, विज्ञान के विषयों पर लेखन गौण बन गया और शब्दावली-निर्माण को प्रमुखता प्राप्त हो गई । शब्दावली का कार्य अपने साहित्य-प्रसंग से निरपेक्ष और स्वतंत्र क्रिया के रूप में किया जाने लगा और प्रत्येक शब्द-निर्माता अपने कुछ सहयोगियों की सहायता से पारिभाषिकों के निर्माण में जुट गया । परिणाम यह हुआ कि शब्दों का चुनाव रुचि और संस्कारों पर आश्रित हो गया और उसमें अर्थ की सत्ता अपनी धारणा के अनुसार आरोपित की गई । उदाहरणार्थ—

त्वरण, तीव्रण, तीव्रकरण—acceleration

संभावना, संभाविता, प्रायिकता—probability

शक्ति, ऊर्जा—energy

वेग, गति—velocity

बल, सामर्थ्य, शक्ति—force

4.2. उपसर्गों और प्रत्ययों के प्रयोग में भी यही स्थिति सामने आई । संस्कृत प्रत्यय तो धातुओं में अनेक अर्थ उत्पन्न करने के लिए कुख्यात हैं और समनाम बद्धरूपों का उपयोग पूरे तर्क के साथ प्रत्येक अर्थ के प्रसंग में सिद्ध किया जा सकता है ।

उदाहरण हैं :

condensation → संघनन / → परिघनन | reaction → अनुक्रिया / → अभिक्रिया | प्रसार ← / प्रसृति ← spread

5. भारत सरकार द्वारा मानकीकरण के प्रयास :

इस कार्य की वैज्ञानिक पद्धति का प्रथम सोपान संप्रत्ययों की तालिका बनाना फिर उनकी परिभाषा तैयार करना है। भाषा में ही परिभाषा स्थिर करने से अनेक पर्यायों[8] में से पारिभाषिक का चुनाव हो जाता है। पश्चिमी देशों को इस भाषिक व्यायाम की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। पूर्वी देशों के लिए यह पद्धति बहुत खर्चीली और विलंबकारी प्रतीत हुई। वे तो भागते हुए समय से बुरी तरह जूझ रहे हैं।

5.1. वर्तमान स्थिति में भारत सरकार से यह अपेक्षा तो ज्यादती होती कि वह नए सिरे से आरंभ करते हुए संप्रत्ययों की तालिका पहले बनाए। उसने अपने कार्य का प्रारंभ परिभाषाओं से अवश्य किया। उसने भाषाविदों और वैज्ञानिकों को एक साथ बैठाया। परिभाषाओं पर चर्चा की गई और उन्हें हिंदी में भाषाबद्ध किया गया और अंत में सबकी सहमति से एक पारिभाषिक निश्चित किया गया। यह पद्धति पूर्ववर्ती व्युत्पत्तिक और अंतर्बोधाश्रित पद्धतियों से अधिक प्रामाणिक थी। इस यत्न से बने पारिभाषिक शब्द हैं —

बल	force	शक्ति	power
ऊर्जा	energy	कार्य	work
ऊष्मा	heat	ताप	temperature

6.0. विभिन्न विज्ञानों की पृथक समस्याएँ और शब्द-ग्रहण :

अलग-अलग विज्ञानों का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि भौतिकी में ऐसे संप्रत्ययों की अधिकता है जिनका उल्लेख 5–1 में किया गया है। रसायन के लिए बड़ी संख्या में वस्तुनामों की आवश्यकता है। संस्कृत के प्राचीन स्रोत से हमें केवल 7 या 8 तत्वों के नाम ही प्राप्त होते हैं, और आवश्यकता है लगभग 100 नामों की। डॉ० रघुवीर जैसे आचार्य ने अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली में उपलब्ध प्राचीन तत्वों से समर्थन प्राप्त करते हुए और अपने यत्नों का दायरा सामान्य विचारों और संप्रत्ययों तक बढ़ाते हुए सभी के लिए संस्कृत पारिभाषिक शब्द बना डाले।

6.1. यहाँ यह बताना आवश्यक है कि संस्कृत भाषा उतनी अनुदार नहीं रही है जितनी कि उसके विषय में आम धारणा है। उसने बाह्य स्रोतों से विचार और शब्द स्वीकार किए हैं जिन्हें अब अलग से पहचानना कठिन हो गया है। डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या और डॉ० टी० बरो ने संस्कृत द्वारा द्रविड़ और अन्य भाषाओं से शब्द आत्मसात् किए जाने पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। पाश्चात्य स्रोतों से उधार लिए शब्दों के लिए स्पष्ट प्रमाण भी उपलब्ध हैं। ऐसे शब्द हैं—केंद्र, होरा, द्रम्म इत्यादि।

6 2. परंतु जब आधुनिक विज्ञानों का प्रश्न सामने आया तो एक बहुत बड़े विदेशी शब्द समुदाय को उधार लेने की बात की जाने लगी। डॉ० रघुवीर जैसे विद्वानों को इससे आशंका हुई कि कहीं भारत की मौलिक शब्द-संपत्ति ही नष्ट न हो जाए और तब उन्होंने संस्कृत की अद्भुत सामर्थ्य का परिचय दिया। उन्होंने निम्नलिखित पर्याय बनाए—

प्रांगार Carbon	टांकण Borax
जारक Oxygen	मंदाति Argon

इन शब्दों की रचना और व्युत्पत्ति का भी उन्होंने विस्तार से विवेचन किया।

6.3. भारत के वैज्ञानिक डॉ० रघुवीर से सहमत नहीं हुए। पहले तो उन्हें ऐसा लगा कि व्युत्पत्तिक पद्धति से बने संस्कृत-पर्याय अपने पश्चिमी शब्दों जैसे ही अपरिचित हैं; दूसरे इस तरह के संस्कृत शब्दों को स्वीकार करने का अर्थ होता एक नई संकेतावली की रचना, जो कि अभी तक कठिन प्रयत्न से अर्जित और प्रतिदिन वर्धमान ज्ञान की अंतर्राष्ट्रीय पद्धति को हटा कर स्थापित करनी पड़ती। अतएव सभी ने स्वीकार किया कि भारत में विज्ञान की प्रगति के लिए अंतर्राष्ट्रीय संबंध सूत्र को कायम रखना श्रेयस्कर है।

7. विदेशी शब्दों का स्वीकरण और अनुकूलन :

भारतीय वैज्ञानिकों ने विदेशी शब्दों को देवनागरी में ही लिख लेना पसंद किया। उन्होंने देवनागरी में लिखे गए शब्दों की वर्तनी भी निश्चित कर दी। इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र की हिंदी में विदेशी शब्दों को ज्यों का त्यों लेने अथवा विदेशी तनों में संस्कृत अथवा हिंदी के उपसर्ग और प्रत्यय लगाकर शब्द बनाने की एक नई परंपरा स्थापित की गई। वैज्ञानिक शब्दावली में शब्दों के संकरण को अनुचित नहीं माना गया, बल्कि नए शब्द-निर्माण के लिए उसे एक लाभकारी प्रक्रिया के रूप में प्रतिपादित किया गया। विदेशी धातुओं से (नाम धातुओं से) बने शब्द ये हैं—अकार्बनिक (inorganic) आक्सीकृत (oxidized) अधिपेल्सिक (defelsic)।

विकासमान देशों में विज्ञान और टेकनोलॉजी के उत्थान के फलस्वरूप संकरण पद्धति से शब्द बनाने को काफ़ी प्रश्रय मिला है और उसे भाषा की समृद्धि के लिए एक उपयोगी प्रक्रिया की मान्यता दी गई है।

7.1. इसका यह आशय कदापि नहीं है कि संपूर्ण विदेशी वैज्ञानिक शब्दावली को अपनी भाषाओं पर थोप लेने का रास्ता खोल दिया गया है। कुछ भारतीय विद्वान् और वर्गाग्रणी शैक्षणिक आवश्यकताओं का बहाना लेकर ऐसा करने में[9] तनिक भी संकोच की आवश्यकता नहीं समझते। इस विचारधारा के एक विद्वान् ने 19वी शताब्दी के छठें दशक में ऐसा ही सुझाव दिया था। परंतु राजा राजेंद्र लाल मित्र ने इस विचार को एक बहुत ही सशक्त निबंध [10] द्वारा चुनौती दी थी जिसकी प्रतिध्वनि डॉ० कोठारी के तद्विषयक लेख में इस रूप में प्राप्त होती है।[11] "इस सीधे सादे और अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य को मोटे तौर पर समझने के लिए हमें कहना होगा कि एक 'पारिभाषिक' का 'अर्थ' विज्ञान निश्चित करता है और 'शब्द' भाषा निश्चित करती है। इसी आशय को ध्यान में रखते हुए हम बहुभाषी

विश्व में विज्ञान की सार्वदेशिक, सार्वजनीन भाषा की चर्चा करते हैं। वैज्ञानिक शब्द का अर्थ तो विज्ञान का होता है, परंतु पारिभाषिक बनने वाला शब्द भाषा का ही होता है। और इस प्रकार वह उसके व्याकरण और वाक्यविन्यास के नियमों का पालन करता है। अर्थ सार्वदेशिक होता है परंतु शब्द स्थानीय या प्रादेशिक होता है।"

आम तौर पर संप्रत्ययों को व्यक्त करने वाले एक भाषा के शब्दों को उससे मूलत: भिन्न भाषा में आरोपित करना व्यावहारिक दृष्टि से अच्छा नहीं माना जाता। एक शब्द से अनेक संबंधित शब्द बनते हैं। यदि उस समग्र शब्द-राशि का आयात कर लिया जाए तो इसका परिणाम एक भाषा के स्थान पर दूसरी भाषा को ला बैठाना ही होगा।

7.2. भारतीय वैज्ञानिकों ने विदेशी शब्दों को स्वीकार करने के प्रसंग में अंतर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दावली के नाम से विख्यात शब्द-वर्ग में से किसे वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय मान कर ग्रहण किया जाए इसका स्पष्ट निर्देश कर दिया है। इस संबंध में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार) ने जो सिद्धांत स्थिर किए हैं वह निम्न पंक्तियों में वर्णित हैं —

(क) तत्वों और यौगिकों के नाम, जैसे हाइड्रोजन, कार्बन, कार्बन डाइ-ऑक्साइड आदि,

(ख) तौल और माप की इकाइयाँ और भौतिक परिमाण की इकाइयाँ, जैसे डाइन, कैलारी, एम्पियर आदि,

(ग) ऐसे शब्द जो व्यक्तियों के नाम पर बनाए गए हैं, जैसे फारेनहाइट के नाम पर 'फारेनहाइट तापक्रम', वोल्टा के नाम पर 'वोल्टमीटर' और ऐम्पियर के नाम पर 'ऐम्पियर' आदि,

(घ) वनस्पति विज्ञान, प्राणिविज्ञान, भूविज्ञान आदि की द्विपदी नामावली,

(ङ) स्थिरांक जैसे π, g आदि,

(च) ऐसे अन्य शब्द जिनका आमतौर पर सारे संसार में व्यवहार हो रहा है, जैसे 'रेडियो', 'पेट्रोल', 'रेडार', 'इलेक्ट्रॉन', 'प्रोटान', 'न्यूट्रान' आदि,

(छ) गणित और विज्ञान की अन्य शाखाओं के संख्यांक, प्रतीक, चिह्न और सूत्र, जैसे 'साइन', 'कोसाइन', 'टेंजेंट', 'लाग' आदि (गणितीय संक्रियाओं में प्रयुक्त अक्षर रोमन या ग्रीक वर्णमाला के होने चाहिएं।)

7.3. इस तरह नई हिंदी पारिभाषिक शब्दावली एक ओर तो विश्व की अन्य विकासमान भाषाओं की पंक्ति में शामिल हो गई है; दूसरी ओर इसने भारत के विद्वानों और भाषाशास्त्रियों को नई चुनौतियाँ दी हैं। उन्होंने आज तक भाषा के क्षेत्र में इस प्रकार की जटिल और विशाल परिमाण की समस्या का मुकाबला नहीं किया था। हम हिंदी शब्दावली को एक आदिष्ट सृष्टि मानकर इसकी

अवहेलना नहीं कर सकते। भाषा के विकास में 'हस्तक्षेप' का सदा ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और उसे ऐतिहासिक कारक की संज्ञा देते हुए मान्यता प्रदान की जाती रही है। अपनी विकास प्रक्रिया में भाषाएँ न केवल वाह्य या विदेशी प्रभावों को आत्मसात् करके स्वाभाविक बनाती रही हैं बल्कि नई स्थितियों का सामना करने और नए उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने सहज साधनों का भी पुनर्गठन और व्यवस्थापन करती रही हैं।

8. उपसंहार :

इस निबंध में विज्ञान के बुनियादी संप्रत्ययों के आधार पर हिंदी पारिभाषिक शब्दावली की समस्याओं का सीमित विवेचन किया गया है। शब्दावली के प्रत्येक पक्ष का पृथक् और गहन अध्ययन करने की आवश्यकता है। तात्कालिक आवश्यकता, वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य के शीघ्रता से तैयार करने की है। भारतीय वैज्ञानिकों ने पारिभाषिकों में जिन अर्थों की स्थापना की है और भाषा-विज्ञानियों ने उन्हें जिन रूपों में हिंदी में बाँधा है उनका सत्यापन तो उचित प्रसंग में उनकी अवस्थिति द्वारा ही संपन्न होगा। साहित्य तैयार करने का श्रीगणश तो किया जा चुका है पर प्रगति धीमी है। पलायन, अश्रेयस्कर आत्मतुष्टि, पराजय भाव और जड़त्व से पूर्ण स्थिति में सामाजिक, राजनैतिक दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है ताकि प्रगति के लिए भारतीय जनसमुदाय में वास्तविक और ठोस रूप से वैज्ञानिक-भावना उत्पन्न की जा सके। ●

पाद-टिप्पणियाँ :—

1. तुलना कीजिए, थार्नडाइक का अनुबंधित प्रतिवर्त का सिद्धांत।

2. देखिए : लैंग्वेज : ए माडर्न सिन्थैसिस : जोशुआह् वाटमाओ, प्रकाशक सेकर एंड वारवर्ग, लंदन 1956 : पृष्ठ 252। "रूप और प्रतीकों की दृष्टि से भाषा के प्रयोग में सबसे अधिक निश्चित व्यवस्था विशेषीकृत भाषाओं में होती है। जैसा कि तर्कशास्त्र, गणित या रसायन और भौतिकी जैसे विज्ञान में प्राप्त होता है।"

3. शब्द : कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
   तया च बुद्धि विषयादर्थाच्छब्द : प्रतीयते।। वाक्यपदीय, भर्तृहरि।

4. आधुनिक भाषाविज्ञान की भूमिका और पूर्वी देशों की विकासमान राष्ट्रभाषाओं के प्रसंग में इसके सिद्धांतों और प्रयोगों की अपर्याप्तताओं का सम्यक् और प्रामाणिक विवेचन "दी फेल्युअर ऑफ माडर्न लिंग्विस्टिक्स इन दी फेस ऑफ लिंग्विस्टिक प्राबलेम्स ऑफ दी ट्वेंटिअेथ सेंचुरी" नामक पुस्तिका में देखें। लेखक हैं मलय विश्वविद्यालय क्वालालम्पुर के मलय अध्ययन विभाग के अध्यक्ष डॉ० एस० तक़दीर अलिसजहबाना।

5. दी लैंग्वेज आफ साइकोलाजी : जी० मेंडियर एंड केसेस, पृष्ठ 43–44
6. भारतीय भाषाओं की वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली की समस्याएं—डॉ० डी० एस० कोठारी—प्रकाशक,: वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा-मंत्रालय, भारत सरकार ।
7. हिंदी टर्म्स ऑफ सोशिओलाजी, टोपा : उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।
8. नेमिंग प्रिंसिपल्ज़—150— TC/37 यूनेस्को ।
9. गंगा प्रसाद मुखर्जी; ग्रेज एनाटॉमी का अनुवाद ।
10. ए स्कीम फॉर रेंडरिंग यूरोपियन सांइटिफिक टर्म्स इन टू द वर्नाकूलर्स ऑफ इंडिया; राजेंद्र लाल मित्र (प्रकाशक : शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार) ।
11. भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली की समस्याएं—डॉ० कोठारी ।

हिंदी-शिक्षण

हिंदी-शिक्षण की कुछ समस्याएँ

विन्त्सेन्त्स पोर्ज़ीज़्का

1. अन्य भाषाओं के शिक्षकों की तुलना में हिंदी के शिक्षक को कुछ विशेष समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, विद्यार्थी अपने अध्यापक से पूछेगा :" 'वृहत् हिंदी कोश' में 'अ-' उपसर्ग और 'अइल', 'अउ', 'अउठा', 'अऊत', 'अऊलना', 'अऋण', 'अएरना' ये शब्द किस लिए 'अंक' 'अंकक' आदि शब्दों के उपरांत आते हैं, जबकि वर्णमाला का आरंभ 'अं' से नहीं, बल्कि 'अ' से होता है ?"

केवल 'वृहत् हिंदी कोश' में नहीं, 'हिंदी शब्दसागर', 'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर' आदि शब्दकोशों में भी जो क्रम मिलता है, वह अकारादि क्रम नहीं, वरन् 'अंकारादि' क्रम है। देखिए—('अकारादि क्रम पद्धति की कुछ समस्याएं', 'भाषा' त्रैमासिक, दिसवंर 1966, पृ० 36-38) श्री काशीराम शर्मा अपने एक पत्र में लिखते हैं : "1945 में बाबू श्यामसुंदरदास से मैं मिला था और उनसे मैंने क्रम-विषयक चर्चा भी की थी, तो उन्होंने स्वीकार किया था कि अनुस्वार-विसर्ग के विषय में उनसे भूल हुई। पर यह चर्चा जुलाई में हुई थी और अगस्त में उनका स्वर्गवास हो गया। फलतः उनका निर्धारित क्रम आज भी हिंदी के कोशों में चल रहा है।"

2. श्री विष्णु प्रभाकर ने 'चोरी का अर्थ' नामक एक कहानी लिखी है ('जीवन-पराग', तीसरी बार, नई दिल्ली, 1957, पृष्ठ 37)। कहानी का आरंभ यह है—"एक लंबे रास्ते पर सड़क के किनारे उसकी दूकान थी। राहगीर वहीं दरख्तों के नीचे बैठकर थकान उतारते और उससे कुछ चना-चबेना लेकर भूख मिटाते। दूकानदार उन्हें ठंडा पानी पिलाता और सुख-दुःख का हाल पूछता। इस प्रकार तरोताज़ा होकर राहगीर अपने रास्ते पर आगे बढ़ जाते।"

यहाँ 'उतारते', 'मिटाते', 'पिलाता', 'पूछता', 'बढ़ जाते' क्रियाओं से भूतकालिक अभ्यास सूचित होता है। इस प्रकार के प्रयोग का उल्लेख करते हुए श्री कामताप्रसाद गुरु (हिंदी व्याकरण, नवीन संस्करण, काशी, सं० 2009 वि०, पृष्ठ 358) कहते हैं : "जब इस काल (अर्थात् अपूर्ण भूतकाल) से भूतकाल के

अभ्यास का बोध होता है तब बहुधा सहकारी क्रिया का लोप कर देते हैं, जैसे, "मैं बराबर नियम-पूर्वक स्वाधीनता के लिए महाराज से प्रार्थना करता तो वह कहते, अभी सब्र करो ।"

परंतु जहाँ सहकारी क्रिया नहीं थी, वहाँ उसके लोप का अनुमान करना व्यर्थ है । रामचरितमानस में 'करत' रूप का प्रयोग देखिए : "पंचवटी बसि श्री रघुनायक करत चरित सुर-मुनि-सुख-दायक" (गुसाईं तुलसीदास कृत रामचरितमानस, अरण्य-कांड, पंचमवार, प्रयाग, 1930, पृष्ठ 22) "पंचवटी में बसकर श्रीरघुनाथ जी देवताओं और मुनियों को सुख देने वाले चरित्र करते" (अर्थात् करते रहे) ।

3. 'मैं चलता' के रूप के दो प्रयोग होते हैं : (अ) अभ्यासार्थक प्रयोग ('सामान्य अभ्यासार्थकाल' या 'पहला अभ्यासार्थकाल'), जैसे "रोने की बात पर हँसती, हँसने की बात पर रोती" (प्रेमचंद, कर्मभूमि, सातवाँ संस्करण, बनारस, 1948, पृष्ठ 16) । "बहुत रात गए घर आते और चुपचाप बिस्तर पर लेट जाते" (उपेंद्रनाथ अश्क, अलग-अलग रास्ते, इलाहाबाद, 1954, पृष्ठ 50) । ऊपर उद्धृत विष्णु प्रभाकर की कहानी भी देखिए ।

(आ) हेतुमत् (संकेतार्थक) प्रयोग ('सामान्य संकेतार्थ काल' या 'पहला संकेतार्थकाल'), जैसे, "मुझे पिता जी का डर न होता, तो मैं कभी की आ जाती" (उपेंद्रनाथ अश्क, अलग-अलग रास्ते, इलाहाबाद, 1954, पृष्ठ 38) । "काश कि वे दिन फिर आ जाते !" ('अज्ञेय', शेखर, पहला भाग, पंचम संस्करण, बनारस, 1955, पृष्ठ 126) ।

4. 'मैं चलता होता' के रूप के भी दो प्रयोग होते हैं : (अ) अभ्यासार्थक प्रयोग ('अपूर्ण अभ्यासार्थकाल' या 'दूसरा अभ्यासार्थकाल' जैसे 'निकलते होते' और 'चरती होतीं' इन उदाहरणों में : 'जब सांझ डूबती होती थी, और सड़क की बत्तियाँ जल जातीं, और नेक काम से चैन पाकर मैं ऊपर देखता, ऊपर तारे निकलते होते" (जनेंद्र की कहानियाँ, चतुर्थ भाग, दिल्ली, 1953, पृष्ठ 82) । "हमारी भैंसें दूब भरे मैदान या चरागाह में चरती होतीं" (नागार्जुन, बलचनमा, इलाहाबाद, 1952, पृष्ठ 8) ।

(आ) हेतुमत् (संकेतार्थक) प्रयोग ('अपूर्ण संकेतार्थकाल' या 'दूसरा संकेतार्थकाल') जैसे, 'जीता होता' इस उदाहरण में : "सास ने साँस छोड़ कर कहा, 'मेरा बच्चा जीता होता, तो अब तक तुम्हारे इतना हुआ होता' " ('निराला', बिल्लेसुर बकरिहा, द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद, 1945, पृष्ठ 70) ।

5. 'मैं चला होता' के रूप के भी दो प्रयोग होते हैं : (अ) अभ्यासार्थक प्रयोग ('पूर्ण अभ्यासार्थकाल' या 'तीसरा अभ्यासार्थकाल') जैसे, 'कहा होता' और 'सूख चुकी होती' इन उदाहरणों में : 'उनके चले जाने पर वह उठती । जिस किताब को उन्होंने कहा होता, उसे खींचकर बिस्तर पर औंधी पटक देती और कमरे में इधर-उधर टहलती" (जैनेंद्र की कहानियाँ, चतुर्थ भाग, दिल्ली, 1953, पृष्ठ 86) । "इसटीसन तक सामान मुझे ही पहुँचाना पड़ता—— । उठते-बैठते किसी तरह मैं

पहुँचता। गरदन टूट जाती। पसीने से सारी देह तर हो-हो कर सूख चुकी होती" (नागार्जुन, बलचनमा, इलाहाबाद, 1952, पृष्ठ 10)

(आ) हेतुमत् (संकेतार्थक) प्रयोग ('पूर्ण संकेतार्थकाल' या 'तीसरा संकेतार्थकाल') जैसे, 'लिखा होता' और 'मिल गया होता' इन उदाहरणों में : "प्रेमचंद ने यदि कहानी छोड़कर और कुछ न लिखा होता, तो भी विश्व-साहित्य में उनका स्थान सुरक्षित रहता" (शिवदानसिंह चौहान—विजय चौहान, हिंदी गद्य-साहित्य, दिल्ली—बंबई—नई दिल्ली, पृष्ठ 99)। "काश यह खत देहरादून में मिल गया होता, तो मैं आप लोगों की हमराही में मंसूरी की सैर कर लेता" ('आजकल', अक्तूबर 1952, प्रेमचंद के चौवीस पत्र, पृष्ठ 43)

अहिंदी भारतीयों के लिए हिंदी उच्चारण-शिक्षण

अशोक रामचंद्र केळकर

(एक)

अच्छे भाषाशिक्षक का एक कार्य यह भी है कि वह शिक्षार्थियों द्वारा हमेशा की जाने वाली अशुद्धियों का पूर्वानुमान कर ले और तदनुसार उनसे दूर रखने का उपाय करे। आखिर इलाज से परहेज बेहतर होता ही है। बाद में किया जाने वाला शोधनकार्य (रिमीडियल वर्क) हमेशा कष्टसाध्य रहता है और वह पूरी तरह सफल प्रायः बहुत कम ही होता है। यह कथन उच्चारण-शिक्षण के बारे में विशेष रूप से लागू होता है। अहिंदीभाषियों की विशिष्ट अशुद्धियों का कारण अक्सर मिथ्या सादृश्य होता है। कहीं-कहीं यह मिथ्या सादृश्य उद्दिष्ट भाषा हिंदी के अंतर्गत भी हो सकता है, जैसे किसी अहिंदीभाषी को a^{n}gi:T^{h}i: अँगीठी और a^{n}gu:T^{h}i: अँगूठी में भ्रम हो सकता है अथवा देवनागरी वर्तनी पर अत्यधिक निर्भर रहते हुए वह bhu:ka: भूका, phua:ra: फुआरा, jaga: जगा का उच्चारण bhu:kha: भूखा, phuha:ra: फुहारा तथा jagah जगह के रूप में कर सकता है। ऐसा करना पंडिताऊ प्रतीत होगा। इस प्रकार के भ्रम का शिक्षार्थी की अपनी भाषा से कोई संबंध नहीं है। कहीं-कहीं यह भी संभव है कि यह मिथ्या सादृश्य शिक्षार्थी की अपनी भाषा से प्रतीत हुआ हो। यहाँ इसे 'उद्दिष्ट भाषा' के मुकाबले में 'प्रभावी भाषा' कहेंगे। इस प्रकार तमिल-हिंदी हिंदी का वह रूप होगा जो तमिल भाषियों द्वारा बोला जाता है। यह रूप तमिल द्वारा प्रभावित उद्दिष्ट हिंदी की प्रतिकृति-सा होगा। उदाहरण के तौर पर तमिल-हिंदी में 'भ' और 'ब' में कोई अंतर नहीं होता, जिसके फलस्वरूप 'भारत' का उच्चारण 'बारत' और यहाँ तक कि 'बारद' भी मिलता है। इस परिवर्तन से कोई आश्चर्य नहीं होगा, जबकि हम जानते हैं कि तमिल में 'भ' स्वन नहीं है और उसका निकटतम स्वन 'ब' है। इस लेख में हम अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं द्वारा प्रभावित हिंदी की स्वनव्यवस्था की प्रतिकृति का सर्वेक्षण करेंगे। अंत में उन उपायों पर भी विचार करेंगे जिनसे हिंदी शिक्षक हिंदी के स्वीकार्य उच्चारण और इन प्रतिकृतियों के उच्चारण के बीच पाए जाने वाले व्यतिक्रमों को दूर कर सकें। इसी संदर्भ में हिंदी के विभिन्न स्वीकार्य

उच्चारणों की बात कर लेना शायद अप्रासंगिक न होगा क्योंकि हिंदी में इस संबंध में काफ़ी छूट है। 'पैसा' शब्द में प्रथम अक्षर का उच्चारण (क) अँग्रेज़ी शब्द Mary के एकल स्वर की तरह, (ख) 'नया' के 'अ' तथा अँग्रेज़ी get में प्राप्त ह्रस्व 'ए' के योग द्वारा उत्पन्न संयुक्त स्वर, या (ग) इन दोनों के बीच का हो सकता है। और भी एक बात ध्यान देने योग्य है कि सतर्क भाषाभाषी एक ओर 'पैसा', 'है' तथा दूसरी ओर 'ऐतिहासिक', 'समय', 'तय' के उच्चारण में भेद करते हैं। किंतु बहुत से हिंदीभाषी वास्तव में दूसरे वर्ग के शब्दों में भी 'पैसा है' वाले 'ऐ' का ही उच्चारण करते हैं। 'भैया', 'रैयत', "रवैया" जैसे शब्दों में 'ऐ' नहीं है। 'ऐ' यह स्वर से पहले नहीं आता। हाँ, इस प्रकार की छूट की भी एक सीमा है। बिहार के कुछ हिंदीभाषियों तथा तमिल के कुछ हिंदी शिक्षार्थियों की भाषा में 'पैसा', 'है' आदि शब्दों में 'भैया' में प्राप्त 'अइ' का प्रयोग मिलता है— जो अपरिष्कृत माना जाता है।

ऊपर हिंदी उदाहरणों को देवनागरी वर्तनी के साथ-साथ 'रोमन' में भी प्रस्तुत किया गया है। यह 'रोमन' वर्तनी वास्तविक उच्चारण की ओर संकेत करती है, न कि देवनागरी वर्तनी की ओर। ये 'रोमन' रूप स्वनिमिक लिपि में लिख गए हैं जिससे इनमें आवश्यक भेद करने में आसानी हो। हिंदी के स्वनिमों में निम्नलिखित स्वनिम शामिल हैं :—

हिंदी व्यंजन

वर्ग–1	क	k	ख	k^h	ग	g	घ	g^h	ङ	ṅ						
	च	c	छ	c^h	ज	j	झ	j^h								
	ट	T	ठ	T^h	ड	D	ढ	D^h	ण	N						
	त	t	थ	t^h	द	d	ध	d^h	न	n	न्ह	n^h				
	प	p	फ	p^h	ब	b	भ	b^h	म	m	म्ह	m^h				
वर्ग–2	श	ś	ज़	z	ल	l	ल्ह	l^h								
	स	s			र	r	र्ह	r^h								
	फ़	f			ड़	R	ढ़	R^h								
वर्ग–3			ह	h												
	य	y			व	v										

हिंदी स्वर

वर्ग–1	इ i		उ u
		अ a	
वर्ग–2	ई i:		ऊ u:
	ए e		ओ o
	ऐ a^i		औ a^u
		आ a:	

हिंदी स्वर-रंजक

नासिक्य-रंजन ˚ ⁿ

हिंदी में संस्कृत से गृहीत S 'षकार' युक्त शब्दों (यथा 'भाषा' में 'ष') का उच्चारण 'श' 'ś' के रूप में किया जाता है।

ह्रस्व स्वर स्वनिम 'अ' a का उच्चारण तीन रूपों में प्राप्त होता है—

(1) 'आ' a: के ह्रस्व रूप में लेकिन इसमें जिह्वा अँग्रेज़ी cut के उच्चारण की तरह कुछ उठी हुई,

(2) अँग्रेज़ी शब्द Mary के स्वर के ह्रस्व रूप में, तथा

(3) अँग्रेज़ी ball के स्वर के ह्रस्व रूप में। औपचारिक किताबी शैली में तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में सभी जगह $अ_1$ (a_1) (यानी 'अ' का पहला रूप) ही प्रयुक्त होता है। बोलचाल में अंत्य 'ह्' या व्यंजनपूर्व h 'ह्' से पहले जैसे 'कह', 'कहना', 'तरह', 'छह' में $अ_2$(a_2)का प्रयोग किया जाता है। ahu, ahi, aha, ChaC (यहाँ C से तात्पर्य वर्ग—1 या वर्ग –2 के किसी भी व्यंजन से है) तरह के वर्णक्रमों में भी बोलचाल में इसी प्रकार के परिवर्तन होते हैं। जैसे

'बहुत'	ba_1hut/ba_3ht,
'बहन'	ba_1hin/ba_2hn,
'रहम'	ra_1a_1m/ra_2hm,
'शहर'	sa_1ha_1r/sa_2hr,
'ठहरना'	$T^ha_1ha_1rna:/T^ha_2hrna:$,
'अरहर'	a_1rha_1r/a_1ra_2hr,
'दशहरा'	$da_1sha_1ra:/da_1sa_2hra:$

यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि ch (व्यंजन और उसके बाद आने वाला 'ह') और c^h (महाप्राण व्यंजन) एक नहीं हैं — gad^ha 'गधा' gadha 'गदहा' का ही बोलचाल का रूप मात्र है, 'उपहार' upha:r, 'होनहार' honha:r में न महाप्राण 'फ' है, न महाप्राण 'न्ह' है।

ऊपर हम बता चुके हैं कि a^i 'ऐ' दो रूपों में उच्चारित होता है। एक एकल स्वर के रूप में और दूसरा a^e अए के रूप में। इसी प्रकार a^u भी एकल स्वर (यथा अँग्रेज़ी ball में) या a^o अओ के रूप में उच्चारित किया जा सकता है।

यहाँ स्वररंजक ˚ ⁿ तथा नासिक्य व्यंजनों—ṅ, N, n, m, को एकसा नहीं समझा जाना चाहिए। दाँत $da:^nt$ और शांत śa:nt एक समान नहीं बोले जाते तथा संभालना $sa^nb^ha:lna:$ और संभव $samb^hav$ के शुरू के अक्षरों (सिलबल) में भी अंतर है।

इसी प्रकार कभी-कभी उच्चारित होने वाली अतिह्रस्व स्वर श्रुतियों को भी वर्ग-1 के स्वरों से भिन्न समझा जाना चाहिए। 'मित्र' mitr[a] और 'स्त्री' [i]stri: एकाक्षरिक हैं; 'असफल' as[a]phal, 'रुपए' rup[i]ye, 'उपयोग' up[i]yog, 'पुस्तकें' pust[a]ke[n] द्व्यक्षरिक हैं, तथा 'प्रसन्नता' prasann[a]ta:, hal[u]va:i: 'हलवाई' त्यक्षरिक शब्द हैं।

हिंदी शिक्षण के संदर्भ में हिंदी और उर्दू के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रभावी भाषा के रूप में निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है :

पूर्वी	:	असमिया, बांगला, उड़िया
पश्चिमी	:	मराठी, गुजराती, सिंधी
उत्तरी	:	पंजाबी, कश्मीरी
दक्षिणी (द्रविड़)	:	कन्नड़, तेलुगु, तमिल, मलयालम

(दो)

अब हम हिंदी स्वन व्यवस्था की ऐसी विशेषताओं पर एक-एक करके विचार करेंगे जिनका उच्चारण उक्त भाषाभाषियों द्वारा बिगड़ जाने की संभावना है।

(1) तमिल, मलयालमभाषी बहुधा ङ्क् को ङ्ग्, न्च् को न्ज्, ण्ट् को ण्ड्, न्त् को न्द्, म्प् को म्ब् के रूप में उच्चारित करते हैं और इस प्रकार aṅk[a] अंक और aṅg[a] अंग में उन्हें भ्रम होता है।

(2) तमिल, मलयालमभाषी अक्सर स्वरमध्य k 'क' का h ह् (या उर्दू 'ग़म' में ग़ ध्वनि) 'च्' का 'ज्', 'ट्' का 'ड्', 'त्' का 'द्', 'प्' का 'ब्' के रूप में उच्चारण करते हैं। ऐसा उच्चारण कभी-कभी शब्दांत में भी पाया जाता है। यथा– 'भारत' के लिए 'बारद'। आरंभ में तमिल, मलयालमभाषी 'क्', 'च्', 'ट्', 'त्', 'प्' को क्रमशः 'ख्', 'छ्', 'ठ्', 'थ्', 'फ्' कर देते हैं।

(3) मूर्धन्य तथा दंत्य व्यंजनों में भी भ्रम होना संभव है। असमिया भाषी 'ट्', 'ठ्', 'ड्', 'ढ्', 'ण्', अथवा त्, थ्, द्, ध्, न्, ल्, का उच्चारण करने में जिह्वाग्र से ऊपर के सामने वाले दाँतों के पीछे मसूढ़ों को छूते हैं (जैसे अँग्रेज़ी शब्द tea के उच्चारण में), असमियाभाषियों का 'ड़' तथा 'र' का उच्चारण अंग्रेज़ी rose में r स्वन के समान होता है। मराठी भाषी तुकडा, 'धीट', 'ठाणा', 'डाग', आदि मराठी शब्दों के सादृश्य पर 'टुकड़ा', ढीठ, 'थाना', 'दाग', आदि शब्दों से कभी-कभी दंत्य के स्थान पर मूर्धन्य और मूर्धन्य के स्थान पर दंत्य का प्रयोग करते हैं। कुछ मराठी तथा बहुत से पंजाबी भाषी मध्य एवं अंत्य स्थितियों में 'न' के स्थान पर 'ण' का उच्चारण करते हैं। गुजरातीभाषी भी कभी-कभी 'कठिण', 'केवळ', आदि संवादी गुजराती शब्दों के सादृश्य पर 'न' के स्थान पर 'ण', तथा 'ल' के स्थान पर 'ळ' का प्रयोग करते हैं। मलयालमभाषी भी 'ल्' को 'ळ्' बोलते हैं। (यह स्वन हिंदी में नहीं है।)

(4) असमिया तथा बांगलाभाषी अक्सर 'फ' तथा पद-मध्य एवं पदांत 'म' का उच्चारण ओष्ठ-स्पर्श अथवा महाप्राण के बिना संघर्षी व्यंजनों के रूप में करते हैं। उड़िया, मराठी, कश्मीरी, कन्नड़, तमिल, मलयालम भाषी (ठीक कुछ हिंदीभाषियों की तरह) 'फ़्' का 'फ्' कर देते हैं। गुजराती, सिंधी, तेलुगुभाषी अक्सर 'फ' को 'फ़' कर देते हैं।

(5) कश्मीरी, कन्नड़, तेलुगुभाषी कभी-कभी तथा तमिल तथा मलयालम-भाषी अक्सर 'घ्' का 'ग्', 'झ्' का 'ज्', 'ढ्', का 'ड्', 'ध्' का 'द्', तथा 'भ्' का 'ब्' उच्चारण करते है। दक्षिण वाले अक्सर 'न्ह्' का 'न्', 'म्ह्', का 'म्', 'ल्ह्' का 'ल्', 'र्ह्', का 'र्' तथा 'ढ़्' का 'ड़्' के रूप में उच्चारण करते हैं।

(6) वर्ग–2 तथा वर्ग–3 के व्यंजनों से पहले संस्कृत शब्दों में अनुस्वार का उच्चारण भी कभी-कभी समस्याएं उत्पन्न करता है। हिंदी नकारात्मक अनुस्वार को लेकर पूर्वी भाषा-भाषी उस का 'ङ्', मराठी तथा तेलुगु भाषी 'व्', कुछ सिंधी-भाषीय, कन्नड़ तमिल तथा मलयालयभाषी 'म्' कर देते हैं। यह स्वाभाविक ही है कि उनकी ये आदतें हिंदी के उच्चारण में भी ज्यों की त्यों पाई जाएंगी।

(7) 'ज्ञाता', आज्ञा' जैसे संस्कृत शब्दों में संयुक्ताक्षर' 'ज्ञ' का उच्चारण भी समस्याजनक है। हिंदी में 'ग्याता' या 'ग्याँता', 'आग्या' या 'आग्याँ' होता है, मराठीभाषी इन्हें द्न्याता, आदन्या; गुजरातीभाषी ग्नाता, आग्ना; कन्नड़-भाषी ज्न्याता, आज्न्य; तेलुगुभाषी ग्ञाता, आग्ञा; तमिल तथा मलयालम भाषी ञाता, आञा के रूप में बोलते हैं। हिंदी में ञ् (ñ) स्वन नहीं है, संस्कृत वर्ण 'ञ' का उच्चारण हिंदी में यँ के रूप में किया जाता है। मराठी तथा तेलुगुभाषी 'संज्ञा' (सङ्ग्या) को क्रमशः सँव्न्या तथा संव्ञा कर देते हैं।

(8) वर्ग–1 में से 'च', 'छ', 'ज', 'झ', तथा वर्ग–2 में से 'श', 'स', 'ज़' व्यंजन सीत्कारयुक्त हैं और इनका उच्चारण भी समस्याजनक है। असमिया-भाषी इन्हें क्रमशः स्, स्ह्, ज़्, ज़्ह, ख़, ख़्ह, (उर्दू ख़त में ख़ ध्वनि) ज़ के रूप में बोलते हैं। बांगलाभाषी अधिकांश स्थितियों में 'स' का 'श' जबकि उड़ियाभाषी सभी स्थितियों में 'श' का 'स' उच्चारण करते हैं। मराठीभाषी 'च्', 'छ्', 'ज्' 'झ्', 'स्', का कभी-कभी 'त्स', 'त्स्ह', 'द्ज़', 'द्ज्ह', 'स' (अग्रतर स्वनों के रूप में) उच्चारण करते हैं, 'ज़' का उच्चारण 'द्ज़' या 'ज' के रूप में किया जाता है। कुछ कन्नड़ तथा तेलुगुभाषियों में भी ऐसा ही उच्चारण पाया जाता है। कुछ सिंधीभाषी 'छ्' को 'श्' कर देते हैं, तमिलभाषी इन सभी स्वनों के स्थान पर 'छ' या 'श' का प्रयोग करते हैं। सिंधी और पंजाबी-भाषियों में कुछ हिंदीभाषियों के समान 'स्क' को 'श्क' करने तथा नमस्कार को नमश्कार बोलने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

(9) 'क्षमा', 'कक्षा' आदि संस्कृत से गृहीत शब्दों में संयुक्ताक्षर 'क्ष' का उच्चारण भी समस्या प्रस्तुत करता है। पूर्वी भाषा-भाषी ख़मा, कक्खा; सिंधीभाषी छमा, कच्छा, तेलुगुभाषी ट्शमा, कट्शा; तमिलभाषी ट्चमा, कट्चा के रूप में इसका उच्चारण करते हैं। ('क्ष' के स्थान पर 'ख' तथा 'छ' का प्रयोग भी हिंदी क्षेत्र में अप्रचलित नहीं है।)

(10) कुछ मराठीभाषी तथा दक्षिण वाले 'ड़' तथा 'ढ़' को 'ड' तथा 'ढ' के रूप में बोलते हैं। पंजाबीभाषी भी कुछ शब्दों में ऐसा ही करते हैं।

(11) सतर्क हिंदीभाषी कभी-कभी र, ल, य से पहले एक व्यंजन के स्थान पर द्वि-व्यंजन का प्रयोग करते हैं। उनके उच्चारण में khat^{a}ra: खतरा, bad^{a}la: बदला, up^{i}yog उपयोग के साथ-साथ puttri: पुत्री, vipplav विप्लव, a:ggya: (या a:ggya:^{n}) आज्ञा भी मिलता है। मराठी तथा गुजरातीभाषियों में 'र' और 'ल' के संयोग से बने शब्दों में द्वि-व्यंजन के स्थान पर एक व्यंजन की प्रवृत्ति मिलती है। यथा puttri: पुत्री के स्थान पर put^{a}ri: मिलता है। 'य' के संयोग से बनने वाले शब्दों में कुछ अनिश्चितता पाई जाती है, अतः हिंदी kallya:n 'कल्याण' को मराठीभाषी ऐसे ही बोलते हैं जबकि कम सतर्क हिंदीभाषी इसका उच्चारण kal^{l}ya:N कर देते हैं।

(12) तमिल तथा मलयालमभाषी आमतौर पर 'ह' का उच्चारण 'ख़' तथा 'ग़' के रूप में करते हैं—इस प्रकार हिंदी शब्द का उच्चारण ख़िदी या ग़िदी के रूप में किया जाता है।

(13) पंजाबीभाषियों में (ख, छ, ठ, थ, फ को छोड़कर) महाप्राणत्व तथा (आद्य स्थिति के अतिरिक्त) 'ह' के लोप की प्रवृत्ति मिलती है। इसकी प्रतिपूर्ति के रूप में वे अवरोही–आरोही तान (संदेही अनुतान से बोले गए अंग्रेज़ी शब्द yes में; (प्रतीक v) या उच्च आरोही तान (प्रतीक /) का प्रयोग करते है। घ, झ, ढ, ध, भ इसी प्रक्रिया में क, च, ट, त, प हो जाते है। अतः पंजाबी भाषियों के मुख से हमें bha:i: भाई, bahin/ba$_{2}$hn बहन, ka$_{2}$hna: कहना, के स्थान पर ^{v}pa:i पाई, ^{v}pa^{i}N पैण, /k^{a}iNa: कैणा, मिलते हैं।

(14) कश्मीरी भाषी य, इ, ई, ए, या ऐ से पहले आने वाले व्यंजनों को 'य'—रंजित तथा व, उ, ऊ, ओ या औ से पहले आने वाले व्यंजनों को 'व'—रंजित कर देते हैं। कुछ मराठीभाषियों में भी 'ए' तथा 'ओ' स्वरों से पहले ऐसी प्रवृत्ति मिलती है।

(15) तेलुगुभाषी संयुक्ताक्षर 'त्य' को 'च' तथा 'त्त्य' को 'च्च' के रूप में उच्चारित करते हैं। sattya:gra$_{2}$h के स्थान पर sacca:grah^{a} होता है। इसी प्रकार 'द्य' के स्थान पर 'ज' तथा 'द्द्य' के स्थान पर 'ज्ज' मिलता है।

(16) असमिया तथा बांगलाभाषी 'य' अथवा 'व' में अंत होने वाले संयुक्ताक्षरों के उच्चारण में 'य' और 'व' छोड़ देते हैं। यदि 'य' में अंत होने वाले संयुक्ताक्षर के आगे 'आ' हो तब उस 'आ' का उच्चारण अंग्रेज़ी शब्द Mary के प्रथम स्वर के समान होता है। gya:ta: ज्ञाता, a:ggya या a:ggya: आज्ञा, tattv^{a} तत्त्व का इस प्रकार गैता, आग्गै या आग्गैं, तत्त (दो अक्षर) हो जाता है। (बहुत से हिंदीभाषियों में addviti:y अद्वितीय का adduti:ya अद्दुतीय तथा svara:jy स्वराज्य को sura:jy^{a} सुराज्य के रूप में उच्चारण करने की प्रवृत्ति भी तुल्य है।)

(17) पूर्वी भाषा-भाषियों में 'य' को 'ज', 'व' को 'ब' कर देने की प्रवृत्ति मिलती है। मराठीभाषी कभी-कभी मराठी शब्दों के सादृश्य पर 'व' को 'व' कर देते हैं। 'जवाव' 'वीवी', 'वृहत्' के स्थान पर 'जबाब' 'बीवी' या 'बिव्वी', 'वृहत्' बोला जाता है। सिंधीभाषियों में 'य' को 'ज' करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

(18) संस्कृत शब्दों में स्वरप्राय 'ऋ' के उच्चारण की भी समस्या है। उड़िया, मराठी, गुजराती, तेलुगु भाषी हिंदी 'ऋ' को 'रु' के रूप में बोलते हैं, अतः 'कृष्ण' उड़िया, हिंदी में $krusNa_3$ तथा मराठी-हिंदी में $kruśN^a$ हो जाता है।]

(19) हिंदी में स्वर-दीर्घता का भेद भी उच्चारण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पूर्वी भाषाभाषी, मराठी तथा गुजराती भाषियों में 'इ' तथा 'ई', 'उ' तथा 'ऊ' में दीर्घता के मात्रा-भेद को समाप्त करने की प्रवृत्ति मिलती है। मराठी तथा गुजरातीभाषी शब्द के अंतिम अक्षर में 'इ' को 'ई' तथा 'उ' को 'ऊ' तथा अन्य अक्षरों में 'ई' का 'इ' तथा 'ऊ' का 'उ' कर देते हैं। उन्हें इस प्रकार के उच्चारण से बचना चाहिए। वे एक ओर 'हानि' के स्थान पर 'हानी', 'गुरु' के स्थान पर 'गुरू', 'स्मित' के स्थान पर 'स्मीत' करते हैं, दूसरी ओर 'दूसरा' को 'दुसरा' तथा 'तीसरा' को 'तिसरा' उच्चारित करते हैं। इसके अतिरिक्त जबकि हिंदी 'अ' (चाहे a_1,a_2,a_3) समान रूप से ह्रस्व है, वहाँ पंजाबी-भाषी a_2,a_3 को दीर्घ कर देते हैं। मराठीभाषी अंत्याक्षर में a_1 को दीर्घ कर देते हैं—यथा 'न', 'घर', 'किधर' जैसे शब्दों में।

(20) हिंदी 'अ' की स्वनगुणता भी समस्या प्रस्तुत करती है। पूर्वी भाषी-भाषी 'अ' के स्थान a_3 अथवा यहाँ तक कि o 'ओ'—g^ha_1r या ka_1vi के स्थान पर gha_3r या kobi उच्चारण करते हैं। यदि उन्हें ऐसा न करने के बारे में चेतावनी दी जाए तो वे 'अ' का 'आ' उच्चारण कर देते हैं, जिससे उनके लिए 'मरना' और 'मारना' में कोई अंतर नहीं रह जाता। मराठीभाषी a_2, a_3, की जगह a_1 के समान सदा एक ही गुणता का प्रयोग करते हैं, किंतु ऐसा करते समय जिह्वा ज़रा और ऊपर उठी होती है। दक्षिण वाले विशेषतया शब्दांत में 'आ' के समान एक ही गुणता का प्रयोग करते हैं। उनमें 'चित्र' तथा 'चित्रा' के उच्चारण में कोई अंतर नहीं है।

(21) हिंदी में कहीं-कहीं लिखित 'अ' बिल्कुल छोड़ देने की या उसे अतिह्रस्व श्रुति में घटा देने की प्रवृत्ति है। पूर्वी भाषा-भाषी, मराठी तथा दक्षिण वाले शब्दांत संयुक्ताक्षरों में स्वर का उच्चारण बनाए रखते हैं—जैसा कि हम $tattv^a$ के लिए ta_3tva_3 के बारे में पहले ही विचार कर चुके हैं। (मराठी तथा दक्षिण वाले tat^ava या tattva कहेंगे)। उड़िया-भाषी तथा दक्षिण वाले अन्य स्थानों पर भी ऐसा कर सकते हैं—up^iyog उपयोग, vik^asit विकसित, $a^ur^ate^n$ औरतें, द्व्यक्षरिक शब्द त्र्यक्षरिक रूप में बोले जाएंगे। तमिल तथा मलयालम भाषी नासिक्य व्यंजनों के अतिरिक्त वर्ग-1 के व्यंजनों के बाद a का उच्चारण शब्दांत में कर सकते हैं। इस संबंध में b^ha:rat भारत के स्थान पर $ba{:}rad^a$ पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं।

(22) उत्तरी भाषा-भाषियों में कुछ स्थितियों में कुछ संयुक्ताक्षरों को तोड़कर उनके बीच अ का उच्चारण करने की प्रवृत्ति मिलती है—यथा 'स्पष्ट' ⁱspaśT के स्थान पर sapaśT (सपष्ट), तथा 'पुत्र' puttrᵃ के स्थान पर puttar पुत्तर का उच्चारण ज्ञातव्य है। सिंधीभाषी इसे ⁱspaśTᵃ तथा puttarᵃ कर देते हैं।

(23) पंजाबीभाषियों में वर्ग–1 के स्वरों के ह्रस्वीकरण i को a या ⁱ, ᵘ को a या ᵘ तथा a को ᵃ करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इलाज के स्थान पर ⁱla:j, गोकुल के स्थान पर गोकल, पंडित के स्थान पर पंडत ana:j अनाज के स्थान पर ᵃna:j तथा narᵉś नरेश के स्थान पर nᵃreś करना इसके उदाहरण हैं।

(24) कश्मीरी भाषी पदारंभ में इ का यि, ई का यी, उ का वु, ऊ का वू के रूप में उच्चारण करते हैं। इसी प्रकार दक्षिण वाले भी इ, ई तथा ए से पहले य और उ, ऊ तथा ओ से पहले व लगाकर शब्दारंभ में उच्चारण करते हैं।

(25) जब बाद में कोई स्वर अथवा य् या व् नहीं होते हैं तब सिंधी तथा उत्तरी भाषा-भाषी ay के स्थान पर aⁱ (Mary में प्रयुक्त स्वर) तथा a के स्थान पर aᵘ (ball में प्राप्त स्वर) का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार samay समय अथवा avta:r अवतार samaⁱ समै तथा aᵘta:r औतार हो जाते हैं (यही प्रवृत्ति कम सतर्क हिंदी भाषियों में भी पाई जाती है।)

(26) दक्षिण वाले बिहार के कुछ हिंदीभाषियों की तरह ऐ को अइ तथा औ को अउ कर देते हैं। मराठीभाषियों में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है, लेकिन केवल अंतिम अक्षर में ही वे ऐसा करते हैं। 'बैल', सौ में तो वे ऐसा करेंगे किंतु बैलों, सौतेला में नहीं। (दक्षिण वाले इन सभी चारों शब्दों में अइ तथा अउ का प्रयोग करेंगे।) कुछ गुजराती तथा सिंधी भाषी 'ऐ' को 'ए' तथा 'औ' को 'ओ' कर देते हैं।

(27) हिंदी अनुनासिक (ँ) भी कुछ कठिनाइयाँ प्रस्तुत करता है। मराठीभाषी (विशेषतया वर्ग-2 के स्वरों के साथ) इसे या तो पूरी तरह छोड़ देते हैं या (विशेषतया ग, घ, ज, झ, ड, ढ, द, ध, व या भ से पहले) इसे नासिक्य व्यंजन के रूप में उच्चारित करते हैं—इस प्रकार वे haⁿsna: हँसना को hasna: हसना या karu:ⁿga: करूँगा को karu:nga: करूङ्गा कर देते हैं। दक्षिण वालों में भी यही प्रवृत्ति काफ़ी मात्रा में पाई जाती है।

(28) अधिकांश भारतीय भाषाओं की तरह हिंदी में शब्दाघात नहीं है। (पंजाबी में कुछ सीमा तक इसका अपवाद मिलता है।) फिर भी प्रत्येक शब्द में कोई एक अक्षर विशेष स्पष्टता से सुनाई देता है, क्योंकि उसका अंतिम वर्ण (जो चाहे स्वर या व्यंजन हो) कुछ खींचा-सा जाता है। जैसे 'अलग' में 'लग' अक्षर। इससे पूरे वाक्य को एक विशिष्ट लहजा प्राप्त हो जाता है।

अहिंदीभाषियों द्वारा इसका ग़लत प्रयोग उनकी भाषा को अबोधगम्य तो नहीं बनाता लेकिन उसकी भाषा अटपटी अवश्य लगने लगती है । यहाँ इन स्वनिक नियमों पर विचार करना अभीष्ट नहीं है ।[1] परंतु शिक्षार्थियों को इसके प्रति सजग रहना तथा अच्छे हिंदीभाषियों का अनुकरण करना चाहिए । सतर्क न किए जाने पर पूर्वी भाषा-भाषी कश्मीरी तथा तेलुगुभाषी प्रथम अक्षर, मराठी तथा गुजरातीभाषी अंत से दूसरे अक्षर, तथा कन्नड़, तमिल, मलयालमभाषी अंतिम अक्षर पर बल देकर उच्चारण करेंगे ।

(29) दुर्भाग्यवश हिंदी में वाक्य स्तर पर बलाघात तथा वाक्य तान के संबंध में विश्वसनीय विवरण उपलब्ध नहीं है । इस प्रकार शिक्षार्थी की अपनी-अपनी प्रभावी भाषा की तुल्य विशिष्टताओं को हिंदी में घसीट लाने की प्रवृत्ति के प्रति शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों ही असावधान रह सकते हैं । इस पहलू के महत्व की ओर संकेत करने के अतिरिक्त हम यहाँ कुछ नहीं कर सकते । मराठीभाषियों तथा दक्षिण वालों को उच्चारण को लंबा खींचने तथा व्यंजन को दुहरा कर देने की (baRa: 'बड़ा' के स्थान पर baDDa : करने की) प्रवृत्ति से विशेष रूप से बचना चाहिए ।

(तीन)

हिंदी उच्चारण सीखने में भारतीय शिक्षार्थियों द्वारा की जाने वाली अशुद्धियों का सर्वेक्षण कर चुकने के बाद अब हम उन उपायों कि चर्चा करेंगे जिनसे शिक्षक तथा शिक्षार्थी को उन अशुद्धियों को दूर रखने या दूर करने में सहायता मिल सके ।

इस दिशा में पहला चरण यह होगा कि जिन शिक्षार्थियों को पढ़ाना है उनसे संभाव्य या उपलब्ध अशुदधियों की प्रभावी मातृभाषा के परिप्रेक्ष्य में खोज की जाए । यदि कक्षा में कई भाषाओं के छात्र हों तब श्रवण तथा भाषण के अभ्यास के लिए कक्षा को छोटे-छोटे समभाषावर्गों में बाँटा जाए । ऐसे अभ्यासों में मान लीजिए पंजाबी तथा तमिलभाषी छात्रों को एक साथ रखें तो कोई लाभ नहीं होगा ।

दूसरा चरण यह होगा कि इन अशुद्धियों को महत्व के अनुसार क्रमान्वित किया जाए । यदि किसी विशेष अशुद्धि के कारण दो स्वनिमों में और उसके परिणामस्वरूप बहुत से शब्द-युग्मों में भ्रम पैदा हो तब वह अशुद्धि एक गंभीर अशुद्धि मानी जाएगी । दूसरी ओर, किसी अशुद्धि के कारण शिक्षार्थी का बोलना केवल अटपटा-सा या पराया-सा लगे तब वह अशुद्धि पहली तरह की अशुद्धि से कम महत्वपूर्ण होगी । शिक्षार्थी की अशुद्धि अगर विस्तीर्ण हिंदी-क्षेत्र के किसी कोने में हिंदीभाषियों में ही मिल जाती है तो उसे निकालना और भी कम जरूरी है । अशुद्धि थोड़े शिक्षार्थियों में मिलती है या अधिकांश शिक्षार्थियों में, यह भी सोचने की बात है ।

---

1. विस्तृत चर्चा के लिए देखें स्टडीज इन हिंदी-उर्दू I—अशोक रामचंद्र केळकर, डेक्कन कॉलेज पूना 1968, पृ० 26–8

इन दो चरणों को मिलाकर हम प्रत्येक प्रभावी भाषा के लिए अवरोही क्रम में अशुद्धियों की एक सुलभ सूची तैयार कर सकते हैं । नीचे दी गई तारांकित संख्याएँ विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण अशुद्धियों की ओर संकेत करती हैं । चूंकि शिक्षक एवं शिक्षार्थी के पास समय एवं शक्ति काफ़ी सीमित होती है इसलिए शिक्षक को कम प्राथमिकता वाली अशुद्धियों की उपेक्षा भी करनी पड़ सकती है । प्रयास के बावजूद भी यदि उच्चारण की अशुद्धि हटाना साध्य न हो तो ऐसी हालत में उसे सहन भी करना पड़ेगा । उदाहरणस्वरूप यदि अशुद्धि (24) को आरंभ में न रोका गया तो आगे चलकर उसका शोधन बहुत कठिन हो सकता है ।

असमिया	8*, 3*, 16, 17, 19; 6, 20; 4, 9; 21; 29; 28
बांगला	8, 16, 17, 19; 6, 20; 4, 9; 21; 29; 28
उड़िया	8, 19; 6, 18, 20; 4, 9; 21; 29; 28
मराठी	8, 19; 6, 18; 4, 7, 17; 3, 26, 27, 29; 10, 11, 14, 20, 21; 28
गुजराती	19; 18; 4, 7, 11; 3, 26, 29; 28
सिंधी	8, 17; 6; 4, 9, 22; 26; 25; 29; 28
पंजाबी	13*; 3*; 23; 22; 8, 10, 19, 25; 29
कश्मीरी	5*; 4, 22; 14, 24, 25; 29; 28
कन्नड़	5*; 8; 6, 10, 24; 4, 7; 26, 27, 29; 20, 21; 28
तेलुगु	5*; 8, 15; 6, 10, 18, 24; 7, 9; 26, 27, 29; 20, 21; 28
तमिल	1*, 2*, 5*, 8*; 12; 6, 10, 24; 4, 7, 9; 26, 27, 29; 20, 21; 28
मलयालम	1*, 2*, 3*, 5*, 12; 6, 10, 24; 4, 7; 26; 27, 29; 20, 21; 28

तीसरा चरण उपयुक्त श्रवण-अभिज्ञानात्मक अभ्यास तैयार करना और उन्हें अमल में लाना है । यदि किसी प्रकार की अशुद्धि से शब्द-युग्मों में भ्रम पैदा होता हो, तो वहाँ इस प्रकार के अभ्यास विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं । (वाक्य बलाघात तथा वाक्य अनुतान की स्थिति में भ्रम शब्द-युग्मों में न होकर वाक्य-युग्मों में होता है ।) हिंदी की देवनागरी लिपि को ग़लत समझने के कारण छात्रों में उत्पन्न भ्रमों का निवारण भी इसी अवस्था में किया जाना चाहिए । एक विशेष प्रकार के श्रवण-अभ्यास में हिंदी के सही तथा प्रभावित उच्चारणों को एक साथ प्रस्तुत किया जा सकता है । इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे अभ्यासों से कुछ भ्रम अवश्य हो सकता है अतः इनका उपयोग सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए । जहाँ उद्देश्य उपचार न होकर त्रुटि दूर रखना हो वहाँ इनका प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए ।

चौथा चरण यथासंभव सरल तथा गैरतकनीकी शब्दों में उच्चारण अवयवों के प्रयोग के संबंध में विवरण प्रस्तुत करना होगा। जहाँ आवश्यक हो, दृश्य-साधनों का उपयोग भी किया जा सकता है। अध्यापक अपने दोनों हाथों का प्रयोग—एक हाथ को उल्टा कर, उंगलियों को मोड़कर तथा मिलाकर तालू के आकार के रूप में बनाते हुए तथा दूसरे हाथ से जिह्वा स्थितियों तथा जिह्वा-संचलन के रूप में—अत्यधिक प्रभावपूर्ण तथा लाभप्रद ढंग से कर सकता है।

पांचवा तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण निस्संदेह नियंत्रित उच्चारण अभ्यास तैयार करना है। इसमें पहले पृथक् स्वनिमों एवं अक्षरों से आरंभ करते हुए, फिर शब्दों तथा पदधों और अंत में जबड़तोड़ वाक्यों (जैसे अँग्रेजी में she sells sea shells) को रखा जा सकता है। यहाँ नियंत्रित शब्द का विशेष महत्व है। प्रत्येक प्रयत्न पर शिक्षार्थियों को यह स्पष्ट रूप से बता देना चाहिए कि वे पहले से कुछ अच्छा बोल रहे हैं या नहीं और कहाँ वे ग़लती कर रहे हैं। इस प्रकार की पुनरावृत्ति कक्षानायक तथा छात्र दोनों के लिए कष्टप्रद हो सकती है। अतः कुछ विविधता का सहारा लेना और समय निर्धारण बड़ी सावधानी से करना होगा। इस तरह के अभ्यासों में थकन एवं ऊब शिक्षार्थियों की आयु, लिंग, स्वास्थ्य आदि पर निर्भर करेगी।

अब तक बताए गए चरण सही उच्चारण शिक्षण की चार बातों का समावेश करते हैं।

1. यह जानना कि हिंदी में कौन से उच्चारण-भेद महत्वपूर्ण हैं और कौन से नहीं हैं—अर्थात् हिंदी स्वनिमिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करना। उदाहरण के तौर पर तमिलभाषी शिक्षार्थी को यह महसूस करना चाहिए कि हिंदी में प/ब का भेद महत्वपूर्ण है तथा मराठीभाषी को भी यह समझना चाहिए कि 'ऐ' के दो उच्चारण एक ही स्वनिम के स्वनांतर मात्र हैं।

2. यह जानना कि किस परिवेश में किस स्वनिम का उच्चारण किस प्रकार होगा, जैसे अ स्वन का $अ_1$ $अ_2$, $अ_3$, के रूप में उच्चारण। इसी प्रकार असमियाभाषी को 'त' और 'ट', 'र' और 'ड़' जैसे युग्मों में अंतर रखना है यह जानना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उसे यह भी जानना होगा कि यह अंतर रखने में जिह्वाग्र को किस प्रकार और कहाँ रखना और चलना है।

3. यह जानना कि वाग्धारा में स्वनों का संयोजन कैसे करें। उदाहरण के तौर पर संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण या शब्द का लय पकड़ना या वाक्य अनुतान (अर्थात् वाक्य बलाघात तथा वाक्यतान) का ढंग से प्रयोग करना यह सब जानना होगा।

4. यह जानना कि किन शब्दों में कौन-कौन से स्वन प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के तौर पर असमियाभाषी श्रवण तथा वाक्-अवयवों द्वारा यह जानता है कि हिंदी स्वन 'च' और 'ज' क्या हैं लेकिन उनका प्रयोग ऐसी जगह करता है जहाँ उसे नहीं करना चाहिए। हिंदी शब्द चोर cor तथा असमिया sor में आद्य-

स्वनिम की व्युत्पत्तिमूलक तथा लिपिविषयक संवादिता सहायता करने की अपेक्षा अवरोध ही प्रस्तुत करती है। इसके अन्य उदाहरण ऊपर (3) या (17) से प्राप्त किए जा सकते हैं।

इस अंतिम बात के संबंध में यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि कई कोटियों के शब्द विशेष रूप से भ्रमजनक होते हैं क्योंकि वे प्रभावी भाषा के मिथ्या सादृश्य की ओर संकेत करते हैं।

(क) फ़ारसी, अरबी से गृहीत शब्द : हिंदी 'बेचारा' की मराठी 'बिचारा' हिंदी 'चालाक' की मराठी 'चलाख' तथा पंजाबी 'चलाक' से तुलना कीजिए।

(ख) अँग्रेज़ी से गृहीत शब्द : हिंदी 'जुलाई' की मराठी 'जुलई' से तुलना कीजिए।

(ग) संस्कृत से गृहीत शब्द : हिंदी 'विनती' की मराठी 'विनंती' से तुलना कीजिए।

(घ) संख्यावाचक तथा कुछ अन्य तद्भव शब्द : हिंदी इक्यावन/इकावन, 'दुपहर' की मराठी एक्कावन/एक्कावन्न तथा दुपार से या हिंदी 'सात' की पंजाबी 'सत्त' से तुलना कीजिए।

इस प्रकार के शब्दों के लिए ऊपर चौथे तथा पाँचवे चरण पर बताए गए उपायों की आवश्यकता नहीं होगी।

अंत में हिंदी के लिए प्रयुक्त देवनागरी लिपि की वैज्ञानिक प्रकृति के प्रति अंधविश्वास करने से शिक्षार्थियों को बचाना चाहिए। उन्हें आँखों की अपेक्षा कानों पर विश्वास करना सिखाया जाए। कुछ स्थितियों में (उदाहरणस्वरूप असमियाभाषी शिक्षार्थियों को) संभवतः तब तक लिपि न सिखाई जाए जब तक वे संतोषजनक उच्चारण न सीख लें।

विदेशी भाषा के रूप में हिंदी : शिक्षण के संदर्भ में

अमर बहादुर सिंह

1

मातृभाषा, समकालीन अपर भाषा एवं शास्त्रीय भाषा के अध्ययन वास्तव में तीन अलग-अलग प्रकार की विधाओं की अपेक्षा रखते हैं। यह अपेक्षा उनके उपयोग एवं उपादेयता की भिन्नता के आधार पर निर्धारित की जाती है। 'स्वभाषा अथवा मातृभाषा हमारे नैसर्गिक दाय का एक भाग होती है।'[1] इसका ज्ञान हमें बोलने की क्रिया प्रारंभ करने के समय से ही प्राप्त होने लगता है और आयु के विकास के साथ-साथ उस पर हमारा अधिकार बढ़ता जाता है। मातृभाषा की शिक्षण की प्रक्रिया अपर भाषा एवं शास्त्रीय भाषा की शिक्षा की प्रक्रियाओं से कुछ भिन्न होती है। तीनों भाषाओं के स्वभाव, कार्यक्षेत्र एवं उपयोगिता को दृष्टि में रखकर ही इनकी शिक्षण पद्धतियाँ निर्धारित की जाती हैं तथा शिक्षण की आयु तथा शिक्षण-काल का निर्धारण किया जाता है। संसार की बहुत सी भाषाएँ ऐसी हैं जिनका प्रयोग मातृभाषा एवं स्वभाषा दोनों ही रूपों में किया जाता है किंतु बहुत सी भाषाएँ ऐसी हैं जहाँ मातृभाषा और स्वभाषा में तात्त्विक अंतर होता है। जिन भाषाओं का प्रयोग मातृभाषा के रूप में सामान्यतया होता है उनकी शिक्षण प्रणाली उन भाषाओं से कुछ अन्य प्रकार की होती है जो स्वभाषा के रूप में तो प्रयुक्त होती हैं पर तथाकथित मातृभाषा के रूप में जिनका प्रयोग प्रायः नहीं होता अथवा बहुत सीमित समुदाय द्वारा या बहुत सीमित संदर्भ में ही होता है। यहाँ मातृभाषा एवं स्वभाषा के सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट कर देना असंगत न होगा। मातृभाषा से तात्पर्य, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, उस भाषा से है जिसे बच्चा बोलने की कला सीखने के समय से ही सीखने लगता है तथा जिससे उसका साक्षात्कार अपने घर तथा निकट के वातावरण में होता रहता है। इसी भाषा में उसके घर के प्राणी तथा निकटवर्ती भौगोलिक परिवेश के अन्य प्राणी अपने विचार-विनिमय करते हैं तथा एक सीमा तक जिसका प्रयोग उन समस्त सामाजिक क्रिया-कलापों के लिए किया जाता है जो उसके दैनंदिन जीवन से संबद्ध हैं। मातृभाषा का प्रयोग, इस प्रकार, अपेक्षाकृत कम औपचारिक परिवेश में किया जाता है। दूसरी ओर स्वभाषा का प्रयोग अन्य औपचारिक परिवेशों में शिक्षा के माध्यम के रूप में तथा बृहत्तर सामाजिक दायरों में किया जाता है। स्वभाषा शासकीय एवं अर्द्धशासकीय कार्यों, संप्रेषण के माध्यमों, राज-

नीतिक क्रिया-कलापों एवं उच्चतर सांस्कृतिक कार्यों में व्यवहृत होती है। कुछ भाषा क्षेत्रों में मातृभाषा का स्थान स्वभाषा की अधस्तल (सबस्ट्रेटम) भाषा के रूप में होता है जब कि अन्यत्र मातृभाषा एक स्वतंत्र बोली—भौगोलिक अथवा सामाजिक— के रूप में व्यवहृत होती है और स्वभाषा से इस प्रकार संबंधित रहती है कि उसी का एक अंग बन जाती है। सामान्यतः बोलनेवाला दोनों को एक ही भाषा के दो रूप समझता है। इस प्रकार की स्थितियों में प्रायः यह भी देखा गया है कि संप्रेषण की प्रक्रिया एकपक्षीय ही रहती है अर्थात् मातृभाषाभाषी तो स्वभाषा को समझ लेता है (यद्यपि बोलना कठिन होता है और बिना स्वभाषा सीखे उसका बोलना संभव नहीं होता), पर स्वभाषाभाषी उस क्षेत्र की मातृभाषा को नहीं समझ पाता (और बोलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता)। इस संदर्भ में हिंदी पर विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। समस्त हिंदीभाषी क्षेत्र में भाषा के दो रूपों का प्रयोग होता है। एक तो वह रूप है जिसे क्षेत्रीय बोली कहा जाता है, और जो वास्तविक मातृभाषा के रूप में व्यवहृत होता है। दूसरा रूप हिंदी का वह मानक रूप है जिसका प्रयोग शासकीय एवं अर्द्धशासकीय क्रियाकलापों, राजनीतिक भाषणों, चुनावों के प्रचार (इसमें सुविधानुसार दोनों का व्यवहार होता है), वाणिज्य तथा अन्य व्यवसायों के लिए और शिक्षा के माध्यम एवं जन माध्यम के रूप में होता है। हिंदी, वृहत्तर संदर्भ में, मातृभाषा एवं स्वभाषा दोनों ही रूपों में व्यवहृत होती है। सांस्कृतिक क्रियाकलाप एवं विचार-विनिमय के लिए परिवेशानुसार दोनों का ही प्रयोग होता है, पर अधिकांश रूप में हिंदी का ही प्रहोग होता है। वास्तव में प्रस्तुत विचार-विमर्श के लिए स्वभाषा को राज्य-भाषा के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। क्षेत्रीय विभिन्नताओं से ऊपर उठकर प्रतिष्ठा की भाषा होने के कारण जो मानक भाषा राज्य-भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है उसे उन समस्त बोलियों के बोलने वालों की सहमति तथा उनका समर्थन प्राप्त होता है जो मानक भाषाभाषी क्षेत्र के अंतर्गत व्यवहृत होती हैं। अस्तु।

भारत के कई राज्यों की राज्यभाषा होने के साथ-साथ हिंदी भारतीय संघ की राजभाषा भी है। संघ की राजभाषा के रूप में इसका दायित्व संघ की अनेक तत्त्व मिश्रित संस्कृति के तत्वों की संप्रेषिका भाषा के रूप में अत्यधिक बढ़ जाता है। भारत के भीतर यह मातृभाषा, स्वभाषा तथा अपरभाषा तीनों ही रूपों में प्रतिष्ठित है और तीनों ही रूपों में इसके अध्ययन एवं अध्यापन की आवश्यकता और आवश्यकता की पूर्ति का अनुभव किया जा रहा है। तीनों रूपों में इसके अध्ययन और अध्यापन की दिशा में स्तुत्य प्रयास हो, रहे हैं। इन प्रयासों के दौरान इसकी क्षमता में वृद्धि भी हो रही है तथा इसके अखिल भारतीय रूप के निखार की दिशा में कुछ दृढ़ मान्यताएँ पैदा हो रही हैं। इन तीनों ही रूपों में हिंदी शिक्षण एवं सीखने में तीन प्रकार की समस्याएँ, तीन प्रकार की प्रणालियाँ और तीन प्रकार के दृष्टिकोण अपनाए जाने चाहिए, और अपनाए जा रहे हैं। इस दिशा में प्राप्त उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता, चाहे वे यथोचित मात्रा में भले ही न हों। इन तीनों रूपों के अतिरिक्त हिंदी का एक और रूप बड़ी क्षिप्रता से उभरता जा रहा है, और वह है विदेशी भाषा के रूप में हिंदी। अंतर्राष्ट्रीय जीवन में भारत की बढ़ती हुई गतिविधियों तथा विशाल देश की राजभाषा होने के कारण देश के बाहर भी हिंदी सीखने की दिशा में दिनों-दिन प्रगति होती जा रही है। भारतेतर देशों में भारतीय जीवन को समझने, भारतीय संस्कृति के अभेद्य दुर्ग में प्रवेश पाने, भारतीय

जन-मानस की प्रक्रियाओं को परखने तथा भारत की राजनीतिक विचार-पद्धति को समझने आदि की दृष्टि से हिंदी का मूल्य अत्यधिक बढ़ता जा रहा है। परिणाम-स्वरूप विश्व के लगभग समस्त समुन्नत देशों में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन का प्रचलन हो रहा है और सामान्य बोलचाल की हिंदी के स्तर से लेकर विश्वविद्यालयों के उच्चतम स्तर तक की हिंदी के अध्यापन की व्यवस्था होती जा रही है। जिस प्रकार देश के भीतर भाषा के विभिन्न रूपों में हिंदी-शिक्षण के लिए नई प्रणालियां एवं नए पाठ्यक्रमों का निर्माण किया जा रहा है और हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए अल्पकालीन तथा गहन पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जा रही है, जिससे सीखनेवालों को अत्यल्प काल में अत्यधिक भाषाई क्षमता प्रदान की जा सके; उसी प्रकार विदेशों में भी सफल प्रयास जारी हैं और हिंदी सीखनेवालों की संख्या में प्रति वर्ष कल्पनातीत रूप में वृद्धि हो रही है। अपर भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण एवं अध्ययन की समस्याओं, प्रक्रियाओं तथा अन्य आनुषंगिक विषयों पर अन्य निबंध में चर्चा की गई है।[2] प्रस्तुत निबंध में विदेश में हो रहे हिंदी अध्ययन और अध्यापन के बारे में कुछ विचार किया जाएगा। विषय बहुत बड़ा है और उसका समुचित आकलन एक लघु निबंध में संभव नहीं है फिर भी विदेशी भाषा के रूपमें हिंदी को समझने का एक आधार प्रस्तुत किया जाएगा। निम्नलिखित पृष्ठों में भाषाशिक्षण एवं सीखने की कला को दृष्टि में रखकर कुछ ऐसी बातें की जाएँगी जो हिंदी की अपनी प्रकृति के भीतर हैं तथा जिन्हें विदेशियों तक पहुँचाना कठिन है। विदेशियों को हिंदी सीखने में किस प्रकार की तथा किन-किन अवस्थाओं में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं तथा उन्हें हल करने की दिशा में किन-किन बातों की अपेक्षा है, आदि विषयों का भी यथास्थान संकेत करने का प्रयास किया जाएगा।

2

भाषा सीखना स्वयं में किसी समस्या के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए वरन् यह तो कतिपय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। भाषा सीखने की प्रक्रिया एक आदत का निर्माण करती है और उस आदत को सक्रिय बनाती है। सीखने की प्रक्रिया को अभ्यास की दशाओं में होने वाली क्रियमाणता (परफार्मेन्स) में परिवर्तन के नाम से पुकारा जा सकता है। अभ्यास काल में सीखने वाले को नियंत्रित परिवेश, तथा नियंत्रित सामग्री पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कराया जाता है। इस परिवेश को आदर्श बनाने का प्रयत्न किया जाता है जिसमें अधिकतम क्षिप्रता, क्षमता, दक्षता एवं सुविधा के साथ सीखने की क्रिया पूरी कराई जा सके।

सीखने की प्रक्रिया में ही विद्यार्थी को परोक्ष रूप से यह आदत पड़ जाती है कि वह लक्ष्य भाषा की रचना एवं प्रयोग-प्रक्रिया को इस प्रकार स्वाभाविक रूप से आत्मसात् कर ले कि यह आदत स्वभाषा संबंधी आदतों की भाँति नैसर्गिक बन जाए। सीखने वाले ने यदि यही देखा है कि भाषा कैसे व्यवहृत होती है तो उसका सीखना अधूरा कहा जाएगा। भाषा सीखने की जटिल प्रक्रिया में सीखनेवाला नई भाषा को इस रूप में सीखना चाहता है जिससे कि वह स्वभाषी की क्षमता प्राप्त कर सके ताकि वह स्वभाषियों के साथ प्रत्यक्ष रूप में विचार-विनिमय कर सके तथा उनकी संस्कृति एवं साहित्य का भी अध्ययन कर सके। इस प्रकार की सीखने

की प्रक्रिया में कान और जिह्वा, आँख और हाथ सबका उपयोग करना पड़ता है, उन अर्थों को सीखना पड़ता है जो नए संदर्भ में उपयुक्त होते हैं। मैंने अन्यत्र यह कहा है कि भाषा एक सर्वाधिक जटिल क्रिया है और इसे सर्वांगीण रूप में ही सीखा जा सकता है। इसके सीखने में स्नायविक शिराओं के साथ-साथ मांस-पेशिक शिराएँ भी संवद्ध होती हैं। इसके तीन पक्ष—मनोवैज्ञानिक, अंतर्वैयक्तिक एवं सांस्कृतिक—होते हैं। ये भाषा के सीखने और प्रयोग दोनों में ही अविभाज्य रूप में वर्तमान रहते हैं। भाषा को सर्वांगीण रूप से सीखने से तात्पर्य है उसके प्रत्येक अंग-रूप और रचना दोनों को सीखना [3]। विदेशी भाषा के अध्यापक के सामने कई समस्याएँ आ जाती हैं जिनका निराकरण उसे कार्यारंभ करते समय ही ढूंढ लेना पड़ता है। कुछ ऐसी भी समस्याएँ होती हैं जिनका प्रारंभ से ही समाधान प्रस्तुत करना पड़ता है और उनको रोकना भी पड़ता है। इस क्रिया के सफल क्रियान्वयन के लिए अध्यापक को कई आनुषंगिक विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित करना पड़ता है। ये विषय होते हैं: (क) विदेशी भाषा सीखने का उद्देश्य क्या है: संप्रेषण का माध्यम, साहित्य का अध्ययन, संस्कृति का ज्ञान, अनुवाद कार्य, मौखिक कार्य-कलापों के माध्यम के रूप में भाषा का प्रयोग आदि, (ख) भाषा का किस रूप में और किस आधार पर अध्यापन किया जाए, (ग) सीखनेवाले की स्वभाषा क्या है, (घ) सीखनेवाल की स्वभाषा (स्रोतभाषा) तथा विदेशी भाषा (लक्ष्य भाषा) के व्यतिरेकी अध्ययनों के आधार पर दोनों की समानताओं एवं असमानताओं का पूर्वनिर्धारण तथा पाठ्य-विंदुओं का स्थिरीकरण, (ङ) भाषा सीखनेवाले का आयु-समुदाय (च) सीखनेवाले का सामाजिक एवं सांस्कृतिक समुदाय: विद्यार्थी जो अध्यापन, सांस्कृतिक अधिकारी, वाणिज्य, तकनीकी आदि क्षेत्रों में कार्य करना चाहते हों, (छ) उपलब्ध समय तथा (ज) सानुकूल परिस्थिति आदि, ये कुछ ऐसी बातें हैं जिनका ध्यान विदेशी भाषा के अध्यापक को रखना पड़ता है और उनको ही दृष्टि में रखकर वह इस महत् उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में सुनियोजित ढंग से अग्रसर होता है। इन बातों के सफल आकलन के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अध्यापक की गति (क) भाषा-शिक्षण प्रक्रिया, (ख) स्रोतभाषा एवं लक्ष्यभाषा के सम्यक् व्यावहारिक ज्ञान (ग) स्रोत भाषा एवं लक्ष्य भाषा की संरचना तथा (घ) अध्यापन-मनोविज्ञान में भली प्रकार से हो। इन सबकी पृष्ठभूमि में विदेशी भाषा का अध्यापक सीखनेवाले में उसकी अनुभूति की सीमाओं के भीतर लक्ष्य भाषा की रचना-प्रणालियों एवं व्यवहार-प्रणालियों को स्थापित करेगा जिसमें लक्ष्य भाषा की प्रणालियाँ ही नहीं वरन् उनसे संवद्ध मानसिक प्रक्रियाएँ भी स्रोत भाषा के समान ही स्थान प्राप्त करेंगी। इससे लक्ष्य भाषा में भी स्रोत भाषा जैसी आदतों का निर्माण होगा और सीखनेवाला समग्र रूप में भाषा की संपूर्ण इकाई को सीखता चलेगा। यों अध्यापन करते समय प्रत्येक कदम पर अध्यापक का एक ही लक्ष्य रहेगा पर परोक्ष रूप में अन्य आनुषंगिक अवयव भी सामने आते रहेंगे और सीखनेवाले के अवचेतन मन में अपना स्थान बनाते जाएँगे। भाषा-शिक्षण (विदेशी भाषा-शिक्षण) तथा भाषा सीखने के सैद्धांतिक पक्ष पर इससे अधिक कहना प्रस्तुत संदर्भ में अप्रासंगिक होगा। यहाँ भाषाशिक्षण की विभिन्न प्रणालियों के विषय में, जो सीखनेवाले की आवश्यकता एवं पृष्ठभूमि के आधार पर अपनाई जाती हैं, एवं समुदाय विशेष की आवश्यकतानुसार पाठ्यसामग्री के निर्माण एवं निर्धारण तथा शिक्षण संबंधी अन्य तकनीकों आदि के बारे में भी कुछ कहना अधिक प्रासंगिक न होगा। इस

लघु सैद्धांतिक पूर्वपीठिका के परिप्रेक्ष्य में विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण तथा हिंदी सीखने की कुछ समस्याओं पर यथाक्रमिक रूप में विचार करना विषय को समझने में ज्यादा सहायक होगा। साथ ही इस विषय पर और विचार करने के लिए कुछ प्रेरणा भी प्रदान करेगा।

3

विदेशी भाषा के रूप में हिंदी पर विचार करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम हिंदी की स्वन-व्यवस्था पर जाता है। यहाँ सुविधा की दृष्टि से हम हिंदी को लक्ष्य भाषा और अंग्रेज़ी को स्रोत भाषा के रूप में लेंगे[4]। हिंदी की स्वन-व्यवस्था के अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित तथ्य विशेष रूप से सामने आते हैं।

(1) हिंदी स्वरों (अ, इ और उ) के ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूप प्राप्त होते हैं।[5]

(2) एक शब्द के भीतर, एक ही दीर्घ स्वर एकाधिक बार, या एकाधिक दीर्घ स्वर आ सकते हैं।

(3) सिद्धांततः ये सभी स्वर शब्द की सभी स्थितियों में पाए जाते हैं। यद्यपि कुछ स्वरों की अंत्य स्थिति की बारंबारता अत्यंत ही सीमित है।

(4) सिद्धांततः सभी स्वरों के अनुनासिक रूप मिलते हैं और ये शब्द की सभी स्थितियों में आते हैं (इनमें भी कुछ स्वरों की उपस्थिति शब्द की स्थिति विशेष में अत्यंत सीमित है)।

(5) हिंदी से में ऐ और औ सिद्धांततः तथा मानक हिंदी में मूलस्वर (Mono-Vowel) के रूप में हैं।

(6) हिंदी के समस्त स्पर्श तथा स्पर्शसंघर्षी व्यंजनों के अघोष, सघोष, अल्पप्राण तथा महाप्राण रूप उपलब्ध हैं जो शब्द की प्रत्येक स्थितियों में पाए जाते हैं।

(7) हिंदी में मूर्धन्य व्यंजन भी पाए जाते हैं जिनमें स्पर्श और उत्क्षिप्त दोनों सम्मिलित हैं।

(8) हिंदी में चार अनुनासिक व्यंजन स्वनिम पाए जाते हैं।[6]

(9) हिंदी में शब्द की कुछ स्थितियों में म, न, ल, र तथा ड़ के महाप्राण रूप भी पाए जाते हैं।[7]

(10) हिंदी में दो अर्धस्वर य और व पाए जाते हैं जो उच्चारण की दृष्टि से स्वरों की भाँति किंतु कार्य की दृष्टि से व्यंजनों की भाँति हैं।

(11) फ़ारसी और अरबी से गृहीत शब्दों के द्वारा हिंदी की स्वन-व्यवस्था में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ स्वन आ गए हैं जिनकी स्थिति सीमांत स्वनिम की बन गई है। फारसी और अरबी से गृहीत शब्दों में इनका प्रयोग मानक हिंदी में प्रायः होता है।

(12) हिंदी में एक ही बलाघात होता है जो प्राय: शब्द के उपांत्य, अथवा दीर्घ अक्षर पर होता है ।

(13) हिंदी के ह् स्वनिम के परिवेश में आने वाले स्वरों के मूल्य मौखिक भाषा में बदल से रहे हैं ।

(14) हिंदी लिपिचिह्नों में उपस्थित अ स्वन का सर्वदा उच्चारण नहीं होता ।

उपर्युक्त में से 13 और 14 का संबंध हिंदी की अक्षरौटी और उनके उच्चारण से संबंधित हैं । स्वन-व्यवस्था से उनका सीधा संबंध नहीं है । वास्तव में ये स्वन-व्यवस्था को किसी रूप में प्रभावित भी नहीं करते ।

हिंदी स्वन-व्यवस्था की उपर्युक्त विशिष्टताओं के परिप्रेक्ष्य में आइए, उन समस्या-बिंदुओं का आकलन करें जो अँग्रेज़ीभाषी शिक्षार्थी के लिए कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं । हिंदी के अनुनासिक स्वरों का तथा एक ही शब्द में आने वाले एकाधिक दीर्घ स्वरों का उच्चारण अँग्रेज़ीभाषियों के लिए थोड़ी कठिनाई उपस्थित करते हैं। ऐ और औ का उच्चारण भी मूलस्वर के रूप में उनके लिए कठिन होता है। यह बात नहीं है कि इन स्वरों का अँग्रेज़ी में नितांत अभाव है, फिर भी इन के उच्चारण में थोड़ी कठिनाई होती है और सही उच्चारण सीखने में अपेक्षाकृत ज्यादा समय लगता है । स्वरों से ही संबंधित होता है—हिंदी के बलाघात का प्रश्न । इन उच्चारणों पर यदि प्रारंभ से ही सतर्कतापूर्वक ध्यान दिया जाए तो इन पर आसानी से अधिकार प्राप्त किया जा सकता है ।

अँग्रेज़ीभाषी को हिंदी के व्यंजनों के उच्चारण में सर्वाधिक कठिनाई होती है । हिंदी के महाप्राण व्यंजन इकाई स्वनिम हैं । अँग्रेज़ी के अघोष स्पर्श शब्द की आद्य स्थिति में जब भी अकेले आते हैं तो उनका महाप्राणत्वयुक्त उच्चारण होता है । यद्यपि यह महाप्राणता हिंदी की महाप्राणता से निर्बल होती है फिर भी शब्द की प्रारंभिक स्थिति में अघोष महाप्राण व्यंजनों का उच्चारण करने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं होती । शब्द की अन्य स्थितियों में तथा सघोष स्पर्शों के महाप्राण रूपों के साथ यह कठिनाई बनी रहती है । हिंदी में सभी महाप्राण स्पर्श तथा स्पर्श-संघर्षी स्वन शब्द की तीनों स्थितियों—आदि, मध्य और अंत में पाए जाते हैं। इसी प्रकार हिंदी के दंत्य और मूर्धन्य व्यंजनों के उच्चारण भी उनके लिए कठिनाइयाँ पैदा करते हैं । हिंदी के अर्धस्वर भी थोड़ी कठिनाइयाँ पैदा करते हैं । ये कठिनाइयाँ ऐसी हैं जिनपर यदि प्रारंभ से ही ध्यान दिया जाए तो बड़ी आसानी से हल हो जाती हैं ।

हिंदी और अँग्रेज़ी की स्वन-व्यवस्था के व्यतिरेकी अध्ययनों के आधार पर इन समस्याओं का आकलन पाठ्यसामग्री के निर्माण के समय ही कर लिया जाता है और अध्यापक को भी इसका ज्ञान करा दिया जाता है। अध्यापक इनके उच्चारण के सैद्धांतिक पक्षों को स्रोतभाषा के उदाहरणों की सहायता से समझाता है और फिर बराबर इस बात का ध्यान रखता है कि शिक्षार्थी इन के उच्चारण पर स्वभाषा जैसा ही अधिकार प्राप्त कर लें। इसी प्रकार की समस्याएँ क़ ख़ और ग़ के उच्चारणों के संबंध में आती हैं। इनमें से अधिकांश

समस्याओं का कारण स्रोत-भाषा में इन तत्वों का अभाव है। कोई भी व्यक्ति नई भाषा के अपरिचित स्वनों को स्वभाषा के निकटतम स्वनों द्वारा स्थानापन्न करने की कोशिश करता है। शिक्षार्थी के इस प्रयास को बढ़ावा न देकर प्रारंभ से ही उसे सही उच्चारण की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। बहुत से अँग्रेज़ीभाषी जब हिंदी बोलते हैं तो—

खाना	को	क्हाना
भाभी	को	व्हावी या व्भावी
साड़ी	को	सारी
लड़का	को	लर्का
तट	को	टट्
महाभारत	को	महावराता, महवारत्

आदि रूपों में उच्चारित करते हैं। इसी प्रकार **राजाओं** का **राजाओन्** या **रजाओं**, आँख का आन्क्ह या आन्ख भी हो जाता है। भाषा-शिक्षक अपने धैर्य और शिक्षार्थी अपने सतत अभ्यास के द्वारा इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में सफल हो सकता है। यह अपेक्षा तो नहीं की जा सकती कि शिक्षार्थी का दल शत-प्रतिशत स्वभाषी जैसी उच्चारण-क्षमता प्राप्त कर ले पर लगभग सत्तर प्रतिशत से ऊपर शिक्षार्थी इनका उच्चारण सही प्रकार से करने लग जाते हैं। इन कठिनाइयों को सरल बनाने के लिए शिक्षण-सामग्री में ऐसे उच्चारण अभ्यासों को रखना पड़ता है जिनके द्वारा शिक्षार्थी दो तत्वों का अंतर समझ सके। उच्चारण के लिए, इसीलिए भेदक अभ्यासों और पहचान अभ्यासों का प्रयोग करना पड़ता है। उदाहरण के लिए क और ख की उच्चारण भिन्नता समझाने के लिए इस प्रकार के युग्म दिए जा सकते हैं —

काना : खाना, कोना : खोना, आँक : आँख या ब तथा भ के अंतर लिए **बला : भला, बाल : भाल, बाला : भाला, बोला : भोला, बात : भात, दाब : दाभ,** अथवा त और ट के लिए **तल : टल, ताल : टाल, ताली : टाली, तेरा : टेरा, रेत : रेट, गोता : गोटा** और इसी प्रकार ह्रस्व एवं दीर्घ स्वरों या मौखिक एवं अनुनासिक स्वरों, ए तथा ऐ, ओ तथा औ के भी भेदक युग्म प्रस्तुत करके शिक्षार्थी को उच्चारण का अभ्यास कराया जा सकता है। इस प्रकार **कम : काम, कणों : काणों, बल : बला, इस : ईश, जाति : जाती, सुत : सूत, कुल : कूल, बेल : बैल, मेल : मैल, ओर : और, बोना : बौना, बास : बाँस, जाए : जाएँ, है : हैं,** जैसे उच्चारण-अभ्यासों को विभिन्न प्रकार के युग्मों में व्यवस्थित करके इनके उच्चारणों का सही ढंग से अभ्यास कराया जा सकता है। यदि शिक्षार्थी के मस्तिष्क में यह भेदक तत्व बैठ जाएगा तो वह ठीक और शुद्ध उच्चारण का प्रयास ही नहीं करेगा वरन् ठीक और शुद्ध उच्चारण करने भी लग जाएगा।

इसी संदर्भ में हिंदी लेखन अर्थात् हिंदी के लिए प्रयुक्त देवनागरी लिपि पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा क्योंकि लिपि सीखने के बाद विद्यार्थी

के सामने उच्चारण की कुछ और समस्याएँ आती हैं जो हिंदी के लिखित और उच्चारित रूपों में विसंगति के कारण उठती हैं। यों विदेशी भाषा की लिपि का ज्ञान कभी-कभी आवश्यक नहीं होता। ऐसा उस समय होता है जब सीखने का उद्देश्य मात्र मौखिक विचार-विनिमय होता है। फिर भी भाषा—विदेशी या स्वदेशी—के शिक्षण काल में शीघ्र ही वह अवस्था आती है जब विद्यार्थी को लक्ष्य-भाषा की लेखन-प्रणाली भी सीखनी पड़ती है। प्रायः यह लेखन प्रणाली स्रोत भाषा से भिन्न होती है और प्रस्तुत संदर्भ में तो वह बिल्कुल ही भिन्न है। देवनागरी लिपि सिखलाते समय दो प्रकार की बातें दिमाग में आती हैं—(क) लिपि को वर्णमाला में दिए हुए पारंपरिक क्रम से सिखाया जाए, अथवा (ख) लिपि चिह्नों को आकृति-साम्य के आधार पर विभिन्न समूहों में वर्गीकृत कर लिया जाए और फिर सिखाया जाए। लघुतम प्रयासों एवं अत्यल्प काल में अधिकतम ज्ञान प्राप्ति के सिद्धांत की दृष्टि से लेखन सिखाने के लिए (ख) पद्धति ज्यादा उपादेय और लाभप्रद प्रतीत होती है। आकृतिसाम्य के आधार पर हिंदी के लिपि-चिह्नों को निम्न-लिखित सात वर्गों में रखा जा सकता है। यह वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से किया गया है जिसमें प्रथम चिह्न को आधार मानकर वर्ग के अन्य चिह्न सरलता से सीखे और सिखाए जा सकते हैं। ये हैं :

1– उ ऊ अ आ ओ औ (अं)

2– ग म भ झ र श स

3– प (ष) फ य थ ए ऐ (ण)

4– व ब क ख च ज (ञ)

5– न त ल ध घ त्र

6– ट ठ ढ ढ़ द छ (क्ष) (ऋ)

7– ड (ङ) ड़ इ ई ह

उपर्युक्त क्रम में लिपि-चिह्नों का वर्गीकरण करने से एक प्रत्यक्ष सुविधा यह दिखलाई पड़ती है कि प्रत्येक वर्ग का प्रथम चिह्न सिखा देने के पश्चात् अन्य चिह्न बड़ी आसानी से बिना अधिक प्रयास के सिखाए जा सकते हैं। लिपि-चिह्नों का ज्ञान कराने के पश्चात् उन्हें देवनागरी की वर्णमाला के क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे विद्यार्थियों को कोशादि की सहायता लेने में कठिनाई न हो। इसी के साथ उन चिह्नों को भी प्रस्तुत किया जा सकता है जिनके लिए दो रूप भाषा में प्रचलित हैं जैसे—

अ~अ; आ~आ ; ओ~ओ ; औ~औ

झ~झ ; ल~ल आदि

अंग्रेजी के लिपिचिह्न सदा एक ही आकार रखते हैं जबकि हिंदी के स्वर तथा व्यंजन दोनों ही एकाधिक आकार रखते हैं। अ के अतिरिक्त हिंदी के सभी स्वरों के मात्रा रूप (जो व्यंजनों के बाद आते हैं) होते हैं। इसी प्रकार व्यंजनों के भी दो रूप होते हैं जिनमें से दूसरा रूप व्यंजन-गुच्छों के प्रथम सदस्य के रूप में प्रयुक्त

होता है। इन चिह्नों को, जिनका स्रोतभाषा (अँग्रेजी) में कोई समानांतर नहीं मिलता, लिपि सिखाते समय विशेष रूप से सिखाना आवश्यक होता है। इनको सिखलाते समय उनके उच्चारण तथा लेखन में इनकी व्यावहारिक उपयोगिता को भी स्पष्ट करना तथा इनका अभ्यास कराना अपेक्षित होता है। यह निर्णय भी शिक्षक को दोनों भाषाओं की लेखन प्रक्रिया के व्यतिरेकी अध्ययनगत विश्लेषण के आधार पर लेना पड़ता है।

हिंदी की वर्णमाला आक्षरिक है अर्थात् प्रत्येक व्यंजन में एक स्वर (अ) अंतर्निहित रहता है। इस अंतर्निहित अ का दूसरे स्वर के पहले लोप हो जाता है। अंतर्निहित अ के उच्चारण की समस्या लिपि ज्ञान के पश्चात् पुन: उठती है जिसका समाधान हिंदी अक्षर-रचना के सैद्धांतिक विवेचन तथा वाचन के अभ्यास द्वारा किया जा सकता है। शब्दांत में तथा अक्षरांत में कुछ प्रकार की अक्षर संरचनाओं में अंतर्निहित अ का उच्चारण नहीं होता। इसी प्रकार ह लिपिचिह्न के परिवेश में आने पर भी अंतर्निहित अ का उच्चारण बदल जाता है। ये ध्यान देने योग्य हैं।

ऊपर के संक्षिप्त परिचय के संदर्भ में कुछ ऐसे तथ्य सामने आते हैं जिनका हिंदीभाषी के लिए तो विशेष महत्त्व नहीं होता किंतु अन्य स्रोत भाषाओं के संदर्भ में जब हम हिंदी को विदेशी भाषा या लक्ष्य भाषा के रूप में देखते हैं तो इनका महत्त्व बढ़ जाता है। स्वभाषा हमारे जीवन-क्रम में इतना घुल-मिल जाती है कि उसका सब कुछ अत्यंत नैसर्गिक लगता है और यदि किसी बोलने वाले में जरा भी स्खलन या सामान्य सी च्युति दिखलाई पड़ती है तो हमें वह उच्चारण खटकने लगता है और बोलनेवाले का अपरभाषी होना प्रकट होने लगता है या उसका अज्ञान प्रकट होता है। हिंदी की उच्चारण एवं लेखन संबंधी उन समस्त समस्याओं पर विचार करना और उनके साथ न्याय करना इस सीमा में संभव नहीं है जिनसे विदेशियों का साक्षात्कार होता है पर स्थूल बहि:रेखाओं के आधार पर उनकी कल्पना करना कठिन नहीं होगा। ये समस्याएँ उनके सामने भी आती हैं जो अपरभाषा के रूप में हिंदी सीखते हैं किंतु सांस्कृतिक परिवेश एवं भाषाई-क्षेत्र सान्निध्य के कारण समस्याओं की तीव्रता एवं गहनता के कुछ अंशों में कमी हो जाती है। किसी गलत चीज को सीखने की अपेक्षा उसे न सीखना ज्यादा श्रेयस्कर होता है। इसे यदि नियम मानें तो शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों ही से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रारंभ से ही अनिवार्यत: सतर्क रहें।

4

विदेशी भाषा के रूप में देखने पर हिंदी की व्याकरणिक रचना भी अँग्रेजी से काफ़ी भिन्न दिखलाई पड़ती है और इस भिन्नता के कारण समस्याएँ उपस्थित होती हैं। इन समस्याओं के लिए समाधान प्रस्तुत करते हुए हिंदी में दक्षता प्राप्त करने के लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता तो पड़ती ही है, साथ ही उन्हें समझने की भी आवश्यकता पड़ती है। अँग्रेजी स्रोत भाषा के संदर्भ में कुछ रूप और रचनाएँ अँग्रेजी में समानान्तर रचनाओं के अभाव के कारण शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों के लिए समस्या बन जाती हैं। इन समस्याओं पर संक्षेप में निम्न प्रकार से विचार किया जा सकता है और उनको हल करने के रास्ते ढूँढे जा सकते हैं। यहाँ इन समस्याओं के निराकरण की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जा सकता, जितने की अपेक्षा है बल्कि उनका संकेत भर किया जा सकता है।

अ. संज्ञा :

(1) हिंदी संज्ञा या तो पुल्लिग होती है या स्त्रीलिंग। सजीव वस्तुओं तथा प्राणियों के लिये तो लिंग-व्यवस्था प्राकृतिक लिंग के आधार पर ही है किंतु निर्जीव वस्तुओं एवं भाववाचक संज्ञाओं में लिंग-व्यवस्था काफी हद तक मनमानी है। उदाहरण के लिए—रास्ता पुल्लिग, राह स्त्रीलिंग, मार्ग पुल्लिग, सड़क स्त्रीलिंग।[8] अंग्रेज़ी से गृहीत शब्दों में रोड स्त्रीलिंग, हाइवे पुल्लिम। यद्यपि इन सभी शब्दों में अर्थसाम्य है।

(2) शब्दों का रूप देखकर उनका लिग समझना कठिन होता है। यद्यपि आकारांत संज्ञाओं को पुल्लिग और ईकारात को स्त्रीलिंग के रूप में करके समझा जाता है किंतु इनके अपवाद नियम के अंतर्गत आने वाले रूपों से अधिक हैं: माँ, माता, जनता, भाषा, मानवता आदि स्त्रीलिग हैं, जबकि भाई, हाथी, दही, जी, घी, आदि पुल्लिग हैं।

(3) इस गड़बड़ी को ध्यान में रखकर मैं संज्ञाओं की ये श्रेणियाँ पसंद करता हूँ, (क) 'लड़का' प्रकार की (पुल्लिग) संज्ञाएँ, (ख) 'पत्र' प्रकार की (पुल्लिग) संज्ञाएँ, (ग) 'लड़की' प्रकार की (स्त्रीलिग) संज्ञाएँ, तथा (घ) 'पुस्तक' प्रकार की (स्त्रीलिग) संज्ञाएँ, तथा (ङ) 'गुड़िया' प्रकार की (स्त्रीलिंग) संज्ञाएँ। इस प्रकार का वर्गीकरण संज्ञाओं के कार्य और प्रयोग दोनों को समझने में सहायता करता है तथा संज्ञा का लिग ज्ञात होने पर उसे आसानी से श्रेणी विशेष में संबद्ध किया जा सकता है।

(4) वाक्य के अंतर्गत हिंदी संज्ञाओं के दो रूप पाए जाते हैं: (च) वह रूप जो विना किसी परसर्ग के प्रयुक्त होता है तथा जिसे अविकारी कारक कहते हैं; (छ) वह रूप जो परसर्गों के पूर्व आता है और जिसे विकारी कारक कहते हैं।

(5) इन प्रयोगों के आधार पर किसी भी संज्ञा के अधिकतम चार रूप: अविकारी एकवचन व बहुवचन तथा विकारी एकवचन व बहुवचन पाए जाते हैं।

(6) इन रूपों के अतिरिक्त संवोधन के एकवचन व बहुवचन के रूप भी मिलते हैं।

(7) कारकीय अर्थों और संबंधों के लिए हिंदी में विभिन्न परसर्गों का प्रयोग किया जाता है। ये परसर्ग संज्ञा के विकारी रूपों के वाद प्रयुक्त होते हैं।

(8) पदबंध अथवा वाक्य के अंतर्गत विशेषण या क्रिया से संज्ञा के लिंग का पता चलता है।

अँग्रेज़ी संज्ञाओं के साथ यह समस्या नहीं है क्योंकि वहाँ लिंग-व्यवस्था बहुत हद तक प्राकृतिक लिंग का अनुसरण करती है। दोनों ही भाषाओं में एकवचन तथा बहुवचन दो वचन पाए जाते हैं। क्रिया की अन्विति दोनों में कर्ताकारक के साथ होती है। हिंदी में यह अन्विति लिंग-वचन दोनों की होती है, जब कि अँग्रेज़ी में लैंगिक अन्विति का प्रश्न नहीं उठता। अँग्रेज़ी संज्ञा के एकवचन व बहु-वचन दो ही रूप मिलते हैं जिनका प्रयोग सभी कारकीय रूपों में होता है।

हिंदी में परसर्गों के पूर्व होने वाले संज्ञा के रूप-परिवर्तन अँग्रेजी भाषी के लिए सर्वथा नवीन जान पड़ते हैं क्योंकि अँग्रेज़ी में पूर्वसर्गों के साथ भी संज्ञा का वही रूप रहता है जो उनकी अनुपस्थिति में रहता है। हिंदी के संबंधवाची परसर्ग भी पश्चगामी संज्ञा के अनुसार अपना लिंग और वचन (और पदबंधीय रचना में कारक) परिवर्तित करते हैं।

आ. विशेषण :

(1) हिंदी में विशेषण संज्ञा के पूर्व अर्थात् विशेष्य से पहले आते हैं। विधेय-विशेषण संज्ञा के पश्चात् आते हैं।

(2) विशेषणों के लिंग-वचन विशेष्य के अनुसार होते हैं।

(3) रूप अर्थात् आकृति के आधार पर विशेषणों की दो श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं :

(क) 'काला' प्रकार के विशेषण तथा (ख) 'लाल' प्रकार के विशेषण।

(4) 'काला' प्रकार के विशेषण विशेष्य के अनुसार लिंग- वचन और कारक ग्रहण करते हैं जिसके कारण उनकी आकृति में परिवर्तन होता है, और 'लाल' प्रकार के विशेषण सदा अपरिवर्तित रहते हैं। स्त्रीलिंग विशेष्य के साथ 'काला' प्रकार के विशेषणों का एक ही रूप सदा प्रयुक्त होता है।

अँग्रेज़ी में विशेषण का एक ही रूप हर प्रकार की संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त होता है। यहाँ विशेषण लिंग और वचन निरपेक्ष होता है तथा पूर्वसर्गों की उप-स्थिति अथवा अनुपस्थिति से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हिंदी विशेषण भी अँग्रेज़ीभाषी के लिए कुछ अपरिचित नवीनताएँ प्रस्तुत करते हैं।

इ. क्रिया :

संज्ञा और विशेषण की भाँति हिंदी क्रिया के अनेक पक्ष ऐसे हैं जो अँग्रेज़ी भाषी के लिए सर्वथा नवीन और समस्यामूलक बन जाते हैं। यहाँ संक्षेप में हिंदी क्रिया की प्रकृति की स्थूल बहिर्रेखाएँ इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं—

(1) हिंदी क्रिया या तो सकर्मक होती है या अकर्मक।

(2) हिंदी में वर्तमानकाल और भूतकाल का द्योतन प्राय: सहायक क्रिया की सहायता से किया जाता है; मुख्य क्रिया इनके द्योतन में सदा सक्षम नहीं हो पाती।

(3) क्रिया रूपों और उनके प्रयोगों के आधार पर हिंदी की अकर्मक क्रियाओं को इन पांच समुदायों में बांटा जा सकता है।[9]

(क) 'आना' प्रकार, जिससे कोई अन्य रूप नहीं बनाया जा सकता (ख) 'रोना' प्रकार, जिससे दोनों प्रेरणार्थक रूप प्राप्त किए जा सकते हैं, (ग) 'कटना' प्रकार जिससे तीन अन्य रूप—सकर्मक तथा दोनों प्रेरणार्थक रूप प्राप्त किए जा सकते हैं, (घ) 'गलना' प्रकार जिससे केवल दोनों प्रेरणार्थक रूप ही प्राप्त

किए जा सकते हैं; तथा (ङ) 'अखरना' प्रकार जिससे कोई अन्य रूप नहीं प्राप्त किया जा सकता। इनमें से (क) तथा (ख) प्रकार की क्रियाएँ कर्तरि तथा शेष कर्मणि या भावे धातु वाली हैं।

(4) क्रियाओं की आंतरिक रचना के आधार पर तीन प्रकार के क्रिया-प्रातिपदिक[10] हिंदी में पाए जाते हैं: (च) **साधारण प्रातिपदिक**—जिसकी रचना क्रिया की धातु या धातु+प्रेरणार्थक पद (प्रथम प्रेरणार्थक या द्वितीय प्रेरणार्थक) द्वारा होती है, (छ) **संयुक्त प्रातिपदिक**—जिसकी रचना साधारण प्रातिपदिक+आश्रित क्रिया की धातु द्वारा होती है (आश्रित क्रियाएँ संख्या में 17 के लगभग हैं) तथा (ज) **मिश्र प्रातिपदिक**—जिसकी रचना संज्ञा+साधारण या संयुक्त प्रातिपदिक द्वारा होती है।

इसके अतिरिक्त हिंदी में क्रिया-संयोग के इतने विभिन्न रूप उपलब्ध हैं कि शिक्षार्थी अपनी भाषा में उनके समानांतर रूप सदा नहीं पाता। क्रिया के इसी संदर्भ में हिंदी क्रिया के दो-चार उन पहलुओं का संकेत करना आवश्यक समझता हूँ जो अंग्रेज़ीभाषी के सामने हिंदी के विदेशीपन को और प्रखर कर देते हैं। इन समस्त समस्याओं का समाधान शिक्षक अथवा पाठ्य सामग्री अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं पर समस्याएँ तो हैं हीं। हिंदी क्रिया के इन पहलुओं पर मैंने अन्यत्र[11] अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया है। यहाँ उनमें से कुछ का संकेत भर करूँगा।

(5) हिंदी क्रिया का ता रूप इस दृष्टि से सर्वप्रथम विचारणीय है। इतना तो निर्विवाद है कि इस रूप से क्रिया की अपूर्णता का द्योतन होता है। इसमें काल संबंधी कोई अर्थ निहित नहीं है। सामान्यतया काल का द्योतन इस रूप के पश्चात् आनेवाली सहायक क्रिया द्वारा किया जाता है। सामान्यतया इससे दो अर्थ—अपूर्णता एवं वर्द्धमानता द्योतित होते हैं। इस संदर्भ में नीचे दिए हुए वाक्यों पर ध्यान दिया जा सकता है।

(क) वह गया। वह जाता था।
(ख) वह जाता था। वह जा रहा था।
(ग) वह जाता है। वह जा रहा है।

अंग्रेजी में 'जाता था' तथा 'जा रहा था' के लिए एक ही प्रकार के क्रिया रूप का प्रयोग होता है जो संदर्भानुसार दो अर्थ देता है। इसी प्रकार काल्पनिक प्रसंगों में –ता रूपों का सहायक क्रिया के बिना किया हुआ प्रयोग, जो अवास्तविकता का अर्थ देता है, तथा ऐतिहासिक विवरणों में–ता का सहायक क्रिया के बिना प्रयोग, जो आभ्यासिक कहलाता है, दूसरी प्रकार की समस्या का संकेत करते हैं।

(6) हिंदी क्रिया के–ता रूपों की ही भांति –ना रूप— क्रियार्थक संज्ञा वाले रूप—भी विचारणीय हैं। हिंदी में इन रूपों के बाद सहायक क्रिया **पड़ना** के रूप तथा **चाहिए** (और **चाहिए था**) का प्रयोग होता है। निम्नलिखित वाक्य इस परिप्रेक्ष्य में द्रष्टव्य हैं—

(घ) मुझे बाज़ार जाना है।

(ङ) मुझे बाज़ार जाना पड़ता है।

अँग्रेज़ी भाषा में इन दोनों ही स्थितियों के लिए एक ही संरचना का प्रयोग किया जाता है अतएव लक्ष्य भाषा के ये दो रूप शिक्षार्थी को भारी उलझन में डालते हैं।

(घ) वाक्य की ध्वनि आंतरिक बाध्यता और (ङ) वाक्य की बाह्य बाध्यता है।

(7) –ना रूप से संबद्ध चाहिए वाला रूप भी एक अन्य संदर्भ में उलझनें पैदा करता है। उदाहरणार्थ—

(च) क्या मुझे जाना चाहिए ?

(छ) क्या मैं जाऊँ ?

या

(ज) उसे अब जाना चाहिए।

(झ) वह अब जाए।

धरातलीय अर्थ में दोनों एक ही रूप में अँग्रेज़ी भाषा में व्यवहृत होते हैं पर सूक्ष्म अर्थों में इनमें पर्याप्त अंतर है। (च) तथा (ज) आदर्श स्थिति की घोषणा करते हैं जबकि (छ) तथा (झ) में अनुज्ञा या परोक्ष आदेश का भाव सन्निहित है।

(8) –ना रूपों से ही संपन्न –ने वाला रूप है। इससे ही उलझन पैदा होती है। नीचे के वाक्य पर गौर किया जाए :

(ञ) वह दूध बेचने वाला है।

यहाँ 'बेचनेवाला' के अर्थ हैं : (एक) बेचने की क्रिया में प्रवृत्त होने की संभावना, तथा (दो) बेचने की क्रिया का कर्त्ता। यह दूसरे प्रकार की समस्या है जहाँ स्रोतभाषा की दो रचनाएँ लक्ष्य भाषा की एक रचना में समाविष्ट हो गई हैं।

(9) कर्त्ता के साथ ने परसर्ग के पश्चात् क्रिया की अन्विति कर्म के साथ होती है और कर्म के अभाव में क्रिया की अन्विति किसी के साथ नहीं होती (क्रिया पुल्लिग एकवचन में रहती है)। जाना कर्मवाच्य का प्रयोग अकर्मक क्रियाओं के साथ शक्यताबोधक अर्थ देता है (जिसे कदाचित् भावे प्रयोग भी कहा जाता है)। इन रचनाओं से भी कुछ उलझनें पैदा होती हैं। इन रचनाओं के समानांतर रूप स्रोत-भाषा अँग्रेज़ी में तद्वत् उपलब्ध नहीं हैं।

(10) हिंदी के अपूर्णता एवं पूर्णताद्योतक कृदंतों का प्रयोग विशेषण तथा क्रियाविशेषण के रूप में किया जाता है। इनका यह प्रयोग कभी-कभी उलझन के साथ-साथ अस्पष्टता भी प्रगट करता है। नीचे का वाक्य देखिए :

(ट) सीता खाना बनाती हुई लड़की से बात कर रही थी।

ऊपर के वाक्य में बनाती हुई का कार्य तथा अर्थ काफ़ी उलझन भरे हुए हैं तथा अस्पष्ट हैं। यह वाक्य तीन प्रकार का अर्थ दे सकता है।

(ठ) सीता खाना बना रही थी और लड़की से बात कर रही थी।

(ड) सीता उस लड़की से बात कर रही थी जो खाना बना रही थी।

(ढ) सीता जब खाना बना रही थी तो उस लड़की से बात कर रही थी।

इसी प्रकार की अस्पष्टता पूर्णताद्योतक कृदंतों के साथ भी कभी-कभी रहती है।

(11) हिंदी क्रियाओं का चाहिए रूप भी उसका अपना और निराला रूप है तथा इसका प्रयोग अन्य—इए (विनम्र निवेदन) रूपों से सर्वथा भिन्न है। यह सदा एक ही रूप में रहता है (कुछ इसका बहुवचन चाहिएँ बनाते हैं पर वह अभी सर्वमान्य प्रयोग नहीं बन सका है) और वाक्य में संज्ञा या क्रियार्थक संज्ञा का अनुगमन करता है और इसके भोक्ता कर्ता के साथ को परसर्ग लगता है।

ई. अन्य :

(1) हिंदी में कारकीय संबंधों और अर्थों के द्योतन के लिए संज्ञा तथा सर्वनाम के साथ परसर्गों का प्रयोग किया जाता है। हिंदी के अधिकांश परसर्ग एवं परसर्गीय शब्दावली का प्रयोग क्रियाविशेषण के रूप में होता है जो वाक्य में परसर्गयुक्त शब्द के कार्य से द्योतित होता है। केवल एक परसर्ग-ने ही ऐसा है जो शुद्ध रूप से कारकीय परसर्ग के रूप में प्रयुक्त होता है और सदा कर्त्ता का द्योतन करता है। संबंधसूचक परसर्ग –का (के, की) का प्रयोग संबंध (तथा के का अधिकार) द्योतन के लिए किया जाता है। हिंदी परसर्ग अँग्रेज़ी के पूर्वसर्गों की ही भाँति कार्य करते हैं तथा दोनों में प्रकृतिगत साम्य भी पाया जाता है। केवल ने परसर्ग, जिसका प्रयोग सामान्यतया सकर्मक क्रियाओं के पूर्णताद्योतक कृदंतों के साथ किया जाता है, कुछ समस्या उत्पन्न करता है।

(2) हिंदी सर्वनाम अँग्रेज़ी सर्वनाम की ही भाँति प्रयुक्त होते हैं और दोनों में स्वभावगत साम्य है। हिंदी के अन्यपुरुष सर्वनामों का प्रयोग संकेतवाची विशेषण—निकटवर्ती एवं दूरवर्ती— के रूप में भी होता है। मध्यमपुरुष सर्वनामों में आप का प्रयोग काफी उलझनें पैदा करता है क्योंकि यह मात्र व्याकरणिक श्रेणी न होकर सामाजिक व्याकरण में घुसपैठ करता है और इसका प्रयोग सीखना अपेक्षाकृत कठिन होता है। इसी प्रकार तू और तुम का प्रयोग भी उलझन भरा प्रतीत होता है। उत्तम पुरुष बहुवचन हम का प्रयोग प्रायः एकवचन का द्योतन करने के लिए होता है। इसके साथ स्त्रियाँ प्रायः पुल्लिंग बहुवचन क्रिया का प्रयोग करती हैं। यह प्रयोग भी एकवचन का ही अर्थ द्योतित करता है। हिंदी के सभी सर्वनामों का वास्तविक बहुवचन लोग या सब का प्रयोग करके बनाया जाता है।

(3) हिंदी में आदर प्रदर्शित करने के लिए एकवचन (संज्ञा) कर्त्ता के साथ बहुवचन क्रिया का प्रयोग तथा उसी एकवचन संज्ञा के स्थान पर (अन्य पुरुष) बहुवचन सर्वनाम का प्रयोग भी किया जाता है। संज्ञाओं के साथ आदर-सूचक शब्द 'श्री', 'जी', 'साहब' आदि प्रयुक्त किए जाते हैं। यह तत्व भी अँग्रेज़ी स्रोत भाषा वाले शिक्षार्थियों के लिए अजनबी और इसलिए समस्यामूलक होता है।

(4) हिंदी के सहमति सपेक्षी (Presumptive) वाक्यों में अंत में आनेवाला न इसलिए समस्या उत्पन्न करता है कि यह निषेधवाची न से आकार-प्रकार में मिलता-जुलता है। ऐसी बात नहीं है कि अँग्रेज़ी में इस तत्व का अभाव है पर प्रयोग विधा दूसरी है। अतएव विदेशी भाषा के रूप में हिंदी सीखने अथवा सिखाने दोनों ही कार्यों में यह कठिनाई उत्पन्न करता है।

5

हिंदी की वाक्य-रचना अँग्रेज़ी की वाक्य-रचना से इस माने में अलग है कि जहाँ अँग्रेज़ी में प्राय: कर्त्ता, क्रिया तथा पूरक का शब्दक्रम रहता है वहाँ हिंदी में कर्त्ता, पूरक तथा क्रिया का शब्द क्रम रहता है। परिणाम यह होता है कि सिखाने की विधा में जरा भी चूक हुई नहीं कि वाक्य-रचना गड़बड़ हो जाती है। इस सामान्य भेद के अतिरिक्त हिंदी वाक्य-रचना की निम्न विशिष्टताएँ भी उसके विदेशीपन के संदर्भ में काफी महत्त्व रखती हैं।

(1) निर्वैयक्तिक वाक्यों का हिंदी में काफ़ी मात्रा में प्रयोग होता है। ये निर्वैयक्तिक वाक्य दो प्रकार से बनाए जाते हैं :

(क) कुछ वाक्य तो उस प्रकार की क्रियाओं से संपन्न किए जाते हैं जिन्हें कर्त्ता की आवश्यकता नहीं होती तथा ऊपर जिन्हें कर्मणि क्रियाएँ कहा गया है। उदाहरण के लिए पकना, बढ़ना, कटना, आदि। नीचे दिए गए इन वाक्यों पर गौर करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन वाक्यों में धरातलीय स्तर पर कर्त्ता अनुपस्थित है तथा क्रियाभाव ही ज्यादा मुखर है : 'खाना पक रहा है', 'बारिश में पौधे बढ़ते हैं,' 'पेड़ कट रहे हैं,' 'आलू उबल रहा है', 'मकान बन रहा है', आदि। (ख) इसके अंतर्गत वे भावे प्रयोग आते हैं जो अकर्मक क्रियाओं से जाना क्रिया के द्वारा कर्मणि रूपों में बदले जाते हैं। इन वाक्यों पर विचार कीजिए : 'अब अंदर चला जाए', 'अंदर आया जाए', 'कुर्सी पर बैठा जाए', 'अब थोड़ी देर सोया जाए', आदि। अँग्रेज़ी में (क) प्रकार की रचनाएँ तो मिलती हैं पर अंतर यह है कि क्रिया का एक ही रूप कर्मणि एवं कर्त्तरि दोनों प्रयोगों में प्रयुक्त किया जाता है जैसे, 'द मीट डज़ नॉट कुक वेल' (माँस अच्छी प्रकार नहीं पकता), 'शी डज़ नॉट कुक द मीट वेल' (वह माँस अच्छी तरह नहीं पकाती) आदि। इन रचनाओं में साम्य होते हुए भी कठिनाई की गुँजाइश है और कठिनाई पैदा भी होती है। जहाँ तक (ख) प्रकार की वाक्य-रचना का प्रश्न है, अँग्रेज़ीभाषी उसकी कल्पना ही नहीं कर पाता।

(2) हिंदी में एक और विशिष्ट प्रकार की वाक्य-रचना ऐसी है जो काफी समस्यामूलक है और वह है भोक्ता कर्त्ता के साथ बनने वाले वाक्य, जिन्हें

असाधारण प्रकार के वाक्य कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए—'मुझको पानी चाहिए', 'मुझको पढ़ना है,' आदि। यहाँ मुझको भोक्ता कर्त्ता है, किंतु कर्त्ता कारक नहीं है।

(3) हिंदी में अधिकार-प्रदर्शन करने वाले वाक्य तीन प्रकार से बनाए जाते हैं। इनसे भी शिक्षार्थी घबड़ाता है। इन पर विचार कीजिए : (ग) उसके पास किताब है। (घ) दशरथ के तीन रानियाँ थीं। (ङ) राम को सिरदर्द है या धोबी को बहुत काम है। इनसे यह आभास मिलता है कि (ग) सामान्यतया उन वस्तुओं के साथ प्रयुक्त होता है जो पदार्थवाची हैं तथा जिनको स्थानांतरित किया जा सकता है, (घ) उन प्राणियों (कभी-कभी वस्तुओं) के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो स्थानांतरित नहीं किए जा सकते तथा (ङ) विशिष्ट भाववाचक संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त होता है। अँग्रेज़ीभाषी जब एक तरफ़ यह पढ़ता है कि 'दशरथ को ये तीन रानियाँ हैं,' और दूसरी तरफ़ पढ़ता है कि 'दशरथ के तीन रानियाँ थीं,' तो उसकी अक्ल चकरा जाती है। इस तरह की भ्रांतियाँ स्वाभाविक हैं और विदेशी भाषा के रूप में हिंदी अँग्रेज़ीभाषी के लिए विकट समस्या उपस्थित करती है। इसी कारण वह 'राम को सिरदर्द है' के तर्ज़ पर 'राम को दो भाई हैं', जैसे वाक्य बना लेता है।[12] कभी-कभी ये वाक्य भ्रांतिमूलक भी होते हैं जिनके एकाधिक अर्थ बनते हैं जैसे (च) 'राम के पास एक कुत्ता है' वाक्य के दो अर्थ संभव हैं :—

($च_1$) वहाँ एक कुत्ता है और वह कुत्ता राम का है।

($च_2$) राम के निकट एक कुत्ता है।

इन समस्याओं को संदर्भ के आधार पर निपटाया जा सकता है पर पहले इन प्रयोगों पर अधिकार पाना आवश्यक है।

(4) हिंदी में प्रयुक्त होने वाले कुछ रूढ़ वाक्य, जिनके कुछ तत्त्वों की अनुपस्थिति वाक्य में सदा बनी रहती है और जिन्हें धरातलीय स्तर पर आसानी से स्पष्ट नहीं किया जा सकता, भी कम उलझन नहीं पैदा करते। कुछ वाक्य बानगी के लिए प्रस्तुत हैं।

'टामी और घीसू में गहरी छनती थी,' 'दोनों में खूब बैठती है,' 'उनमें आजकल अच्छी निभ रही है,' 'दोनों में अच्छी चली', 'उनमें खूब पटती है,' आदि। इन सभी वाक्यों में क्रिया सदा स्त्रीलिंग एकवचन में ही रहती है। ये प्रयोग तथा वाक्य रूढ़ हो गए हैं। इनकी एक अलग प्रकार की समस्या हैं।

(5) तथाकथित कर्मणि धातुओं की क्रियाओं से बनने वाले निम्न वाक्य भी हिंदी की अपनी वस्तु हैं जो विदेशी भाषा के रूप में हिंदी की जटिलता को और भी उलझा देते हैं। 'मुझसे फल नहीं कटता,' 'लड़की से रोटी नहीं सिकती', 'उससे बोझ नहीं उठता' आदि। इन्हीं वाक्यों से मिलता-जुलता जाना क्रिया के संयोग से बनाया गया कर्मवाच्य भी देखा जा सकता है। इन दोनों ही प्रकारों में एक प्रकार की 'शक्यता' का अर्थ निहित है, 'उससे नहीं चला जाता', 'बच्चे से नहीं रोया जाता,' 'मुझसे नहीं खाया जाता,' आदि। इस प्रकार की समस्याएँ कदम-कदम पर हैं जो विदेशी भाषा के रूप में हिंदी पर दृष्टिपात करने पर ज्यादा खटकती हैं और ज्यादा उलझनें पैदा करती हैं।

हिंदी की वाक्यगत विशिष्टताओं में से कुछ बहुत स्थूल बातों का संकेत यहाँ किया गया है। विदेशी भाषा के रूप में देखने और प्रयोग करने पर ये विकराल समस्याओं का रूप धारण कर लेती हैं। यों स्वभाषी के लिए ये तब तक कोई समस्या नहीं उपस्थित करतीं जब तक वह इनका विश्लेषण करने नहीं बैठता। उसे तो ये रचनाएँ, ये वाक्य तथा ये प्रणालियाँ दाय के रूप में मिली हैं जो उसकी हैं और जिनका वह प्रतिपल उपयोग करता है। यह बात दूसरी है कि वह इनके अर्थ तथा विश्लेषण अपेक्षित रूप में तथा अपेक्षित मात्रा में नहीं जानता पर ये उसके सामान्य भाषाई व्यवहार के अंग हैं तथा उसकी भाषाई आदत के अंग हैं।

6

ऊपर के संक्षिप्त परिचय में बहुत स्थूल रूप में हिंदी के उन गुणों और विशिष्टताओं को उजागर करने का प्रयास किया गया है जो विदेशी भाषा के रूप में हिंदी सीखने एवं सिखाने वाले के सामने आती हैं। इन विशिष्टताओं को देखने पर ऐसा लगता है कि अपर भाषा के रूप में भी हिंदी में ये समस्याएँ रहती हैं। अपरभाषा के रूप में हिंदी पर विचार करते समय संदर्भ सजातीय अथवा विजातीय भाषाओं का हो सकता है किंतु वृहत्तर सांस्कृतिक संदर्भ एक होने के कारण इन विशिष्टताओं में कमी वेशी हो सकती है तथा इनकी मात्राओं में कमी हो सकती है पर विदेशी भाषा को संदर्भ सांस्कृतिक संदर्भ का भी विदेशीपन उपस्थित करता है जिनमें सांस्कृतिक मूल्यों के साथ-साथ उन मूल्यों के द्योतक भिन्न होते हैं, उनकी प्रणालियाँ भिन्न होती हैं तथा उनके आर्थी संकेत भिन्न होते हैं। जैसाकि निबंध के प्रारंभ में इंगित किया गया है, भाषा सर्वांगीण रूप में सीखी जाती है जिसमें सांस्कृतिक मूल्य, उनके द्योतक और उनकी आर्थी परंपराएँ सब सन्निहित रहती हैं। विदेशी भाषा को इस वृहत्तर संदर्भ से बाहर खींचकर सीखने या देखने का अर्थ कुछ ऐसा हो जाता है जिसमें संकेत तो सीखे जाते हैं पर उन संकेतों के अभिप्रेत का सही प्रयोग नहीं सीखा जाता। परिणामस्वरूप प्रयोग की विधि और विधा का सीखना अपूर्ण रह जाता है। इस निबंध में भाषा द्वारा सांस्कृतिक संदर्भों के उद्घाटन की दृष्टि से शब्दों के प्रयोगों, उनके अर्थों तथा अभिप्रेत आर्थी संदर्भों की ओर संकेत नहीं किया गया है। ऐसा न करने से यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए कि प्रस्तुत संदर्भ में उसका महत्त्व नहीं है अथवा उसमें कोई समस्या नहीं है। यह प्रश्न एक स्वतंत्र निबंध की अपेक्षा करता है जिसपर फिर कभी विचार किया जाएगा। यह स्वयं में बहुत अहम प्रश्न है। उस क्रम में भाषा के सांस्कृतिक संदर्भों के साथ-साथ साहित्य को भी ध्यान में रखना अपेक्षित होगा जिससे समस्याओं को ठोस रूप में प्रस्तुत किया जा सके तथा अर्थवान् एवं सही परिप्रेक्ष्य में उनका मूल्यांकन किया जा सके। ये तत्त्व भाषा की प्रकृति, उसकी प्रतिभा तथा उसके छायार्थों को भी प्रस्तुत करते हैं। इन्हें भाषा के संपूर्ण सांस्कृतिक संदर्भ में सीखा जा सकता है। अस्तु।

ऊपर की संक्षिप्त वैचारिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखते हुए कुछ उन बातों पर विचार किया जा सकता है जिनका पालन करना अथवा जिनका अनुगमन करना विदेशी भाषा सिखाने के संदर्भ में लाभप्रद होता है और जिनके द्वारा इस प्रकार की विशिष्टताओं द्वारा प्रस्तुत समस्याओं का समाधान ढूँढ़ा जा सकता

है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम विचारणीय वस्तु है लक्ष्य-भाषा के पाठ्य-विंदुओं का निर्धारण और उनका स्थिरीकरण। पाठ्य-विंदुओं के निर्धारण से तात्पर्य यह है कि अध्यापन-ध्येय विशेष को दृष्टि में रखकर उन विंदुओं पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान केंद्रित करना जो स्रोतभाषा से भिन्न हैं अथवा जिनका स्रोत भाषा में अभाव है अथवा जिनका प्रयोग स्रोतभाषा से अलग प्रकार का होता है। ये पाठ्य-विंदु भाषा के प्रत्येक अंग के लिए स्थिर किए जा सकते हैं। पाठ्य-विंदुओं के निर्धारण में स्रोतभाषा की भूमिका इसलिए नहीं झुठलाई जा सकती कि उनका आकलन स्रोतभाषा के ही संदर्भ में किया जाता है। लक्ष्य भाषा एवं स्रोतभाषा के व्यतिरेकी अध्यायों के आधार पर उनके साम्य तथा वैषम्यों का विस्तारपूर्वक आकलन करके ही पाठ्य विंदुओं को स्थिर किया जाता है और स्थिर किया जा सकता है। व्यतिरेकी अध्ययन के लिए दोनों भाषाओं के विश्लेषण तथा प्रस्तुतीकरण के लिए सम्यक् मात्रा में सामग्री की अपेक्षा होती है। यदि अध्येता को इन भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो तो अध्ययन और भी अच्छा तथा लाभप्रद होता है। साम्य और वैषम्य का आकलन करने के पश्चात् पाठ्य-विंदुओं का कोटीकरण किया जाए और उन्हें अध्यापन-ध्येय में रखा जाए। पाठ्य विंदुओं के इस प्रकार से निश्चित कर दिए जाने से लक्ष्यभाषा की अधिकांश समस्याएँ सरलता से हल की जा सकती हैं।

पाठ्य-विंदुओं के निर्धारण में अशुद्धि-विश्लेषण से भी सहायता ली जा सकती है। स्रोतभाषा विशेष के संदर्भ में शिक्षार्थी द्वारा की जाने वाली अशुद्धियों में भी एकरूपता मिलती है। अधिकांश अशुद्धियाँ स्रोत एवं लक्ष्य भाषा के वैषम्य के कारण होती हैं तथा उनकी प्रकृति और प्रकार में एकरूपता होती है। अध्यापन-ध्येयों के तथा अध्यापन-ध्येयों में आने वाले पाठ्य-विंदुओं के कोटीकरण में अशुद्धि - विश्लेषण के परिणाम बहुत सहायक होते हैं। अशुद्धि विश्लेषण के आधार पर शिक्षार्थी की पाठ्य विंदु विशेष में प्राप्त अक्षमता को दूर करने के लिए प्रत्युपाय-अभ्यास अपेक्षित होते हैं। इन प्रत्युपाय अभ्यासों का लक्ष्य भाषा सीखने की समग्रता में क्षिप्रता लाना तो है ही; साथ ही शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों को एकरूप अशुद्धियों से जूझने का अवसर भी प्रदान करना है।

पाठ्य-सामग्री के उपयोग के लिए तैयार की गई अध्यापक-दीपिका में भी इनका निदश यथोचित स्थान पर संपूर्ण विस्तार से किया जाना चाहिए। अध्यापक-दीपिका में पाठ्यक्रम अपनाने से यह दीपिका अधिक प्रभावी वन जाती है। अध्यापक-दीपिका वास्तव में उन तत्वों का उल्लेख करती है जो अन्यथा पाठ्यसामग्री में नहीं दिए जा सकते तथा साथ ही वह पाठ्य सामग्री के उपयोग की विधि का भी संकेत करती है। यह पाठ्य सामग्री की एक प्रकार से आनुषंगिक और अविभाज्य अंग वन जाती है जिसका उपयोग उस पाठ्य-सामग्री से अधिकतम लाभ प्राप्त कराता है। विदेशी भाषा के सांस्कृतिक तथा अन्य संदर्भों के संकेत भी इसी दीपिका में होने चाहिएं क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में ये न तो शिक्षण विंदुओं के भीतर आते हैं और न अध्यापन-ध्येयों के अंतर्गत। इस प्रकार अध्यापक-दीपिका पाठ्य-सामग्री का वह पूरक अंग वन जाती है जो उसके उपयोग की दिशा का निर्देश तो करती ही है साथ ही भाषा से संवद्ध आनुषंगिक सामग्री भी प्रस्तुत करती है। इस प्रस्तुतीकरण में सदा स्रोत-भाषा को ध्यान में रखा जाता है। अध्यापक-दीपिका की ही भांति अभ्यास-पुस्तिका का भी महत्त्व है। अभ्यास-पुस्तिका शिक्षण-ध्येयों के अंतर्गत

संजोई हुई सामग्री में आने वाले पाठ्य-बिंदुओं के आधार पर अभ्यास की सामग्री प्रस्तुत करती है। इसके प्रयोग द्वारा शिक्षार्थी को सीखी हुई उपलब्धियों को स्वत: प्रयोग में लाने का अवसर मिलता है तथा सीखी हुई बातों पर और अधिक अधिकार प्राप्त होता है। अभ्यास-पुस्तिका का विभाजन एवं कोटीकरण पाठ्य-सामग्री का अनुगमन करता है और पाठ्य बिंदु, प्रत्युपाय-अभ्यास आदि के लिए पूरक सामग्री उसमें प्रस्तुत की जाती है। इसका प्रयोग विद्यार्थी स्वयं करता है तथा अध्यापक उसकी कठिनाइयों को आसान करता है। इन समस्त बातों का ध्यान और उपयोग विदेशी की समस्याओं को हल करने के लिए किया जाता है और किया जाना चाहिए।

भाषा-शिक्षण के लिए सामान्यतया तथा विदेशी भाषा शिक्षण के लिए विशेष-तया विभिन्न प्रणालियाँ और परिपाटियाँ प्रचलित हैं और ये नित्य प्रति विकसित की जा रही हैं। ये शिक्षक और सीखने वाले के ध्येय के आधार पर निश्चित की जाती हैं। प्रणाली विशेष की दृष्टि से ही पाठ्यसामग्री की बाह्य रूपरेखा बनाई जाती है। जो भी हो, इतना तो निर्विवाद सत्य और नितांत आवश्यक है कि विदेशी भाषा (लक्ष्य भाषा) की विशिष्टताओं को आधार बनाकर तथा ऊपर संकेत की गई विधियों को दृष्टि में रखकर ही पाठ्य बिंदुओं का निर्धारण एवं कोटी-करण किया जाता है। इनके आंतरिक विस्तरण एवं फैलाव में तो अंतर हो सकता है पर चरम ध्येय और उसकी प्राप्ति में नहीं। तात्पर्य यह है कि सबका चरम ध्येय भाषा सीखना है जिसे सभी लघुतम प्रयास और अल्पतम समय में अधिकतम दक्षता एवं क्षिप्रता के साथ सीखना चाहते हैं। ●

पाद-टिप्पणियाँ

1. सिंह, अमर बहादुर : 1965, 'भाषा सीखना', मध्यभारती खंड 3, अंक 3, पृष्ठ 161
2. वही—पृष्ठ 161–174
3. वही—पृष्ठ 163
4. ऐसा करने का एकमात्र कारण यह है कि हमारे अधिकांश पाठक दोनों भाषाओं से परिचित हैं। इसका यह आशय कदापि नहीं समझना चाहिए कि अँग्रेज़ी-इतर भाषी देशों में हिंदी का अध्ययन-अध्यापन नहीं होता। लगभग समस्त योरोपीय देशों और अधिकांश एशियाई देशों में भी जहाँ अँग्रेज़ी-इतर भाषाएँ बोली जाती हैं, हिंदी का अध्ययन-अध्यापन होता है।
5. यद्यपि अ और आ, इ और ई तथा उ और ऊ में गुणात्मक अंतर भी पाया जाता है पर इस सूक्ष्मता को व्यावहारिक दृष्टि से नज़र अंदाज़ किया जा सकता है।
6. देखिए, दीक्षित, रामप्रकाश 1963, द सेगमेंटल फोनीम्ज ऑफ कंटंपररी हिंदी, एम० ए० थीसिस, यूनीवर्सिटी ऑफ़ टेक्सस, ऑस्टिन, टेक्सस, यू० एस० ए०।

7. वही ।

8. (क) कुछ अप्राणिवाचक संज्ञाएँ जो समुदाय विशेष से संवद्ध हैं, एक निश्चित लिंग-व्यवस्था के अंतर्गत आती हैं जैसे दूध तथा उससे उत्पन्न वस्तुएँ अथवा खाद्यान्न सदा पुल्लिंग ही रहते हैं ।

   (ख) कुछ भाववाचक तथा कुछ समुदायवाचक संज्ञाएँ भी सदा लिंग विशेष में ही प्रयुक्त होती हैं जैसे जनता, भीड़, आदि शब्द सदा स्त्रीलिंग माने जाते हैं, मन और जी सदा पुल्लिंग रहते हैं । जनता और भीड़ स्त्री और पुरुष दोनों ही के सम्मिलित समूह का द्योतन करते हैं, पर मेला सदा पुल्लिंग रहता है ।

9. देखिए, सिंह, अमर बहादुर 1965, 'हिंदी वर्ब्ज—ऐन आउटलाइन' इंडियन लिंग्विस्टिक्स खंड 26 पृष्ठ 154–171 ।

10. वही ।

11. सिंह, अमर बहादुर, 'सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ हिंदी वर्ब', प्रकाश्य: हिंदी टीचिंग स्कीम (भारत सरकार) पूना के अक्तूबर 1971 की विचार गोष्ठी की कार्यवाही में ।

12. ये समस्याएं अँग्रेजी भाषी वैयाकरणों की भी हैं तथा इनका जायका लेने के लिए देखिए : साउथवर्थ, फ्रैंकलिन सी० 1971, द स्टुडेंट्स हिंदी-उर्दू रेफरेंस मैनुअल, युनीवर्सिटी ऑफ अरिज़ोना प्रेस, टुसॉन, अरिज़ोना, यू० एस० ए० तथा सिंह, अमर बहादुर द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त पुस्तक की समीक्षा 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स', खंड 33, अंक 4 पृष्ठ 303–310 ।

संदर्भ-सूची

(क) भाषा-शिक्षण

1. कार्नेलियस, ई० टी० जूनियर, लैंग्वेज टीचिंग, न्यूयार्क ।

2. कैरल, जान बी० 'ऐन ऐप्लीकेशन ऑव साइकोलिंग्विस्टिक्स इन लैंग्वेज टीचिंग, ऐन ऑडिओ-विजुअल इंस्ट्रक्शनल डिवाइस,' मोनोग्राफ ऑन लैंग्वेज ऐंड लिंग्विस्टिक्स नं० 14, जार्जटाउन युनीवर्सिटी ।

3. पट्टनायक, डी० पी० ऐस्पेक्ट्स ऑव ऐप्लाइड लिंग्विस्टिक्स, बंबई, एशिया ।

4. ब्रुक्स, नेलसन, लैंग्वेज ऐंड लैंग्वेज लर्निंग, न्यूयार्क ।

5. बेनेट, डब्ल्यू० ए० ऐस्पेक्ट्स ऑव लैंग्वेज ऐंड लैंग्वेज टीचिंग, लंदन, कैंब्रिज युनीवर्सिटी प्रेस ।

6. मैकी, डब्ल्यू० एफ० लैंग्वेज टीचिंग एनलिसिस, लंदन : लांगमन ।

29—7 CHD (ND)/72

7. मोल्टन, विलियम, ए लिंग्विस्टिक गाइड टू लैंग्वेज लर्निंग, न्यूयार्क: माडर्न लैंग्वेज टीचिंग असोशियेशन ।

8. रिवर्स, विलगा, टीचिंग फॉरेन लैंग्वेज स्किल्स, शिकागो : युनिवर्सिटी ऑव शिकागो प्रेस ।

9. वाल्डमन ए० ट्रेंड्ज इन लैंग्वेज टीचिंग, न्यूयार्क मैकग्रा हिल ।

10. सिंह, अमरबहादुर 'भाषा सीखना' मध्यभारती खंड 3 अंक 3 ।

11. हार्डिंग डी० एच० न्यू पैटर्न्ज ऑव लैंग्वेज टीचिंग, लंदन : लांगमन ।

12. हेंपेल, वाल, 'सिमैंटिक एंड फॉरेन लैंग्वेज टीचिंग' मोनोग्राफ सिरीज ऑन लैंग्वेज ऐंड लिंग्विस्टिक्स नं० 14, जार्जटाउन युनीवर्सिटी।

(ख) हिंदी-उर्दू की पाठ्य पुस्तकें

13. गंपर्ज, जान जे० जून रमरी तथा ए० बी० सिंह, सी० एम० नईम, कन्वर्सेशनल हिंदी-उर्दू दो खंड, बर्कले कैलीफोर्निया तथा दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन ।

14. बार्कर, मुहम्मद अब्दुल रहमान आदि, ए कोर्स इन उर्दू : तीन खंड, मंट्रियल, कनाडा, मैकग्रिल युनीवर्सिटी प्रेस ।

15. फेयरबैंक्स गार्डन एच० तथा बालगोविंद मिश्र, स्पोकेन ऐंड रिटेन हिंदी इथका, न्यूयार्क, कार्नेल युनीवर्सिटी प्रेस ।

16. फेयरबैंक्स, गार्डन एच० तथा पी० बी० पंडित, हिंदी : ए स्पोकेन ऐप्रोच, पूना, डेक्कन कालेज ।

17. शर्मा, डी० एन० तथा जेम्स डब्ल्यू स्टोन, हिंदी : ऐन ऐक्टिव इंट्रोडक्शन, वाशिंग्टन, फॉरेन सर्विस इंस्टीट्यूट ।

18. सिंह, अमर बहादुर, आओ हिंदी सीखें (यंत्रस्थ) पूना, डेक्कन कालेज ।

19. साउथवर्थ, फ्रैंकलिन सी० स्टुडेंट्स हिंदी-उर्दू रेफरेंस मैनुअल, टुसान, अरिजोना, युनीवर्सिटी ऑव अरिजोना प्रेस ।

20. हैरिस, रिचर्ड, एम० तथा रमानाथ शर्मा, ए बेसिक हिंदी रीडर, इथका, न्यूयार्क : कार्नेल युनीवर्सिटी प्रेस ।

विविध

हिंदी की अनुलेखन पद्धति*

कृष्णकुमार गोस्वामी

भाषाविज्ञानी भाषा और लेखन में विशेष भेद मानते हैं जबकि सामान्य व्यक्ति इन दोनों को भाषा का एक ही रूप मानता है। भाषा-विज्ञानियों की दृष्टि में "भाषा और लेखन प्रतीकों की दो विशिष्ट पद्धतियाँ हैं। दूसरी का अस्तित्व केवल इसीलिए है कि वह पहली का प्रतिनिधित्व करे।"[1] यद्यपि लिखित भाषा को आनुषंगिक रूप में भाषा का एक विभेद माना जा सकता है किंतु विश्लेषण की दृष्टि में उसे उच्चरित भाषा के विरोध में ही रखा जाता है। वास्तव में बात यह है कि लिखित भाषा उच्चरित भाषा के न तो बराबर है और न ही उसका सही प्रतिनिधित्व करती है। इसके अतिरिक्त, उच्चरित भाषा में जिन स्वनों का समावेश रहता है, वे लिखित भाषा के चिह्नों से पूर्णतया मेल नहीं खाते। इतना होते हुए भी यह तो कहा ही जा सकता है कि यदि लिखित भाषा उच्चरित भाषा का स्थान नहीं ले सकती तो कम-से-कम संप्रेषण के लिए वह उसके पूरक के रूप में तो अवश्य प्रयुक्त होती ही है। वस्तुतः अनुलेखन और उच्चारण एक ही भाषा की दो भिन्न अभिव्यक्ति-पद्धतियाँ हैं। संप्रेषण के लिए दोनों स्वतंत्र प्रक्रिया के रूप में कार्य करती हैं। वास्तव में ये दोनों भाषा के व्यावहारिक कार्य फलन के परिणाम हैं जो भाषा के निर्माण में सहायता देते हैं। कथ्य की इकाइयों में अभिव्यक्ति निहित है और अभिव्यक्ति की इकाइयों में कथ्य निहित है। इस प्रकार "अनेक संभव पद्धतियों में से वाक्-पद्धति और लेखन-पद्धति ही केवल दो ऐसी पद्धतियाँ हैं जिनमें से किसी एक को एक दूसरे से अधिक आधारभूत पद्धति नहीं माना जा सकता।"[2]

---

*लेखक डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का बड़ा आभारी है जिन्होंने अपने मूल्यवान् सुझावों एवं सत्परामर्शों से इस लेख के लिखने में यथेष्ट सहायता दी है।

अधिकांश भाषाविज्ञानी उच्चरित भाषा को प्रमुखता देते हैं और लिखित भाषा को गौण मानते हैं। यह बात अवश्य है कि व्यक्तिवृत्तात्मक दृष्टि से उच्चरित भाषा की प्रमुखता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः पहले भाषा का उच्चरित रूप आता है और बाद में उसके लिए लिखित भाषा का जन्म होता है। आज भी विश्व में ऐसी कई भाषाएँ हैं जो बोली तो जाती हैं, किंतु उनका लिखित रूप उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत अभी तक कोई ऐसी भाषा नहीं मिली है जिसका लिखित रूप तो व्याप्त हो किंतु वे कभी बोली न गई हों। यह बात नहीं कि लिखित भाषा का कोई महत्व नहीं है। वस्तुतः व्यक्तिवृत्तात्मक दृष्टि से भाषा के लिखित और उच्चरित रूप एक ही कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए दो स्वतंत्र और स्वायत्त रूप हैं। वे एक दूसरे के लिए नहीं हैं, अपितु भाषा का प्रतिनिधित्व करने के लिए दोनों रूप विद्यमान हैं। इसलिए संदेश के संप्रेषण के लिए भाषण और लेखन दो भिन्न माध्यम हैं और विषयवस्तु को केवल बदलने से भाषण और लेखन को एक दूसरे में नहीं बदला जा सकता। इस प्रकार भाषण और लेखन एक ही कथ्य की दो अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ हैं और यह आवश्यक नहीं कि एक दूसरे के लिए उनका अंतरण किया जा सके अथवा एक दूसरे के वे अनुरूप हों।

लेखन-पद्धति का प्ररूपविज्ञान :

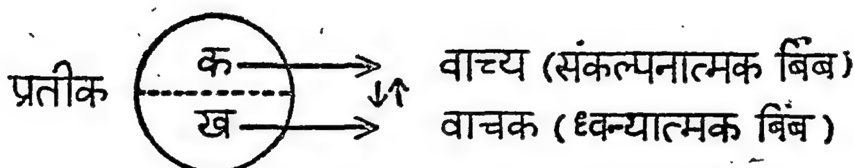
वास्तव में भाषाविज्ञानियों ने लिखित भाषा की अपेक्षा उच्चरित भाषा को प्राथमिकता दी है और उन्हें इसके विश्लेषण कार्य में अपेक्षित सफलता भी मिली है। इसके अतिरिक्त, कई विद्वानों ने लेखनपद्धति का भी गंभीर अध्ययन किया है और प्ररूप विज्ञान की दृष्टि से उसका वर्गीकरण करने का भी प्रयास किया है। इस वर्गीकरण में लेखन-पद्धति को भाव लेखन, चित्रलेखन, विश्लेषक संक्रमण, स्वनिक और वर्णक्रमिक लेखन पद्धतियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह वर्गीकरण काफ़ी उपयोगी और ठोस सिद्ध हुआ है। चूंकि लेखन पद्धतियों का वर्गीकरण भाषा की इकाइयों के अनुसार किया जा सकता है, अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक लेखन-पद्धति का संबंध भाषा के उस तत्त्व से रखा जाए जिसका प्रतिनिधित्व भाषा की सभी पद्धतियाँ करती हैं। इस दृष्टि से भाषा में जिन इकाइयों पर विचार किया जाता है वे ये हैं—कथन, वाक्य, पद, शब्द, रूपिम और स्वनिम। भाषा की इन इकाइयों के आधार पर लेखन-पद्धति का वर्गीकरण कथन-पद्धति, रूपिम-पद्धति और स्वनिम-पद्धति में किया जा सकता है। कथन-पद्धति का वर्गीकरण मूर्तिपरक और परंपरित पद्धतियों के रूप में किया जा सकता है। मूर्तिपरक-पद्धति में प्रतीकों के रूप में उन तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है जो कथ्य वस्तु को बताने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें प्रतीक और अर्थ के बीच कोई तात्कालिक न्नय एवं आदर्श संबंध रहता है। रूपिम पद्धति में विश्लेषक संक्रमण-पद्धति और भाव लेखन अथवा शब्द-लेखन पद्धतियाँ आ

जाती हैं । इन पद्धतियों से रूपिमों, शब्दों, पदबंधों, वाक्यों आदि का पता चलता है । स्वनिम-पद्धति, जो कि रूपिम पद्धति की अपेक्षा अधिक सरल है, अभिव्यक्ति में लघुतम भाषिक इकाई पर आधारित है और इससे स्वनिमों और स्वनिम-समूहों अर्थात् अक्षरों का अध्ययन किया जाता है ।

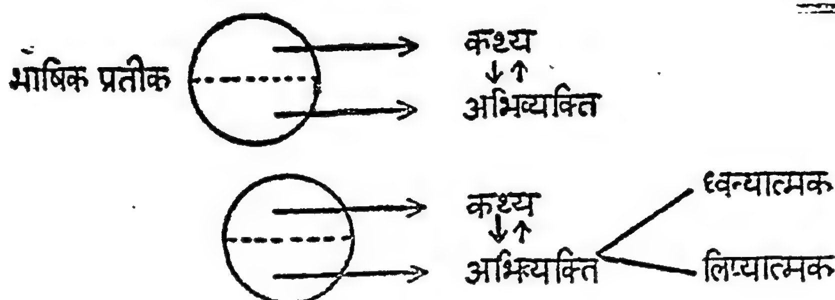
इतना होते हुए भी यह देखा गया है कि ये सभी लेखन पद्धतियाँ अपने आप में पूर्ण नहीं हैं और ये भाषिक संरचना का आंशिक अध्ययन ही कर पाती हैं ।

लेखिम और स्वनिम में संबंध :

लेखन की आधारभूत इकाई लेखिम है और यह भाषा के चाक्षुष रूप की लघुतम इकाई मानी गई है । इस दृष्टि से ध्वन्यात्मक बिंब और चाक्षुष बिंब का यहाँ अध्ययन करना असमीचीन न होगा। सस्युर ने प्रतीक की जो परिकल्पना की है उसमें वाचक और वाच्य की धारणा रखी है।[3] उनके मतानुसार वाचक भाषा के स्वन पक्ष का एक रूप है जो वाच्य (कथ्य) के साथ घटित होता है । इन दोनों की अन्विति ही 'भाषिक प्रतीक' है। इसमें ध्वनि पक्ष और लेखन प्रतीकों के बीच किसी प्रकार के संबंध की आवश्यकता नहीं होती । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार भाषिक प्रतीक में 'कथ्य पक्ष', के साथ 'ध्वनि पक्ष' घटित होता है उसी प्रकार कथ्य पक्ष के साथ चाक्षुष पक्ष भी घटित होता है। इस प्रकार स्वन-पद्धति और लेखन-पद्धति को एक साथ लाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसका स्पष्ट रूप इस प्रकार दिया जा सकता है :—



यदि यहाँ पर 'ध्वन्यात्मक बिंब' के स्थान पर 'अभिव्यक्ति' रखा जाए तो यह इस प्रकार होगा।



इसमें लिप्यात्मक रूप अनुलेखन और लेखिम के बीच आता है। लेखिमविज्ञान में लेखिमों के नियमों का विवरण होता है जो शब्द या स्वनिम अनुक्रमों के बारे में विवेचन करते हैं। इस प्रकार लेखिम-विज्ञान नियमों का ऐसा विज्ञान है जिसके नियमों के आधार पर लेखिम की संरचना और स्वनिम व्यवस्था के साथ उसका जो संबंध होता है, उसका अध्ययन किया जाता है। दूसरी ओर, लेखन-पद्धति नियमों की एक ऐसी व्यवस्था है जिसके आधार पर यह निर्धारित किया जा सकता है कि विभिन्न संभव लेखिम प्रतीकों या चिह्नों में ऐसा कौन-सा प्रतीक या चिह्न है जो स्वनिम अनुक्रम का पता लगाने में उपयुक्त सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में, लेखन-पद्धति से शब्द की वास्तविक वर्तनी के स्थिरीकरण में महत्त्वपूर्ण निदेशन मिल सकता है।

वस्तुतः भाषा में जिस प्रकार स्वनिम होते हैं उसी प्रकार लेखन में लेखिम भी होते हैं। यद्यपि कई भाषाओं में लेखिम विभिन्न रूपों में दिखाई देते हैं किंतु हिंदी की देवनागरी लिपि में ऐसी बात नहीं है (यद्यपि कहीं-कहीं भिन्नता दिखाई पड़ जाती है)। हिंदी में मुख्यतः एक स्वनिम के अनुरूप एक लेखिम मिल जाता है। इसके अतिरिक्त यह बात अवश्य है कि उपस्वन के समान उसी प्रकार उपलेखिम नहीं मिल पाता। अतः हिंदी में सापेक्षतः पर्यायवाची लेखिम ही मिलता है।

<ले> ————→ /स्वन/
←————

उदाहरण <क> ————→ /क/; <च> ————→ /च/
←———— ←————

अर्थात् कमल, रमेश, चमचा

अँग्रेज़ी जैसी भाषाओं में लेखिम पर्यायवाची होते हुए सापेक्षतः बहुस्वनिमिक होता है। ये छह प्रकार के मिल जाते हैं :—

1. पर्यायवाची :

<ले> ————→ /स्वन/
←————

उदाहरण <m> ————→ /m/ <k> ————→ /k/
←———— ←————

अर्थात् motor, kitchen

2. बहुस्वनिमिक :

<ले> ————→ /स्वन$_1$/, /स्वन$_2$/, /स्वन$_3$/
←————

उदाहरण <c> ————→ /k/, /s/ ....

अर्थात् cell, call

3. संश्लेषणात्मक :

<ले> ———→ /स्वन$_1$/ + /स्वन$_2$/
←———

उदाहरण <x> ———→ /k + s/, /g + z/

अर्थात् ox, example

4. विश्लेषणात्मक :

<ले$_1$> + <ले$_2$> ———→ /स्वन/
←———

उदाहरण <C> + <h> ———→ /k/, /tʃ/

अर्थात् chemist, church

5. परिवर्त : यहाँ स्वन कई लेखिमों का प्रतिनिधित्व करता है

जैसे <ले$_1$> ———→ /स्वन/

किंतु /स्वन/———→ <ले$_1$>, <ले$_2$>, <ले$_3$> ....

उदाहरण /f/—→ <f>, <ph>, <gh>

अर्थात् fall, physiology, rough

6. सहायक : कई परिस्थितियों में लेखिम प्रायः शून्य का कार्य करता है :

<ले> ———→ /ø/

उदाहरण <k>—→/ø/, <b>—→ /ø/, <t>—→/ø/

अर्थात् know, doubt, kitchen

हिंदी वर्तनी की मूल प्रकृति :

वस्तुतः लेखन पद्धति में दो उद्देश्य निहित रहते हैं। (1) भाषा के वक्ता को लेखिम प्रतीकों के किसी भी अनुक्रम का उच्चारण सही रूप में कराना, चाहे इन लेखिम अनुक्रमों का उसे ज्ञान न भी हो। (2) वह किसी भी स्वनिमिक अनुक्रम की वर्तनी हो सकने में समर्थ हो। इस दृष्टि से देवनागरी लिपि अधिकांशतः सही बैठती है।

भाषा के स्वनिमिक तत्त्वों के साथ लेखिमों का कुछ न कुछ संबंध रहता ही है। किंतु यदि केवल स्वनिमिक सिद्धांत ही लागू किए जाएँ तो लेखन-पद्धति से भाषा की संरचना की कई महत्त्वपूर्ण बातें अस्पष्ट रह जाएँगी। इसके अतिरिक्त, लेखन-पद्धति के परिपूर्ण होते

हुए भी यदि वह स्वनिम और लेखिम तत्वों के अनुरूप होगी तो स्वनिमों को पृथक् रूप में लिखने से पठन क्षमता कम हो जाएगी और ऐसी पद्धति में समस्वनिक रूपिमों से जटिल समस्या खड़ी हो जाएगी। अतः लेखन-पद्धति इस प्रकार की होनी चाहिए जो स्वनिमिक और रूपिमिक संरचना को अपने भीतर समाहित किए हुए हो। इस आधार पर हिंदी की देवनागरी लिपि कुछ सही है। वस्तुतः यह स्वनिमिक की अपेक्षा आक्षरिक लिपि अधिक है और इसमें स्वनिम के साथ-साथ उसके समूह और रूपिमों की भी जानकारी हो सकती है।

मूल स्वनों के लिए लिखित भाषा में कुछ ऐसे चिह्न रखे जाते हैं जो लेखिम (वर्ण) कहलाते हैं और जिस रूप में ये लिखे जाते हैं उसे लिपि कहा जाता है। हिंदी ने देवनागरी लिपि अपनाई है। यह लिपि लिखित भाषा के लिए तो सही साधन है, किंतु उच्चरित भाषा को सुरक्षित रखने में अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, इसके लेखिमों में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे कुछ अक्षरों में स्वनों का माध्यम अपनाने से कई बातें छूट जाती हैं। उदाहरणार्थ,

1. वह कर्ता है।

2. वह (काम) करता है।

उपर्युक्त दो वाक्यों में लिपि की सहायता से 'कर्ता' और 'करता' को पृथक् रूप में देखा जा सकता है जबकि उच्चारण में ये लगभग समान ही होते हैं। इसी प्रकार 'पा ली' और 'खा ली' क्रियाओं के पृथक् रूप को देखा जा सकता है जबकि उच्चारण में ये 'पाली' और 'खाली' शब्दों के समान हो जाते हैं।

वास्तव में लेखन और स्वनिम नियम के संबंधों के संदर्भ में हिंदी की लेखन-पद्धति में अभी तक कोई सुचिंतित अध्ययन नहीं हुआ है। स्वनिम नियम की चर्चा करते हुए हमारा अभिप्राय स्वनिम परिवर्तन की उस व्यवस्था से है जो किसी स्वन नियम का परिणाम होती है। इस दृष्टि से स्वन नियम और लेखन पद्धति के संबंधों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(i) यह वह स्थिति है जिसमें स्वन नियम की पूर्व की स्थिति को लेखन-पद्धति अपना आधार बनाकर अपनाती है। इस स्थिति में उच्चारण में हिंदी के स्वर 'अ का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ,

$$\text{स}- \ \phi \ /\text{स} \ \text{व}- \ \left(\text{व} \begin{bmatrix} \text{स} \\ \text{दीर्घ} \end{bmatrix}\right)^{4}_{++}$$

इस नियम के अनुसार 'अ' स्वर का लोप दो स्थितियों में होता है।

(क) दो या दो से अधिक अक्षरों के अंत में आने पर; जैसे,

कल [क्+अ+ल्], कह [क्+अ+ह्], साग [स्+आ+ग्], सिमट [स्+इ+म्+अ+ट्]

इन उदाहरणों में अंतिम ल्, ह्, ग्, ट् के बाद 'अ' का लोप हो जाता है। हाँ, इसमें एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि एक अक्षर में 'अ' का लोप नहीं होता। जैसे, 'न'

(ख) दो या दो से अधिक अक्षरों वाले शब्द की स्थिति में पहले अक्षर की अपेक्षा यदि किसी दूसरे अक्षर में 'अ' हो और उसके बाद का अक्षर दीर्घ हो तो वहाँ दूसरे अक्षर के 'अ' का प्रायः लोप हो जाता है।

उदाहरणार्थ, जनता [ज्+अ+न्+त+आ], सिमटा [स्+इ+म्+ट्+आ]

लकड़ी [ल्+अ+क्+ड़्+ई], सिमटना [स्+इ+म्+अ+ट्+न्+आ]

इन उदाहरणों में न् और त्, म् और ट्, क् और ड़्, ट् और न् के बीच 'अ' का लोप हो गया है।

(2) इस स्थिति में यदि संज्ञा स्वरांत शब्दों के बाद का अक्षर दीर्घ हो तो वह दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है।

[स दीर्घ] → [ह्रस्व] / स व + [स दीर्घ][5]

उदाहरणार्थ : नदी+आँ=नदियाँ, वधू+एँ=वधुएँ, लड़की+ओं =लड़कियों

इन उदाहरणों में 'ई', 'ऊ' के बाद 'आ, एं, ओं', दीर्घ स्वर आने से 'ई, ऊ' ह्रस्व हो कर 'इ' और 'उ' बन गए हैं।

(3) इस स्थिति में अनुस्वार को उसके स्वनात्मक रूप परिवर्तन के आधार पर समझा जा सकता है।

अनुस्वार	/ङ/	–	कवर्ग	स्वर
	/ञ/	–	चवर्ग	
	/ण/	–	टवर्ग	
	/न/	–	तवर्ग	
	/म/	–	पवर्ग	
	[/म/	–	++]	

उदाहरणार्थ : (सं=सम्)

गीत = संगीत / सङ्गीत
चालक = संचालक / सञ्चालक
डास = संडास / सण्डास
ताप = संताप / सन्ताप
बंध = संबंध / सम्बन्ध

और अटम् = अहं

इसी प्रकार भाषा में मात्रा, बलाघात, स्वराघात, तान, अनुतान, रागात्मकता आदि अधिखंडीय स्वनिमों का विवेचन भी करना होता है जिससे भाषा की सूक्ष्मताओं तथा शैलीगत विशेषताओं का परिचय मिल सकता है । किंतु इन सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने में लिपि सक्षम नहीं है। हाँ, इन स्वनिमों के लिए कुछ और चिह्न अपनाने का प्रयास किया गया है जिनमें विराम चिह्न आते हैं। ये विराम चिह्न भाषा रचना में काफी उपादेय हैं। इनसे शब्दों के अनेकार्थ, व्यंजना, विचारों का संबंध, बलाघात, अनुतान आशय की स्पष्टता, लाघवता का ज्ञान होता है किंतु फिर भी ये अपूर्ण हैं। वस्तुतः भाषा के वैशिष्ट्य एवं अभिलक्षणों में ही भाषा की प्रकृति का सही परिचय मिलता है। यहाँ आकर लिखित भाषा उच्चरित भाषा का सही प्रतिनिधित्व करने में समर्थ नहीं है ।

हिंदी के प्रत्येक अक्षर में मात्रा, आघात आदि की कोई न कोई स्थिति रहती है और वह अक्षर इनमें से किसी न किसी गुण के कारण प्रधान होता है । हिंदी में स्वर पर सुर की सत्ता स्वनिमात्मक नहीं है वरन् उसकी सत्ता वाक्यात्मक है । अतः वाक्य में ही सुर के महत्त्व को जाना जा सकता है । सुर के अवरोही और आरोही होने की दशा में ही अनुतान का पता चलता है। पहले यह माना जाता था कि अनुतान भाषा का सहज गुण है । वस्तुतः क्रोध या दुःख अथवा विस्मय के आवेगों में सुर सभी भाषाओं में होता है। किंतु फिर भी प्रत्येक भाषा के अपने आधारभूत अनुतान होते हैं। यहाँ हिंदी में 'क्या?' और 'क्या!' में पहले में जिज्ञासा और दूसरे में आश्चर्य की ध्वनि मिलती है। इसी तरह भाषा की सूक्ष्मताओं का विश्लेषण पूर्ण विराम, अल्प विराम, अर्द्ध विराम, प्रश्न चिह्न, आश्चर्य चिह्न रेख (डेश) आदि चिह्नों से भी किया जा सकता है।

इस प्रकार भाषा का महत्त्व भाषा के उच्चरित तथा लिखित दोनों रूपों में मिलता है और उच्चरित भाषा या कविता आदि में स्वनिम की जहाँ अपनी महत्ता है वहाँ भाषा की लिखित अभिव्यक्ति के रूप में लेखिम का महत्व भी कम नहीं है । अतः भाषा के संदर्भ में अभिव्यक्ति के इन दोनों माध्यमों का अध्ययन करना समान महत्त्व रखता है ।

पाद टिप्पणियाँ :-

1. Language and writing are two distinct systems of signs; the second exists for the sole purpose of representing the first.— (Saussure, Ferdinand De; Course in General Linguistics : English Ed. 1960, p. 23.)

2. The system of speech and the system of writing are thus only two realizations out of an infinite number of

possible systems of which no one can be said to be more fundamental than the other.— (Uldall, H. J; Speech and Writing; Acta Linguistica : 1944, 4; p. 11-16.)

3. Saussure, Ferdinand De; Course in General Linguistics (1960) p. 65-67.

4. Srivastava, R. N; Indian Linguistics, vol. 31, No. 4, p. 186-196.

5. Ibid.

6. Ibid; Language, vol. 45, No. 4. (Dec. 69), p. 913-927.

हिंदी में समधिकता

अजीतलाल गुलाटी

सामान्य बोलचाल में समधिकता का अर्थ है—"जितना नितांत आवश्यक हो उससे अधिक कहना।"[1] इस प्रकार इस संकल्पना को शब्दातिरेक, शब्दाधिक्य दोष अथवा पदाधिक्य दोष आदि शब्दों द्वारा भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। भाषा के इस तथ्य को प्रत्येक भाषा-भाषी के वाग्व्यवहार में अनायास ही देखा जा सकता है। हिंदी भाषा के संदर्भ में बेफजूल, निखालिस, साथ संलग्न, राजपथ मार्ग, किंतु फिर भी, रहनेवाले वासी, फिर से पुनर्विचार इत्यादि अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जो न केवल बातचीत में प्रयुक्त होते हैं वरन् श्रोता या वक्ता की दृष्टि से सामान्यतया आपत्तिजनक भी नहीं माने जाते।

बोलचाल की भाषा के अतिरिक्त आधुनिक अवगम सिद्धांत में भी समधिकता अर्थात् अतिरिक्तता या अतिरेक[2] का अपना विशिष्ट स्थान है। इस सिद्धांत में 'इस शब्द का लगभग यही अर्थ है, परंतु यहां समधिकता अवांछनीयता के संपृक्तार्थ से मुक्त है और इसकी सैद्धांतिक दृष्टि से ठीक-ठीक मात्रा निर्धारित की जा सकती है।'[3] इस सिद्धांत के संदर्भ में स्वनिम-अनुक्रमों की आवृत्ति की गणना की जाती है और संप्रेषण की प्रक्रिया के दौरान विकृत हुए स्वनिम अनुक्रमों के स्थान पर संभावित अनुक्रमों के परिप्रेक्ष्य में संदेश का निहितार्थ समझ लिया जाता है। स्वनिम-अनुक्रमों के अतिरिक्त प्रत्येक भाषा में रूपिम-अनुक्रमों का भी बड़ा महत्त्व होता है। 'किसी भाषा के रूपिमों को यदि मनमाने क्रम में रख दिया जाए तो वह भाषा पूर्णतया निष्क्रिय हो जाएगी।'[4] ऐसी अवस्था में वह भाषा अपने रूपिमों के किसी भी प्रकार के परस्पर संबंधों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाएगी और तब उस भाषा के किसी उच्चार का मात्र एक शब्द-सूची से अधिक महत्त्व नहीं होगा।

भाषा के क्रमबद्ध रूपिमों का अनुक्रम भी किसी संकेतित संदेश को समझने में पर्याप्त सहायक होता है। स्वनिम-अनुक्रमों तथा रूपिम

अनुक्रमों के सुनिश्चित स्थान के अतिरिक्त किसी भाषा के कतिपय संज्ञा-रूप अपने विशिष्ट क्रिया-रूपों से भी प्रतिबंधित होते हैं, जैसे--घोड़े के शब्द करने की क्रिया मात्र 'हिनहिनाना' क्रिया-रूप से ही अभिव्यक्त हो सकती है। इसी प्रकार कई भाषाओं म पदबंधों की अन्विति से संप्रेषित संदेश में भूल से छूट गए कुछ कूट संकेतों के स्थान पर उपयुक्त शब्द रखने में भी सहायता मिलती है।

व्याकरणिक कोटियाँ भी भाषा की प्रकृति के अनुसार समधिकता की मात्रा बढ़ाने में योगदान करती हैं, परंतु वे संदेश के छूटे हुए शब्द को निर्धारित करने में सहायक भी होती हैं। इसीलिए भाषा के इस तथ्य का संचार तथा अवगम सिद्धांत में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग्लीसन ने इसी परिप्रेक्ष्य में समधिकता को यों परिभाषित किया है— 'यह न्यूनतम संदेशवाहक भाषा-संकेतों के स्थान पर अतिरिक्त भाषा-संकेतों की युक्ति है।[6] अर्थात् यह वह युक्ति है जिसके द्वारा किसी संदर्भ में अपेक्षित या छूटे हुए शब्द का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। अवगम सिद्धांत के अतिरिक्त प्रत्येक भाषा के न केवल उच्चरित रूप में वरन् उसके लिखित रूप में भी, जिसमें उसका परि-निष्ठित अथवा मानक रूप भी सम्मिलित है, समधिक शब्द, पद अथवा रूप उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी भाषा में Consensus of opinion (मतैक्य, सर्वसम्मति) और return back (लौटना) जैसे अनेक समधिक रूप मिल जाते हैं और अध्यापकगण opinion और back के अनावश्यक प्रयोग की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समधिकता का प्रत्येक भाषा में उल्लेखनीय स्थान है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी पेई ने अपने 'भाषाविज्ञान कोश' में इस भाषा-तथ्य को 'अनावश्यक शब्दों का प्रयोग' कहा है और समधिक रूप को 'शब्दों' के प्रसंग में अतिरिक्त अथवा पुनरावृत्तिमूलक 'शब्द' तथा 'व्याकरणिक' और वाक्यात्मक रूपों या रचनाओं के प्रसंग में अनावश्यक या अतिरिक्त शब्द अथवा 'रूप' परिभाषित किया है।

प्रस्तुत लेख में हिंदी में प्रयुक्त उन शब्दों का विवेचन किया जा रहा है जिनमें स्वन अथवा रूपिम स्तर पर समधिकता का समावेश है।

स्वन-स्तर पर समधिकता :

(क) अंग्रेज़ी भाषा के प्रभाव के कारण असम, असमिया, अशोक, कश्मीर, कश्मीरी, बंगला, इत्यादि क्रमशः आसाम,[7] आसामी,[8] अशोका,[9] काश्मीर,[10] काश्मीरी, बांगला[11] रूपों में प्रयुक्त हो रहे हैं। कहना न होगा कि यदि हम पूर्ववर्ती मूल शब्दों का प्रयोग करें तो स्वन-स्तर की इस समधिकता से बच सकते हैं। यहा यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि परिनिष्ठित हिंदी में अधिकांशतः असम, असमिया, अशोक, कश्मीर, कश्मीरी, बंगला आदि का प्रयोग अपने मूल रूप में ही होता है। इसी श्रृंखला में भारतीय भाषाविज्ञानी डॉ० सुमित्र मंगेश कत्रे

का नाम उल्लेखनीय है जो भाषाविज्ञान की ही एक पुस्तक में 'डॉ० एल० एन० कावे'[12] हो गए हैं।

(ख) हिंदी में प्रायः शब्दांत में 'अ' का उच्चारण नहीं होता, किंतु दक्षिण भारत की भाषाओं के शब्दों में संस्कृत की ही तरह अंत्य अकार उच्चरित होता है। संभवतः इन्हीं भाषाओं के प्रभाववश हिंदी अकार की क्षति-पूर्ति हेतु बहुत से हिंदी शब्दों को आकारांत रूप में लिखा जाने लगा है, जैसे—दत्त > दत्ता, शुक्ल > शुक्ला, गुप्त > गुप्ता, रामकृष्णपुरम् > रामाकृष्णापुरम इत्यादि। कहना न होगा कि यहाँ अंत्य स्थिति में आकार की मात्रा समधिकता का स्पष्ट उदाहरण है।

(ग) स्वरों के अतिरिक्त व्यंजनों के भी समधिक प्रयोग बहुलता से मिलते हैं। उदाहरणार्थ श्राप,[13] विरलाप और चात्रक में रकार का प्रयोग समधिक है, क्योंकि इनके शुद्ध रूप क्रमशः इस प्रकार हैं—शाप, विलाप और चातक। संस्कृत के इन शब्दों के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के उच्चारण-विधान अथवा स्वनविज्ञान को न जानने अर्थात् आगत शब्दों के व्यंजन गुच्छों के उच्चरित अथवा अनुच्चरित स्वरूप से परिचित न होने के कारण हिंदी लिप्यंतरण में समधिक व्यंजनों का समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ जर्मन के संयुक्त वर्ण dt में d अनुच्चरित रहता है, जैसे— जर्मन कवि Brandt का हिंदी रूप 'ब्रांट' होगा। परंतु जर्मन भाषा की इस स्वन-विशेषता की ओर ध्यान न देने से Humboldt को 'हम्बोल्ड्ट'[14] के रूप में लिपिबद्ध करने से 'ड्' स्वन समधिक हो गया है। इसी प्रकार फ्रांसीसी c, f, l तथा r का अंत्य स्थिति में उच्चारण होता है, शेष व्यंजनों का नहीं। उदाहरणार्थ फ्रांसीसी की इस उच्चारण व्यवस्था के जानकार फ्रांसीसी के restaurant को हिंदी में 'रेस्तराँ' रूप में लिखते हैं जबकि अन्य लोग इसे रेस्टारैंट रूप में लिपिबद्ध करते है। कहना न होगा कि टकार का रूप यहाँ समधिक है। इसी प्रकार assignat के ऐसिग्नेट[15] रूप में भी टकार समधिक है। इसी तरह Duplex के हिंदी लिप्यंतरण डुप्लेक्स[16] में 'क्स' व्यंजनगुच्छ भी समधिक है और यह तथ्य इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि इसी का दूसरा रूप डुप्ले[17] भी हिंदी में देखा जा सकता है।

रूपिम-स्तर पर समधिकता :

सबसे पहले हिंदी के उन शब्द-युग्मों पर विचार किया जा सकता है जिनमें से केवल एक का ही प्रयोग पर्याप्त है, जैसे— (क) 'अध्यक्ष के साथ और आपस में परस्पर विचार-विनिमय कर लेते हैं।'[18] (ख) 'जब भारतीय टीम तोक्यो में स्वर्ण पदक प्राप्त करके **वापस लौटी** थी।'[19] इन उदाहरणों के मोटे टाइप के शब्द-युग्मों में से मात्र एक शब्द का प्रयोग ही अपेक्षित है और दूसरा शब्द समधिक है। 'वापस लौटने' का प्रयोग भी ठीक उसी प्रकार अशुद्ध है जिस प्रकार अंग्रेज़ी में return back का। मात्र 'लौटना' में ही 'वापस आने' का भाव

निहित है। इन शब्द-युग्मों के साथ-साथ हिंदी में प्रयुक्त उन अनुवाद-युग्मों पर भी विचार करना अप्रासंगिक न होगा जिनका प्रयोग निरर्थक नहीं होता जैसे— काम-काज, चिट्ठी-पत्र, सौदा-सुल्फ इत्यादि। इन शब्द-युग्मों में दूसरे घटक के प्रयोग में 'आदि' का भाव निहित है और यदि दोनों घटकों के स्थान पर एक ही शब्द का प्रयोग अभीष्ट हो तो आदि को उत्तरपद का स्थानापन्न मानकर इन्हें लिखा जा सकता है— पत्रादि, काम आदि, सौदा आदि। अनुवाद-युग्मों के अतिरिक्त कुछ पुनरावृत्तिमूलक शब्दों में भी समधिकता का प्रयोग अर्थवैशिष्ट्य सूचक होता है, जैसे— 'बूढ़े-बूढ़े मर गए'। इस उदाहरण से यह ध्वनित होता है कि जो बूढ़े थे वे मर गए, अन्य नहीं। इस प्रकार ऐसे अनुवाद-युग्म और पुनरावृत्तिमलक शब्द भाषा में प्रभाव, मात्राधिक्य और अर्थवैशिष्ट्य प्रकट करते हैं।

हिंदी में उर्दू-फारसी के कुछ समस्त पद अपने मूल रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे— दरअसल (वास्तव म, वस्तुतः), दरहकीकत (वास्तव में), बावजूद (के होते हुए भी), गुलदस्ता (फूलों का गुच्छ), गुलमेहंदी (मेहंदी का फूल) इत्यादि। परंतु इन आगत शब्दों के पूर्व पद के अर्थ को ध्यान में न रखने के कारण इनका प्रयोग यों भी कर लिया जाता है— दरअसल में, दरहकीकत में, बावजूद भी, फूलों का गुलदस्ता, गुलमेहंदी का फूल।

जिस प्रकार सामासिक शब्द के पूर्वपद के अर्थ को न समझने के कारण शब्दों का समधिक प्रयोग हो जाता है उसी प्रकार इसके उत्तरपद के अर्थ के विषय में भ्रम होने से समधिक शब्द का प्रयोग भी हो जाता है जैसे alcatras के लिए 'जल मुर्गाबी'[20]। यह उल्लेखनीय है कि यहाँ 'जल' का प्रयोग समधिक है, क्योंकि मुर्गावी शब्द का अपना अर्थ है— 'मुर्गे के आकार वाला जलपक्षी'। इसी प्रकार 'मंदराचल पर्वत को रई बनाया था,[21] में उत्तरपद 'अचल' के होते हुए पर्वत का प्रयोग अनावश्यक है। इसी प्रकार हिमाचल पर्वत, विन्ध्याचल पर्वत में भी परवर्ती शब्द समधिक हैं। इसी प्रसंग में 'सज्जन आदमी', सज्जन पुरुष अथवा सज्जन व्यक्ति आदि शब्द-युग्म भी उल्लेखनीय हैं। जिनमें सज्जन (सत्+जन) को समस्त पद के स्थान पर भला या अच्छा का वाचक मानकर उसके साथ आदमी, पुरुष या व्यक्ति का समधिक रूप प्रयुक्त किया गया है।

सामासिक शब्दों के अतिरिक्त व्युत्पन्न शब्दों में अपेक्षित प्रत्यय होते हुए भी समधिक प्रत्यय का प्रयोग किए जाने के उदाहरण मिलते हैं, जसे —

(क) 'संक्षेप में शब्दों की बाहुल्यता में संस्कृत'[23]

(ख) 'पिता की सौजन्यता को—"[24]

(ग) 'हमारी पूज्यनीय माता जी श्रीमती ठाकुर देवी'[25]

'बहुल' तथा 'सुजन' ष्यत् प्रत्यय के योग से क्रमशः 'बाहुल्य' तथा 'सौजन्य' रूप में व्युत्पन्न होते हैं, अतः उपर्युक्त उदाहरणों में बाहुल्यता और सौजन्यता के साथ–ता प्रत्यय का योग सर्वथा समधिक है। इसी प्रकार पूज धातु में या तो –यत् प्रत्यय के योग से पूज्य बन सकता है या पूज् के साथ-अनीयर प्रत्यय के योग से 'पूजनीय' की निष्पत्ति होती है। अतः पूज्यनीय में-अनीयर प्रत्यय का योग समधिक है। हिंदी में आजकल 'अनेकों' शब्द का प्रयोग भी हो रहा है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जब 'अनेक' स्वयं एकाधिक बोधक है तब इसके साथ बहुवचन के प्रत्यय—'ओं' की आवश्यकता नहीं है।

संस्कृत-हिंदी के प्रत्ययों के समधिक प्रयोग पर विचार कर लेने के पश्चात् उर्दू-फारसी के उन शब्दों पर भी विचार करना आवश्यक है जो अपने साथ उर्दू-फारसी के बहुवचनसूचक प्रत्यय या किसी अन्य प्रत्यय समेत हिंदी में प्रयुक्त तो हो रहे हैं परंतु उनके साथ हिंदी का प्रत्यय भी भ्रमवश लगा दिया जाता है, जैसे—

(क) 'जेवरातों की क्षतिपूर्ति के दावे'[27]

(ख) 'जब-जब भी मुझे मुशकलातों का'[28]

(ग) पाकिस्तान के तेज़ी से बदलते हालातों पर'[29]

उपर्युक्त उदाहरणों के जेवरातों मुशकलातों और हालातों के मूल शब्द हैं— जेवर, मुशकल और हाल जो उर्दू-फारसी के बहुवचनसूचक प्रत्यय -आत के साथ जेवरात, मुशकलात और हालात रूप में प्रयुक्त होते हैं। अतः इनके साथ दुबारा हिंदी के – ओं प्रत्यय का प्रयोग मात्र समधिकता है। उर्दू-फारसी के मूल शब्दों तथा प्रत्ययों की समुचित जानकारी न होने के कारण ही हिंदी में कागज़ात अलफाज़ और बागान क्रमशः कागज़ातों, अलफाज़ों और बागानों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इन आगत शब्दों के शुद्ध प्रयोग न कर सकने की कठिनाई से बचने का सबसे सरल उपाय यह है कि इन शब्दों के मूल रूपों के साथ ही हिंदी के प्रत्ययों का प्रयोग किया जाए, जैसे— कागज़ों, जेवरों, लफ़ज़ों, बागों और मुशकलों इत्यादि। यहाँ यह कहना अनावश्यक न होगा कि भाषा की सहज प्रकृति भी यही होती है कि वह आगत शब्दों को मूल रूप में ग्रहण करके अपने प्रत्ययों के योग से उनके व्याकरणिक रूप बनाए। इस प्रकृति की ओर समुचित ध्यान न देने से समधिकता की मात्रा बढ़ती है। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी के 'फ्लैट' शब्द को हिंदी में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया जाए तो उसका विकारी रूप फ्लैटों होगा और अविकारी रूप में वह मात्र फ्लैट रहेगा। परंतु इस ओर ध्यान न देने से आजकल यह शब्द 'फ्लैटस्' के रूप में भी प्रयुक्त हो रहा है, जैसे— 'एम० पी० फ्लैट्स[30]। यही स्थिति चैक्स की हुई जैसे— 'जिसमें चैक बुकें', ट्रेवलर चैक्स, करेंसी नोट और अन्य चीज़ें थीं'[31]। उर्दू-फारसी के वाकई (वस्तुतः) और दौरान (की अवधि में) शब्दों का प्रयोग भी यहाँ उल्लेखनीय है। इन दोनों में 'में' का अर्थ पहले से ही

समाविष्ट है अतः इनके साथ 'में' का प्रयोग समधिक ही कहा जाएगा। परंतु भ्रमवश इन्हें मूल शब्द मानकर कभी-कभी इनके साथ 'में' का प्रयोग भी कर दिया जाता है, जैसे —

(क) 'वह वाकई में ताज्जुब के लायक है'[32] ।

(ख) 'इस लेख के दौरान में इस रिपोर्ट का बार-बार हवाला दूंगा[33] ।'

इस प्रसंग में श्रेष्ठ (सबसे अच्छा) का उदाहरण देना भी अनुपयुक्त न होगा जिसे तम-कोटि का न मानकर मूल शब्द मान लिया जाता है और इसके पहले 'सर्व' या 'सबसे' जोड़ दिया जाता है, जैसे— सर्वश्रेष्ठ पारी।[34] वस्तुतः श्रेष्ठ शब्द प्रशस्य (>श्र) में इष्ठन् (अतिशय का वोधक) के योग से निष्पन्न हुआ है अतः उसके साथ सर्व या **तम** (जैसे श्रेष्ठतम) प्रत्यय जोड़ना समधिकता का ही सूचक है।

जिस प्रकार **दरअसल, वाकई** और **दौरान** आदि विदेशी शब्दों के साथ 'में' परसर्ग की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार हिंदी में अनेक ऐसे शब्द हैं जिनके साथ परसर्गों का प्रयोग अनावश्यक होता है, जैसे- घमासान का युद्ध (घमासान विशेषण है), भीतर में बैठ जाइए (भीतर क्रियाविशेषण है) ।

स्वनों और रूपिमों की समधिकता का विवेचन कर लेने के पश्चात् हिंदी में योजक चिह्न या हाइफ़न (–) के समधिक प्रयोग पर विचार करना भी अप्रासंगिक न होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि योजक चिह्न को मुख्यतया समस्तपद बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जैसे— साज-सामान । परंतु उर्दू-फारसी से आगत उन शब्दों में इस चिह्न की आवश्यकता नहीं होती जिनमें उर्दू-फारसी का – ओ – प्रत्यय पहले ही समाविष्ट हो, जसे— साजोसामान, ऐशोआराम, नामोनिशान इत्यादि । परंतु इस क्रियाविधि को न समझने के कारण हाइफ़न का समधिक रूप से प्रयोग हो जाता है, जैसे— ऐशो-आराम,[35] जोशो-खरोश[36] इत्यादि । इन सामासिक शब्दों के अतिरिक्त हिंदी में अंग्रेज़ी की तरह विशेषण विशेष्य के बीच योजक चिह्न का प्रयोग नहीं किया जाता, जैसे— काला आदमी, सुंदर बालक इत्यादि । अतः विशेषण विशेष्य के मध्य इस चिह्न का प्रयोग भी समधिक होगा, जैसे—प्राचीन-राजस्थानी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तकनीकी (संकेतन, संदेश-संप्रेषण, अवगम सिद्धांत आदि में) तथा कलापक्ष एवं भावपक्ष (शैलीगत विशिष्टता, अर्थ वैशिष्ट्य आदि) की दृष्टि से समधिकता भाषा की संप्रेषण-शक्ति का महत्वपूर्ण माध्यम है, वहां स्थूल अथवा शुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह भाषा का वह अनावश्यक रूप है जिससे भाषा का शुद्ध तथा सुनिश्चित स्वरूप विकृत होता है । अतः हिंदी भाषा की एकरूपता बनाए रखने के लिए तथा

उसे मानक रूप प्रदान करने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि हिंदी के समधिक रूपों पर अपेक्षित विचार किया जाए तथा उनका सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया जाए ताकि विकासशील हिंदी का स्वरूप मानकीकृत हो जाए और उससे हिंदी-भाषी अहिंदी-भाषी तथा विदेशी छात्रों का अध्ययन-मार्ग भी प्रशस्त हो जाए। ●

टिप्पणियां

1. Hockett कृत A Course in Modern Linguistics, Oxford, नई दिल्ली, पृष्ठ 87 ।
2. Redundancy के लिए विज्ञान शब्दावली के अंतर्गत वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा स्वीकृत शब्द ।
3. Hockett कृत A Course in Modern Linguistics, Oxford, नई दिल्ली, पृ० 87
4. Gleason कृत An Introduction to Descriptive Linguistics, Holt, न्यूयार्क, पृ० 383 (1961)
5. H. A. Gleason कृत Linguistics and English Grammar, Holt, पृ० 458
6. Pei कृत A Dictionary of Linguistics, (1954), पृ० 183
7. कृष्ण नारायण गोस्वामी कृत 'हिमालय दर्शन' पृ० 176, आत्माराम एन्ड संस, दिल्ली।
8. भोलानाथ तिवारी कृत 'भाषाविज्ञान कोश', पृ० 94, ज्ञानमंडल, वाराणसी ।
9. अशोका होटल, अशोका मार्केट, इत्यादि ।
10. कृष्ण नारायण गोस्वामी कृत 'हिमालय दर्शन' पृ० 165, आत्माराम एंड संस, दिल्ली ।
11. कादंबिनी, पृ० 42 मई, 72
12. पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनुवादक : हेमचंद्र जोशी 'सर्वश्री वीम्स, ब्यूलर, होएर्नले, पिशल, ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० एस० एम० कात्रे आदि भाषा शास्त्र के आचार्यों को परम श्रद्धावनत हृदय से— हेमचंद्र जोशी'
13. साप्ताहिक हिंदुस्तान तारीख 7–12–69 पृ० 21
14. ब्लूमफील्ड की 'भाषा' का हिंदी अनुवाद पृ० 18
15. मानविकी शब्दावली I, वै० त० श० आयोग, पृ० 14
16. दिल्ली परिवहन निगम की बसों का नाम-पट्ट ।

17. नई दिल्ली की एक सड़क पर अंकित।
18. भाषा-अगस्त 1961 पृ० 73
19. दिनमान-10-11-68, पृ० 30
20. नालंदा करेंट डिक्शनरी, पृ० 28
21. वीरसतसई, सं० 2005, पृ० 31
22. साप्ताहिक हिंदुस्तान तारीख 27-10-68 पृ० 28
23. भाषा, जून- 63 पृ० 13
24. कादंबिनी, मई- 72 पृ०58
25. दै० हिंदुस्तान तारीख 7-10-69 में प्रकाशित सूचना
26. पराग, जुलाई-72, पृष्ठ 8
27. दिनमान तारीख 24-11-68, पृ० 40
28. दिनमान तारीख 2-3-69, पृ०39
29. दिनमान तारीख 9-3-69, पृ० 5
30. नई दिल्ली में लगा हुआ एक नाम-पट्ट।
31. सा० हिंदुस्तान तारीख 2-7-72 पृ० 47
32. धर्मयुग तारीख 5-4-70 पृ० 2
33. धर्मयुग तारीख 8-11-70 पृ० 12
34. साप्ताहिक हिन्दुस्तान तारीख 2-7-72 पृ० 36
35. धर्मयुग तारीख 1-12-68 पृ० 13
36. दिनमान तारीख 30-3-69 पृ० 18
37. वीर सतसई सं० 2005, पृ० 107

हिंदी और अवधी का भाषाकालक्रमवैज्ञानिक अध्ययन

नरेंद्र देव वर्मा

1.—सिद्धांत

शब्दसांख्यिकी या भाषाकालक्रमविज्ञान शब्दावली-लोप एवं प्रतिरक्षण के आधार पर कालानुक्रमिक भाषाई संबंधों का प्रतिपादन करता है। यह भाषा-विकास के क्रमागत सोपानों की तिथि प्रदान करता है। शब्द सांख्यिकी की चार आधारभूत मान्यताएँ हैं। पहली मान्यता यह है कि अनुभवगत प्रमाणों के आधार पर यह मान लिया गया है कि किसी भी भाषा की शब्दावली का एक अंश दूसरे की अपेक्षा बहुत कम परिवर्तित होता है।[1] दूसरी मान्यता यह है कि आपेक्षिक रूप से स्थिर शब्दावली के आधारी आंतरक के शब्दों के प्रतिरक्षण की दर कालप्रवाह में स्थिर और समान रहती है।[2] तीसरी मान्यता यह है कि आधारी शब्दावली में लोप की दर सभी भाषाओं में समान रहती है।[3] चौथी मान्यता यह है कि यदि हम किन्हीं दो भाषाओं की आधारी शब्दावली के वास्तविक सजातों का प्रतिशत जान लें, तो जिस तिथि से वे एक दूसरे से अलग हुईं; उसे बताया जा सकता है।[4]

शब्दसांख्यिकीय विश्लेषण के प्रथम सोपान में किन्हीं दो संबद्ध भाषाओं की तुलनीय शब्द-सूची बनाई जाती है। इसके लिए मैंने स्वाडेश द्वारा प्रस्तुत 200 आधारी इकाइयों की सूची को आदर्श माना है। शब्द-सूचियों के निर्माण के उपरांत परिदर्शनपद्धति से सजातों का निश्चयन किया जाता है। सजात ऐसे शब्द युग्म को कहा जाता है, जो पितृभाषा के एक ही शब्द से विकसित हो। संभाव्य सजातों के लिए चार प्रक्रियाओं का अनुप्रयोग किया जाता है। ये निम्नलिखित हैं:

(1) दो संबद्ध भाषाओं के कुछ ऐसे समान और तद्रूप शब्दों को संभाव्य सजात न मानकर संभाव्य असजात माना जाता है, जो किन्हीं अन्य भाषाओं या एक ही भाषा से आदत्त हों।

(2) दो संवद्ध भाषाओं के प्रत्येक शब्द-युग्म के रूपिमों का वियोजन किया जाता है, ताकि क्रियाओं के विकारी रूपों के स्थान पर क्रिया के मूल रूपों की प्राप्ति हो सके।

(3) संभाव्य सजात और संभाव्य असजात के निश्चयन के लिए समान रूपिमों की तुलना की जाती है तथा रूपिमों का वह युग्म संभाव्य माना जाता है, जिसमें निम्नलिखित सिद्धांतों में से एक या अनेक अनुकूल स्वनिमों या स्वनिम-गुच्छों में से कम-से-कम तीन युग्म तुल्य हों। जहाँ एक सदस्य दो स्वनिमों वाला हो, उसके दोनों स्वनिम दूसरे सदस्य के तद्स्थानीय स्वनिमों से तुल्य होने चाहिए। तुल्यता सिद्धांत निम्नलिखित हैं:

प्रथम सिद्धांत— समान रूपिमों के युग्म में तुलनीय स्थितियों में प्रयुक्त स्वनिम-युग्म के तद्रूप सदस्यों को तुल्य माना गया है ।

द्वितीय सिद्धांत—समान रूपिमों के युग्म में तुलनीय स्थितियों में प्रयुक्त स्वनिम-युग्म के स्वनिक दृष्टि से समान सदस्यों को तुल्य माना गया है।

तृतीय सिद्धांत— समान रूपिमों के युग्म में तुलनीय स्थितियों में प्रयुक्त स्वनिम युग्म का एक आश्रित सदस्य असमान सदस्य के तुल्य माना गया है ।

चतुर्थ सिद्धांत— समान रूपिमों के युग्म में तुलनीय स्थितियों में प्रयुक्त स्वनिम युग्म के नियमित संवादी सदस्य तुल्य माने जाते हैं, भले ही वे स्वनिक-दृष्टि से असमान हों।

(4) दोनों भाषाओं के सजातों की गणना कर दोनों भाषाओं के कालांतर विस्तार की संगणना की जाती है, तथा त्रुटि-अभिसीमा का संगणन भी किया जाता है। इस कार्य के लिए सांख्यिकीय सूत्रों का प्रयोग किया जाता है।

2.—विश्लेषण

प्रस्तुत निवंध में अवधी और हिंदी के अध्ययन में शब्दसांख्यिकीय विधि का सचेत अनुप्रयोग किया गया है । अवधी और हिंदी एक ही सांस्कृतिक क्षेत्र की भाषा-विधाएँ हैं, तथा इनके तुलनात्मक अनुशीलन से जहाँ इनके घनिष्ठतर संबंधों का पता चलेगा, वहाँ हम आधारी शब्दावलियों के आधार पर इनके शब्दगत संवध का अनुशीलन भी कर सकेंगे और इनके भाषाई स्तर के निश्चयन में भी समर्थ होंगे।

अव हम शब्दसांख्यिकी की मान्य प्रविधियों को हिंदी और अवधी की सामग्री पर लागू करेंगे । शब्दसांख्यिकी के अनुप्रयोग से हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि दोनों भाषा-प्रकार अपनी पितृ-भाषा से कव विच्छिन्न हुए तथा उनमें कितनी मात्रा में शब्दगत समानता है।

हिंदी शब्द-सूची का संकलन मैंने किया है तथा अवधी शब्द-सूची का निर्माण अवधी के परिनिष्ठित प्रकार बैसवाड़ी के देशीय भाषाभाषी और रायबरेली के निवासी बत्तीस वर्षीय श्री जी० पी० श्रीवास्तव की सहायता से किया गया है । इन दोनों भाषा प्रकारों की तुलनात्मक शब्द-सूचियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अवधी में 'स्नो' और 'लिवर' के लिए उदाहरण नहीं मिल पाए हैं। इस प्रकार दोनों में 198 युग्म बचे रहते हैं।

शब्दसांख्यिकी की प्रथम प्रक्रिया के अप्रयोग के फलस्वरूप हम क्रमांक 42 को संभाव्य असजात; कहेंगे ; क्योंकि इनमें हिंदी और अवधी का 'चरबी' रूप फ़ारसी रूप 'चर्‌बी' के समान है । इसी प्रकार क्रमांक 79 का दोनों भाषाओं का 'बरफ़' रूप भी फ़ारसी 'बरफ़्' से समानता रखता है । इन रूपों में की सार्वजनीनता यह बताती है कि ये मूलतः हिंदी या अवधी के रूप में नहीं हैं।

शब्दसांख्यिकी की द्‌वितीय प्रक्रिया के अनुरूप मैंने इन दोनों भाषा प्रकारों के रूपिमों का वियोजन किया है । इनका वियोजन मैंने स्वयं के अभ्यास के आधार पर किया है । आगे यह बताया गया है कि कौन-कौन से रूपिम तुलना में नहीं लिए गए हैं, किंतु इसका विस्तृत कारण नहीं दिया गया है।

हिंदी और अवधी के अंतिम क्रियात्मक तत्त्वों को अलग कर दिया गया है, उदाहरणार्थ हिंदी के कहना, देखना, सीना, गाना, बैठना, के – ना को, और अवधी के खेलब्, होचब्, ढकेलब्, सरब्, रगरब् के– अब् को। कुछ आरंभिक नामिकीकरण वाले शब्दों को भी कुछ शब्दों से निकाल दिया गया हैं, जैसे – अवधी के सघन के स– को। इसी प्रकार नामिकीकरण और वर्ग-निर्माण करने वाले तत्त्वों को भी संज्ञाओं के अंत से हटा दिया गया ; यथा – अवधी के राखी से – ई को, अवधी और हिंदी पत्ता से –आ को।

शब्दसांख्यिकी की तृतीय प्रक्रिया के अनुरूप पूर्व उद्‌धृत सिद्‌धांतों : का अनुप्रयोग क्रमशः हिंदी और अवधी शब्द-युग्मों पर किया गया है। इस तुलना में सुर और तान का समावेश नहीं हुआ है।

3. सजातों की गणना

मैंने निम्नलिखित विधि से हिंदी और अवधी के शब्द-युग्मों की तुलना की है। शब्द-युग्मों के लिए मैंने स्वाडेश की सूची का कट्टरता से पालन किया है तथा उसकी सूची के प्रत्येक अंग्रेजी शब्द का अनुवाद उसी क्रम में बोलचाल के अत्यंत सामान्य शब्दों के द्‌वारा किया गया है । यहाँ यद्‌यपि 200 शब्दों की तुलना के उदाहरण नहीं दिए जा रहे हैं, तथापि निम्नलिखित 10 शब्द-युग्मों की तुलना-प्रक्रिया से इसका अनुमान किया जा सकता है । सबसे पहले स्वाडेश की सूची

का अंग्रेज़ी शब्द दिया गया है और फिर उसके हिंदी और अवधी तुल्य दिए गए हैं । इनके पूर्व जो क्रम दिया गया है, वह मूल सूची का ही क्रम है—

(1) all : सब् : सब्, संभाव्य सजात : स् : स्, अ : अ और व : व तुल्य, तद्रूप (प्रथम सिद्धांत)

(8) bark : भौंक्ना : भूंकव, संभाव्य सजात : भ् : भ् तुल्य, तद्रूप (प्रथम सिद्धांत); औं: ऊँ तुल्य, स्वनिक दृष्टि से समान (द्वितीय सिद्धांत; क् : क् तुल्य, तद्रूप (प्रथम सिद्धांत) ।

(72) here : यहाँ : हिआँ, संभाव्य सजात : य : इ+ह, तुल्य, स्वनिक दृष्टि से समान (द्वितीय सिद्धांत), एवं नियमित संवादी (अंतस्थ: स्वर + अंतस्थ की तुल्यता क्रमांक (162) there : वहाँ : हुआँ में द्रष्टव्य); हाँ: आँ तुल्य, स्वनिक दृष्टि से समान (द्वितीय सिद्धांत), एवं नियमित संवादी (चतुर्थ सिद्धांत) ।

(74) hold-take : पकड़्ना : छिदव, संभाव्य असजात : यहाँ कोई तुल्यता नहीं है ।

(79) ice : बरफ़् : बरफ़्, संभाव्य असजात : इनकी समानता का कारण यह नहीं है कि ये सजात हैं, प्रत्युत ये इसलिए समान हैं कि ये फ़ारसी (बर्फ़) से गृहीत हैं ।

(104) new : नया : नवा, संभाव्य सजात : न् : न् और अ : अ तुल्य, तद्रूप (प्रथम सिद्धांत); य् : व् अतुल्य; आ : आ : तुल्य, तद्रूप (प्रथम सिद्धांत) ।

(109) one : एक् : याक्, संभाव्य सजात : ए : या तुल्य, नियमित संवादी (चतुर्थ सिद्धांत), देखिए – क्रमांक (130); क् : क् तुल्य, तद्रूप (प्रथम सिद्धांत) ।

(120) road : सड़क् : गलियारा, संभाव्य, असजात : यहाँ कोई तुल्यता नहीं है ।

(130) see : देख् : द्याख्, संभाव्य सजात : द् : द् तुल्य, तद्रूप (प्रथम सिद्धांत); ए या तुल्य, नियमित संवादी (चतुर्थ सिद्धांत), देखिए – क्रमांक (109); ख् : ख् तुल्य, तद्रूप (प्रथम सिद्धांत) ।

(162) there : वहाँ : हुआँ, संभाव्य सजात : व: ह और हाँ: आँ तुल्य नियमित संवादी (चतुर्थ सिद्धांत)– देखिए क्रमांक (72) ।

4. कालांतर-विस्तार की संगणना

कालांतर-विस्तार की संगणना के प्रथम सोपान में संभाव्य सजातों की संख्या को सजात-प्रतिशत में परिवर्तित करना होता है । यह कार्य संभाव्य सजातों की संख्या को तुलना किए गए युग्मों की

संख्या से भाग देने पर संपन्न होता है। कालांतर-विस्तार की संगणना निम्न सूत्रों से की जाती है—

$$\text{टी} = \frac{\text{लॉग सी}^{5}}{2 \text{ लॉग आर}}$$

यहाँ टी हज़ार वर्ष के कालांतर-विस्तार का प्रतीक है। सी सजात-प्रतिशत का प्रतीक है। आर 'स्थिर' या उस सजात-प्रतिशत का प्रतीक है, जो हज़ार साल बाद बच रहता है। यहाँ आर के लिए .805 संख्या स्वीकार की गई है।[6] लॉग का अर्थ है लॉगरिथ्म या लघुगणक।

हिंदी और अवधी के 198 युग्मों में से 158 युग्म संभाव्य सजात निश्चित किए गए। 158 को 198 से भाग देने पर .79 या (79 प्रतिशत) आता है। .79 को कालांतर विस्तार के सूत्र में सी के स्थान पर प्रयुक्त किया जाएगा। सूत्र का समाधान निम्नलिखित विधि से होगा।

$$\text{टी} = \frac{\text{लॉग } .79}{2 \text{ लॉग } .805} = \frac{.236}{2 \times .217} = \frac{.236}{.434} = .543$$

.79 का लघुगुणक .236 है तथा .805 का लघुगुणक .217 है। 2 × .217 का गुणनफल .434 है। .434 (2 लॉग आर) से .236 को भाग देने पर .543 भजनफल मिलता है। यह हज़ार वर्षों में संकेतित कालांतर – विस्तार है, अथवा 1000 से गुणा करने पर यह 543 वर्ष हो जाता है।

संकेतित कालांतर–विस्तार को निम्नतः प्रदर्शित किया जा सकता है—(1) हिंदी और अवधी 543 वर्ष पूर्व एक ही भाषा थी, अथवा (2) हिंदी और अवधी एक समान पितृभाषा से सन् 1427 ई० के लगभग पृथक् हुई।

5. त्रुटि अभिसीमा की संगणना

कालांतर-विस्तार सूत्र से प्राप्त निष्कर्षों को सटीक बनाने के लिए एक अन्य सूत्र के आधार पर त्रुटि अभिसीमा की भी संगणना की जाती है। 7/10 विश्रंभ स्तर पर मानक त्रुटि का संगणन निम्न सूत्र से किया जाता है—

$$\text{एस} = \sqrt{\frac{\text{सी } (\text{सी}-1)^{7}}{\text{एन}}}$$

यहाँ एस का अर्थ है सजातों के प्रतिशत के संबंध में मानक त्रुटि; सी का अर्थ है सजात-प्रतिशत; और एन का अर्थ है तुलना किए गए युग्मों की संख्या। इस सूत्र के समाधान से 7/10 विश्रंभ स्तर पर सजात-प्रतिशत की त्रुटि अभिसीमा प्राप्त होती है। वर्षों में मानक त्रुटि निकालने के लिए निम्नलिखित संगणना की जाती है—

(अ) सजात-प्रतिशत की त्रुटि-अभिसीमा को सी में जोड़िए।

(ब) जो योगफल (अ) में मिलता है, उसे कालांतर-विस्तार सूत्र में सी के स्थान पर प्रयुक्त कीजिए। (स) जो नया कालांतर-विस्तार (ब) में प्राप्त हुआ है, उसे मूल कालांतर-विस्तार से घटाइए। शेष 7/10 विश्रंभ स्तर पर त्रुटि-अभिसीमा है।

हिंदी और अवधी के लिए 7/10 विश्रंभ स्तर पर त्रुटि अभिसीमा की संगणना निम्नतः है—

$$\text{एस} = \sqrt{\frac{.79\ (.79 - 1)}{198}} = \sqrt{\frac{.79 \times .21}{198}} = \sqrt{\frac{.1659}{198}} = \sqrt{.000837}$$

(अ) सजातों का प्रतिशत .79 है। यह संख्या 1000 से घटाई गई और .21 शेष बचा।

(ब) .21 को .79 से गुणा करने पर .1659 गुणनफल आया।

(स) .1659 को 198 से भाग देने पर .000837 भजनफल मिला।

(द) .000837 का वर्गमूल .0289 आया तथा इसे .029 मान लिया गया, जो 7/10 विश्रंभ स्तर पर मानक त्रुटि है।

वर्षों में त्रुटि-अभिसीमा की संगणना इस प्रकार है— सजात-प्रतिशत की त्रुटि-अभिसीमा को मूल सजात-प्रतिशत से जोड़ दिया गया, अर्थात् .79 + .29 = .819। इस नए सजात-प्रतिशत को कालांतर-विस्तार सूत्र में प्रयुक्त किया गया—

$$\text{टी} = \frac{\text{लॉग}\ .819}{2\ \text{लॉग}\ .805} = \frac{.2}{.434} = .460\ \text{हज़ार वर्षों में}$$

या 460 वर्ष।

नए कालांतर-विस्तार को मूल कालांतर-विस्तार से घटाया गया; अर्थात् 543 वर्ष—460 वर्ष = 83 वर्ष।

7/10 विश्रंभ स्तर पर त्रुटि—अभिसीमा को निम्नतः प्रदर्शित किया जा सकता है—

(1) हिंदी और अवधी 543 ± 83 वर्षों पूर्व एक ही भाषा थीं, या

(2) हिंदी और अवधी एक समान पितृभाषा से सन् 1427 और 1510 ई० के मध्य अलग हुईं; अथवा

(3) हिंदी और अवधी 626 और 460 वर्षों पूर्व के मध्य एक ही भाषा थीं।

6. शब्दगत संबंध की मात्रा

किन्हीं दो भाषाओं के शब्दगत संबंध की मात्रा की संगणना निम्नलिखित सूत्र से की जाती है—

$$\text{डी} = 14\frac{\text{लॉग सी}}{\text{लॉग आर}}$$

डी का अर्थ शब्दगत संबंध की मात्रा है।

कालांतर-विस्तार सूत्र के हज़ार वर्षों के परिणाम को 14 से गुणा करने पर, अथवा वर्षों के फल को .014 से गुणा करने पर शब्दगत संबंध की मात्रा मिलती है। हिंदी और अवधी का शब्दगत संबंध (14×.543) 8.602 है।

7. भाषाई स्तर का निर्धारण

शब्दसांख्यिकीय विश्लेषण से प्राप्त कालांतर-विस्तार तथा सजात-प्रतिशत के आधार पर भाषा रूपों के भाषाई स्तर का निर्धारण किया जा सकता है। प्रस्तुत निबंध के लेखक ने विभिन्न भाषा-युग्मों के शब्द सांख्यिकीय विश्लेषण के आधार पर वर्गीकरण का निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किया है, जिसे ऐतिहासिक प्रमाणों से भी पुष्ट किया जा सकता है—

(1) यदि दो भाषाओं का सजात-प्रतिशत 100 से 92 के मध्य है और कालांतर-विस्तार 0 से 2 शताब्दी तक है तो वे दोनों भाषाएं एक ही उपबोली की व्यक्तिबोलियां होंगी।

(2) यदि दो भाषाओं का सजात-प्रतिशत 92 से 80 के मध्य है और कालांतर-विस्तार 2 से 5 शताब्दी तक है, तो वे दोनों भाषाएं एक ही बोली की उपबोलियां होंगी।

(3) यदि दो भाषाओं का सजात-प्रतिशत 80 से 65 के बीच है और कालांतर-विस्तार 5 से 10 शताब्दी तक है, तो वे दोनों भाषाएं एक ही भाषा की बोलियां होंगी।

(4) यदि दो भाषाओं का सजात-प्रतिशत 65 से 35 के बीच है और कालांतर-विस्तार 10 से 25 शताब्दी तक है, तो वे दोनों भाषाएं एक ही परिवार की भाषाएं होंगी।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि हिंदी और अवधी एक ही भाषा की बोलियां हैं, क्योंकि उनका सजात-प्रतिशत 79 और कालांतर विस्तार 543 वर्ष है

* * *

टिप्पणियां

1. एम स्वाडेश : डिफ्यूज़नल क्युमुलेशन एंड आर्केइक रेसिड्यू ऐज़ हिस्टॉरिक एक्सप्लेनेशन, साउथवेस्टर्न जर्नल आफ़ एंथ्रोपोलॉजी, वाल्यूम 7 : 1, पृ० 121–2
2. सारा० सी० गुचिस्की : दि ए० वी० फीज़ ऑफ़ लेक्सिकोस्टेटिस्टिक्स (ग्लोटोक्रोनोलॉजी), वर्ड .12 पृष्ट 177
3. वही, पृष्ठ 177
4. रॉवर्ट वी० लीज़, वेसिस ऑफ़ ग्लोटोक्रोनोलॉजी, लैंग्वेज, वाल्यूम 19, पृष्ठ 116–7
5. एम. स्वाडेश : सैलिश इंटर्नल रिलेशस, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ अमेरिकन लिग्विस्टिक्स, 16-पृष्ठ 158
6. रॉवर्ट वी० लीज : वेसिस ऑफ ग्लोटोक्रोनोलॉजी, पृष्ठ 119
7. वही, पृष्ठ 121–2

आधुनिक आर्य भाषा हिंदी तथा उसकी बोलियाँ: ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में[1]

ठाकुरदास

आधुनिक मानक हिंदी भारत संघ की राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा होने के कारण एक विशिष्ट उत्तरदायित्व के साथ अनेक प्रदेशों में बोली जाती है। उसका मूल व्यावहारिक क्षेत्र वस्तुत: राजस्थान, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार तथा दिल्ली राज्य है। इन्हीं राज्यों को समग्र रूप में हिंदी-भाषी क्षेत्र की संज्ञा दी जाती है। इसके अतिरिक्त हिंदी संपर्क भाषा के रूप में अन्य अहिंदी भाषी क्षेत्रों में भी व्यवहृत है। इस हिंदी भाषी क्षेत्र में रहने वाले व्यक्ति अपने समस्त अनौपचारिक व्यवहार में अपनी मातृभाषा या मातृभाषा प्रभावित हिंदी का प्रयोग करते हैं। विभिन्न औपचारिक स्तरों पर हिंदी का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार इस क्षेत्र में रहने वालों को द्विभाषी भी कहा जा सकता है। केळकर ने भी अपनी 'हिंदी-उर्दू'[1] पुस्तक में मातृभाषा के रूप में तथा दूसरी भाषा के रूप में हिंदी बोलने वालों में भेद किया है। चूंकि हिंदी का राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्व है, इसलिए इसको अपर भाषा के रूप में बोलने वालों की संख्या बहुत अधिक है।

प्रश्न यह है कि हिंदी भाषी प्रदेश में बोली जाने वाली समस्त (तथाकथित) बोलियाँ क्या हिंदी की ही बोलियाँ हैं? यदि ये सभी हिंदी की बोलियाँ नहीं हैं तो उनमें से किन्हें बोली और किन्हें भाषा कहा जा सकता है? हिंदी भाषा तथा हिंदी भाषी क्षेत्र की बोलियों के बारे में जो सामग्री उपलब्ध है उसमें सामान्यतया यही मत प्रकट किया गया है कि ये सभी हिंदी की बोलियाँ हैं। यहाँ यह प्रश्न भी विचारणीय है कि 'भाषा' और 'बोली' से हमारा अभिप्राय क्या है?

---

[1]प्रस्तुत लेख को वर्तमान रूप देने में डा० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, भाषा विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा डा० बाल गोविंद मिश्र, भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर से जो प्रोत्साहन एवं अमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त हुआ, इसके लिए लेखक उनके प्रति सविनय आभार प्रकट करता है।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भाषा और बोली में वस्तुतः कोई अंतर नहीं है। व्याकरणिक स्तर पर दोनों ही विशिष्ट संरचना की अपेक्षा रखती हैं यदि इन दोनों में किसी प्रकार का अंतर किया जा सकता है तो वह सामाजिक भाषाविज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर ही। कोई भी बोली किन्हीं कारणों से भाषा-पद ग्रहण कर सकती है, किन्तु ये कारण सदैव भाषाविज्ञानेतर ही होते हैं। सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कारणों से कोई भी बोली भाषा बन सकती है। अवधी और ब्रज के प्रमाण हमारे सम्मुख हैं। भक्तिकाल और रीतिकाल में ब्रजप्रदेश की बोली ने साहित्यिक परंपरा तथा राजप्रश्रय से पुष्ट होकर अत्यधिक महत्त्व प्राप्त किया और, जैसा कि उसके वर्तमान नाम से स्पष्ट है, वह ब्रजभाषा कहलाने लगी। इसी प्रकार अवधी भी रामभक्ति साहित्य का माध्यम होने के कारण बोली से भाषा बनी। उक्त वैशिष्ट्य की समाप्ति पर ये ही भाषाएँ पुनः बोली मात्र बन कर रह गई हैं।

खड़ी बोली का इतिहास भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, एक समय यह मात्र एक बोली थी। आज यह स्थान–निरपेक्ष होकर एक भाषा ही नहीं, अपितु राजभाषा और संपर्क भाषा के रूप में भी स्वीकृत हो गई है। प्रस्तुत लेख में इस आयाम पर विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थांश में कई यूरोपीय विद्वानों तथा ईसाई मिशनरियों ने भारतीय आर्य भाषाओं का विवेचनात्मक, तुलनात्मक, तथा ऐतिहासिक अध्ययन किया। इनमें सर्व प्रथम बीम्स[2] कृत 'आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' प्राप्त होता है। इसमें उन्होंने हिंदी तथा इस प्रदेश की भाषाओं की चर्चा करते हुए सभी को हिंदी की बोलियाँ स्वीकार किया है। यहाँ तक कि पंजाबी को भी उन्होंने पुरानी हिंदी का एक बोली-रूप माना है। केलॉग[3] ने अपने 'हिन्दी व्याकरण' में खड़ी बोली हिंदी के साथ तुलना के लिए उसकी प्रमुख बोलियों—ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, बिहारी तथा मध्य पहाड़ी भाषाओं की सामग्री भी विभिन्न स्थानों पर प्रस्तुत की है। हार्नली[4] अपने 'पूर्वी हिंदी व्याकरण' में बिहारी को पूर्वी हिंदी के ही अंतर्गत मानते हैं। इसी शताब्दी के अंत में ग्रियर्सन[5] का 'बिहार के सात व्याकरण' भी प्रकाशित हुआ है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथमांश में ग्रियर्सन का 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' प्रकाशित हुआ जो उनकी तीस वर्षों की साधना का परिणाम था। सभी आर्य भाषाओं का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के साथ उन्होंने उन भाषाओं का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया। उन्होंने हिंदी प्रदेश की भाषाओं को तीन उपशाखाओं में रखा–मध्यवर्ती, भीतरी तथा बाहरी। उन्होंने हिंदी के दो प्रमुख रूप निश्चित किए–'पश्चिमी हिंदी' और 'पूर्वी हिंदी'। पूर्वी हिंदी को उन्होंने 'मध्यवर्ती' उपशाखा के मध्यवर्ती समुदाय, 'पश्चिमी हिंदी' को 'भीतरी' उपशाखा के केंद्रीय समुदाय तथा बिहारी को 'बाहरी' उपशाखा के पूर्वी समुदाय में रखा। बाद में, अपने वर्गीकरण

में संशोधन करते हुए 'पश्चिमी हिंदी' को मध्यदेशीय तथा पूर्वी हिंदी को अंतवर्ती भाषाओं के बहिरंग से संवद्ध तथा 'विहारी' को बहिरंग भाषाओं के पूर्वी वर्ग में रखा। इस वर्गीकरण का आधार स्वन, व्याकरण एवं शब्द-समूह की सतही समानताएँ थीं। इस प्रकार, उनके अनुसार हिंदी के अंतर्गत पश्चिमी हिंदी की ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली, कौरवी तथा बांगरु एवं पूर्वी हिंदी की अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी बोलियाँ आती हैं। बिहारी (मगही, मैथिली, भोजपुरी) को व हिंदी के अंतर्गत नहीं मानते। बिहारी से तात्पर्य यहां भाषा नहीं है वल्कि वर्गीकरण की सुविधा के लिए इस प्रदेश में बोली जाने वाली भाषाओं अथवा बोलियों के समूह से है। वे निमाड़ी, मालवी, मारवाड़ी, मेवाती तथा मेवाड़ी को राजस्थानी के अंतर्गत मानते हुए राजस्थानी को हिंदी के अंतर्गत नहीं मानते। ग्रियर्सन का यह वर्गीकरण 'सम धारण' के सिद्धांत पर आधारित था।

ग्रियर्सन के भारतीय आर्यभाषाओं को दो या तीन उपशाखाओं में विभक्त करने के सिद्धांत से सुनीति कुमार चाटुर्ज्या[6] सहमत नहीं हुए। उन्होंने भारतीय आर्य भाषाओं को उदीच्च, प्रतीच्च, मध्यदेशीय, प्राच्य तथा दाक्षिणात्य–इन पांच वर्गों में रखते हुए पश्चिमी हिंदी को मध्यदेशीय, राजस्थानी को प्रतीच्य, और विहारी तथा पूर्वी हिंदी को प्राच्च के अंतर्गत रखा। यह वर्गीकरण भी ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। यह एक मात्र भौगोलिक आधारों पर ही किया गया प्रतीत होता है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा[7] में चाटुर्ज्या के वर्गीकरण को मुख्य रूप में आधार मानकर अपना संशोधित वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जिसके अंतर्गत पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी, विहारी, राजस्थानी तथा पहाड़ी को मध्यदेशीय के अंतर्गत रखा। धीरेन्द्र वर्मा के ही शब्दों में उनका वर्गीकरण ग्रियर्सन साहब के समुदायों के विभाग से कुछ साम्य रखता है। उदय नारायण तिवारी[8] पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी में मौलिक अंतर बताते हुए केवल पश्चिमी हिंदी की बोलियों (ब्रज, बांगरु, बुंदेली, कन्नौजी, कौरवी) को ही हिंदी के अंतर्गत मानते हैं। श्याम-सुंदर दास[9] का राजस्थानी को हिंदी के अंतर्गत रखने का आधार संभवतः जयपुरी बोली और ब्रजभाषा में प्राप्त साम्त प्रतीत होता है। अन्य परवर्ती विद्वानों ने जो वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं वे मूलतः चटर्जी के वर्गीकरण पर आधारित है। भोलानाथ तिवारी[10] पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी की बोलियों के साथ-साथ निमाड़ी को भी हिंदी के अंतर्गत मानते हैं।

उपर्युक्त सभी वर्गीकरण मुख्यतः भौगोलिक हैं। मात्र भौगोलिक स्थिति भाषा और बोली के पारस्परिक ऐतिहासिक संबंधों को प्रकट नहीं करती। यदि किसी भाषा का दूसरी भाषा से नैकट्य माना गया है तो उसका आधार 'सम धारण' लिया गया है। ग्रियर्सन तथा परवर्ती विद्वान स्वनिमिक और व्याकरणिक समानताओं का सहारा लेकर इन भाषाओं के पारिवारिक संबंधों की बात करते हैं किन्तु असमानताओं के प्राप्त होने पर भ्रामक स्थिति पैदा हो जाती है और परिस्थितियां अपनी धुरी पर 180^0 घूमघाम कर वहीं की वहीं आ जाती हैं।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में पिछली दो शताब्दियों में किए गए अनुसंधानों एवं अध्ययनों के फलस्वरूप भाषाओं के परिवर्तन और विकास के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आए हैं। इनमें प्रमुख हैं, स्वन परिवर्तन की नियमितता का सिद्धांत।

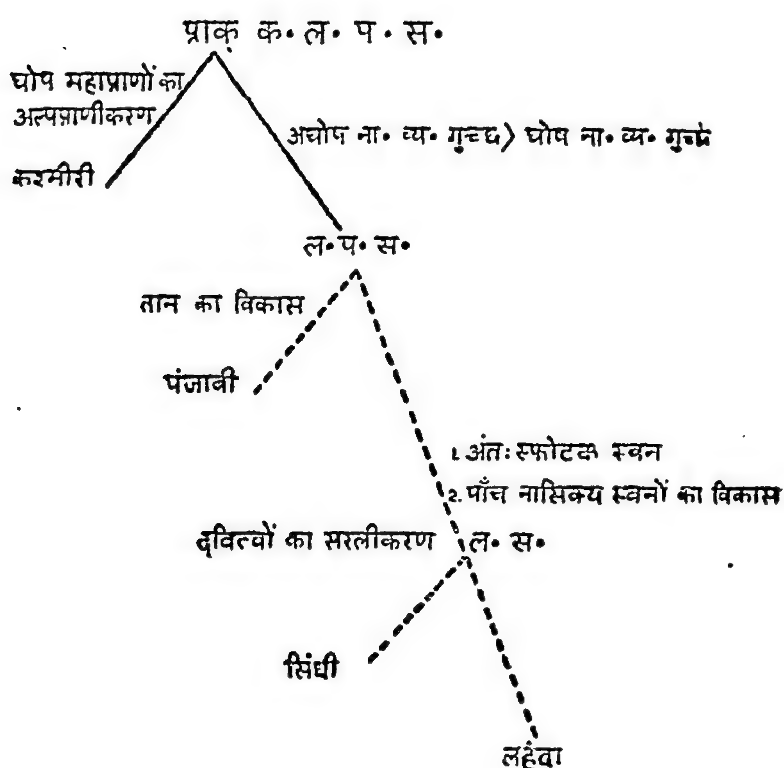
भाषिक परिवर्तनों के मुख्य कारणों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण है— 'स्वन परिवर्तन'। भाषा के इतिहास में कई स्वनिक एवं स्वनिमिक परिवर्तन होते हैं। इसी परिवर्तन के सिद्धांत पर आधारित है 'तुलनात्मक पुनर्रचना सिद्धांत'। इस सिद्धांत के अंतर्गत यह मानकर चला जाता है कि ये परिवर्तन स्वाभाविक हैं तथा किसी न किसी परिवेश के अंतर्गत होते हैं। कालक्रम के साथ-साथ भाषा के विकास-क्रम में कभी-कभी ये परिवेश लुप्त हो जाते हैं, किन्तु कुछ तथ्य अथवा परिवर्तन बचे रह जाते हैं जो उन लुप्त परिवेशों की किसी न किसी समय विद्यमानता की ओर संकेत करते हैं और भाषा के इतिहास की पुनर्रचना में सहायता करते हैं। अतः इस सिद्धांत के अनुसार उन भाषाओं के उद्गम एवं विकास का भी अध्ययन किया जा सकता है, जिनमें विकास संबंधी कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। भाषा में हुए विभिन्न परिवर्तनों की खोज तथा उनके कालक्रमिक अध्ययन द्वारा ही इस प्रकार का अध्ययन संभव हो सकता है।

अभी तक भारतीय भाषाओं का जितना भी ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है वह मुख्यतः अभिलेखों (शिलालेखों, धर्म ग्रंथों आदि) पर आधारित है। ऐतिहासिक-तुलनात्मक सिद्धांत का अनुसरण करते हुए कुछ ही अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें एक है डा0 देवी प्रसन्न पट्टनायक[11] का उड़िया, असमिया, बंगाली एवं हिंदी का नियंत्रित ऐतिहासिक पुनर्रचनात्मक अध्ययन। इसमें उन्होंने उड़िया और बंगाली के पारस्परिक संबंधों एवं असमिया से उन दोनों की पारस्परिक दूरी आदि के लिए अंतरंग प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। इसी सिद्धांत पर डा0 बाल गोविंद मिश्र[12] का आधुनिक मानक हिंदी की ऐतिहासिक, स्वनप्रक्रिया विषयक शोध प्रबंध मिलता है जिसमें उन्होंने पूर्व भारोपीय काल से लेकर अब तक हुए मुख्य स्वनिक एवं स्वनिमिक परिवर्तनों के कालक्रमिक अध्ययन द्वारा आधुनिक हिंदी स्वन-प्रक्रिया का विकास प्रस्तुत किया है। श्री कृष्ण[13] ने 'बांगरू, राजस्थानी और हिंदी' के पारस्परिक संबंधों को लेकर एक शोध प्रबंध प्रस्तुत किया है जिसमें बांगरू की सीमावर्ती भाषाओं—ब्रज, राजस्थानी तथा हिंदी के बीच उसकी स्थिति का अध्ययन किया गया है।

इसी पद्धति का प्रयोग करते हुए लेखक[14] ने कश्मीरी, लंहदा, पंजाबी तथा सिंधी का नियंत्रित सामग्री के आधार पर तुलनात्मक पुनर्रचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है जिसमें लहंदा, पंजाबी और सिंधी के पारस्परिक नैकट्य एवं दूरी का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इससे पूर्व इन भाषाओं के पारस्परिक संबंधों के बारे में स्थिति इस प्रकार थी। ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सर्वेक्षण में लहंदा को कहीं तो पंजाबी की बोली माना है और इसे पश्चिमी पंजाबी नाम दिया है, तो कहीं उसे स्वतंत्र भाषा मानते हुए स्वयं ही अपने पूर्वकथनों पर संदेह प्रकट किया है। लहंदा

और पंजावी दोनों में द्वित्व-व्यंजनों का पाया जाना उनके पारिवारिक एवं ऐतिहासिक संवंध और परस्पर-सामीप्य की ओर संकेत करता है। दूसरी ओर लहंदा और सिंधी में अंतःस्फोटक स्वनों एवं पाँच नासिक्य व्यंजनों की विद्यमानता दोनों की प्राक्कालीन घनिष्टता के लिए प्रमाण प्रस्तुत करती है। संभवतः इन्हीं समानताओं के कारण ग्रियर्सन इसके संवंध में कोई स्पष्ट मत प्रस्तुत नहीं कर पाए और उन्होंने लहंदा को कहीं स्वतंत्र भाषा माना तो कहीं पंजावी की एक वोली।

प्रस्तुत अध्ययन से जो तथ्य सामने आए उनको निम्नलिखित वंशवृक्ष द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।



(क=कश्मीरी, ल=लहंदा, प=पंजावी, स=सिंधी, ना=नासिक्य, व्य०=व्यंजन)

उपर्युक्त 'वंश वृक्ष' से स्पष्ट हो जाता है कि लहंदा, पंजावी और सिंधी तीनों ही एक पूर्वज रूप (क, ल, प, स) से विकसित हुईं। आगे चलकर पंजावी में 'तान' का विकास हो गया। जिसके फलस्वरूप सभी घोष

महाप्राण स्वन तानयुक्त अल्पप्राण स्वन वन गए। पंजावी के ल0 प0स0 वर्ग से अलग होने के वाद, 'ल0 स0' लंहदा और सिंधी के पूर्वज रूप में दो प्रमुख स्वन परिवर्तनों का समविकास हुआ–एक के अंतर्गत अंत:स्फोटक स्वन विकसित हुए और दूसरे के अंतर्गत तीन प्राक् नासिक्य स्वनों से दोनों भाषाओं में पाँच नासिक्य स्वनों का विकास हुआ। यही 'सम विकास' इन दोनों भाषाओं के पारस्परिक समीप्य की ओर संकेत करता है जिसके फलस्वरूप लहंदा पंजावी की वोली तो रह ही नहीं जाती। आगे चलकर सिंधी व्यंजन गुच्छों के सरलीकरण के आधार पर अपना वर्ग (लहंदा-सिंधी) छोड़ देती हैं और दोनों ही स्वतंत्र भाषाओं के रूप में विकसित होती हैं।

इन्हीं अध्ययनों की कड़ी में प्रो. पी. बी. पंडित[15] तथा मीगस कुम्हरा[16] के कार्य भी महत्त्वपूर्ण हैं। प्रो0 पंडित ने अपने शोध पत्र 'भारतीय आर्यभाषाओं का संवंधपरक अध्ययन' में तुलनात्मक पद्धति के अनुसार किए गए कार्यों के निष्कर्षों तथा टर्नर[17] के आधुनिक आर्यभाषाओं का तुलनात्मक शव्दकोश से तुलनात्मक सामग्री लेकर प्राक् आर्यभाषा से लेकर अव तक हुए स्वन परिवर्तनों के साक्ष्य के आधार पर इन भाषाओं के पारस्परिक संवंधों की व्याख्या प्रस्तुत की है। मीगस कुम्हरा ने अपने शोधप्रबंध 'प्राक् नव्य भारतीय आर्य भाषा की स्वनप्रक्रिया' में सिंहली, सिंधी, वंगाली, उड़िया, गुजराती, मराठी, पंजावी, भोजपुरी, हिंदी से तुलनात्मक सामग्री लेकर इन भाषाओं की प्राक्-स्वनिम प्रक्रिया की पुनर्रचना करने का प्रयास किया है। प्राक्-स्वनप्रक्रिया से सिंहली में हुए विभिन्न स्वन परिवर्तनों के कालक्रमिक अध्ययन के आधार पर सिंहली भाषा का विकास भी प्रस्तुत किया है।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में भाषा और वोली से जो तात्पर्य लिया जाता है, वह इस प्रकार है। भाषा प्राक्-रूप होती है तथा प्राक् रूप से विकसित रूप को वोली माना जाता है। प्राक् रूप से आधुनिक रूपों का विकास किन्हीं स्वन परिवर्तनों के माध्यम से होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है ये स्वनपरिवर्तन स्वनिक अथवा स्वनिमिक होते हैं। भाषा के प्राक् रूप से किसी रूप के अलग होने के लिए मात्र एक स्वनिमिक परिवर्तन ही पर्याप्त होता है। प्राक् भारतीय आर्य भाषा से उत्तरी पश्चिमी वर्ग की भाषाएँ (दरद, पहाड़ी, पंजावी, लहंदा, सिंधी) 'न्त' 7 'न्द' के कारण पृथक् हुईं जवकि दूसरे वर्ग में 'न्त' नासिक्य व्यंजन गुच्छ जैसा का तैसा चलता रहा। अव भी उत्तरी पश्चिमी भाषाओं में संस्कृत 'दंत' के रूप पंजावी 'दंद', लहंदा 'द्ंद', सिंधी द्ंद' (द्=अंत:स्फोटक 'द' स्वन) आदि मिलते हैं जवकि हिंदी में 'दाँत' हो जाता है जो कि प्राक् नासिक्य व्यंजन गुच्छ के सरलीकरण के फलस्वरूप हुआ है।

पिछले पृष्ठों में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में भाषा-वोली के संवंधपरक अध्ययन संवंधी अधुनातन सिद्धांत-पुनर्रचना सिद्धांत का परिचय दिया गया है। साथ ही इसी सिद्धांत के आधार पर अन्य भारतीय भाषाओं के सवंध में जो अध्ययन किए गए हैं उसका भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय आर्यभाषाओं के संबंधपरक अध्ययनों से अब तक जो निष्कर्ष सामने आए हैं, वे उत्साहवर्धक एवं इतिहास सम्मत हैं। इन अध्ययनों से इन भाषाओं के संबंधों के बारे में पूर्व मान्यताओं में भी काफ़ी परिवर्तन हुए हैं। हिंदी और उसकी तथाकथित बोलियों पर अभी तक इस प्रकार का अध्ययन नहीं किया गया है। अभी तक मात्र सतही समानताओं के आधार पर ही तर्क प्रस्तुत किए गए हैं।

इन बोलियों के विकास के पीछे जिन स्वन परिवर्तनों का हाथ रहा है उनके स्वरूपगत एवं कालक्रमिक अध्ययन द्वारा ही इनके बोली अथवा भाषा पद के संबंध में कोई निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इसी दिशा में लेखक का पूर्वी 'हिंदी एवं बिहारी बोलियों का संबंधपरक अध्ययन' संबंधी कार्य अभी सामग्री संचयन स्थिति में है। इसके लिए अवधी, छत्तीसगढ़ी, बघेली, मगही, मैथिली, भोजपुरी बंगाली तथा हिंदी से तुलनात्मक सामग्री संचित की जा रही है। मगही, मैथिली तथा भोजपुरी में से मैथिली तथा भोजपुरी के लिए एकत्रित सामग्री के आधार पर इन बोलियों का बंगाली वर्ग की भाषाओं से कुछ सामीप्य प्रतीत होता है। लेकिन अभी आधिकारिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि हिंदी की कुछ बोलियाँ ऐतिहासिक रूप से अन्य समीपवर्ती भाषाओं की बोलियाँ रही हों। यही संदेह मालवी, निमाड़ी, और गुजराती के परस्पर संबंधों को लेकर भी किया जा सकता है। एककालिक दृष्टि से तथाकथित हिंदी क्षेत्र एकल-भाषिक क्षेत्र न होते हुए भी एकल सांस्कृतिक क्षेत्र है।

किंतु इस क्षेत्र की बोलियों का कालक्रमिक दृष्टि से कैसे वर्गीकरण दिया जाए—इस प्रश्न को सुलझाने के लिए आवश्यक है कि हिंदी की सभी तथाकथित बोलियों से प्रर्याप्त तुलनात्मक सामग्री संकलित की जाए और तुलनात्मक पुनर्रचना सिद्धांत के अनुसार अध्ययन किया जाए। इन बोलियों के विकास के लिए उत्तरदायी स्वन परिवर्तनों के कालक्रमिक अध्ययन द्वारा ही इनकी पारस्परिक निकटता एवं दूरी का मापन संभव होगा तथा स्वन परिवर्तनों का स्वरूप निश्चित करने पर ही यह तय किया जा सकेगा कि कौन-कौन सी बोलियाँ हिंदी की बोलियाँ हैं तथा कौन–कौन सी अन्य भाषाओं की। ऐतिहासिक दृष्टि से ये बोलियाँ होते हुए हिंदी द्वारा भाषिक एवं सांस्कृतिक रूप से प्रभावित हैं। ●

संदर्भ ग्रंथ सूची

1–केळकर, अशोक रामचन्द्र	Studies in Hindi-Urdu, I Deccan College, Poona, 1968.
2–बीम्स, जान	A Comparative Grammar of Indo-Aryan Languages (1879). Rep. Munshi Ram Manohar Lal, Delhi.
3–केलाग, एस0 एच0	Grammar of Hindi Language (1875) Rep. Routledge & Kegan Paul, London. 1965.

4–हार्नली, रूडल्फ — (i) A Comparative Grammar of Gaudian Languages.
(ii) A Grammar of Eastern Hindi (Compared with other Gaudian, Languages) London, 1880.

5–ग्रियर्सन, सर जार्ज — (i) Seven Grammars of Bihari.
(ii) Linguistic Survey of India (1903-28). Rep. Munshi Ram Manohar Lal, Delhi.

6–चाटुर्ज्या, सुनीतिकुमार — (i) Origin & Development of Bengali Languages. Calcutta Univesity Press, Calcutta 1926.
(ii) Indo Aryan and Hindi, Ahmedabad, 1942.

7–वर्मा, धीरेंद्र — हिंदी भाषा का इतिहास, इलाहाबाद, हिंदुस्तानी, एकेडमी (पाँचवाँ संस्करण)

8–तिवारी, उदयनारायण — Origin and Develoment of Bhojpuri The Asiatic Society, Calcutta 1960.

9–श्यामसुंदर दास — भाषा रहस्य, इंडियन प्रेस, प्रयाग (संवत् 2013)

10–तिवारी, भोलानाथ — हिन्दी भाषा, किताब महल, 1970.

11–पट्टनायक, देवी प्रसन्न — A Controlled Comparative Reconstruction of Oriya, Assamese, Bengali and Hindi. Ph. D. dissertation, Cornell University (1961).
Published Mouton & Com. Hauge, 1966.

12–मिश्र, बालगोविंद — *Historical Phonology* of Modern standard Hindi-Proto Indo-Aryan to Modern—Ph. D. dissertation Cornell University, 1967. (Mimeographed).

13–श्रीकृष्ण — A Controlled Historical Reconstruction of Braj, Bangru, Panjabi & Rajasthani, M. Litt. dissertation Delhi University, 1968 (unpublished.)

14–ठाकुरदास — (i) A Controlled Comparative Reconstrutction of Kashmiri, Lahnda, Panjabi, and Sindhi.
M. Litt. dissertation, Delhi University, Delhi, 1969 (unpublished).

(ii) 'Position of Lahnda in North Western Group of Indo Aryan Languages.' Paper published in 'Paper and Talks' Central Institute of Indian Languages, Mysore 1971.

15–पंडित, पी० वी० 'Relationship in New Indo-Aryan Languages-(Mimeographed).

16–मीगस कुम्हरा, पी० वी० Proto New Indo-Aryan Phonology-Ph. D. dissertation, Deccan College Poona. 1970 (unpublished).

17–टर्नर, सर राल्फ A comparative dictionary of Modern Indo-Aryan Languages-Oxford University Press, London 1966.

निकष

स्टडीज़ इन हिंदी-उर्दू पार्ट I

इंट्रोडक्शन एंड वर्ड फोनोलोजी

(अशोक आर० केळकर)

प्रकाशक : डेकन कॉलेज, पूना 1968, पृष्ठ 87, मूल्य 12.00

प्रस्तुत दो-अध्यायी पुस्तक के प्रथम अध्याय– "परिचय" के अंतर्गत हिंदी-उर्दू से संबंधित ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन, सामाजिक तथा भौगोलिक परिवेश में हिंदी-उर्दू की स्थिति, पद्धति संबंधी परिचयात्मक टिप्पणी तथा शब्दावली के संबंध में कुछ संस्तुतियाँ प्रस्तुत की गई हैं। ये सभी शीर्षक आकर्षक हैं।

दूसरे अध्याय में शब्द-स्वनप्रक्रिया पर विस्तार से विचार किया गया है। यह अध्याय चार उपभागों में विभाजित है। प्रथम उपभाग में, शब्द-स्वनप्रक्रिया की कोड व्यवस्था की रूपरेखा के अंतर्गत स्वनिमों की सूची, स्वनात्मक संवाद तथा स्वनों के वितरण के संबंध में चर्चा की गई है।

इसी अध्याय के दूसरे उपभाग में आगत शब्दों के व्यंजन स्वनों, नासिक्य व्यंजन तथा अनुनासिकता, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त व्यंजन, कंठद्वारीय-संघर्षी स्वनों, स्वर-सूची, अर्ध स्वर, द्वित्व तथा अन्य व्यंजन गुच्छों, निराघाती ह्रस्व स्वर, तथा कदाचनिक संवादों के चयन की समस्या पर विचार किया गया है।

तीसरे तथा चौथे उपभाग के अंतर्गत उर्दू-हिंदी स्वनों की एक ठोस रूपरेखा प्रस्तुत की गई है तथा प्रस्तुत अध्ययन को व्यापक परिवेश में रखकर देखने का प्रयत्न किया गया है।

ये सभी शीर्षक महत्वपूर्ण हैं। ऐसा नहीं कि लेखक का उद्देश्य भाषावैज्ञानिक पुरानी शब्दावली के मायाजाल में पाठक को फाँसकर "आप नहीं समझेंगे" का अहेरी आनंद उठाना मात्र रहा हो, यह तो लेखक की शैली है। लेखक का प्रमुख उद्देश्य यह रहा है कि वह हिंदी-उर्दू स्वनों को विभिन्न संदर्भों में रखकर उन्हें परखे, हिंदी-उर्दू स्वनों के संबंध में प्रचलित अनेक भ्रांतिपूर्ण मान्यताओं को रद्द कर सके, कम से कम शब्दों में (संक्षिप्तता की सरलता– घाती सीमा तक), नियमों द्वारा (चाहे वे नियम मरीचिका नियम ही क्यों न हों), शब्द स्तर पर स्वन परिवर्तन का पूर्वाभास करा सके।

लेखक अपने उदेश्य में कहाँ तक सफल हुआ है, इस संबंध में आवश्यक नहीं कि हर पाठक की प्रतिक्रिया एक जैसी हो।

लेखक की यह इच्छा रही है कि विदेशी आलोचक की भाँति भारतीय आलोचक भी इस पुस्तक की प्रशंसा करें कि इस पुस्तक का मूल्य बहुत कम है, छपाई में तड़क-भड़क नहीं है तथा वेचारे हिंदुस्तानी गरीब पाठक बड़ी तादाद में इस पुस्तक को पढ़ सकते हैं। पुस्तक के संबंध में कुछ अन्य सूचनाएँ इस प्रकार हैं :

पृष्ठ संख्या 87, जिसमें 2 पृष्ठ अशुद्धियों के भी शामिल हैं। सादी छपाई और अशुद्ध छपाई में अंतर होता है। भारतीय पाठक और अमरीकी पाठक की क्रय-क्षमता में भी अंतर है। व्यावसायिक संस्थान द्वारा प्रकाशित न होकर यह पुस्तक शिक्षण संस्थान द्वारा प्रकाशित है। ऐसी स्थिति में यदि भारतीय पाठक चाहते हुए भी श्री केलकर की इच्छा पूर्ति न कर सके तो वह दोषी क्यों है ?

अमरीकी पाठकों के लिए कुछ अन्य रोचक, ऐतिहासिक महत्व के तथ्य रखे गए हैं, यथा— "हिंदी सीखने के केंद्र वाराणसी, इलाहाबाद और पटना हैं। उर्दू सीखने के लिए केंद्र हैं—दिल्ली, लखनऊ, अलीगढ़, हैदराबाद। आगरा भी कभी केंद्र था" (आज न तो यहाँ हिंदी सीख सकते हैं और न उर्दू। यहाँ के केंद्रीय संस्थान वालों को उनके संस्थान के लिए यह एक विरोधी प्रचार लगेगा) आज के संदर्भ में इस प्रकार के भ्रामक तथ्यों का क्या महत्व है ?

प्रथम अध्याय को पढ़कर कोई भी पाठक निष्कर्ष निकाल सकता है कि इस अध्याय की आधार सामग्री अपूर्ण क्षेत्रीय कार्यों पर आधारित नहीं है, जैसा कि लेखक का दावा है, अपितु पूर्णरूपेण पुस्तकालयी आधार सामग्री पर ही लेखक निर्भर रहा है।

पुस्तकालयी तथ्यों का पुनःपरीक्षण अथवा वर्तमान संदर्भ में उन तथ्यों की प्रामाणिकता सिद्ध करने का काम अपेक्षाकृत कठिन था, लेखक ने सुविधावादी दृष्टिकोण से काम लिया है।

सामाजिक भाषाई परिवेश में रखकर हिंदी-उर्दू को जिन चिप्पियों के अंतर्गत बाँटा गया है यदि उसे साहित्य से जोड़कर देखें तो कुछ अद्भुत निष्कर्ष सामने आएँगे। उदाहरण के लिए –

1. **औपचारिक उच्चस्तरीय*** (formalized highbrow) के अंतर्गत कविताएँ आती हैं, ये महत्-परंपरा की होंगी। शायद मीर, ग़ालिब और प्रसाद, पंत, महादेवी आदि की कविताएँ।

2. **औपचारिक मध्य स्तरीय** के अंतर्गत लोकप्रिय प्रकाशित साहित्य, गीत, फिल्म और भजन आते हैं। "प्रकाशित" विशेषण उच्च स्तरीय साहित्य के साथ नहीं जुड़ा है। लोकप्रिय साहित्य से लेखक का अभिप्राय किस प्रकार के साहित्य से है, स्पष्ट नहीं है। मान लीजिए—कहानी, उपन्यास, भजन—किसके ? सूर (ब्रज), कबीर (मिश्रित), तुलसी (अवधी) हिंदी के सर्वाधिक प्रिय कवि हैं। उर्दू में भजन नहीं लिखा गया है। इधर हिंदी साहित्य में भी भजन नहीं लिखा गया है (कीर्तन मंडली अभी साहित्य में प्रवेश नहीं पा सकी है)।

---

*अंग्रेजी शब्द 'Brow' का हिंदी पर्याय 'भौंह' भी यहाँ चल सकता था। 'भौंह' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग शायद कुछ खटकता, अतः यहाँ 'स्तरीय' शब्द रख दिया गया है।

3—**सामयिक मध्य स्तरीय**—इसके अंतर्गत किसी भी प्रकार का साहित्य नहीं रखा गया है ।

4—**सामयिक निम्न स्तरीय**—लेखक के अनुसार इसके अंतर्गत इस प्रकार का प्रकाशित साहित्य आता है जो पढ़े-लिखों द्वारा अपढ़ लोगों के लिए लिखा जाता है । भाषा तो निश्चित रूप से 'आधा गाँव' (राही मासूम रजा), 'मला आंचल' (रेणु), कुकुरमुत्ता (निराला), सर्वेश्वर दयाल तथा भवानीप्रसाद मिश्र आदि की ढेर सारी कविताएँ जैसी ही होंगी ।

हो सकता है कि लेखक अपनी किसी पाद-टिप्पणी का हवाला देकर हमें यह समझाए कि उसका आशय यह नहीं था । फिलहाल लेखक का आशय जिस रूप में प्रकट होता है हमारे लिए वही महत्त्वपूर्ण है न कि उसके मन का गुप्त अभिप्राय । जब विश्लेषण के अनेक स्तरों को एक में एक गड्ड-मड्ड कर दिया जाए तो स्थिति यही होती है ।

यही दशा लेखक की प्रजनक विधियों (Generative protocols) की है। मान लीजिए (ऐसे यह मान लेना भी उतना आसान नहीं है) कि हिंदी और उर्दू में केवल शब्दों और लिपि का अंतर है। कुछ खास शब्दों में आनेवाले खास स्वन भी हैं जो हिंदी तथा उर्दू को अलग-अलग करते हैं । अब आपको पहले चिप्पी-करण द्वारा HU.H और HU.U की सूची बनानी होगी जो आपके पूर्व ज्ञान पर आधारित होगी । इस प्रकार कोई स्वत: प्रजनक नियम तो नहीं बना फिर ये नियम प्रजनक कैसे हुए ? यहाँ भी लेखक कह सकता है कि हम नियमों को जानते हैं लेकिन पाठक बेचारा आपके मन की बात कैसे जान सकेगा ? प्रथम अध्याय में लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि "केवल एक ही बात स्पष्ट है कि हिंदी के संबंध में कुछ भी स्पष्ट नहीं है।" पाठक भी पूरी निराशा के साथ लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है ।

दूसरे अध्याय में क्लासिकी स्वन-विज्ञान के आधार पर हिर्दू स्वनों का विश्लेषण किया गया है । 'हिर्दू' शब्द लेखक का अपना गढ़ा हुआ शब्द है । लेखक को डर है कहीं यह शब्द कुछ लोगों को श्रुति-मधुर न लगे। श्रुति मधुरता तो है, साथ ही इसी शब्द के वजन पर और भी शब्द गढ़े जा सकते हैं, यथा—हिंगलिश = हिंदी + इंग्लिश; हिजपुरी = हिंदी + भोजपुरी आदि । यह दीगर बात है कि हम इस शब्द की उपयुक्तता नहीं सिद्ध कर सकें । पुस्तक पढ़ते हुए लेखक ने कई बार दुहराया है कि आगे हम हिंदी-उर्दू के स्थान पर हिर्दू शब्द का प्रयोग करेंगे, किंतु लेखक स्वयं भूल जाता रहा है और फिर हिर्दू के स्थान पर हिंदी-उर्दू का प्रयोग करने लगता है ।

तालिका संख्या 1 में हिर्दू व्यंजन स्वनों के लिए स्पर्श-संघर्षी नाम से कोई खाना नहीं है । तालिका के अनुसार "च", "छ", "ज", "झ" स्वन स्पर्श स्वन हैं, किंतु आगे चलकर लेखक "श" स्वन का उच्चारण स्थान स्पर्श-संघर्षी "च" स्वन के समान मानता है । आप नहीं कह सकते कि लेखक "च", "छ" आदि स्वनों को स्पर्श-संघर्षी मानता है क्योंकि तालिका में ये स्वन स्पर्श हैं । आप यह भी नहीं कह सकते कि लेखक इन्हें स्पर्श-संघर्षी नहीं मानता क्योंकि उनका विवरण है । आप इतना ही कह सकते हैं कि लेखन की बुनावट बहुत ढीली और विरोधाभासी है ।

अक्षर विभाजन का एक उदाहरण लीजिए—अस्वस्थ। लेखक के अनुसार इसमें दो अक्षर अस्+वस्थ् हैं। इसी शब्द का हो सकता है HU.U कटाव अ+स्वस्थ हो, किन्तु HU.H कटाव तो अ+स्वस्थ ही होगा। पता नहीं लेखक ने अपने [illegible] नियमों का प्रयोग यहां क्यों नहीं किया? विवरणात्मक व्याकरण में निर्धारण करने वाले को सुविधा रहती है कि वह अपनी व्यक्ति-बोली अथवा दूसरे की व्यक्ति-बोली (गिने-चुने लोगों की बोली) के आधार पर अपनी हर गलती को सही प्रमाणित कर दे। लेखक ने इस नुस्खे का पूरा फायदा उठाया है।

अपने अध्ययन को व्यापक परिवेश में रखते हुए लेखक का मत है कि "आज की त्रिस्तरीय स्थिति–"मानक हिंदू" (लेखक ने संभवतः विदेशी तर्ज पर "हिंदी" और "हिंदू" को समानार्थी माना है, पता नहीं मराठी भाषी अपने को हिंदू मानते हैं या नहीं) उपमानक हिंदू तथा निम्नतर भाषाएँ पूर्वकालीन क्लासिकी संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश, तथा पूर्व नवआर्य भाषा की निम्नतर भाषाओं की धुन पर चली आ रही भाषाई स्थितियां हैं। जिनमें से पहली (क्लासिकी संस्कृत) थोड़ी बहुत महत् परंपरा तथा पुनर्नवता की वाहक रही हैं। "यहाँ पाठक की आपत्ति "थोड़ी बहुत" और "एक मात्र" शब्दों द्वारा रचित आर्थी वाक्य-रचना की असंगतता को लेकर हो या न हो, यह आपत्ति तो हो ही सकती है कि क्या पूर्व निश्चित तीनों भाषाएँ एक ही काल में बोली जाती रही हैं?

अंत में निवेदन है कि इस पुस्तक की पूर्व समीक्षाओं को ध्यान में रखते हुए मेरे लिए आवश्यक था कि मैं उन छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान आकर्षित करता जिधर समीक्षकों ने ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। मैं नहीं कहता कि मैंने उन सभी नुक्तों पर विचार कर लिया है जो छूट गए थे। आशा है एक अन्य प्रसंग में इस पुस्तक की पुनः विस्तृत चर्चा करूँगा। ●

—विश्वजीत

संदर्भ

1. स्टडीज इन हिंदी=उर्दू—प्रथम—इंट्रोडक्शन एंड वर्ड फोनोलोजी, अशोक आर० केळकर. पूना, डेकन कॉलेज, 1968।

2. रिव्यू ऑफ केलकर—आर० एन० श्रीवास्तव, लैंग्वेज-45, 1969, पृ० 913–23

3. रिप्लाई टू श्रीवास्तवाज रिव्यू ऑफ स्टडीज़ इन—अशोक आर० केलकर–हिंदी-उर्दू। "इंडियन लिंग्विस्टिक्स, भाग 31, सं० 3, 1970, पृ० 103–8

4. रिजाइंडर टू केलकर्स रिप्लाइ टू श्रीवास्तवाज रिव्यू ऑफ स्टडीज़ इन हिंदी-उर्दू: आर० एन० श्रीवास्तव—इंडियन लिंग्विस्टिक्स, भाग 31, सं० 4, 1970

हिंदी मुहावरे

(डॉ० प्रतिभा अग्रवाल)

प्रकाशक : कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता (1969)

मूल्य : रु० 75/-

संस्कृत में कहा गया है "वाग्योगविद् दुष्यति नापशब्दै:"। सचमुच ही किसी भाषा को जानना ही पर्याप्त नहीं है, अपप्रयोग-जनित दोषों से बचने के लिए भाषा के मुहावरे की जानकारी अनिवार्यतः आवश्यक है । मुहावरे सामान्य भाषा के पौधे में लगने वाले वे फूल हैं जो मूलतः सामान्य भाषा से विचलित ऐसे प्रयोग होते हैं, जिन्हें धीरे-धीरे विशिष्ट भाषा-समाज से स्वीकृति मिल गई होती है । ये फूल सभी भाषाओं में होते हैं । डॉ० हरदेव बाहरी के इस कथन[1] से मैं सहमत नहीं हूँ कि संस्कृत मुहावरों की दृष्टि से दरिद्र है । संस्कृत के ऐसे प्रयोगों में, जिन्हें आज हम लाक्षणिक प्रयोग की संज्ञा देते हैं, बहुत से तत्त्वतः मुहावरे हैं । वही परंपरा संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से होती हुई हिंदी में आई है ।

हिंदी में आदिकाल से ही मुहावरों की समृद्ध परंपरा शुरू हो जाती है, और हर काल के हिंदी साहित्य में इस समृद्धि के प्रमाण उपलब्ध हैं।[2] किंतु अभी तक हिंदी भाषा की इस संपत्ति के आकलन का समुचित प्रयास नहीं हुआ था । प्रस्तुत ग्रंथ इस दिशा में प्रथम सुव्यवस्थित उपलब्धि है जिसमें सूर-तुलसी से लेकर आधुनिक साहित्यकारों तक के 151 ग्रंथों से मुहावरों को एकत्र करके अर्थ देते हुए वर्णानुक्रमबद्ध किया गया है । हर मुहावरे के साथ एक या अधिक प्रयोग-उद्धरण इन ग्रंथों से ससंदर्भ दिए गए हैं ।

हिंदी में मुहावरा कोश की दिशा में रामदहिन मिश्र (हिंदी मुहावरे, 1923 ; वृहद् मुहावरा कोश, 1959), रसूल अहमद (हिंदुस्तानी मुहावरा कोश); जंबुनाथन (हिंदी मुहावरा कोश, 1935) ; सरहिंदी (हिंदी मुहावरा कोश, 37); भोलानाथ तिवारी (हिंदी मुहावरा कोश, 1951) ने कार्य किए हैं, किंतु इन सभी के द्वारा दिए गए अधिकांश प्रयोग स्वनिर्मित गद्यवाक्य रहे हैं । डॉ० अग्रवाल ने सारे प्रयोग कवियों और लेखकों से ससंदर्भ एकत्र करके हिंदी मुहावरा कोश की परंपरा को अधिक समृद्ध रूप में आगे बढ़ाया है, और इसके लिए वे हिंदी-जगत् की बधाई की अधिकारिणी हैं ।

डॉ० प्रतिभा अग्रवाल का यह ग्रंथ मूलतः डी० फ़िल० के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबंध है। प्रकाशनार्थ परीक्षकों की प्रशंसा-पूर्ण संस्तुति ने कलकत्ता विश्वविद्यालय को इसे प्रकाशित करने की प्रेरणा दी। यह बात भी उल्लेख्य है कि यह कार्य डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के निर्देशन में हुआ है।

इस ग्रंथ की सबसे बड़ी शक्ति है विभिन्न स्रोतों से मुहावरों का संकलन। जैसा कि डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ० धीरेंद्र वर्मा तथा डॉ सुकुमार सेन ने अपनी सम्मतियों (पुस्तक के कवर पर मुद्रित) में संकेत भी किया है, संग्रह की यह विशालता श्लाघ्य है। किंतु लगता है संकलन कर्त्री के मस्तिष्क में यह बात बहुत साफ़ नहीं है कि मुहावरा किसे कहा जाए। संकलित मुहावरों में काफ़ी बड़ी संख्या अकेले संज्ञा, क्रिया या विशेषण शब्दों की है। कुछ उदाहरण हैं :—

संज्ञा :—खोपड़ी, कीचड़, कुदांव, गठरी, घर, ऐंठ, कचाई, चौयापन।

क्रिया :—ऐंठना, उलझाना, उबलना, उतारना, उतरना, उड़ाना, उड़ना, उठाना, उठना, कमाना, करना, कसना, कूदना, खाना, खिलाना, खोलना, हांकना, गरजना, घसीटना, घुटना, घुलना, चटाना, चबाना।

विशेषण :—ऊपरी, ऐंड़दार, कच्चा, ऊंचा, कनरसिया, उठल्लू।

क्या इस प्रकार के अकेले शब्द "मुहावरा" नाम के अधिकारी हैं? यदि अपने विशिष्ट अर्थ के कारण ये मुहावरे हैं तो भाषा में बहुत कम प्रतिशत ऐसे शब्दों का होता है जो अपने मूल अर्थों में ही प्रयुक्त होते हैं। तो क्या ऐसे सारे के सारे शब्दों को—अकेले शब्दों को मुहावरा करार दे दिया जाए? पुस्तक में कुछ मुहावरे और उनके अर्थ हैं—"गरजना"="गुस्से में जोर से बोलना", "झुकना="हार मानना", "डोलना"="विचलित होना", "ढलना"="किसी के अनुरूप बनना", "ढालना"="किसी के अनुरूप बनाना", "मार्ग"="तरीक़ा, उपाय", "मिट्टी"= 'शव", "मुहां -मुंह"="भरपूर, लबालब"; मोड़ना"= "दिशा परिवर्तन करना", "रंगरेलियां"="मौज-मस्ती।" यह प्रश्न है बड़ा जटिल कि शब्द अपने किस अर्थ तक शब्द है और किस अर्थ से लाक्षणिक शब्द और किस अर्थ में मुहावरा, या अकेला शब्द मुहावरा है भी या नहीं। हाथी का अर्थ है "एक जानवर"। यह अर्थ "हाथ" या "हस्त" के विशिष्ट अर्थ "सूंड" पर आधारित है। तो क्या "हाथी" मुहावरा है? यदि नहीं तो "शव" अर्थ में "मिट्टी" मुहावरा कैसे है? या जैसा कि डॉ० अग्रवाल ने दिया है "रिश्ते में होना" अर्थ में "लगना" को मुहावरा कैसे कहा जाए?

ऐसे ही "काला अक्षर भैंस बराबर" लोकोक्ति है, उसे या उस जैसी अभिव्यक्तियों को इस संग्रह में नहीं मिलना चाहिए था। और यदि एक शब्द के मुहावरे होते हैं तथा इस ग्रंथ में भी दिए गए हैं तो फिर "कपोलकल्पित होना", "घिसा होना", "घाघ होना" जैसे अनेक मुहावरे क्यों? "घाघ होना" का अर्थ दिया गया है "धूर्त होना"। फिर तो "घाघ" को देकर अर्थ "धूर्त" दे देना काफ़ी था। आखिर "घाघ" के ऐसे प्रयोग भी तो मिलते हैं : "उस जैसा घाघ मुश्किल से मिलेगा"।

ऐसे ही "कपोल कल्पित होना" का अर्थ दिया गया है "काल्पनिक होना"। किंतु ऐसे प्रयोग भी हैं : "मुझे ऐसी कपोलकल्पित बातों का विश्वास नहीं"। यों पुस्तक में इसका जो प्रयोग दिया गया है वह और ही है : "इन लोक विश्वासों को केवल कपोल कल्पना कहकर उड़ा देना ठीक नहीं।" इसके आधार पर मुहावरा होना चाहिए था "कपोल कल्पना" या "कपोल कल्पना होना" न कि "कपोल कल्पित"।

अनेक मुहावरे, पूर्वकालिक कृदंत रूप में दिए गए हैं। "ऐंठ कर", "आँचल पसार कर", "आँख मूंदकर," "दिल खोलकर"। वस्तुतः इन्हें "ऐंठना", "आँचल पसारना" "आँख मूंदना", "दिल खोलना" रूप में देना चाहिए था। "आँचल पसारकर" यदि मुहावरा है तो "मैंने देवी के सामने कितनी बार आँचल पसारा" जैसे प्रयोग इसके अंतर्गत नहीं आ सकते, किंतु यदि "आँचल पसारना" रूप में दें तो "आँचल पसार कर" भी इसमें समाहित हो जाएगा। ऐसे ही वर्तमानकालिक (जैसे "अपने चलते") या भूतकालिक (जैसे "कपट में बोरी हुई) कृदंती रूपों में दिए गए मुहावरों को भी-ना अंत्य रखना चाहिए था। "उस की बातें तो कपट में बोरी होती हैं" जैसे प्रयोग "कपट में बोरी हुई" मुहावरे में समाहित नहीं हो सकते। हाँ, ऐसे मुहावरों की बात अलग है जो सामान्यतः एक अर्थ का द्योतन करते हैं तथा विशिष्ट कृदंती रूप में विशेष। जैसे "झख मारना" (आज दिन भर झख मारता रहा, कुछ भी काम नहीं हो सका) का एक अर्थ है तथा "झख मारकर" (तुम घबराओ नहीं, वह जाएगा कहाँ, झख मारकर यहीं आएगा) का दूसरा। "अनाप-शनाप" या "आँय-बाँय" का यदि मुहावरे का अर्थ क्रमशः "बे हिसाब, फालतू" तथा "व्यर्थ का" है तो हिंदी में इनका सामान्य अर्थ क्या है, जिससे विचलित होकर यह अर्थ निकलता है ?

कहीं-कहीं अर्थ लाक्षणिक दृष्टि से मुहावरे के अनुरूप नहीं है। उदाहरण के लिए "कमर कमान करना" का अर्थ दिया गया है "दृढ़तापूर्वक" या "कुल खोवन होना" का "कुल की मर्यादा को नष्ट करने वाला" या "चिकनी-चुपड़ी बातें करना" का "बनावटी स्नेह से भरी बातें"।

"मुख्य क्रिया" और "सहायक क्रिया" का विचार भी अनेक स्थलों पर नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए एक मुहावरा दिया गया है "कट जाना" जिसके अर्थ हैं "लज्जित होना", "लड़ाई में मर जाना" तथा "खिसक जाना" आदि। जब अन्यत्र एक शब्द के मुहावरे इस संग्रह में हैं तो यहाँ भी केवल "कटना" देना चाहिए था। संग्रहकर्त्ता ने इस प्रसंग में जो उद्धरण दिए हैं, उनमें भी कुछ पर "कट जाना" प्रविष्टि लागू नहीं होती : "जिसे देता हूँ वही उसके चस्के में पड़ जाता है, और फिर परिश्रम से कटता और जी चुराता है"।—जैनेंद्र। "अच्छा यह बताओ यहाँ कैसे कटती है।" —'प्रसाद। वस्तुतः इस तरह की गलती तो प्रायः हुई है कि मुहावरा कुछ है, और प्रयोग कुछ। एक प्रविष्टि है "खा जाना"। तो फिर "खा बैठना", खा चुकना" क्यों नहीं ? संग्रहकर्त्ता ने स्वयं उद्धरण दिए हैं : "पूरे सौ साल खा चुका हूं।" —सुदर्शन। "जो रुपए आपने दिए वे हम खा बैठे हैं।"—देवेंद्र सत्यार्थी। वस्तुतः केवल "खाना" काफ़ी था ; क्योंकि उसी के अंतर्गत ये सभी प्रयोग आ जाते।

अर्थ देने में भाषा में एकरूपता नहीं है : "खाई खुदना" का अर्थ दिया गया है "दूरी होनी", किंतु "खरी-खोटी सुनाना" को "भली बुरी कहना" ऐसे ही "भंग पीनी जानी", "अधीनता स्वीकार करनी", "आह लेना", "तिलमिलाहट होनी", "बात प्रतिकूल होनी", "शरीर में चुनचुनी होनी" । या तो सर्वत्र "ना" का प्रयोग होना चाहिए या स्त्रीलिंग में सर्वत्र "नी" का । यों सर्वत्र "ना" का प्रयोग ही मूल अर्थ में अधिक ठीक रहता । यों यह भी अजीब है कि प्रविष्टि में यह अव्यवस्था नहीं है, केवल अर्थ में है ।

एक मुहावरा दिया गया है "झंडे के नीचे" । प्रयोग है : "सभी तुम्हारे ध्वज के नीचे आए थे न प्रणय से ।"–दिनकर । प्रयोक्ता ने "झंडे" के स्थान पर "ध्वज" का प्रयोग किया है । कविता में पर्यायों का कवियों ने प्रायः प्रयोग किया है । गुप्त जी की पंक्ति है : "इसको ही कहते हैं उंगली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना" । वस्तुतः मुहावरे में पर्याय का प्रयोग होना नहीं चाहिए ।"पानी-पानी होना" को "नीर-नीर होना" या "अंबु-अंबु होना" नहीं कह सकते । खैर ऐसे में कोशों में क्या किया जाए । मेरे विचार में वर्णानुक्रम से "ध्वज के नीचे" भी दिया जाना चाहिए था । क्योंकि दिनकर का प्रयोग मूलतः "झंडे के नीचे" नहीं किंतु वस्तुतः ध्वज के नीचे है ।

इन कुछ कमियों से इस संग्रह का महत्त्व कम नहीं होता । डॉ० प्रतिभा अग्रवाल के पास मुहावरों का अभी और बड़ा भंडार है । आशा है उसे भी वे यथासमय प्रकाशित करेंगी ।

इस परिश्रम साध्य ग्रंथ के लिए डॉ० प्रतिभा अग्रवाल को मैं बधाई देता हूँ । ●

—भोलानाथ तिवारी

टिप्पणियां :

1. A study of classical literature shows that idioms in Sanskrit were rare — Persion Influence on Hindi, प्रथम संस्करण, पृ० 59.

2. देखिए–"हिंदी मुहावरों की परंपरा"–भोलानाथ तिवारी, भाषाचिंतन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 117

मानक अँग्रेज़ी-हिंदी कोश

(हिंदी साहित्य सम्मेलन)

संपादक—सत्यप्रकाश डी० एस० सी०, वलभद्रप्रसाद मिश्र एम० ए०;

प्रकाशक—हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ-संख्या 1573; मूल्य 68 रु०;
(भारत सरकार की सहायता से प्रकाशित)

आरंभ में ही मैं एक बात स्वीकार कर लेना चाहता हूँ और वह यह कि शब्द-कोश-निर्माण भाषिक क्रियाकलाप के परम दुर्गम और दुस्तर क्षेत्रों में से है। स्केलिजर (जे० जे०) ने अपने व्यापक अनुभव के बल पर इस अनुष्ठान के कष्टों-क्लेशों को अपनी इस व्यंग्यपुष्ट उक्ति के द्वारा रेखांकित कर दिया है कि जघन्य अप-राध के अभियुक्त को न तो फाँसी पर चढ़ाना आवश्यक है, न बेगार में जोतना जरूरी है—उसके लिए बस एक ही सजा पर्याप्त है और वह है उसे कोश-निर्माण के (महा नीरस) कार्य में जुटा देने की सज़ा। ग्लीसन ने सीधी-सपाट भाषा में यही मंतव्य व्यक्त किया है: कोश-निर्माण घोर कष्टसाध्य कार्य है। इसमें आदमी की जान निकल जाती है। यह काम कितना विराट् है—सहसा इसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता।[1]

द्विभाषिक कोश इस स्थापना का कोई अपवाद नहीं है और मैं यह कह देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत कोश के मूल्यांकन में इसके पक्ष या विपक्ष में मैं जो कुछ भी कहूँगा, पूरी ज़िम्मेदारी और इस कार्य में निहित कठिनाइयों के प्रति पूर्ण जागरूकता के साथ कहूँगा। कोशकार के रूप में अपने यत्किंचित् प्रयासों और अनुवादक के रूप में अपने व्यापक-विस्तृत अनुभव के बूते पर प्रस्तुत मूल्यांकन के लिए अपेक्षित विषयज्ञ की विशेषज्ञ दृष्टि और प्रयोक्ता की व्यावहारिक दृष्टि दोनों का समन्वय कर पाना शायद संभव हो—इस प्रत्याशा के बल पर ही मैंने यह दायित्व स्वीकार किया है।

द्विभाषिक कोश-निर्माण—जैसा मैंने ऊपर कहा है—कठिन कार्य है परंतु जब लक्ष्य-भाषा स्रोत-भाषा के समान ही विकसित न हो तो यह कार्य कठिनतर हो जाता है। फिर जब दोनों के बीच सांस्कृतिक अलगाव और दूरी हो तो स्थिति "ग्रह गृहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार"—जैसी हो जाती है। हिंदी-अँग्रेजी के संदर्भ में ये सभी बातें लागू होती हैं—अतः मैं निस्संकोच यह स्वीकार करता हूँ कि प्रस्तुत संपादकों का कार्य बड़ा दुरूह, कठिन और कष्टसाध्य है और इतने बड़े कार्य को संपादित कर देना ही अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है। भारतीय भाषाओं से हिंदी और हिंदी से भारतीय भाषाओं में द्विभाषिक कोशों

की रचना उतना कठिन कार्य नहीं क्योंकि सांस्कृतिक दूरी, अलगाव और असामंजस्य की समस्या का रूप इस संदर्भ में उतना विकट और प्रखर नहीं होता। अँग्रेज़ी (अथवा किसी अन्य विदेशी भाषा) और हिंदी (अथवा किसी अन्य भारतीय भाषा) के संदर्भ में स्थिति इतनी विषम इसलिए होती है कि हर भाषा के शब्दों के साथ प्रयोग के निरंतर प्रवाह में जो अर्थच्छवियाँ और अर्थच्छटाएँ जुड़ जाया करती हैं उन्हें किसी भी ऐसी भाषा में व्यक्त करना सर्वथा असंभव होता है जो सांस्कृतिक दृष्टि से विच्छिन्न और विविक्त हो। इस कठिनाई को समझने के लिए हमें सबसे पहले अपने आप से यह प्रश्न पूछना होगा कि द्विभाषिक कोश का मूल प्रयोजन क्या होता है? इसका उत्तर मैं लादिस्लाव ज्गुस्ता[2] के शब्दों में देना चाहूँगा : "द्विभाषिक कोश का मूल प्रयोजन होता है एक भाषा के कोशीय एककों का दूसरी भाषा के ऐसे कोशीय एककों के साथ सामंजस्य स्थापित करना जो कोशीय अर्थ की दृष्टि से समान समतुल्य हों।" सामंजस्य की राह में आधारभूत कठिनाई होती है "रूपरचना-वैषम्य"[3]; संस्कृतिमूलक शब्दों में यह खाई सबसे साफ़-साफ़ नज़र आती है और दोनों की व्याकरणिक संरचना भिन्न हो तो कठिनाई और बढ़ जाती है। हो सकता है कोई वस्तु स्रोत भाषा के क्षेत्र में विद्‍यमान हो, लक्ष्य भाषा के क्षेत्र में न हो, या उसी रूप में न हो। तब कोशकार क्या करेगा? ऐसी स्थिति में कोई वास्तविक समानक या पर्याय तो होता नहीं—उसकी व्याख्या ही लक्ष्य भाषा में की जा सकती है। कहीं-कहीं जो प्रतिशब्द उपलब्ध होते हैं वे प्रतीयमान पर्याय होते हैं अर्थात् वे पर्यायत्व का आभास देते हैं, वास्तव में पर्याय होते नहीं। सांस्कृतिक सूत्रों के जटिल ताने-बाने के वैविध्य के कारण उनमें अर्थ-भेद होता है और उस भेद का बोध विशेषज्ञ को ही हो सकता है। एक उदाहरण देता हूँ। संस्कृत के "देव" (अथवा देवता) शब्द को लीजिए। ग्रीक भाषा में इसका समानांतर शब्द है θεό's (Theos—जिससे अँग्रेज़ी में Theology, Theocracy आदि शब्द बने हैं)। अँग्रेज़ी में इसका एक ही पर्याय है 'God' . 'G' को बड़ा लिखकर दोनों शब्दों (god, God) में अर्थभेद कर लिया गया है किंतु वास्तव में हिंदुओं के बहुदेवमंडित जगत् और अँग्रेज़ी शब्द "गॉड" के द्‍वारा ध्वनित अर्थजगत् में आकाश-पाताल का अंतर है। सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ शब्द की अर्थच्छवियाँ भी गहरी-हल्की होती रहती हैं। कोशकार की कठिनाई इसीलिए दोहरी हो जाती है। मूल शब्द को उसकी संपूर्ण अर्थवत्ता में ग्रहण करने के लिए उसे स्रोत भाषा के समूचे सांस्कृतिक परिवेश से परिचित होना पड़ता है और फिर लक्ष्य भाषा के अंतर्गत मूल शब्द की अर्थच्छायाओं का न्यूनाधिक अंतर्भाव करने वाले एकाधिक शब्दों को प्रयोगों की तुला पर तोलना और जाँचना-परखना होता है। सर्वांगसम एवं पूर्ण पर्यायवाची शब्दों का अस्तित्व तो प्रायः मृगमरीचिका ही सिद्‍ध होता है। इस मंतव्य को शॉपनहावर ने अपनी अभिव्यंजक शैली में यों व्यक्त किया है : "तथाकथित पर्याय प्रायः परस्पर-अंतर्वर्ती वृत्तों की भाँति होते हैं।[4] यह तो सोचना ही भ्रामक है कि किन्हीं दो भाषाओं की धारणा पद्‍धतियाँ सर्वथा समान हो सकती हैं।[5] पर्याय प्रतीत होने वाले शब्दों में भी उनका कोई न-कोई आयाम तथाकथित पर्याय की अर्थपरिधि से या तो ज़्यादा फैल जाता है या उसके एक हिस्से अथवा कोने में सिमट कर रह जाता है।[6]

इस लंबी भूमिका का मंतव्य जहाँ एक ओर संपादकों के कर्तव्य कर्म की गुरुता एवं दुःसाध्यता की मुक्त स्वीकृति है वहीं कुछ ऐसे आधारतत्त्वों का उल्लेख एवं आख्यान भी है जिनका उपयोग यथासमय में आगे के विवेचन और तर्कशृंखला

में करूँगा। यहाँ यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि हमारे यहाँ इस श्रेणी के द्विभाषिक कोशों की कोई बहुत समृद्ध या सुदीर्घ परंपरा नहीं रही। यह परंपरा परिमाण की दृष्टि से ही अत्यंत विरल और क्षीण नहीं, गुणवत्ता और स्तर की दृष्टि से भी कोई बहुत प्रशंसनीय नहीं है। कुछ पूर्ववर्ती प्रयत्नों का उल्लेख किया जा सकता है :

1. फ़र्ग्युसन : "ए डिक्शनरी ऑफ द हिंदुस्तानी लैंग्वेज" (1773)
2. गिलक्राइस्ट : "ए डिक्शनरी : इंगलिश एंड हिंदुस्तानी" (1790)
3. हेनरी हैरिस : "ए डिक्शनरी : इंगलिश एंड हिंदुस्तानी" (1790)
4. गिलक्राइस्ट : "हिंदुस्तानी फाइलोलॉजी" (1810)
5. रोवक : "डिक्शनरी, इंगलिश हिंदुस्तानी" (1811)
6. मैथ्यू टामसन एडम : "डिक्शनरी : इंगलिश एंड हिंदी" (1829)
7. रोज़ारियो : "ए डिक्शनरी ऑफ प्रिंसिपल लैंग्वेजिज़ स्पोकन इन द बँगाल प्रेसिडेंसी" (1837)
8. देवी प्रसाद राय : "पॉलीग्लाट मुंशी और वोकेबुलरी एक्सरसाइज़िज़ इन इंगलिश, पर्शियन, हिंदी, हिंदुस्तानी एंड बँगाली" (1841)
9. ग्रांट—"एंग्लो-हिंदुस्तानी वोकेबुलरी" (1850)
10. हैजेलग्रोव : "ए वोकेबुलरी : इंगलिश एंड हिंदुस्तानी" (1865)
11. फ़ैलन : "न्यू इंगलिश-हिंदुस्तानी डिक्शनरी" (1883)
12. क्रैवेन : "द न्यू रॉयल डिक्शनरी" (इंगलिश इंटु इंगलिश एंड हिंदुस्तानी) (1911) संशोधित।
13. (इंडियन प्रेस) : "पॉपुलर इंगलिश-हिंदी डिक्शनरी" (1936)
14. रामचंद्र पाठक : "भार्गव स्टैंडर्ड इलस्ट्रेटिड डिक्शनरी ऑफ द इंगलिश लैंग्वेज"।
15. अग्रवाल : "नालंदा करेंट डिक्शनरी" (लगभग 1950)
16. गोपीनाथ श्रीवास्तव : "आंग्ल-हिंदी पर्याय शब्द-कोश" (1952)
17. (उस्मानिया विश्वविद्यालय) : "ए कंसाइज़ इंगलिश-हिंदी डिक्शनरी" (1953)
18. डॉ० सूर्यकांत : "ए न्यू इंगलिश-हिंदी डिक्शनरी" (1953)
19. केदारनाथ भट्ट : "अभिनव अँग्रेज़ी-हिंदी डिक्शनरी" (1955)
20. डॉ० बाहरी : "बृहत् अँग्रेज़ी-हिंदी कोश" (1960)
21. राममूर्ति सिंह : "सामान्य अँग्रेज़ी-हिंदी कोश" (1964)
22. डॉ० कामिल बुल्के : "अँग्रेज़ी-हिंदी कोश" (1968)।

यों हिन्दी के लिए प्राय: दो दर्जन कोश हैं परंतु इनमें गुणवत्ता और कोश-वैज्ञानिक दृष्टि से फैलन, केदारनाथ भट्ट, डॉ० बाहरी तथा डॉ० बुल्के के प्रयत्न ही उल्लेखनीय और सराहनीय हैं। इनमें कई प्रारंभिक कोश तो ऐसे हैं जो काल-गति के साथ पुराने पड़ चुके हैं और अपनी उपयोगिता खो बैठे हैं, जिनमें उल्लिखित अनेक हिंदी पर्याय या तो आज लुप्तप्रयोग हो चुके हैं या जिनके तत्कालीन अर्थों का संकोच, विस्तार अथवा आदेश हो चुका है। आज के विद्यार्थी के लिए वे अनुपयोगी बन चुके हैं। डॉ० बाहरी और डॉ० बुल्के के कोशों में अपेक्षाकृत अभिनव प्रयत्न परिलक्षित होते हैं। इनके विषय में यहाँ कुछ कहना अप्रासंगिक होगा; अत: मैं केवल इतना कहना चाहूँगा कि आज भी एक ऐसे अँग्रेज़ी-हिंदी कोश की आवश्यकता बनी हुई है जो अँग्रेज़ी के बढ़ते-फैलते स्वरूप को समग्रत: अपने कलेवर में समेट ले, जिसमें हिंदी पर्यायों एवं प्रतिशब्दों को आधुनिक एवं सम-सामयिक प्रयोग तथा अर्थबोध की तुला पर तोलने की क्षमता परिलक्षित हो और जिसके माध्यम से हिंदी को एक समर्थ आधुनिक भाषा के रूप में ढालने में सहायता मिले।

प्रश्न है—समीक्षाधीन कोश इन अपेक्षाओं की कसौटी पर कहाँ तक खरा उतरता है?

हमारे कोशकारों की प्रवृत्ति वस्तुत: यह रही है—और यही कोश-साहित्य का तथा हिंदी भाषा का दुर्भाग्य रहा है—कि वे नए प्रयत्नों के नाम पर लीक ही अधिक पीटते हैं, नए शब्दों और प्रयोगों को जानने-समझने और कोशबद्ध करने के लिए वे न तो सामयिक साहित्य में पैठने का प्रयत्न करते हैं, न ही जनजीवन से जीवित संपर्क बनाए रखने का। हमारा कोश-साहित्य इस एक रोग से आक्रांत होने के कारण कहीं तो नीरक्तता की चपेट में आ गया है, कहीं रक्तातिशयता की ("तनु छीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे")। सच पूछिए तो जो श्रमशीलता एवं सजगता विगत शताब्दी के विदेशी कोशकारों के प्रयत्नों में परिलक्षित होती है, वह अधिकांश नए देशी कोशकारों में नहीं और इसीलिए उनमें न जीवंतता है, न ताज़गी।

और जीवंतता एवं ताजगी का यह अभाव वास्तव में इस कोश में भी है—इस तथ्य की ओर किसी प्रबुद्ध वैज्ञानिक-तकनीकी लेखक/अनुवादक का ध्यान जाए बिना नहीं रह सकता। द्विभाषिक कोश के सबसे महत्त्वपूर्ण दो पहलू होते हैं : सामग्री-संग्रह अथवा प्रविष्टि चयन और अर्थ अथवा पर्याय-निर्धारण। सामग्री-संग्रह की दृष्टि से वर्तमान परिस्थितियों में हिंदी-अँग्रेज़ी कोशकार की जैसी दयनीय स्थिति होती है वैसी दयनीय स्थिति अंग्रेजी-हिंदी कोशकार की नहीं होती—कम-से-कम होनी नहीं चाहिए। अंतत: द्विभाषिक कोशकार को अपना आधार तो स्रोत भाषा के किसी अच्छे एकभाषिक कोश को ही बनाना पड़ता है और अंग्रेजी में ऐसे कोशों की कोई कमी नहीं है। हिंदी में कमी है और बहुत है। फलत: हिंदी-अँग्रेज़ी कोशकार को सामग्री-संग्रह में एकभाषिक कोशकार की भूमिका भी निभानी पड़ती है और प्रत्येक कोशीय एकक के अनेक अर्थों का निर्धारण-प्रतिपादन अपनी सूझबूझ से करना पड़ता है। विद्यमान हिंदी-हिंदी कोशों से उसे कोई उल्लेखनीय सहायता नहीं मिलती और मिलती भी है तो बहुत कम क्योंकि इनका प्रविष्टि-चयन और अर्थ-निर्धारण दोनों ही सदोष हैं और उनमें वैज्ञानिक

दृष्टिकोण का अभाव परिलक्षित होता है। इनमें हिंदी की पिछले पच्चीस वर्षों की नई शब्द-संपदा अथवा अर्थगत परिवर्तन-परिवर्धन के प्रति कोई जागरूकता परिलक्षित नहीं होती। अँग्रेज़ी में नए-से-नए कोशों की कोई कमी नहीं और हर अच्छे कोश के नए संस्करण में नए शब्दों का अंतर्भाव करके उसे आधुनिकतम स्वरूप दे दिया जाता है। परंतु दुर्भाग्य से प्रस्तुत कोशकारों ने किसी अधुनातन कोश को अपना आधार नहीं बनाया। कोश का प्रविष्टि-चयन अपने आप में एक कठिन कार्य होता है जिसके लिए बड़ी सधी हुई दृष्टि की आवश्यकता होती है—ऐसी दृष्टि की जिसके सम्मुख एक कौंध की तरह प्रविष्टि विशेष के अनेक-मुखी प्रयोग उजागर हो उठें। प्रविष्टि-चयन कोश के भावित स्वरूप से नियंत्रित होता है अर्थात् इस तथ्य से कि कोश-निर्माण का प्रयोजन और मंतव्य क्या है। प्रयोजन के विषय में स्वयं संपादकों का वक्तव्य यह है: "उपयोग की दृष्टि से यह कोश अँग्रेज़ी के सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार के पाठकों की सुविधाओं को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है और उद्देश्य यह भी रहा है कि आज जब हिंदी में अँग्रेज़ी की ललित, वैज्ञानिक एवं मानव शास्त्र संबंधी विपुल सामग्री के अनुवाद की आवश्यकता है उस दृष्टि से यह कोश हिंदी में अनुवाद करने वाले विद्वानों के लिए पर्याप्त हो।"[7] यह वक्तव्य प्रविष्टि-चयन और अर्थ-निर्धारण दोनों की ही दृष्टि से परीक्षण सापेक्ष है। इसके अतिरिक्त कोश-कार्य के प्रति अपनी सैद्धांतिक जागरूकता और व्यापक दृष्टिकोण का परिचय संपादकों ने इन शब्दों में भी दिया है: "वर्तमान युग विज्ञान और तकनीक का है, फलतः अँग्रेज़ी शब्दकोश में अब तो अधिकांश शब्द वैज्ञानिक या तकनीकी हैं। प्रत्येक नूतन आविष्कार अपने साथ नई शब्दावली लाता है। अथवा पुराने शब्दों को नए अर्थ प्रदान करता है। प्रत्येक नई विचारधारा . . . . . . नये पारिभाषिक शब्दों के परिधान में व्यक्त की जाती है।"[8] अपने स्रोतों का संकेत देते हुए संपादक ने लिखा है: "इस कोश में उपलब्ध अँग्रेज़ी शब्दों का चयन प्रामाणिक स्रोतों से किया गया है।"[9] देखना है इन वक्तव्यों की व्यावहारिक परिणति किस हद तक हुई है!

सामान्य कोशों में प्रविष्टियाँ अधिक-से-अधिक रखी जाती हैं ताकि इच्छा-क्रिया-ज्ञान के व्यापक-से-व्यापक क्षेत्र का अंतर्भाव उसमें हो सके और यथाशक्ति स्रोत भाषा की संपूर्ण शब्द-संपदा (कुछ एकांततः पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर) उसमें समा सके। हाँ, इसके साथ लक्ष्य भाषा की सामर्थ्य और उसके क्षेत्रीय-सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को भी ध्यान में रखा जाता है और यह प्रभाव प्रायः प्रविष्टियों को सीमित करता है। उदाहरणार्थ, हिंदी-अंग्रेजी कोश में अनेक ऐसे अल्पज्ञात हिंदू संस्कारों की प्रविष्टि चिंत्य होगी जिनको अँग्रेज़ी भाषा-भाषी को न तो पर्यायों द्वारा समझाया जा सकता है, न उदाहरणों द्वारा, न व्याख्याओं-परिभाषाओं द्वारा। पर ये ही शब्द हिंदी-तेलुगु, हिंदी-मराठी आदि कोशों में ग्राह्य होंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि द्विभाषिक कोश की स्रोत-भाषा-प्रविष्टियों के चयन में जहाँ अनेक प्रविष्टियों की ग्राह्यता निरपेक्ष होती है वहीं कुछ प्रविष्टियों की ग्राह्यता लक्ष्यभाषा-सापेक्ष भी होती है क्योंकि हम यह मानते हैं कि अंततः प्रयोक्ता उनके सहारे लिखित अथवा अलिखित रूप में स्रोत भाषा में व्यक्त भावों-विचारों, वातावरण आदि के लक्ष्यभाषा में पुनःसृजन एवं पुनराख्यान का प्रयत्न करता है।

इस दृष्टि से द्विभाषिक कोश में कुछ प्रविष्टियों का न होना क्षम्य हो सकता है—कम-से-कम उसके लिए तर्क तो दिया ही जा सकता है; परंतु कुछ प्रविष्टियाँ ऐसी होती हैं जिनका अभाव अक्षम्य होता है। मैंने ऊपर संकेत किया है कि कोशकारों ने अपने सामग्री-संग्रह में अर्थात् स्रोत भाषा के प्रविष्टि-चयन में किसी पुराने-निरायुनिक अंग्रेजी शब्दकोश को आधार बना लिया है। प्रविष्टियों के ग्रहण और त्याग में, जैसे विवेक, तटस्थ-बुद्धि और जागरूकता की आवश्यकता होती है उसका परिचय कोश के संपादकों ने नहीं दिया है अन्यथा कोई कारण नहीं कि "Linguistics" जैसे नवोदित एवं विकासमान विज्ञान की प्रविष्टि 1971 में प्रकाशित कोश में न हो और भाषाविज्ञान के ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्दों की उपेक्षा हो जाए, जैसे—

phoneme, phonemics, morpheme, allophone, allomorph, phonetics, ani omorphism, onomasiological, lexicology, stylistics आदि। इस प्रकार के शब्द छूट जाने का कोई तर्कसंगत कारण नहीं है—कारण अगर कुछ है तो भाषा की वर्तमान गतिविधियों और नई शब्दावली से अपरिचय। शब्दकोश यों भी जीवंत भाषा-प्रयोगों की दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है फिर यदि कोशकार भाषा के अद्यतन विकास एवं जीवंत प्रयोगों से कदम-ब-क़दम नहीं चलता तो उसे अपने कर्तव्य कर्म से विमुख मानना होगा। कोशकार को अपनी सिद्धि के लिए मूल्य चुकाना होता है और वह मूल्य है चिरंतन जागरूकता और सर्वचिंतन। कोश-निर्माण की प्रक्रिया का आदि तो होता है, अंत नहीं। प्रस्तुत कोश में ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्दों की गिनती कम नहीं जो न तो मूल प्रविष्टि के रूप में ग्रहण किए गए हैं, न उपप्रविष्टि के रूप में और इनमें बहुत सारे शब्द ऐसे हैं जो पहले के कोशों—डा० बाहरी और डॉ० बुल्के के कोशों—में विद्यमान हैं। इस दृष्टि से इनका छूट जाना (या छोड़ दिया जाना) अक्षम्य है और जब कोश के कलेवर (1573 पृष्ठ) तथा मूल्य (68 रुपए) की ओर ध्यान देते हैं तब तो यह तथ्य और क्लेशकर हो जाता है। कलेवर की विराटता तथा मूल्याधिक्य दोनों ही आतंकोत्पादक हैं। प्रश्न केवल एक ही विषय या शास्त्र के शब्दों का नहीं है। 'Flying Saucer', 'House fly', 'Aves', 'Sputnik', आदि शब्दों की प्रविष्टि नहीं। 'Black market' है परंतु 'Black money' नहीं (जिसके अत्याचार से सारा देश पीड़ित है और जिसके निराकरण के लिए आयोग बैठ चुका है); 'Implement' है, 'Implimentation' नहीं। आधुनिक भारतीय राजनीति और इतिहास में 'Defectionists', 'Infiltrators' और 'Saboteurs' का बोलबाला है और लगता है प्रस्तुत कोश ने इन्हें अपनी परिधि से बाहर निकाल फेंक कर वातावरण के परिष्कार में अपना योगदान किया है—'मूंदहु नयन कतहुँ कोउ नाहीं।' 'Well' के अंतर्गत अन्य अनेक समस्त पद हैं परंतु 'Well-versed' और 'Well-up' जैसे प्रचलित समस्त पद नहीं। 'father' में और बहुत-सारे समस्त पद हैं परंतु 'father of the nation' को स्थान नहीं दिया गया; 'bird' के अंतर्गत, 'bird of prey', 'bird of paradise', 'bird of passage' आदि हैं परंतु 'gamebird' नहीं। एक और प्रकार के नमूने देखिए। जापान और चीन देशों की अलग से प्रविष्टियाँ हैं परंतु सोवियत रूस (USSR) की प्रविष्टि 'Union' के अंतर्गत की गई है, 'United Kingdom' की ब्रिटेन के अंतर्गत परंतु अमरीका

को न 'America' के रूप में स्थान दिया गया है, न 'Unite States of America' के रूप में (यों Americanise, Americanisation आदि शब्द हैं); फ़्रांस, जर्मनी आदि के अस्तित्व को सर्वथा नकार दिया गया है; India है, 'Pakistan, Ceylon आदि नहीं। भौगोलिक, राजनयिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक—किस आधार पर देशों के नामों को लिया या छोड़ा गया है? अबूझ प्रश्न है—'(केशव) कहि न जाय का कहिए'! . . .

(उप) प्रविष्टियों का क्रमबंधन और व्यवस्था भी कुछ कम अबूझ नहीं है। एक यशस्वी वैज्ञानिक को अवैज्ञानिकता के पाश में जकड़ा देखकर दुःख होता है किंतु बौद्धिक अनुष्ठानों के क्षेत्र में सब-कुछ अल्पवेतन भोगी "नायबों" के कौशल पर छोड़ देने का हश्र यही होता है। 'unlettered' प्रविष्टि के पेटे में 'unlovely' तक तो ठीक है किंतु 'Unmake', 'unmarked' से लेकर 'unnerved' और 'unnumbered' तक को इसी एक मूल प्रविष्टि में समेट लेने का क्या रहस्य है? और फिर 'unobjectionable' से आरंभ कर 'unroyal' तक के शब्द उसके पेटे में लेने के बाद 'unruffled' की नई प्रविष्टि आरंभ होने का; फिर 'untied' तक के शब्द उसके पेटे में समेट कर 'untold' से नई प्रविष्टि आरंभ करने का क्या तर्क है? समूचे कोश में यही अव्यवस्था है। अन्य उप-प्रविष्टियों का भी यही हाल है। 'Bottom' की अनेक प्रविष्टियों में 'British Bottom' का समावेश क्यों है? उसे 'British' के अंतर्गत क्यों नहीं रखा गया? 'Cloth' के अंतर्गत 'American cloth' क्यों है, 'American' के अंतर्गत उसे रखने में क्या हानि थी? कोश का प्रयोक्ता अभीष्ट शब्द को कहाँ-कहाँ देखता फिरेगा! उसकी सुविधा के लिए पद्धति की एकरूपता आवश्यक होती है परंतु "कहियत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए"।

कुछ प्रविष्टियों का क्रमच्युत हो जाना या कुछ महत्त्वपूर्ण प्रविष्टियों का छूट जाना भी इतना बड़ा अपराध नहीं है जितना पर्याय अथवा समानक प्रतिशब्द के साथ पूरा न्याय न करना। द्विभाषिक कोश का यही पक्ष सबसे कठिन और दुष्कर होता है। पर्याय अथवा प्रतिशब्द लक्ष्य भाषा का ऐसा कोशीय एकक होता है जिसका कोशार्थ वही हो जो स्रोत भाषा के संबद्ध कोशीय एकक का और चूँकि सर्वांगसम प्रतिशब्द कम ही मिल पाते हैं, इसलिए कोशकार कभी एक पर्याय या प्रतिशब्द देकर अपने कर्तव्य कर्म की इतिश्री नहीं मान लेता। प्रविष्टि-विशेष की विभिन्न संदर्भगत अनेकविध अर्थच्छटाओं को व्यक्त करने के लिए वह एकाधिक पर्याय देता है। वस्तुतः पर्यायों की खोज में जाने-अनजाने दो भाषाओं की तुलनात्मक संरचनाओं का अध्ययन निहित होता है और कोशकार के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है कोशीय समतुल्यता का तत्त्व। अनेकमुखी अर्थच्छटाओं और अर्थच्छवियों को बाँधने के लिए अनेक पर्यायों का उल्लेख होना ही चाहिए। यहाँ तक तो बात ठीक है परंतु एक शब्द के (संगत-क्रम-विहीन) असंख्य सही-गलत पर्याय गिना डालना, और उनमें बरबस भेद-बोध करने-कराने के लिए (1, 2, 3, 4 आदि) क्रम-संख्याएं दे देना; फिर उसके बाद व्याख्याएँ भी दे डालना—इस सबके पीछे कोश की कलेवर-वृद्धि (और शायद मूल्य-वृद्धि) का ही मंतव्य हो सकता है परंतु विद्वान् संपादकों को यह अहसास शायद नहीं

हुआ कि वे हमारे कोशविज्ञान की बैलगाड़ी को कितने पीछे घसीट कर ले गए हैं। आज का हिंदी वैज्ञानिक-वाङ्मय अधिकांशत: अनूदित है और अंग्रेज़ी-हिंदी कोश का प्रयोक्ता मूलत: अनुवादक ही है। हमारे यहाँ अनुवादों का जैसा हीन और हेय स्तर है और असमर्थ अनधिकारी अनुवादकों के हाथों में पड़कर बड़े से बड़े लेखक की जो दुर्गति हो रही है, उसे मानक अंग्रेज़ी-हिंदी कोश से अप्रत्यक्ष प्रेरणा मिलेगी। अच्छा और सधा हुआ अनुवादक बुरे कोश का भी अच्छा उपयोग कर लेता है और घटिया अनुवादक अच्छे कोश को आधार बनाकर भी दिग्भ्रांत होने में 'समर्थ' होता है— फिर अगर अनुवादक अच्छा न हो और कोश में भी अवैज्ञानिकता की परिव्याप्ति हो तो?—'ताहि पियाइय वारुणी कहहु कवन उपचार!'

लातीनी रीतिकार होरेस ने अपनी गौरवमय कृति 'आर्स पोयतिका' के आरंभ में ही किसी कृति के विभिन्न अंगों में व्यवस्था और सामंजस्य के अभाव को ऐसा बताया है मानो: 'कोई चित्रकार यदि चित्रित कर दे नरशिर हयग्रीव पर . . . . आदि'। उसका प्रश्न है —जिस कृति के वपु और वदन में ऐसी सामंजस्य विहीनता हो वह कैसी लगेगी? यहाँ भी स्थिति कुछ-कुछ ऐसी ही है। यहाँ एकभाषिक कोश की ग्रीवा पर हठात् द्विभाषिक कोश का सिर जमा दिया गया है। व्याख्याएं एकभाषिक कोश का वैशिष्ट्य होती हैं, द्विभाषिक कोश में उनकी स्वीकृति अनिवार्य होने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ, 'weight' के लिए (1) वेगशक्ति जिससे ग्रह आकर्षण-केंद्र की ओर जाता है; (2) (पार्थिव वस्तुओं का) पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण और केंद्र-विकर्षण शक्ति के कारण शरीर की अधोमुखी प्रवृत्ति की मात्रा . . . . आदि अर्थ अनुवादक के किस काम के हैं! उसे यदि 'weight' का अर्थ समझना होगा तो क्या उसके लिए मानक 'अंग्रेज़ी-हिंदी कोश' ही एकमात्र प्रामाणिक कोश रह गया है! वास्तव में संपादकों ने बिना सोचे-समझे एकभाषिक और द्विभाषिक कोश के स्वरूपों को गड्डमड्ड करने का प्रयत्न किया है और इस 'दुविधा में दोऊ गये माया मिली न राम'। वास्तव में यदि इस कोश का प्रयोजन—जैसा कि स्वयं संपादकों ने माना है—अनुवादक (अथवा वैज्ञानिक/तकनीकी साहित्य-रचयिता) की सहायता करना है तो इसमें व्याख्यात्मक समानकों का कोई स्थान नहीं होना चाहिए (या कम-से-कम होना चाहिए)।[10] उसे तो भरसक अनुवाद योग्य पर्याय (Translational equivalents) देने का प्रयत्न करना चाहिए—वह विशुद्ध भाषावैज्ञानिक पर्याय होगा; उसमें कोशकार अपनी सामर्थ्य और अपने तात्कालिक लक्ष्य के दायरे में रहता है और लक्ष्य भाषा से सुपरिचित अनुवादक अथवा अन्य प्रयोक्ता के लिए भी वही सुविधाजनक होता है।

अपने आरोप को प्रमाणित करने के लिए मैं कुछ उदाहरण देना आवश्यक समझता हूं। मैं कह चुका हूं द्विभाषिक कोश में सबसे महत्त्वपूर्ण, कठिन और विशेष कार्य होता है पर्याय/समानक अथवा प्रतिशब्द-निर्धारण का। प्रस्तुत कोश में जो पर्याय दिए गए हैं उनकी संख्यातिशयता की ओर मैं संकेत कर चुका हूं। फिर उनमें कोई संगतक्रम भी परिलक्षित नहीं होता जिसके आधार पर किसी एकरूपता के दर्शन हो सकें। व्याख्याएं जो हैं उनमें यत्र-तत्र अनुवाद-क्षमता का अभाव परिलक्षित होता है। ग़लत अर्थ भी थोड़े प्रयत्न से अनेक ढूंढे जा सकते हैं। डॉ० सत्यप्रकाश वैज्ञानिक हैं। उनके द्वारा संपादित कोश में 'Amphioxus' को 'एक प्रकार की मछली' लिखा गया है; वह मछली नहीं एक आदिम कशेरु की

प्राणी होता है। 'Cuttle fish' को 'एक प्रकार का घोंघा' . . . . . . लिखा गया है जबकि वह घोंघा होता नहीं (cephalopod घोंघा नहीं होता); 'cuttle bone' को 'भीतरी छिलका' बताया गया है पर वह छिलका नहीं होता (अंतःकंकाल होता है); 'cutworm' को 'टिड्डा' लिखा गया है, वह टिड्डा नहीं होता—यह नाम तो लैपिडोप्टेरस लार्वा के एक प्रकार-विशेष को दिया गया है। 'flying fish' के लिए अगर 'उड़नमछली' लिखकर छुट्टी कर देते तो ठीक था परंतु व्याख्या-रोग चैन कहाँ लेने देता है! अतः लिखा गया है: 'उड़ने वाली मछली जिसके चिड़ियों की तरह पंख होते हैं जिनसे वह हवा में उड़ सकती है' जबकि वैज्ञानिक सत्य यह है कि उसके पंख न तो चिड़ियों के पंखों की तरह होते हैं और न वह इन पंखों से उड़ती है—वह उड़ती है अपनी दुम की सहायता से। 'Homo Sapiens' का समानक दिया है 'मानव जाति'। वस्तुतः यह समस्त शब्द मानवीय विकास-क्रम के चरणविशेष के (आज के) मानव-समुदाय का द्योतक है और लीनियस की 'द्विनाम-पद्धति' के अनुसार मनुष्य को दिया गया वैज्ञानिक नाम है। जिन अर्थनिर्धारणों के संग एक वैज्ञानिक का नाम जुड़ा हो—उनका यह अवैज्ञानिक स्वरूप शोभा नहीं देता। सामान्य शब्दों में तो इस तरह की गड़बड़ें अनेक हैं। अर्थों के क्रम में पता नहीं क्या आधार रहा है?—ऐतिहासिक अर्थ विकास अथवा प्रचलन। एक साधारण शब्द लें। 'Press' के संज्ञार्थों में देखिए— 1. जनसमूह, भीड़; 2. युद्ध की धकापेल; रेलपेल; 3. कशमकश, खींचतान, अस्तव्यस्तता, व्यस्तता (जैसे . . .); 4. दबाव, दाब (जैसे . . . .); 5. (नौ० वि०) पाल का दबाव, उतना दबाव जितना हवा में ठहर सके; 6. शिकंजा, दबाने का पेच, कोल्हू/दाब यंत्र/प्रेस; . . . ; 7. (. . . . . .) छापाखाना, छपाईघर, मुद्रणालय; 8. छपाई की मशीन; 9. मुद्रण कला; 10. सामूहिक रूप से समाचार-पत्र (जसे . . . .); 11. (वस्त्र, पुस्तकें आदि रखने की) बड़ी खानेदार दीवारी (क्या विशेषण बनाया है!) अलमारी। इस पर्याय-क्रम की क्या संगति है? मैं तो समझता हूँ द्विभाषिक कोश में अर्थोल्लेख का संगत क्रम केवल प्रयोग-बाहुल्य एवं आवृत्ति (frequency) के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। किसी शब्द का जो अर्थ अधिक प्रचलित हो वही पहले आना चाहिए। यहाँ भी संपादकों ने इसकी चिंता किए बिना किसी एकभाषिक कोश का अंधानुसरण किया है। इतने-इतने अर्थ देने के बाद भी कुछ अर्थच्छवियाँ छूट गई हैं। उदाहरणार्थ, 'fire' के क्रियार्थों में (नौकर आदि को) 'निकाल देना' [11]का समावेश नहीं; 'Element' में अर्थ की वह छवि नहीं जो 'anti-social element, Punjabi element' आदि प्रयोगों में व्यक्त होती है; 'Bumper' का वह अर्थ नहीं दिया जो क्रिकेट में 'गेंदबाज' के एक खास ढंग से गेंद फेंकने का द्योतक होता है (और, जिस अर्थ से नई पीढ़ी का हर किशोर आज परिचित हो गया है); 'Constrain' का अर्थ 'बाध्य करना' दिया है पर 'बाध्य होना' भी तो इसका अर्थ होता है (I will be constrained to....); 'consultant' में 'परामर्श देने वाला' दूसरे नंबर पर है और 'राय लेने वाला, सम्मति चाहने वाला' पहले है (जो कि हास्यास्पद है)। इस तरह के बेशुमार उदाहरण दिए जा सकते हैं। किसी भी शब्द के समानकों का उल्लेख करते समय संपादकों (अथवा उनके नायबों) ने जिस किसी भी स्रोत से जो-जो समानक उपलब्ध हुए हैं सबको घेर-बटोर कर, लगता है, मनमानी क्रम-संख्याओं के अंतर्गत

संकलित कर दिया है क्योंकि एक संख्या के अंतर्गत जो शब्द दिए गए हैं वे दूसरी संख्या के अंतर्गत दिए गए शब्दों से कहीं भिन्नार्थक हैं, कहीं नहीं। फिर उनके बीच में सीमारेखा खींचने का क्या आधार रहा है? 'Bungle' शब्द देखें। इसमें 4 के अंतर्गत अर्थ दिए हैं? — 'काम बिगाड़ना, गड़बड़ या अव्यवस्था पैदा करना और 5. काम बिगाड़ लेना, खराब कर लेना।' इन दोनों में अर्थों को अलग संख्याओं के पेट में देने लायक क्या बात है? 'Meteor' में 1 भी 'उल्का' है और 3 में फिर 'उल्का, टूटा हुआ सितारा'। इन्हें अलग-अलग देने की क्या संगति है? 'Giggle' में एक ओर "उद्धत, अशिष्ट और अनुशासनहीन लड़की की तरह हँसना है और दूसरी ओर 'दबी हुई हँसी हंसना'। इन अर्थों में क्या समानता है, जिसकी वजह से इन्हें एक ही साथ दिया गया है। 'Metaphysics' के समानकों में 1. 'अध्यात्मविद्या, पराविद्या, मनोदर्शन; 2. तत्त्व मीमांसा और फिर 5. 'अधिमानसिकी' दिए गए हैं। ये शब्द प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं—इनमें क्यों भेद किया गया है, पता नहीं? 'Acoustics' के अनेक समानकों के साथ एक समानक दिया है 'ध्वनिविद्याशास्त्र'—'विद्या' और 'शास्त्र' दोनों। पता नहीं विज्ञान क्यों छूट गया— 'ध्वनिविद्याशास्त्र विज्ञान' होता तो भी क्या हर्ज था! वास्तव में अर्थों और समानकों की ऐसी गड्डमड्ड संपादकों ने की है कि उसमें किसी व्यवस्था की अपेक्षा प्रयोक्ता शायद कर ही नहीं सकता। फिर, अनेक शब्दों के संदर्भ में सही समानक शब्द उपलब्ध होने पर भी ऐसे ग़लत अर्थ दिए गए हैं जो विशेषज्ञ के लिए अशोभन हैं। कुछ उदाहरण मुलाहिज़ा फ़रमाएँ। 'Fastidious' के अर्थ यों दिए गए हैं: 1. बहुत जल्दी बुरा मान जाने वाला, नाज़ुक मिजाज़, नकचढ़ा, दुस्तोष्य; 2. मुश्किल से पसंद करने वाला। वास्तव में 'Fastidious' के लिए सही शब्द है 'तुनक मिजाज' जो दिया ही नहीं गया। 'euphoria' के लिए 'मंगल भावना, कल्याण का भाव, अच्छे होने की भावना' अर्थ दिए हैं। बुल्के ने 'सुखबोध, सुखभ्रांति' शब्द दिए हैं जो काफ़ी अच्छे शब्द हैं। परंतु एक प्रचलित शब्द है 'खुशफ़हमी' जो किसी ने भी नहीं दिया। 'fashionable', 'fashionableness' आदि के अर्थों में 'लौकिक, व्यावहारिक तथा आधुनिकता' आदि बेहद दूर पड़ते हैं— 'फ़ैशनपरस्त' और 'फ़ैशनपरस्ती' शब्दों से संपादकों को क्यों परहेज है? 'welfare-work' में 'श्रमिकों के लिए . . . . .' आदि कहकर उसके अर्थ को सीमित क्यों किया गया है? इसके अंतर्गत तो समाज के सभी कमजोर वर्गों का कल्याण-निहित होता है। 'Humanisation' भी 'मानवीकरण' है और 'Personification' भी। प्रयोग ने इनमें एक अंतर की प्रतिष्ठा कर दी है— 'मानवीयकरण' तथा 'मानवीकरण'। शब्दों के बारीक भेदों एवं प्रयोगगत अंतरों के प्रति संपादकों ने प्रायः जागरूकता का परिचय नहीं दिया। मुहावरों, कहावतों और पदगुंफों के संदर्भ में समानांतर मुहावरे आदि खोजने की जहमत भी किसी ने गवारा नहीं की। इनकी समानांतर अभिव्यक्तियाँ फीकी, बेजान और एकदम नीरस हैं। 'No smoke without fire' के लिए 'अफवाह में कुछ सचाई रहती है,' जैसी अभिव्यक्तियों में ईमानदारी की कमी परिलक्षित होती है क्योंकि सोचने की कोशिश ही शायद नहीं की गई।—'जहाँ धुआँ वहाँ आग' क्या बुरा था? कहीं-कहीं कुछ भाव अपनी ओर से भी जोड़ दिए गए हैं 'Union of Soviet Socialist Republic' का अर्थ दिया है 'रूस की क्रांतिकारी सरकार'। यह 'क्रांतिकारी' और 'सरकार' इसमें कहाँ से आ

गए; यह तो देश का नाम है! 'Virtue' का अर्थ 'कौमार्य' कैसे हो गया ? सतीत्व, शुद्धता आदि तो ठीक थे, फिर इस 'कौमार्य' को भी इसमें ला पटकने की क्या आवश्यकता थी जो शब्द की मूल भावना से दूर पड़ता है। 'Trilogy' में कई शब्द दिए ह जो ठीक तो हैं परंतु प्रचलित अर्थ को पूरी तरह नहीं समेट पाते—इसके लिए एक प्रचलित शब्द है 'कृतित्रयी' जिसकी अभिव्यंजकता असंदिग्ध है। ऐसे उदाहरण असंख्य दिए जा सकते हैं— ये तो घोंघे हैं जो एकाध डुबकी में ही हाथ लग गए हैं; और अवगाहन किया जाए तो मोती हाथ लगेंगे, इसमें संदेह नहीं ।

व्युत्पत्तियों के विषय में मैं अधिक नहीं कहूँगा—बस इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसमें पुरानी घिसी-पिटी पद्धति का अनुसरण किया गया है। वर्तनी की अनेकरूपता भी एक नज़र में ही 'आकर्षित' कर लेती है—मुखपृष्ठ पर यह 'मानक अँग्रेजी-हिंदी कोश' है परंतु पन्ना पलटते ही अँग्रेजी 'अँग्रेज़ी' के रूप में ढल जाती है। कहीं 'राष्ट्रिय' और 'अंतर्राष्ट्रिय' लिखकर संस्कृत-मोह का परिचय दिया गया है (भूमिका, पृ० 7 आदि) तो कहीं 'अंतर्राष्ट्रीय' (पृ० 724 आदि) लिखकर आधुनिक चलन का अनुसरण किया गया है। वर्तनी की यह अनेकरूपता काफ़ी व्यापक है। एक अंतिम बात और। यह कोश 'भारत सरकार की सहायता से प्रकाशित' हुआ है। सरकार किसी भी संस्था को सहायता देते वक्त जो शर्तें रखती है उनमें एक यह है कि सहायताप्राप्त प्रकाशन में अंतर्राष्ट्रीय अंकों का प्रयोग किया जाएगा। पता नहीं प्रस्तुत प्रकाशन में देवनागरी अंकों के प्रयोग की छूट क्यों दी गई है !

'मानक अँग्रेज़ी-हिंदी क़ोश' में प्रविष्टि-चयन में कई महत्त्वपूर्ण शब्द छूटे हैं, उनके क्रम में भी अव्यवस्थाएँ है, अर्थों के क्रम में भी गड़बड़ है, कई स्थानों पर विशेषणों को संज्ञाओं के अंतर्गत और संज्ञाओं को विशेषणों में दे दिया गया है, गलत अर्थ भी अनेक प्रसंगों में मिल जाएँगे—पर मेरे हिसाब से सबसे बड़ी बात यह है कि कोश की योजना का भावन ही गलत रहा है। संपादक उसके स्वरूप के बारे में कोई निश्चित-सुस्पष्ट धारणा बना कर नहीं चले और यही कोश का तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा है। हिंदी में यों भी शब्द-प्रयोग के स्तर पर ऐसी अव्यवस्था और अराजकता है कि एक ही शब्द को अलग-अलग लेखक-अनुवादक अलग-अलग अर्थों में, विभिन्न प्रवणताएँ देकर अपना लेते हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि इन शिथिल प्रयोगों का परिहार करके हर शब्द को अवितथ अर्थ दिया जाए, प्रयोगों में एकरूपता लाई जाए। कोशकार इस दिशा में बहुत योगदान कर सकता है। डॉ० बुल्के का कार्य इस दृष्टि से स्तुत्य है। उसके पीछे एक वैज्ञानिक मनोदृष्टि रही है और उसे कार्यान्वित करने में कोशकार ने बड़े संयम का परिचय दिया है—विस्तार-मोह से अपने आपको बचाया है। परंतु इस कोश में स्थिति भिन्न है। अनुवाद के अपने पच्चीस वर्ष के अनुभव के बल पर मैं कह सकता हूँ कि इस कोश से अनुवादक (और सामान्य लेखक) को कोई विशेष सहायता अथवा मार्गदर्शन की आशा नहीं रखनी चाहिए।

एक किस्सा है कि एक बार किसी परम रूपवती युवती ने जार्ज बर्नार्ड शॉ के सम्मुख इस तर्क के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा था कि—"हमारी संतान में आपकी प्रखर प्रतिभा और मेधा होगी और मेरा अनिंद्य रूप-सौंदर्य।" जवाब

में बर्नार्ड शॉ ने आशंका व्यक्त की थी : 'और कहीं यह क्रम उलट गया यानी अगर कहीं उन्हें मेरा रूप और तुम्हारी बुद्धि मिली तो !' मैं एक अरसे से इस प्रकार के बौद्धिक-साहित्यिक अनुष्ठानों में वैज्ञानिकों और भाषाविदों के सहयोग की हिमायत करता रहा हूं। पर अगर ऐसा हो जाए कि विज्ञान की ग़लतियां भाषावेत्ता करे और भाषा की विज्ञानवेत्ता— तो! प्रस्तुत कोश की नियति शायद यही रही है—लगता है विज्ञान की ग़लतियां एक संपादक ने की हैं और हिंदी की दूसरे ने।●

—महेंद्र चतुर्वेदी

टिप्पणियां :

1. Problems of Lexicography—Harvell, P. 88.

2. Manual of Lexicography, P. 294.— "The basic purpose of a bilingual dictionary is to coordinate with the lexical units of one lenguage those laxical units of another language which are equivalent in their lexical meaning".

3. Anisomorphism of language.

4. Overlapping circles.

5. "It is an error in principle if one supposes........ that the rational systems of two languages are identical. Different languages are self-contained systems exhibiting only limited isomorphism with one another".

Scerba Izvestija, 113.

6. "There is no one-to-one equivalence and the whole area of application is divided differently in two languages". Zgusta, Manual of Lexicography, P. 296.

7. भूमिका पृष्ठ 45 (मानक अंग्रेजी-हिंदी कोश)

8. वही, भूमिका, पृ० 33

9. वही, भूमिका, पृष्ठ 45

10. 'A dictionary which intends to help the user to generate sentences in a.......target language does not tolerate the explanatory equivalents'. Zgusta, 'Manual of lexicography'.

11. To discharge from employ or service, to throw out or eject forcibly.

मानक हिंदी कोश (पांच खंड)

(हिंदी साहित्य सम्मेलन)

पृष्ठ संख्या 3966

मूल्य 125 रु०; संस्करण–प्रथम

प्रधान संपादक—श्री (स्वर्गीय) रामचंद्र वर्मा

प्रकाशक—हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

किसी भी भाषा के अच्छे कोश में निम्न तत्त्वों का होना अनिवार्य है :—

1. शब्द चयन या प्रविष्टियों की दृष्टि से :

(क) उसमें साहित्यिक भाषा के प्रचलित शब्दों का संकलन होना चाहिए।

(ख) किसी भी (प्राचीन या अर्वाचीन तथा देशी या विदेशी) भाषा के अप्रचलित शब्दों के समावेश से अनावश्यक रूप में उसकी कलेवर-वृद्धि नहीं की जानी चाहिए।

(ग) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का समावेश किसी निश्चित सिद्धांत पर आधारित होना चाहिए। उसमें नितांत अमहत्त्वपूर्ण एवं ऐसे प्राचीन व्यक्तियों या स्थानों की नामावली का समावेश नहीं होना चाहिए जो कोशस्थ भाषा एवं उसके साहित्य के अंग न हों।

(घ) प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं के सभी शब्दों को उसमें स्थान मिलना चाहिए।

(ङ) कोश में लोकभाषा के शब्दों का समावेश प्रसिद्धि एवं बहुप्रचलन आदि के आधार पर होना चाहिए। उसमें ऐसा नहीं होना चाहिए कि क्षेत्र विशेष की लोक भाषा के तो अमहत्त्वपूर्ण शब्दों की अनावश्यक भरमार हो तथा क्षेत्र विशेष की लोक भाषा के प्रसिद्ध शब्द छूट जाएं।

2. व्युत्पत्ति की दृष्टि से :

(क) कोश में किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति इस रूप में दी जानी चाहिए जिससे कि उक्त शब्द का इतिहास तथा उसमें निहित रहस्य स्पष्ट हो सके। ऐसा करने के लिए विभिन्न भाषाओं में प्रचलित समान उद्गम वाले शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

(ग) उन शब्दों की व्युत्पत्ति देने में अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता का प्रयोग किया जाना चाहिए जो स्वनात्मक दृष्टि से एक किंतु अर्थ एवं इतिहास के आधार पर वस्तुतः भिन्न शब्द हों ।

3. अर्थ की दृष्टि से :

(क) कोश में एक ही शब्द के अनेक अर्थों का महत्त्व-क्रम से उल्लेख होना चाहिए तथा जहां इन अर्थों का अंतर सूक्ष्म हो वहां साहित्य से उदाहरण देकर उसे स्पष्ट किया जाना चाहिए ।

(ग) विविध उपकरणों एवं जीव-जन्तुओं के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जहां भी आवश्यक हो चित्रों का उपयोग भी कोश में किया जाना चाहिए ।

4. व्याकरण, शब्द-क्रम, संपादन एवं मुद्रण आदि की दृष्टि से :

उक्त दृष्टियों से भी कोश में अपेक्षित सावधानी रखी जानी चाहिए । संपादन एवं मुद्रण संबंधी त्रुटियां शब्द विशेष के विषय में अनेक भ्रांत धारणाओं को जन्म दे सकती हैं अतः कोशकार को इनके प्रति भी सतर्क रहना चाहिए ।

उक्त तत्त्वों के आधार पर ही प्रस्तुत लेख में **मानक हिंदी कोश** की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है ।

'मानक हिंदी कोश' हिंदी का अधुनातन एवं विशालकाय कोश है तथा जैसा कि कोश की भूमिका में उल्लेख किया गया है यह स्वर्गीय रामचंद्र वर्मा के 'सारे जीवन की कमाई है ।' हिंदी कोश परंपरा में निश्चित रूप से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है । जहां ये सब बातें सत्य हैं वहां दूसरी ओर यह भी सत्य है कि 'मानक' कहे जाने वाले कोश से जिज्ञासुओं को अनेक अपेक्षाएं होती हैं । हिंदी भाषा के प्रति रुचि रखने वाले सामान्य पाठक से लेकर हिंदी का विद्वान तक यह अपेक्षा एवं आकांक्षा करता है कि उसे कोई ऐसा कोश उपलब्ध हो जो इस भाषा की शब्दावली के अर्थ एवं इतिहास से संबद्ध अधिकाधिक प्रश्नों के उत्तर दे सके । 'मानक' नाम के कोश से तो ऐसी अपेक्षा एवं आकांक्षा करना और भी सार्थक लगता है । प्रस्तुत लेख में, इसी संदर्भ में, **मानक हिंदी कोश** की समीक्षा की जा रही है ।

1. शब्द चयन या प्रविष्टियों की दृष्टि से :

इस दृष्टि से 'मानक हिंदी कोश' में निम्न त्रुटियाँ मिलती हैं :—

(क) **अप्रचलित शब्दों का समावेश :** उक्त कोश में ऐसे अनेक शब्दों को स्थान दिया गया है जो साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुए हैं तथा साथ ही अमहत्त्वपूर्ण भी हैं । ये शब्द या तो कोशकार की निजी जानकारी के कारण कोश में आ गए हैं अथवा किसी प्राचीन कोश में आ जाने के कारण 'मानक हिंदी' कोश में भी केवल परंपरावश इन्हें स्वीकार कर लिया गया है । 'मानक हिंदी कोश' में समाविष्ट किंतु साहित्य में अप्रयुक्त इन शब्दों के निम्न उपवर्ग बनाए जा सकते हैं :—

(i) **स्थानीय शब्द** : 'मानक हिंदी कोश' में पूर्वी हिंदी के अनेक ऐसे शब्दों को स्थान दिया गया है जो अत्यंत सीमित प्रयोग-वृत्त के हैं। पूर्वी हिंदी के उन शब्दों को तो कोश में स्थान दिया जाना उचित है जो हिंदी साहित्य में प्रयुक्त हो चुके हैं किंतु इनसे इतर शब्दों के समावेश से कोश को स्थानीय रंगत दे देना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए **सऊंस** (=सारा, सब; जैसे—'सऊंस अयोध्या में राम जी दुलरुआ'), **सकिया** (=काले पंजों वाली एक प्रकार की वड़ी गिलहरी), **सप्पन** (=बक्कम का पेड़) तथा **सतेरो** (=एक प्रकार की मधुमक्खी) आदि ऐसे ही शब्द हैं।

(ii) **संस्कृत के शब्द** : 'मानक हिंदी कोश' में केवल परंपरा मोह के कारण संस्कृत के (तत्सम) शब्दों को स्थान दिया गया है। ये शब्द न तो कभी हिंदी साहित्य में ही प्रयुक्त हुए हैं और न ही हिंदी भाषियों द्वारा बोलचाल में इनका प्रयोग किया जाता रहा है। वस्तुतः हिंदी में सर्वथा अप्रयुक्त रहने के कारण ये शब्द हिंदी भाषा के अंग नहीं कहे जा सकते। कोश में स्थानीय शब्दों के समावेश को तो किसी सीमा तक उचित भी ठहराया जा सकता है क्योंकि उनका प्रयोग तो कहीं न कहीं होता ही है किंतु संस्कृत के इन अप्रचलित शब्दों को किसी भी हिंदी कोश में स्थान देना वैज्ञानिक नहीं लगता। 'मानक हिंदी कोश' में समाविष्ट ऐसे कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं :—

अक्ष-दर्शक, अनुगांग, अन्वाधेय, अपची, अपतिक, अपध्वांत, अपवृत्ति, अभिमंथ, अभ्रोथ, अवीरा, इल्वल, कुविंद, कुशेशय, कौटीर्या, कौदालीक, कौद्रविक, ऋतु-द्रुह, क्रैडिन, क्रोड-कन्या, क्रोष्टा, क्रोडेष्टा, कौश्मांडी, क्षमा-ज, क्षमामुक, क्षारिका, क्षीव, क्षुल्ल, क्षौमी, क्ष्वेड, क्ष्वेडा, तार्क्ष, तार्क्षज, तार्क्षी, तार्क्ष्य, तार्क्ष्यज, तार्क्ष्य-प्रसव, तार्क्ष्य-शैल, तार्क्ष्यी, तार्य्य, डिंडीर, दिधि, दिदृक्षेण्य, दिदृक्षेय, भिल्ल-भूषण, भूतिदा, भूमय, वेणुप, वैनतक, वैहायस, वैहार, वोड्र, व्याड, व्याडि, सतेरक तथा समधीन आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। 'मानक हिंदी कोश' से ऐसे सैकड़ों अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। जैसा कि डा० हेमचंद जोशी (देखिए 'राजर्षि अभिनंदन ग्रंथ' पृ० 428) ने संकेत किया है कि हिंदी कोशों में संस्कृत के नाम से ऐसे भी अनेक शब्द समाविष्ट किए गए हैं जो संस्कृत कोशों में भी नहीं मिलते। उदाहरण के लिए 'मानक हिंदी कोश' में समाविष्ट 'ताम्रपाकी, ताम्र-पादी, तार्क्षी, तार्क्ष्य, तार्क्ष्यज, तार्क्ष्यप्रसव, तार्क्ष्यशैल, तार्क्ष्यी तथा तार्य्य आदि ऐसे ही शब्द हैं जो मोनियर विलियम्स के संस्कृत कोश में नहीं मिलते। डा० जोशी के ही शब्दों में "ऐसे अशुद्ध-अप्रयुक्त शब्दों से कोश का कलेवर वृहदाकार बना देना कोशशास्त्रज्ञों के लिए अनुचित है।"

इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे अनावश्यक शब्द भी 'मानक हिंदी कोश' में मिलते हैं जिनका निर्माण उपसर्ग, प्रत्यय या संधियों के आधार पर किया गया है। उदाहरण के लिए 'अपरतंत्र' (जो परतंत्र न हो, स्वाधीन) तथा 'कुशासन' (कुश+आसन अर्थात् 'कुश' से निर्मित आसन, यद्यपि आधुनिक हिंदी में इसका अर्थ, 'बुरा शासन' अधिक लिया जाएगा) आदि ऐसे ही शब्द हैं।

(ख) प्रचलित शब्दों का समावेश नहीं :

'मानक हिंदी कोश' में अनेक ऐसे शब्द समाविष्ट नहीं हो पाए हैं जो लोक प्रसिद्ध हैं अथवा जिनका प्रयोग प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं में हुआ है। इसी आधार पर इनके दो उप वर्ग बनाए जा सकते हैं——

(i) प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं के शब्द :

नीचे ग्रंथ-क्रम से ऐसे शब्दों की एक तालिका प्रस्तुत की जा रही है जो प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं में तो प्रयुक्त हुए हैं किंतु मानक हिंदी कोश में जिनको समाविष्ट नहीं किया गया है :—

(1) कबीर ग्रंथावली :

औडेरा (चित्र विचित्र इहै औडेरा), फरकच (अढ़ाई में जो पाव घटै तो करकच करै घरहाई), किरखी, (बुद्धि मेरी किरखी गुर मेरा बिझुका, अक्खिर दोइ रखवारे), कुकुही (बाजनदे बाजंतरी कलि कुकुही मत छेड़ि), चोषता (कबीर टुक-टुक चोषता, पल-पल गई बिहाई), थांघो (निगुसांवां बहि जाइगा जाकै थांघी नांही), निहाला (लोह निहाला आग ज्यूं, जरि बरि कोइला भई), सलाका (भरम सलाका दूरि करि सुमिरन सेल संबाहि), सिधौरा (मरनै थैं क्या डरपना जब हाथ सिधौरा लीन) ।

(2) कवित्त रत्नाकर :

चनक-मनक (कोई न भनक, ह्वैकै चनक-मनक रही, जेठ की दोपहरी कि मानी अधरात है)।

(3) केशव ग्रंथावली :

भागर (काटे जो कहत सीस कटत घनेरे घाघ, भागर के खेले कहा भट पद पावहिं), भंर-भंर (=हो-हल्ला) ।

(4) गोरख-बाणी :

मगरी (=लकड़ी, जंगल) ।

(5) घनआनंद ग्रंथावली :

अरगजा पंचम (=एक राग), असकसात ('चली लै पलना पौढ़ावन को, असकसात पौढ़े सुंदर घन'), उड़ीका (=प्रतीक्षा), ऊठम (तेरे द्वार टटकनि ऊठम घने ठनै), कुडिया (=टोप), खगमगो (=वंसी), छैड़ो (=घाटी, उत्सुकता), जेट (=छत्र), झेर (=प्रीति की तरंग), टौड़िक (=शरारती), ठलआरो (=हंसी ठट्ठा), ढनक (बनक ढनक उर अभिलाष भरन), तथा (=एक राग), पसरना (=शिथिल होना), नांसो (=वाण, तीर), निरुरव (निरुरव आगरत नेग चुकावत), निशनक (=नीरव, निर्जन), निसांनो (= छंद विशेष), पटम (=छत्र छंद) फांकट (=कूड़ा-करकट), हिलक (=चाह, लगन)।

(6) ढोला-मारु रा दूहा :

आँर (=आँसू), आघोरि (=दूर), एवड़ (=भेड़ों का झुण्ड, रेवड़), एवाल (=गडरिया), ओखंभिया (=छोड़े, पीछे दौड़ाए), कज्ज (=चलिए), कणमणइ (=कुनमुनाती, हिलती-डुलती), कमेड़ी (=पंडुकी), करकंडइ (=अस्थि पंजर), कराड़िया (=गर्दन), कलिज्जइ (=पहचानता है), खोल्पीरो (=गडरिया), खोड़ो-खोड़ो (=धीरे-धीरे), झंश (=दीपकों की झमझमाहट), झाझो (=गहरी, अत्यंत), झेकना (=ऊँट को वैठाना, ऊँट को वैठाने के लिए झेक-झेक की ध्वनि करना), टापर (=टाप), तला-सिना (=दवाना, चांपना), ताढ़ा, ताढ़उ (=ठंडा), तिलकाना (=फिसलना), धंधूणी (=हिलाया-डुलाया), बगड़ (=दुष्ट), मगरि (=कमर, पीठ)।

(7) पद्मावत :

उसर-वेगरी (=भूरे रंग की एक छोटी चिड़िया जो ऊसर में छिपी रहती है), कंठलवा (=पक्षी विशेष), नरिया (=एक प्रकार की मछली), परहांसी (=एक प्रकार की मछली), बिकोरी (=एक प्रकार का चावल)।

(8) परमानंद सागर :

अरक-थरक ('गमन करत जब हंस लजावत अरक-थरक द्युति न्यारी'), खगारी ('वैरी कंस सिर ऊपर नित उठि करै खगारी'), खनक-खनक ('पैयां लागीं घर जावौं छांड़ी खनक खनक'), छोपरी ('उत तैं स्त्री वृषभानु दुलारी आवत रूप छटारी। छोपरी झूमक अंग साजे चहुं दिस लागी मिलारी'), छोल ('चतुर चोर विद्वा समपूरन. गढ़ि-ढ़ि छोल वनावत'), झंझोटा ('कौन बूझियी रसिक सिरोमनि वन में जु करत झंझोटा'), झबकना (=चमकना, झलकना), टक-झक ('ऐसी टक-झक कहुं न देख्यौ तू जी रही कछि काछि'), ठवरा ('उरद-बड़ी तिल बड़ी ठवरा घरे भुंजवाय'); घुमेड़ा ('प्रेम घूमेड़े लेत हैं, फिरकी झुनझुन मनहिं सलोना'), निघोट (=हल्का), बगरोट (=पशुओं के गले का वंधन)।

(9) पृथ्वीराज रासउ :

कदित्त (=छन्द विशेष), कँहकूह (=कुहराम), झौंर (=झुण्ड, समूह), धुम्मि-धुमनो (=धूमधाम), बंवर (=धूल), बंवरि (=तड़क-भड़क)।

(10) वीसल देव रास :

आंजणी (=जाटनी, कृषक-पत्नी), आकरी (=तेज, कठोर), जाडउ (=चौड़ा), झोलण (=नहाने)।

(11) भाव विलास :

जुनइ ('कविदेव घटा उनइ जुनइ, वन भूमि मई दल टूकनि सों')।

(12) भिखारीदास-ग्रंथावली :

उलाक (=हरकारा, ऊंचा), पह (=सवेरा, भोर), बहबह (=चमा[illegible]न), सरवरी (=कहा सुनी)।

(13) सूदन-ग्रंथावली :

घैल-मैल (=हो-हल्ला, शोर-शराबा)।

(14) मीरांबाई :

झिरमिट ('पचरंग चोला पहन सखी मैं झिरमिट खेलन जाती')।

(15) विद्यापति की पदावली :

उदेस (=शिथिल), जओतुक (=दहेज), थेघ ('विजुरि-छटा दरसावए मेघ, उठए चाह जल धारक थेघ'), परहोंक (=बोहनी, पहली बिक्री), दिनास (=वाद्य यंत्र विशेष)।

(16) सूरसागर :

अरल ('गिरत करत कुंतल, अरल तरल तरंग'), अहोठ ('रहत हैं हरिसंग निसि दिन अति ही नवल अहोठ'), खरिका ('धरि तप्टि झारी जल ल्याइ, भर्‌यो चुए खरिका लै, आई'), खूआ (=पकवान विशेष), छंजै ('सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को मग जोवत अंखियां छंजै'), झंवारि ('बहुत अचगरी जिनि करो अजहूं तजी झंवारि'), झिगरना ('मुख झिंगरति आनंद उर, धिरवति ह्वै घर जाहुं'), टुलराना ('कंस रिसाय, सचीपति कोप्यो कैसे नंद टुलराई'), टूंडक ('लंगर, ढीठ, गुमानी, टूंडक, महा मसखरा रूखा'), ढहो ('रोम रोम सुंदरता निरखत, आनंद उमंग ढहीं'), बिमास (=एक राग), मुगछो (=पकवान विशेष), रूंज* (=एक प्रकार का बाजा)।

जैसा कि स्पष्ट है ऊपर केवल उन्हीं शब्दों में से कुछ को उद्धृत किया गया है जो आधुनिक काल से पूर्व हिंदी साहित्य में प्रयुक्त हो चुके हैं। इस प्रकार के सैकड़ों अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं और यदि आधुनिककालीन हिंदी साहित्य के ऐसे (कोश में अप्रयुक्त) शब्दों को लिया जाए तो उनकी संख्या कई हजार बैठती है।

(ii) पश्चिमी हिंदी के शब्द :

'मानक हिंदी कोश' में जहां एक ओर पूर्वी हिंदी के अल्प प्रचलित शब्दों को समाविष्ट कर लिया गया है वहां दूसरी ओर पश्चिमी हिंदी के अनेक बहुप्रचलित शब्दों को छोड़ दिया गया है। पश्चिमी हिंदी की हरियाणी तथा कौरवी आदि बोलियों के बहुप्रचलित शब्द उर्दू के 'फीरोज-

---

*इन शब्दों के प्रयोगस्थलों एवं इस प्रकार के अन्य शब्दों के लिए देखिए लेखक की पुस्तक 'हिंदी में देशज शब्द' का तीसरा एवं चौथा अध्याय।

उल-लुगात' जैसे कोशों में तो मिलते हैं किन्तु 'मानक हिंदी कोश' में उनको स्थान नहीं दिया गया है। उदाहरण के लिए **दब्बा** (वृक्ष की शाखा जो काट कर भूमि में लगा दी जाती है ताकि नया पौदा बनजाए), **मठड़ियाँ** (=दूध पीते बच्चे की हिचकियाँ) तथा **कुरत** (<सं० कुऋतु) जैसे शब्द एवं "**दायें बायें करना**" जैसे मुहावरे 'फीरोज-उल-लुगात' में तो मिलते हैं (जहां इन्हें हिंदी के शब्द माना गया है) किन्तु "मानक हिंदी कोश" में नहीं।

(ग) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के समावेश में अवैज्ञानिकता :

'मानक हिंदी कोश' में अनेक अमहत्त्वपूर्ण एवं हिंदी साहित्य की दृष्टि से अनुपयोगी, अत्यंत प्राचीन व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को समाविष्ट किया गया है। उदाहरण के लिए **कुल्लूक** (=दिवाकर भट्ट के पुत्र जिन्होंने मनुसंहिता की टीका की है), **कुशनाभ** (=राजा कुश का पुत्र और रामचंद्र का पौत्र), **कुशावर्त** (=हरिद्वार में एक तीर्थ स्थान; एक ऋषि का नाम), **कुशाश्व** (=इक्ष्वाकु वंश का एक राजा), **ऋतक** (=वसुदेव के एक पुत्र का नाम), **ऋतु** (=प्लक्ष द्वीप की एक नदी) **ऋतु-स्थला** (=ऋग्वेद में उल्लिखित एक अप्सरा), **वेणुप** (=एक प्राचीन जनपद), **वीरण** (=एक प्राचीन ऋषि), **वेत्रकूट** (=पुराणों के अनुसार हिमालय की एक चोटी), **वनायु** (=अच्छे घोड़ों के लिए प्रसिद्ध एक प्राचीन देश), **व्याडि** (एक प्राचीन वैयाकरण) तथा **शकांतक** (=शकजाति का अंत करने वाला अर्थात विक्रमादित्य) आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। वस्तुत: हिंदी जैसी जीवंत भाषा के कोश के लिए इन प्राचीन एवं पौराणिक संज्ञाओं की तुलना में भाखरा, नांगल, राउरकेला, भिलाई, दुर्गापुर, ट्राम्बे, थुम्बा आदि (जिन्हें हम आधुनिक भारत के तीर्थ कह कर स्मरण करते हैं) एवं जगदीशचंद्र वसु, विश्वेश्वरैया तथा होमी भाभा जैसी संज्ञाओं का महत्त्व कम नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण संज्ञाए 'मानक हिंदी कोश' में स्थान नहीं पा सकी हैं।

(2) व्युत्पत्ति की दृष्टि से :

व्युत्पत्ति पक्ष 'मानक हिंदी कोश' का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष है। शब्द विशेष की व्युत्पत्ति के (प्रामाणिक) ज्ञान के विषय में कोशकार की सीमाएं हो सकती हैं किन्तु बेखटके होकर जिज्ञासु को गलत राह दिखाना, जैसा कि 'मानक हिंदी कोश' में किया गया है, कोशकार के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। उक्त कोश में दी गई व्युत्पत्तियों के एक बहुत बड़े भाग की वैज्ञानिकता के प्रति किंचित् सतर्क पाठक भी सशंक हो उठता है। उदाहरण के लिए आलोच्य कोश में व्युत्पत्ति की दृष्टि से "**तारघर**" को "देशज" मानना तथा **संग्रहालयाध्यक्ष** एवं **उपमाना** (=उपमा देना) को अज्ञातव्युत्पत्तिक मानना मेरे कथन की पुष्टि करते हैं। ऐसी भूलों को संभावना आदि की भूलें कहकर चाहे कितना ही न्यायसंगत क्यों न ठहराया जाए तथापि इनकी भयंकरता से तो इंकार नहीं किया जा सकता। 'मानक हिंदी कोश' की व्युत्पत्ति संबंधी त्रुटियों को सुविधा की दृष्टि से निम्नवर्गों में बांटा जा सकता है :—

(क) पूर्ववर्ती कोशों की शुद्ध व्युत्पत्तियों का अशुद्धिकरण :

'मानक हिंदी कोश' में ऐसी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं जो पूर्ववर्ती कोशों में तो ठीक रूप में दी गई थीं किंतु यहाँ अशुद्ध कर दी गई हैं। उदाहरण के लिए स्वर्गीय रामचन्द्र वर्मा द्वारा ही संपादित 'संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर' में कांखना की व्युत्पत्ति सं० कांक्ष से दी है जो ठीक है किन्तु आलोच्य कोश में कांखना को अनुकरणमूलक शब्द कहकर व्युत्पत्ति अशुद्ध कर दी गई है। इसी प्रकार 'गड़बड़' को भी अनुकरणात्मक कहा गया है जबकि संक्षिप्त शब्द सागर में इसे ठीक ही प्रा० गड़बड़ से व्युत्पन्न कहा गया है। इस तरह के अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

(ख) भिन्न मूल के दो शब्दों की एक ही स्रोत से व्युत्पत्ति :

स्वन की दृष्टि से एक में विकसित किंतु अर्थ एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भिन्न दो शब्दों की व्युत्पत्ति एक ही स्रोत से देने की भूलें भी 'मानक हिंदी कोश" में मिलती हैं। उदाहरणार्थ अनड़ की व्युत्पत्ति अनम्र या असभ्य तथा पर्वत इन दोनों ही अर्थों के लिए सं० अनम्र से दी गई है जबकि मेरे विचार से दूसरे अर्थ में यह द्रविड़ (देखिए 'एड्रेवेडियन एटिमालाजीकल डिक्शनरी' शब्द संख्या—102) परिवार का शब्द है। 'मानक हिंदी कोश' में दिए गए थाल तथा अपरस आदि शब्द भी इसी प्रकार के हैं।

(ग) दृष्टिकोण की अवैज्ञानिकता :

कोश में व्युत्पत्ति के अंतर्गत शब्द के जिस क्रमिक विकास की ओर संकेत किया जाना चाहिए वह "मानक हिंदी कोश" में कम ही स्थानों पर मिलता है। कहने का अभिप्राय यह कि किसी हिंदी शब्द का संस्कृत-शब्द से संबंध स्थापित करने के साथ-साथ यदि हिंदी और संस्कृत के बीच की कड़ियाँ भी स्पष्ट कर दी जातीं तो व्युत्पत्ति अधिक वैज्ञानिक हो सकती थी। उदाहरण के लिए आलोच्य कोश में हिंदी 'साड़ी तथा सात' की व्युत्पत्ति क्रमशः सं० शाटिका तथा सप्त से दी गई है जबकि हिंदी साड़ी और सात के अधिक निकट के प्राकृत रूपों साडिआ तथा सत्त का उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रकार के सहस्रों उदाहरण दिए जा सकते हैं।

(घ) परस्पर विरोधी व्युत्पत्तियाँ :

'मानक हिंदी कोश' में एक ही शब्द के एकाधिक रूपों की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न स्रोतों से दी गई है जबकि तथ्यतः वे एक ही मूल शब्द से विकसित हुए हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

1. 'घुमी' (एक कर्णाभूषण) < सं० कुंभ, 'झुमी' < हिं० घूमना किंतु 'घुमी' < अरबी कुमा।

2. 'खखार' ← अनुकरणात्मक शब्द किंतु 'खखारना' < सं० क्षरण।

3. "गड़ौना" ← ? किंतु "गड़ौना" < हिं० गड़ना।

4. 'गुरसुम' (=सुनारों की एक प्रकार की छेनी)←देशज शब्द किंतु "गुलसुम" <फा० गुल+हि० सुमन।

5. 'गेंती' ← देशज, किंतु 'गैंती' ←? ।

6. 'चख-चख' ← अनुकरणात्मक 'चख', किंतु 'चख-चखी' <फा० चख।

7. 'चम्चा' <तुर्की चमच, किंतु 'चम्मच' <फा० चमचह।

8. 'चरक' (=एक प्रकार की मछली)←?, किंतु 'चरकी' > सं० चरक।

9. 'चुनचुना←देशज, किंतु 'चुनचुनाना' ←अनुकरणात्मक ।

10. 'चुहड़ा' ← देशज, किंतु 'चूहड़ा'←?।

11. 'छिपिया'←?, किंतु "छीपी" <हि० 'छापना' ।

12. 'छिट-फुट' <हि० छिट+अनु० फुट, किंतु 'छुट-फुट' <हि० छूटा+फूटा।

13. 'जुज्झ'←?, किंतु 'जुझ्झ (यद्यपि यह रचना संभव नहीं है) <सं० युद्ध।

14. जोहड़'←देशज, किंतु 'जोहड़' <पहलवी आबे-जोहर ।

15. 'जौंड़ा', 'जौंरा', 'जौंरा', ''जूरा' <सं० यून, किंतु 'ज्योरा', 'ज्यौरा' <सं० जीव (=जीविका) ।

16. 'झपकना' <सं० झंप किंतु 'झपकाना'←अनुकरणात्मक ।

17. 'टोप' <हि० तोप (=ढकना) किंतु 'टोपी' <सं० स्तुभ्, स्तूप।

18. 'टिटिहरी' <टिट्टिभ, किंतु 'टिटिहा' ←? ।

19. 'झलझल' <स० झलज्झल:, किंतु 'झलझलाना' ← अनुकरणात्मक ।

20. 'ठुमक', 'ठुमकना', 'ठुमकारना' ←अनुकरणात्मक, किंतु 'ठुमकी'←देशज।

21. 'डकरना'←अनुकरणात्मक, किंतु 'डकार' <सं० डक्क (=पुकार)।

22. 'डमकना'←अनुकरणात्मक, किंतु 'डमकाना' ←?।

23. 'तलाश'←तुर्की, किंतु 'तलाशना', 'तलाशी'←फा०।

24. 'वगड़' ←?, किंतु 'वगर' <स० प्रघण, प्रा० पघण।

25. 'वफरना' <सं० विस्फालन, किंतु 'विफरना' <सं० विप्लवन ।

26. 'वुरवुक' (=मूर्ख) <हि० वूढ़ा+वक, किंतु 'वूवक्'←देशज।

27. 'भड़क'←? किंतु 'भड़कना', 'भड़काना'←अनुकरणात्मक ।

28. 'गाकुर'←सं० ?, किंतु 'भाकूर'←सं० ।

29. 'मुरता'←देशज, किंतु "मुरता" <हिं० मुरकाना या मुरमुरा।

30. 'मनवां' (=देवकपास)←देशज, किंतु 'मनुआं'←? ।

31. 'मड़ेरा' <सं० मण्डल, किंतु 'मड़ेरी'←? ।

32. 'रहरू' <सं० रथरुप, प्रा० रहरुप, किंतु 'रहरू' <पंजाबी रिढ़ना (=घिसटना) ।

33. 'रहठा' (=अरहर का सूखा डंठल)←?, किंतु 'रहरेठा' <हिं० अरहर ।

34. 'रमकजरा' (=भादों में पकने वाला एक प्रकार का धान) <हिं० राम+काजल, किंतु 'रामकजरा' (=अगहन में पकने वाला एक प्रकार का धान)←देशज ।

35. 'ररना' (=दीनभाव से याचना करते हुए रोना, विलाप करना) <प्रा० रट (=घिसकना), किंतु 'ररिहा' (=ररने या गिड़गिड़ाने वाला) <हिं० ररना+हा (प्रत्यय०), किंतु 'रिरना' (=गिड़गिड़ाते हुए दीनता प्रकट करना)←अनुकरणात्मक ।

36. 'लंडूरा'←देशज, किंतु 'लुंडा' <सं० रुण्ड ।

37. 'लेंहड़ा'←देशज, किंतु 'लंहड़ा'←? ।

38. 'धंधका'←देशज, किंतु 'धंधक'←? ।

39. 'धींग' <सं० दृढांग, किंतु 'धींगड़ा' <सं० डिगर ।

40. 'पलेव'←देशज, किंतु 'पलेना'←?।

41. 'पछावर', 'पछावरि' <हिं० पीछे ?, किंतु 'पछ्यावर'←देशज ।

42. 'पटपट'←अनुकरणात्मक, किंतु 'पटपटाना' <हिं० पटकना ।

43. 'साट-गांठ' <सं० शाठ्य-ग्रंथि, किन्तु 'सांठ-गांठ', <हिं० सांट ("सटना" से अनु०)+गांठ ।

44. "सकसकाना" "सकसाना"←अनुकरणात्मक, किंतु 'सकसना' < सं० शंक, हिं० सकना ।

45. 'सगवती'←?, किंतु 'सगोती'←देशज ।

(ङ) अशुद्ध उद्गम स्रोत का निर्देश :

ऊपर एक ही मूल शब्द के एकाधिक रूपों की जिन दोहरी व्युत्पत्तियों का उल्लेख किया गया है उनमें से किसी एक का अशुद्ध होना तो निश्चित है ही इनके अतिरिक्त भी 'मानक हिंदी कोश' में अशुद्ध व्युत्पत्तियों की संख्या बहुत बड़ी है। अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति देने में मात्र अटकल का सहारा लिया गया है। उदाहरण के लिए करतूत की व्युत्पत्ति उक्त कोश में हिं० करना+ऊत (प्रत्यय) से दी गई है जबकि इसका विकास सं०

कर्तृत्व से हुआ है। इसी प्रकार 'पछाड़ना' को हिं० पीछे+ढकेलना से व्युत्पन्न बताया गया है जबकि स्वन-परिवर्तन के नियम इसकी पुष्टि नहीं करते। वस्तुतः इसके मूल में 'पश्चावर्त्तन' जैसा कोई संस्कृत रूप रहा होगा जिसकी पुष्टि प्रा० के पच्छ तथा आवट्टण आदि रूपों से होती है। सं० त्रि+हिं० नव्वे से दी गई हिं० 'तिरानवे' की व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार की अटकल है। इस व्युत्पत्ति से तो ऐसा लगता है कि हिं० 'तिरानवे' सं० त्रिनवति का विकसित रूप न होकर हिं० 'नव्वे' के साथ सं० 'त्रि' जोड़कर बनाया गया नवीन शब्द है।

(च) उपलब्ध सामग्री का अनुपयोग :

ऊपर भी संकेत किया जा चुका है कि व्युत्पत्ति देने के संबंध में कोशकार की सीमाएं होती हैं किंतु उससे यह तो अपेक्षा की ही जाती है कि वह उपलब्ध सामग्री का अधिकाधिक उपयोग करे। 'मानक हिंदी कोश' इस दृष्टि से भी बहुत त्रुटिपूर्ण है। शब्द-समूह विषयक शोध-सामग्री तथा हिंदीतर कोश ग्रंथों के अवलोकन की बात तो दूर रही, हिंदी में ही प्रकाशित प्राकृत के प्रसिद्ध कोश 'पाइअ सद्द महण्णवो' का भी पूरा उपयोग 'हिंदी मानक कोश' के निर्माण के समय नहीं किया गया। हिंदी भाषा का कोश बनाते समय निस्संदेह प्राकृत के उक्त कोश की उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'पाइअ सद्द महण्णवो' का उपयोग न किए जाने के कारण 'मानक हिंदी कोश' में जो व्युत्पत्ति विषयक भूलें हुई ह उनमें से कुछ के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

हिंदी का शब्द	'मानक हिंदी कोश' में दी गई अशुद्ध व्युत्पत्ति	'पाइअ सद्द महण्णवो' में उपलब्ध शब्द जिससे हिंदी के शब्द का सहज संबंध है।
1. उड़द	सं० ऋद्ध	उडिद
2. उतावल	सं० उद्+त्वर	उत्तावल
3. उबाक, उबाकना	अनुकरणात्मक	उब्बक, उब्बक्कइ
4. खलबल, खलबली	अनुकरणात्मक	खलभलिय
5. घमोय-घमोई	देशज	घम्मोडी
6. मटका	हिं० मिट्टी+क (प्रत्यय)	मडक्क, मडक्किया
7. रीझना	सं० रंजन	रिज्झइ
8. होड	सं० हार	होड्ड, हुड्ड

ऊपर की तालिका में उल्लिखित शब्दों को प्राकृत से संबद्ध दिखाने का यह अभिप्राय नहीं है कि इनका और अधिक प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं है। इनमें से अनेक शब्दों के विषय में यह जानकारी उपलब्ध है कि वे प्राकृत

से कहाँ से आए। मेरा मंतव्य केवल यह है कि मानक कोशकार को इनका प्रकृत से संबंध स्थापित करके हिंदी के लिए न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति तो करनी ही चाहिए थी।

विदेशी भाषाओं से आगत शब्दों की अटकलपच्चू व्युत्पत्ति इस बात की ओर संकेत करती है कि 'मानक हिंदी कोश' के निर्माण में उक्त भाषाओं के कोशों के उपयोग की भी उपेक्षा की गई है। उदाहरण के लिए 'मानक हिंदी कोश' में 'छरहरा' की व्युत्पत्ति—हि० छरहरना <हि० छर (तिनका)+हरना से दी गई है जो स्वन साम्य के आधार पर लगाया गया अनुमान मात्र है। तथ्य यह है कि हिं० 'छरहरा' अरबी छरछरा (देखिए 'ए पर्सियन इंग्लिश डिक्शनरी'-स्टाइनगास) का विकसित रूप है। इसी प्रकार हिं० 'गरगज' ('गरगज बांधि कमाने धरीं' पदमा० 525-2) भी (जैसा कि 'मानक हिंदी कोश' में बताया गया है) हिं० गढ़+गजग से संबद्ध न होकर फारसी से गृहीत शब्द है। साथ ही 'मानक हिंदी कोश' में समाविष्ट गाला (=चुनी हुई रुई का गोला) तथा चप्पू आदि शब्द भी हिंदी में फारसी से आए हैं जबकि उक्त कोश में इनका संबंध क्रमशः सं० ग्रास तथा चप् से जोड़ने का यत्न किया गया है। इसी प्रकार समोसा भी फारसी का शब्द है पर 'मानक हिंदी कोश' में इसे अज्ञातव्युत्पत्तिक स्वीकार किया गया है।

संस्कृत-कोशों की उपेक्षा के उदाहरण भी "मानक हिंदी कोश" में मिलते हैं। उदाहरण के लिए "टगर" तथा वोल्लाह (=घोड़ों की एक जाति) आदि शब्द लिए जा सकते हैं जिनको "मानक हिंदी कोश" में क्रमशः अनुकरणात्मक तथा देशज माना गया है जबकि मोनियर विलियम्स ने अपने "संस्कृत-अंग्रेजी कोश में इनको स्थान दिया है।

(ट) अनुकरणात्मक शब्दों की व्युत्पत्ति विषयक त्रुटियां :

आलोच्य कोश की व्युत्पत्तियों पर विचार करते समय उक्त कोश में दिए गए अनुकरणात्मक शब्दों की चर्चा करना विशेष रूप से आवश्यक है। विशेष रूप से आवश्यक इसलिए क्योंकि वहाँ पर अनुकरणात्मक नाम से जो शब्द दिए गए हैं उनमें से अनेक मूलतः अनुकरणात्मक नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'मानक हिंदी कोश' में अनुकरणात्मक कहे जाने वाले अंडबंड, अडराना, अबड़-धबड़, उटक्कर, कलमलाना, ओंकना, कसमसाना, गदबदा, गुच्ची, घपला, घुघली, घुन्ना, चिरौरी, टगर, टट्टा टाट, तुलबुली, फर्रा, फी, बोंगा, भद्दा, मचलना, सकपकाना, सगबग, तथा सिटपिटाना आदि—शब्दों में न तो स्वन-अनुकरण का कोई स्पष्ट आधार दिखाई पड़ता है और न इनके अर्थ से ही किसी स्वन का बोध होता है। ऐसी स्थिति में पता नहीं किस आधार पर इन्हें अनुकरणात्मक शब्द कहा गया है। वस्तुतः इन शब्दों में तत्सम, तद्भव तथा आधुनिक काल में गृहीत अनेक प्रकार के शब्द मिल गए हैं। उदाहरणार्थ ऊपर उद्धृत तथाकथित अनुकरणात्मक शब्दों में से 'टगर' संस्कृत से आया तत्सम शब्द है। टाट तद्भव है जो पालि में तट्टक, तट्टिका एवं प्राकृत में तट्टो, टट्टी तथा टट्टिआ आदि रूपों में मिलता है। हो सकता है यह शब्द और भी प्राचीन हो क्योंकि प्रायः सभी द्रविड़ भाषाओं में भी इसका प्रयोग मिलता है। भद्दा भी तद्भव है जो सं० भद्र से विकसित हुआ है।

. ऊपर ऐसे शब्दों पर विचार किया गया है जिन्हें 'मानक हिंदी कोश' में अनुकरणात्मक कहा गया है किंतु जो अनुकरणात्मक हैं नहीं। इसके पश्चात् उन शब्दों पर विचार करना रह जाता है जो वास्तव में अनुकरणात्मक हैं अर्थात्, जिनका निर्माण किसी-न-किसी स्वन अनुकृति के आधार पर हुआ है। ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति देते समय 'मानक हिंदी कोश' में केवल अनुकरणात्मक लिख दिया गया है जिससे ऐसा संकेत मिलता है कि ये शब्द हिंदी के निजी शब्द हैं। दूसरे शब्दों में न तो ये गृहीत हैं और न परंपरागत हैं; इनका निर्माण तो हिंदी-युग में ही हुआ है। यथार्थतः बात ऐसी है नहीं क्योंकि इनमें से अनेक शब्द परंपरागत हैं, परिणामतः तत्सम तथा तद्भव हैं। नीचे ऐसे ही कुछ शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं :—

1. किटकिटाना, किड़किड़ाना <प्रा० किडिकिडया <सं० किटकिटायते।
2. कुलकुल, कुलकुलाना <प्रा० कुलकुल।
3. खटक, खटकना, खटखटाना, खड़क, खड़कना, खड़खड़ाना <प्रा० खडखड <पा० खटखट <सं० खटखटायते।
4. खनक, खनकना, खनखन, खनखनाना <प्रा० खणखणइ <सं० खणखणायते।
5. खलबल, खलबलाना, खलबली, खलभल, खलभलाना, खलभली <प्रा० खलभलिय।
6. खिसना, खिसकना <प्रा० खिस, खिसइ।
7. गड़गड़, गड़गड़ाना <प्रा० गडगड, गडगडंत <पा० गळगळायति।
8. गुड़गुड़, गुड़गुड़ाना <सं० गुडगुडायन (=पेट की गुड़गुड़ाहट)।
9. घनघन, घनघनाना <प्रा० घणिय, घणघणाइय।
10. घमघम, घमघमाना <सं० घमघम (घमघमारव)।
11. घरघर, घरघराना <सं० घर्घर।
12. घुरघुर, घुरघुराना <प्रा० घुरघुरइ, घुरहुरइ <सं० घुरघुरायते।
13. चकचकी (करताल नाम का बाजा) <फा० चक्रचक्री।
14. चकाचक (शरीर पर तलवारादि के निरंतर आघात का शब्द) <फा० चक़ाचक़।
15. चहकना, चहचहाना <फा० चहचह।
16. चिचियाना <प्रा० चिञ्चि।
17. चुलचुलाना <प्रा० चुलचुलइ।
18. झगड़ा <प्रा० झगड।

19. झनझन, झनझनाना <प्रा० झणझणइ, झणज्झणंत <सं० झणझणायते ।

20. झींगुर <प्रा० झिंगिर, झिंगड ।

21. थरथराना <प्रा० थरथरइ <सं० थरथरायते ।

22. थू (=थूकने का शब्द) <प्रा० थू <सं० थूत् ।

23. थूक <प्रा० थुक्क ।

24. धड़धड़, धड़धड़ाना <प्रा० धडधडिय ।

3. अर्थ की दृष्टि से :

जैसा कि 'मानक हिंदी कोश' की भूमिका में कहा गया है, इस कोश में 'हिंदी शब्द सागर' की अपेक्षा अर्थ देने की विधि अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है। किंतु फिर भी इसमें अनेक त्रुटियां रह गई हैं। उदाहरण के लिए—

(क) क्रम दोष :

अर्थ देते समय कई स्थानों पर प्रमुख अर्थ बाद में तथा गौण अर्थ पहले दे दिया गया है। उदाहरण के लिए कीड़ी शब्द खड़ी बोली में (अर्थात् मानक हिंदी में) मात्र 'चींटी' का द्योतक है अत: यह प्रमुख अर्थ है जो पहले नंबर पर आने का अधिकारी है। किंतु 'मानक हिंदी कोश' में यह दूसरे नंबर पर दिया गया है तथा 'छोटा कीड़ा' को प्रमुख अर्थ मान कर पहले नंबर पर रखा गया है। इसका कारण संभवत: कोशकार पर क्षेत्र विशेष की बोली का प्रभाव है।

(ख) स्पष्टता की कमी :

'मानक हिंदी कोश' में विविध जंतुओं तथा वनस्पतियों आदि के अर्थ **'एक प्रकार का पेड़', 'एक प्रकार की मछली', 'एक प्रकार का धान'** तथा **'एक प्रकार की चिड़िया'** आदि कह कर दिए गए हैं। वस्तुत:, **'एक प्रकार का'** जैसे अनिश्चयवाचक विशेषण से उक्त पदार्थों के अर्थ स्पष्ट नहीं होते।

(ग) उदाहरण देने में निश्चित सिद्धांत का अभाव :

अर्थ देते समय आलोच्य कोश में कहीं-कहीं शब्दों के प्रयोग-उदाहरण भी दिए गए हैं किंतु ऐसा करते समय किसी निश्चित नियम को नहीं अपनाया गया है। लगता ऐसा है जहां उदाहरण सुगमतापूर्वक मिल गया है वहां दे दिया गया है, अन्यथा नहीं।

(घ) हिंदी के लिए अप्रचलित अर्थों का समावेश :

'मानक हिंदी कोश' में अर्थ देते समय अनेक शब्दों (विशेषकर तत्सम) के वे अर्थ भी दिए गए हैं, जो हिंदी के लिए सर्वथा अपरिचित हैं। ऐसे अर्थों के अनावश्यक समावेश से कोश का कलेवर व्यर्थ में ही बढ़ा है। उदाहरण के लिए संस्था शब्द के मृत्यु, ध्वंस, वध, हिंसा आदि अर्थ ऐसे ही हैं।

(ङ) चित्रों का अभाव :

'मानक हिंदी कोश' में अर्थ संबंधी अस्पष्टता का एक कारण उसमें चित्रों का सर्वथा अभाव है। वस्तुत: अर्थ स्पष्ट करने के लिए, अनेक स्थलों पर चित्रों का सहारा लेना कोशकार के लिये अनिवार्य होता है। अंग्रेजी के किसी भी अच्छे कोश में चित्रों की भरमार देखी जा सकती है किंतु पता नहीं किन कारणों से 'मानक हिंदी कोश' में इस पद्धति का सर्वथा त्याग किया गया है। अनेक स्थितियों में चित्रों की सहायता से अर्थ में जितनी स्पष्टता लाई जा सकती है उतनी केवल शब्द-प्रयोग से संभव नहीं है। विशेष प्रकार के पशु-पक्षियों एवं यांत्रिक उपकरणों के लिए तो यह पद्धति बहुत ही उपयोगी रहती है। वस्तुत: किसी शब्द का अर्थ कोई दूसरा शब्द न होकर वह चित्र होता है जो उस शब्द द्वारा मन में अंकित हो जाता है। उदाहरण के लिए **कमल** का अर्थ जलज या **पंकज** न होकर वह संकल्पना है जो इन सभी शब्दों के सुनने या पढ़ने से हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होती है और इस बात में कोई संदेह नहीं है कि अनेक स्थितियों में यह संकल्पना चित्र की सहायता से जितने स्पष्ट रूप में उत्पन्न की जा सकती है उतने स्पष्ट रूप में केवल शब्दों के माध्यम से नहीं।

4. संपादन की दृष्टि से :

'मानक हिंदी कोश' में संपादन संबंधी त्रुटियों की संख्या इतनी अधिक है कि शायद ही हिंदी के किसी अन्य कोश में हो। ये अशुद्धियाँ दो प्रकार की हैं। पहली तो वे जहाँ एक ही मूल शब्द के विविध रूपों की व्युत्पत्ति परस्पर उन्हीं रूपों से दे दी गई हैं। उदाहरणार्थ :—

छाप <हि० छापना। तथा छापना <हि० छाप।

दूसरी वे जहाँ किसी शब्द के एक रूप की व्युत्पत्ति के लिए दूसरे रूप को देखने का संकेत किया गया है, किंतु वह दूसरा रूप कोश में प्राप्य नहीं है। उदाहरण के लिए—

खोंतल=खोता, खोंता=खोता, खोथा=खोता

किंतु **खोता** शब्द कोश में आने से छूट गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि कोश के संपादन में जिस तालमेल तथा सतर्कता की आवश्यकता होती है वे 'मानक हिंदी कोश' में कम ही दिखाई पड़ती हैं। नीचे संपादन संबंधी उक्त दोनों प्रकार की त्रुटियों के कुछ और उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) 1. छेड़ <हिं० छेड़ना तथा छेड़ना <हिं० छेड़।

2. टोह <हिं० टोहना तथा टोहना <हिं० टोह।

3. ठठाना <हिं० ठट्ठा या अनु० ठहठह तथा ठट्टा <हिं० ठठाना।

4. फेर <हिं० फेरना <हिं० फेरा तथा फेरा <हिं० फेरना।

5. वटुरना <हिं० वटोरना तथा वटोरना <हिं० वटुरना।

6. मुहचंग <हिं० मुरचंग तथा मुरचंग <हिं० मुंहचंग ।

7. धधक <हिं० धधकना तथा धधकना <हिं० धधक ।

8. धमक <हिं० धमकना तथा धमकना <हिं० धमक ।

9. समेट, समेटना <हिं० सिमटना तथा सिमटना < हिं० समेटना का अकर्मक ।

(ख) 1. उंगनी <आंगना ।

2. गबद्द (=जड़, मूर्ख) <हिं० गावदी ।

3. घबड़ (=बुड्ढा, दुर्बल) <हिं० खामड़ ।

4. फफूंदी <हिं० फुवती ।

5. फुफनी <हिं० फुवती ।

6. भकुड़ा, भकुड़ाना <हिं० भांकुट ।

7. सुटुकन (=पतली छड़ी) <हिं० 'सुटका' का अल्पार्थक ।

8. सुटुकना (=सुटुका या चाबुक मारना) <हिं० सुटका+ना (प्रत्यय)

9. हिचक <हिं० हिचकना ।

10. तड़ावा <हिं० तड़ना ।

(ग) सूची में वर्णित शब्दों की जिन शब्दों से व्युत्पत्ति दी गई है वे कोश में उपलब्ध नहीं हैं ।

5. मुद्रण की दृष्टि से :

यों तो मुद्रण संबंधी त्रुटियां न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी ग्रंथों में पाई जाती हैं, किंतु कोश में ये जितनी अखरती हैं उतनी अन्यत्र नहीं । कारण स्पष्ट है । कोश स्वतंत्र दृष्टि से अध्येय न होकर संदर्भ ग्रंथ है जिसे एक सीमा तक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है । परिणामतः कोश की मुद्रण संबंधी भूलें अनेक प्रकार की भ्रांतियों का कारण बन सकती हैं । उदाहरण के लिए 'मानक हिंदी कोश' में अरबरा शब्द देखिए जिसे कोशकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अनुकरणात्मक' कहना चाहता है किंतु मुद्रण की भूल के कारण 'अनुकरणात्मक' के स्थान पर वह 'अरबी' का शब्द हो गया है । इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत लेख में पहले भी आ चुके हैं ।

ऊपर की समीक्षा के उपरांत यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है कि 'मानक हिंदी कोश' पर्याप्त परिष्कार की अपेक्षा रखता है। इस परिष्कार के विना यह अपने 'मानक' नाम के अनुरूप नहीं हो सकता। साथ ही हिंदी के विद्वानों के लिए यह एक चुनौती भी है कि उन्हें हिंदी भाषा को, उसके महत्त्व एवं प्रसार को ध्यान में रखते हुए, एक ऐसा कोश उपलब्ध कराना है जो उक्त प्रकार के दोषों से रहित हो। स्वर्गीय रामचंद्र वर्मा के प्रति भी यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी। ●

—पूर्णसिंह डबास

सिलैबिक स्ट्रक्चर ऑव हिंदी एंड पंजाबी

(डी० डी० शर्मा)



प्रकाशक : पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ (1971)

प्रस्तुत कृति में हिंदी और पंजाबी की आक्षरिक संरचना का नौ सुव्यवस्थित अध्यायों में सुसंगत विवरण प्रस्तुत किया गया है। पहले अध्याय में लेखक ने तथ्य-सामग्री और विश्लेषण पद्धति की रूपरेखा दी है। अगले दो अध्यायों में आक्षरिक शीर्ष, लेखक के कथनानुसार आक्षरिक शीर्ष के उपस्वन का वर्णन किया गया है। आगे के चार (चार से सात) अध्यायों में आक्षरिक सीमा के संदर्भ में व्यंजनों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत है। अंतिम दो अध्याय अक्षर-विभाजन और आघात से संबंधित हैं।

इस पुस्तक में तथ्य-सामग्री पूर्व-संयोजित क्षेत्र-अध्ययन के बजाय लेखक के व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है। स्वभावतः इस प्रकार की सामग्री में अशुद्धियों की काफी संभावना है क्योंकि सामग्री की प्रकृति व्यक्तिगत प्रत्यक्षण और स्मृति-सीमाओं पर अवलंबित है। जिसने पंद्रह वर्षों में लगातार प्रत्यक्षण से सामग्री एकत्रित की हो उससे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि उसने सभी शब्द सुनते ही स्वनात्मक लिपि में लिख लिए होंगे।

इस सामग्री के विश्लेषण के लिये वर्गिकी प्ररूप का उपयोग किया गया है। इसलिए यह व्यक्तिगत अनुभव का सीधा-सा विवरण मात्र रह गया है जिसमें नियमितता और अनियमितताओं का कोई वैज्ञानिक कारण या सुसंगत व्याख्या नहीं मिलती। लेकिन खेद की तो बात यह है कि इस विवरण में वर्णनात्मक पर्याप्ति का भी पूर्ण निर्वाह नहीं है। रूपस्वनिमिक लेखन इस कृति की एक अन्य कमजोरी है। यह काफ़ी हद तक उपेक्षित है जिससे व्याकरण-संबद्ध स्वनिम नियमों की न केवल कमी है अपितु जहाँ कहीं उनका विवरण दिया भी गया है उसकी तर्कसंगत व्याख्या या उचित संदर्भ नहीं मिलता।

'हिंदी' और 'पंजावी' शब्दों का जिस तरह से उपयोग किया है उस पर भी प्रकाश डालने की यहाँ आवश्यकता है। प्रश्न है कि विद्वान लेखक ने 'हिंदी' या 'पंजावी' भाषा की कौन-सी उपभाषा का विश्लेषण किया है? उपभाषा जानने के वाद पढ़ने वाला यह भी जानना चाहेगा कि यह कौन-सी हिंदी (या पंजावी) है? वह भाषा जिसका हम आम वोलचाल में प्रयोग करते हैं, वह जो वाजार में या राह चलते या गाड़ी बस में सफर करते हुए या किसी रेस्तोरां में सुनने में आती है या वह भाषा जो किसी नेता के भाषण में या रेडियो पर या किसी स्कूल/कॉलेज की कक्षा में सुनी जा सकती है।

इसके अलावा किसी उपभाषा में भी तो मानक व ग्राम्य उपस्तर हो सकता है। उपभाषा के कौन से उपस्तर मानक या ग्राम्य रूप का विश्लेषण किया गया है—स्वन व्यवस्था के लिए यह बताना आवश्यक हो जाता है। सामान्य भाषाविज्ञान का यह सामान्य सिद्धांत है कि तुलनात्मक सामग्री में स्तरभेद एवं शैली-प्रसंग की समानता हो।

एक भाषा के मानक रूप की अन्य भाषा के ग्राम्य-रूप से तुलना करना उचित नहीं। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक मे दी गई सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन करना अधिक उचित होगा।

सबसे पहली वात जो पढ़ने वाले को खटकती है, वह है स्वनिक लिपि। लेखक का कहना है कि उसने आई० पी० ए० का प्रयोग किया है, लेकिन ऐसा लगता है यहाँ यह लेखक के हाथों में एक स्वतंत्र एवं वैयक्तिक उपकरण वनकर रह गया है जिसको अपने नियमों और सामान्यीकरण को सिद्ध करने के लिए इच्छानुसार वदल लिया गया है।

उदाहरणत:—3.3.0 विभाग में 'सलाह' के लिए जो 'पंजावी' शब्द दिया गया है उसका स्वनिक रूप [səlá] माना है। यही शब्द 4.5.1.2 में [slá] के रूप में दिया गया है। 3.3.0 में अंतिम अक्षर के अध्ययन में 'सलाह' शब्द का सही उच्चारण दे दिया है लेकिन 4. 5. 1. 2 में लेखक ने यह दिखाना चाहा कि हिंदी शब्दों के पहले अक्षर का / ə / लोप कर देने पर गुच्छ से शुरू होने वाला पंजावी शब्द-रूप वन जाता है। एक और उदाहरण है 3.12.2. विभाग में,

हिंदी / bUa / पंजावी /pũa/

केवल इस एक उदाहरण के आधार पर हिंदी शब्द /su: / का पंजावी रूपांतर कर दिया गया है। इसी तरह / kUe / : /kue /भी समायोजित कर लिया गया है। लेकिन जहाँ तक पंजावी / sui / के उच्चारण का सवाल है, पंजावी में / sUi / और / sui / दो अलग शब्द हैं और हिंदी-पंजावी / sUi / में स्वनिक रूप से कोई अंतर नहीं है। इसी तरह हिंदी / kUe / के वजाय / kũe / होना चाहिए और इसका पंजावी शब्द / khu / है न कि / kUe /. इसके अलावा 3.2.2 में और 3.2.6 में दिए हिंदी और पंजावी शब्दों की भी तुलना करना चाहूंगी।

3.2.2.		3.2.6
< kɔhna >	:	< kɔhɪna >
< Šɔhɔr >	:	< Šɔhɪr >

3.2.2. में दिए शब्दों को 3.2.6 में अपने नियम को सिद्ध करने के लिए अलग ही ढंग से प्रस्तुत किया है।

नियम है : "Syllable peak / ɔ / followed by / h / with a vowel / ɪ / or / U / is realised as / ɛ / or / ɔ / respectively, with a high tone and amalgamation of the succeeding vowel"

अर्थात् :—

$$/ɔ/ \rightarrow \left[\begin{Bmatrix} /ɛ/ \\ /ɔ/ \end{Bmatrix} \right] \Big/ \; - h \left[\begin{Bmatrix} /ɪ/ \\ /U/ \end{Bmatrix} \right]$$

इसके अलावा इस पुस्तक में और कई उदाहरण हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वनिक लिपि का, यहाँ दिए गए नियमों के लिए, एक वैयक्तिक उपकरण के रूप में उपयोग किया गया है।

इन नियमों और संबद्ध वितरण के बारे में और कुछ कहने से पहले अध्याय नंबर–3 Allophonic variants of syllable peaks पर एक नजर डालना उचित होगा। ऐसा लगता है लेखक ने जो कहा है वह, जो कहना चाहता है, उससे काफ़ी भिन्न है।

लेखक इन दो भाषाओं के सजात और उनकी स्वनप्रक्रियात्मक संरचनाओं की तुलना करना चाहता है। यहाँ मेरा सबसे पहला सुझाव यह है कि डाइक्रिटिक अभिलक्षण, उदाहरणतः + देशीय/— देशीय, पर भी ध्यान देना चाहिए। अगर किसी शब्द को हिंदी शब्द माना गया है तो वह देशीय हिंदी शब्द है या हिंदी-उर्दू (हिंदू) के सामान्य शब्दकोश से है, या फारसी/अरबी/अंग्रेजी इत्यादि किसी भाषा से लिया गया है, इस बारे में कोई भी सूचना नहीं है।

किसी भी भाषा में आगत शब्द की स्वनप्रक्रियात्मक संरचना उस भाषा की संरचना के अनुरूप ढल जाती है जिसके कारण उस शब्द के देशीय रूप के बदल जाने की काफ़ी संभावना होती है।

इस अध्याय का पहला वाक्य है "the most notable **allophonic variants of Panjabi syllable peaks** are the tonalised allophones of the corresponding simple syllable peaks **in Hindi**"

इसका मतलब तो यह हुआ कि लेखक ने एक भाषा के किसी एक स्वनिम को किसी अन्य भाषा में उपस्वन बताने की कोशिश की है। लेकिन स्वनिम को भाषा-विशेष की इकाई माना गया है, किसी भाषा में एक स्वनिम 'अ' के 'द' उपस्वन हो सकते हैं, किसी अन्य भाषा में इसी स्वनिम 'अ' के, हो सकता

है 'व²' उपस्वन हों लेकिन "भाषा 'क' में भाषा 'अ' के स्वनिम 'अ' के 'व' उपस्वन हैं" यह संभव नहीं। किसी भी स्वनिम की दो भाषाओं में या दो उपभाषाओं में तुलना करने के लिए 'विषु स्वन' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसा कि आइनर हागन ने कहा है— "Diaphone is a phonemic variant definable for each situation of inter-dialectal or interlinguistic contact."

डेनियल जोन्स ने इस शब्द का शैलीगत परिवर्तों के लिए भी उपयोग किया है।

सघोष–महाप्राण–स्पर्श + स्वर :	अघोष–अल्पप्राण–स्पर्श + स्वर
हिंदी	पंजाबी

इसे एक विषु स्वन माना जाएगा न कि एक ही स्वनिम के दो अलग भाषाओं में दो स्वन। अंतिम कुछ अध्यायों में लेखक ने डायफोन शब्द का उपयोग तो किया है लेकिन बिल्कुल अलग ही अर्थ में। इस अध्याय में किसी भी दो खंडात्मक स्वनों वाले शब्द को 'डायफोन' नाम दे दिया गया है। अगर किसी शब्द को पारिभाषिक शब्द के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो उस शब्द का नए अर्थ में प्रयोग करना उचित नहीं। अगर ऐसा नहीं तब allpohonic variants शब्दों का गलत और मनमाना अर्थ भी लिया जा सकता है इसलिए इस तरह के सम-संबंध के लिए विषु स्वन शब्द का उपयोग करना ही अधिक उचित है।

इसी अध्याय में आक्षेप का एक और बिंदु यह भी है कि किन्हीं दो संरचनाओं, या दो भाषाओं की तुलना करने के लिए पहले दोनों की तथ्य-सामग्री का सुविचारित विवरण देना बहुत जरूरी है। यहाँ लेखक ने कोई नई ही पद्धति अपनाई है जिसमें वर्णनात्मक पर्याप्ति का पूर्ण अभाव है। उदाहरण:– एक नियम दिया है (जैसा कि पहले बताया जा चुका है)।

/ɔ/ → [/ɔ́/ /ɛ'/] / —h [/U/ /ɪ/] with an amalgamation of the succeeding vowel

इसके लिए फिर उदाहरण ढूंढ़ निकाले हैं जैसे / vɔ́ṭi /, / ɛra /, / kɛ'ṇa/, /šɛr/.. और फिर इन परिणामी शब्दों के आधार पर यह नियम लागू करने से पहले वाले शब्द बना लिए गए हैं— <vəhUṭi>, <səhUra>, <kəhiṇa>, < šəhɪr > पंजाबी भाषा में आज तक तो ऐसे शब्द सुनने में नहीं आए, अगर किसी एक उपभाषा में से लिए गए हों, तो उसका उल्लेख आवश्यक है।

अगर ये नियम और उदाहरण सही भी हों तो अभिलक्षणों की सहा–यता से इसका और भी सामान्यीकरण किया जा सकता है।

/ɔ/ → [/ɔ́/ /ɛ'/] / — h [/U/ /ɪ/]

[मध्य स्वर] → [{ पश्च स्वर, अग्र स्वर }] / — h [{ पश्च स्वर, अग्र स्वर }]

अथवा:–/ɔ/ → [{वर्तुलित स्वर / अवर्तुलित स्वर}] / —h [{वर्तुलित स्वर / अवर्तुलित स्वर}]

उन नियमों की सहायता से इसे एक 'समीकरण प्रक्रम' सिद्ध किया जा सकता है।

अगला स्वर यदि पश्च स्वर है तो इसके कारण मध्य स्वर भी पश्च स्वर बन जाता है। और यदि यह अग्र स्वर है तो मध्य का अग्र स्वर के रूप में समीकरण हो जाता है। इसी तरह अगले स्वर का वर्तुलित या अवर्तुलित होना भी इस समीकरण का कारण बताया जा सकता है।

3.5. विभाग में लेखक ने "Variation in length—an accentual phenomena" के उदाहरण दिए हैं। लेकिन इन उदाहरणों में जो आघातित या अनाघातित शब्द हैं वे हिंदी-पंजाबी, दोनों भाषाओं में सर्वसम हैं। हिंदी और पंजाबी शब्द 'सजा' में स्वर लंबाई या आघात का कोई अंतर नहीं है। केवल एक या दो उदाहरणों के आधार पर लेखक ने उन शब्दों में भी सामान्यीकरण करना चाहा है जो पंजाबी में तो हैं ही नहीं।

/bɔta/ स्वनिक रूप में [bɔ'ta:] पंजाबी शब्द नहीं है। इस हिंदी शब्द का पंजाबी रूप है [dʌs]। अगर 'बता' पंजाबी शब्द है तो विभक्ति से हिंदी शब्द 'बताती/बताता हूँ' के लिए पंजाबी में बताँदीं/बताँवाँ होना चाहिए, 'बताते हैं' के लिए 'बतादें नें' होना चाहिए, न कि 'दसदी याँ / दसदा वां / दसदे नें। बतादीं/ बतादें/बतायाँ—यह शब्द किसी भी पंजाबी के लिए हास्यास्पद है। हिंदी शब्द 'बुला' के लिए भी पंजाबी शब्द 'बुला' नहीं बल्कि [sʌd] है।

3.6. में भी ऐसा ही एक उदाहरण है— 'नाखून'। अगर पंजाबी में यह शब्द प्रयुक्त किया जाए तो, इसका इसी स्वनिक रूप में उच्चारण किया जाता है। लेकिन सही पंजाबी शब्द [nyɔ̃] है, न /nakhun/ और न ही /nɔkhun/

3.2.4. में एक बहुत ही दिलचस्प सामान्यीकरण है। लेखक / jɔh /→ / je/,/vɔh/→/vo/ इन दो शब्दों से काफ़ी प्रभावित मालूम होते हैं। इसलिए इन्हीं दो के आधार पर एक नियम बनाया है कि /ɔ/→ {/e/ / /o/} / —h→

और अग्र संहित / h / से पहले / ɔ /, / e / बन जाएगा यदि / ɔ / से पहले / j / है, और / o / के रूप में परिवर्तित हो जाएगा यदि / ɔ / से पहले /v / है। इस तरह तो किसी भी भाषा में जितने शब्द होंगे उतने ही नियमों की आवश्यकता पड़ेगी। अन्य कई अग्र-संहित / h / हैं, जिनके पहले / ɔ /, / ɔ / ही रहता है और ये नियम लागू नहीं किए जा सकते। उदाहरणतः / rɔh/, /sɔh/,/ʃɔh/, /k'ɔh/vɔjɔh,/,/ jɔgɔh इत्यादि।

3.2.3. में एक और नियम है–

$$\begin{bmatrix} I \\ U \end{bmatrix} \longrightarrow \begin{bmatrix} \acute{e} \\ o' \end{bmatrix} \Big/ \quad — h$$

लेकिन यहाँ दिए उदाहरण, मेरे विचार से सभी पंजाबियों के लिए नए शब्द हैं : < kUhṇa >, < kuhṛa >, < kɪhuṛa >.

3.9.2. में उदाहरण दिए गए हैं यह सिद्ध करने के लिए कि "अनुस्वार और स्पर्श स्वनों के पहल आने वाले वे आक्षरिक शीर्ष जो अंतिम वितरण (non final) में नहीं हैं, वे उसी परिस्थिति में आने वाले हिंदी आक्षरिक शीर्ष की तुलना में अधिक विवृत और अधिक सबल होते हैं।" सत्य तो यह है कि फर्क सिर्फ विवृति का नहीं बल्कि अनुस्वार-अनुनासिक का है।

उदाहरणतः /candi/ /tamba/ /dənd/ /vənḍ/ /cãdi/ /tãba/ /dãt/ /bãṭ/

अनुस्वार→ [— देशीय हिंदी, + देशीय पंजाबी]

अनुनासिक→ [+ देशीय हिंदी, + देशीय पंजाबी]

कुछ शब्दों में, यह सही है कि आक्षरिक शीर्ष हिंदी में पंजाबी से अधिक विवृत हैं, उदाहरणत :

/bãndhna/ : /bənəṇa/ न कि /bándna/* जैसा कि यहाँ दिया
/cãd/ : /cənn/ न कि /cand/* गया है।
/bãṭ/ : /vənḍ/ न कि /banṭ/*

हो सकता है /bənəṇa/ और/ bándna/, /cənn/ और /cand/, vənḍ/ और /banṭ/ उपभाषी परिवर्त हों लेकिन इस वारे में कोई सूचना नहीं दी गई है। मेरे विचार से /bənəṇa/, /cənn, vənḍ/ इत्यादि अधिक मानक हैं और साधारणतः स्वीकृत शब्द हैं और bándna/, /canḍ/, /banṭ/ इत्यादि अशुद्ध पंजावी शब्द समझे जाते हैं। "केंद्रीकरण' के वारे में भी यहाँ संकेत असमीचीन न होगा। 'केंद्रगत स्वर' से लेखक का अभिप्राय शायद 'उमलाऊट' से है। यहाँ शायद यह भुला दिया गया है कि हिंदी और पंजावी दोनों ही भाषाओं में 'उमलाऊट' अपरिच्छेदक अभिलक्षण है। केंद्रीकरण जैसा यहाँ सिद्ध करने की कोशिश की गई है, कुछ हद तक सही भी है क्योंकि हिंदी शब्दों के/ɪ, ʊ, e, ɛ/ स्वर पंजावी में अक्सर /ə/ स्वर, जो एक केंद्रगत स्वर है, द्वारा प्रस्थापित हो जाते हैं। यहाँ /ə/ को / Ï, Ü, ë, ɛ̈ / चार उमलाऊट स्वरों में विभाजित करने की कोशिश की गई है। (3.10.2.— 3.10.3). इस विभाजन का वास्तव में कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं है।

उदाहरणत: :— [bĭ mar], [bĕkar], [mɛdā̃n], [mŭkam,] [I;ara],
[ĭkai], [hĕrani], ... इत्यादि ।

इस तरह कुछ स्वरों का / ɔ / द्वारा प्रतिस्थापन सार्वकालिक नियम नहीं है । उदाहरणत: Ijăjɔt→ jajɔt*, gŭjara→ gɔ jara* dubara → dəbara* इत्यादि । 3.10.4. में दिए सभी उदाहरणों में / I, U / का / I, Ŭ / द्वारा प्रतिस्थापन होता है इसमें मुझे संदेह है । इन सभी में/ĭ, Ŭ / के स्थान पर /ɔ/ही अधिक उपयुक्त है—जैसे / kabɔl /, / nagən /, / dakhəl /, / gokəl / इत्यादि । सामान्यीकरण करते वक्त या किन्हीं दो भाषाओं की तुलना में शैलीगत परिवर्तन पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है । एक भाषा की औपचारिक शैली का दूसरी की सामान्य बोलचाल की भाषा के साथ तुलना करना अनुचित है । बोलचाल की भाषा (चाहे हिंदी हो या पंजाबी या कोई अन्य भाषा हो) लोप, आगम, संकोचन, समीकरण इत्यादि के कारण औपचारिक भाषा से भिन्न हो जाती है ।

3.11 में 'पंजाबी में हिंदी शब्दों के शून्य समसंबंधी' का वर्णन किया गया है । उदाहरणत: /avaz/: /vaj /, /əkal/: /kal/. लेकिन सिर्फ इन दो के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि हिंदी शब्द /səval, sɔmaj, mɔjur, ɔphim/ के पहले अक्षर के स्वर को हटा देने से पंजाबी शब्द बन जाते हैं । सच तो यह है कि इन दोनों भाषाओं में जब यह शब्द असावधानी से बोले जाते हैं तो अक्सर sval, smaj, mjur, phim/ बन जाते हैं यह भाषा का नहीं सिर्फ शैली का अंतर है । औपचारिक और सावधानी से किए गए उच्चारण में, चाहे हिंदी हो या पंजाबी, पहला अक्षर पूरी तरह से बोला जाता है ।

इसी तरह चौथे अध्याय के 4.4.3.1—4.4.3.2 में हिंदी और पंजाबी के शब्दों में पहले अक्षरों के व्यंजन+र व्यंजन-गुच्छ की तुलना कीजिए । सभी पंजाबी उदाहरण निस्संदेह किसी एक व्यक्ति या किसी एक समूह की अनौपचारिक और अचेतन भाषा-शैली में से लिए गए हैं जबकि इनके साथ तुलना के लिए हिंदी के मानक शब्द गृहीत हैं । यहाँ और 4.5—4.6 में भी सिर्फ एक भाषा की दो शैलियों की तुलना है ।

'अक्षर की सीमा' अर्थात् व्यंजन के अध्याय में शुरू में ही लेखक ने तान का बड़ा विचित्र अध्ययन प्रस्तुत किया है । यहाँ कहा है / gh, ǰh, ḍh, dh, bh/ हिंदी में नियमित स्वनिम हैं लेकिन पंजाबी में यह तान ग्रहण कर उपस्वन बन जाते हैं । अर्थात् पंजाबी में महाप्राणत्व स्वनिमिक नहीं है । आगे कहा है 'शब्द के शुरू में इनका निम्न तान के साथ प्रत्यक्षण होता है/k', č', ṭ', t' p' / लेकिन मध्य या अंत में यह / g, ǰ, ḍ, d, b / हो जाते हैं । स्वनविज्ञानियों ने तो आज तक यही कहा है कि अक्षर (अधिक उचित होगा अक्षर-शीर्ष), अर्थात् स्वर ही तान को ग्रहण करते हैं; व्यंजन तो सिर्फ अक्षर के एक भाग के रूप में लिए जा सकते हैं, अक्षर शीर्ष के रूप में नहीं ।

सत्य तो यह है कि सभी अखिंडात्मक अभिलक्षण एक अक्षर के साथ ही सुने जा सकते हैं, व्यंजन के साथ नहीं । यहाँ लेखक ने यह भी सुझाव दिया है कि पंजावी में अघोष, अल्पप्राण, सघोष और महाप्राण सभी एक ही स्वनिम के सोपाधिक परिवर्त हैं । क्या लेखक यह कहना चाहता है कि तान महाप्राणत्व, घोषत्व पंजावी में अस्वनिमिक हैं । तान स्वनिमिक है और हमेशा अक्षर-शीर्ष अर्थात् स्वर ही तान ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। उदाहरणत: ghʌr : kʌ̂r, dhan: tàn, dhup, tᵤp; और kʌr : k$_{ʌ}$r, kɔ̃ra : kɔ̥ra तान स्वनिमिक है, इसके अलावा हिंदी के /k-kh-g-gh/ के पंजावी में यही प्रतिरूप हैं / k-kh - k-gh/, और इसी तरह अन्य सभी स्पर्शं के लिए भी उतने ही प्रतिरूप हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहना अनुचित न होगा कि पुस्तक में रूपस्वनिमिक शैली परिवर्तन, प्रेक्षणात्मक पर्याप्ति और वर्णनात्मक पर्याप्ति पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता थी । वर्णन के साथ यदि नियमितता और नियमों की व्याख्या और कारणों पर भी प्रकाश डालते जाएं तो यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी ।* ●

— वैश्ना जग्गी

---

*मैं डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, रीडर, भाषाविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रति अत्यंत आभारी हूँ । इन्हीं के निर्देशन में यह लख लिखा गया है ।

1. भाषा और संवेदना

लेखक : रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी (1964)
पृष्ठ संख्या 117, मूल्य 3.50 रुपए

2. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका

लेखक : रवींद्रनाथ श्रीवास्तव
प्रकाशक : केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (1972)
पृष्ठ संख्या 96, मूल्य 6.00 रुपए

भाषाविज्ञानी और साहित्यकार अब यह महसूस करने लगे हैं कि साहित्य और भाषा के अलग-अलग अध्ययन के साथ-साथ साहित्य की भाषा का अध्ययन, मूल्यांकन और विश्लेषण करने के लिए भाषा का अध्ययन जरूरी है; क्योंकि भाषा और काव्य दोनों एक दूसरे में अनुस्यूत हैं। मानव-समाज में भावों एवं विचारों के आदान-प्रदान के लिए अगर भाषा एक बहुत बड़ा कार्य करती है तो कवि, जो मानव समाज का एक अभिन्न अंग है, इससे अलग कैसे रह सकता है? अपने भावों एवं अनुभूतियों को साकारता प्रदान करने के लिए ही तो वह भाषा का आश्रय लेता है। इस प्रकार काव्य एक ऐसी शाब्दिक कला है जिसे समझने और समझाने के लिए भाषा की आवश्यकता पड़ती रहती है।

भाषाविज्ञान के स्वायत्त विषय बनने के पश्चात् हिंदी के विद्वानों ने साहित्य और भाषाविज्ञान को अलग-अलग क्षेत्र माना। हिंदी भाषा की संरचना का स्थूल विश्लेषण करने के पश्चात् हिंदी के भाषाविज्ञानियों ने हिंदी के शाब्दिक-व्यवहार का विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति से करने की धारणा रखी। विश्वविद्यालयों में हिंदी साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ भाषा-विज्ञान को सम्मिलित तो किया गया किंतु भाषा-विश्लेषण और साहित्यिक-विश्लेषण को एक साथ मिलाने का गंभीर प्रयास नहीं किया गया। यदि कुछ किया भी गया है तो वह इस प्रकार का है जिसमें न भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन है, न भाषा के प्रति सजग रहने की भावना है और न ही इन दोनों का समन्वित रूप। आज काव्य-कृतियों पर जो कार्य हो रहा है वह न भाषा का अध्ययन है और न ही साहित्य का। कबीर, तुलसी, जायसी, सूर, मीरा आदि कवियों की भाषा का जो भाषावैज्ञानिक अध्ययन किया गया है उनमें अभी भाषाविज्ञान तथा साहित्यिक आलोचना के ज्ञान तथा उनके पारस्परिक संबंध की जानकारी होना आवश्यक है।

अतः भाषा की संरचना जाने बिना, भाषा और साहित्य के परस्पर संबंधों का ज्ञान रखे बिना तथा भाषा के विभिन्न अभिव्यंजनात्मक संसाधनों का कोई आलोचनात्मक अध्ययन किए बिना काव्य-कृतियों का जो अध्ययन किया जा रहा है वह स्थूल और निकृष्ट-सा हो गया है।

इस प्रकार किसी भी काव्य-कृति की भाषा का अध्ययन करते समय भाषा-विज्ञान और साहित्यिक आलोचना के बीच एक सेतु का निर्माण करना होगा जिसके एक ओर काव्य-मूल्यों तथा रसानुभूति का अध्ययन होगा तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति के माध्यम का, जिसमें काव्यात्मक मूल्य और रसानुभूति अंतर्निहित है, भी विश्लेषण होगा। काव्य-भाषा के विश्लेषणात्मक परीक्षण में भाषा-विज्ञानी की वस्तुवादी एवं वैज्ञानिक दृष्टि और साहित्यकार की आत्मवादी एवं सौंदर्यपरक दृष्टि के सम्मिलन से काव्य के मर्म में पहुँचने की शक्ति मिल सकेगी। इस दृष्टि से आधुनिक शैलीविज्ञान बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इसका प्रारंभ अभिव्यक्ति पक्ष से होता है और पर्यवसान कथ्य में, किंतु लक्ष्य इन दोनों के संबंध की अन्विति की खोज में रहता है।

इस दिशा में अभी तक हिंदी में दो पुस्तकें सामने आई हैं। एक डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'भाषा और संवेदना' और दूसरी डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव द्वारा लिखित 'शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका'। पहली पुस्तक का शैलीविज्ञान से वस्तुतः परोक्ष संबंध दिखाई देता है और दूसरी पुस्तक में शैलीविज्ञान पर गंभीर चिंतन किया गया है। पहली पुस्तक शैलीविज्ञान की ओर संकेत भर करती है तो दूसरी पुस्तक उसके विकसित रूप का दर्शन कराती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पहली पुस्तक यदि शैलीविज्ञान का उन्मेष है तो दूसरी पुस्तक उसका विकसित रूप। पहली पुस्तक में साहित्यिकता अधिक दिखाई देती है जबकि दूसरे में वैज्ञानिकता अधिक।

'भाषा और संवेदना' पुस्तक में कुल 14 लेख हैं, जिनमें से 'काव्य-भाषा का स्वरूप' तथा 'भाषा और संवेदना' अध्याय साहित्य की भाषा से संबंधित हैं और अन्य लेखों में जैसे, 'तुलसी की काव्य-भाषा: कुछ संकेत', 'प्रसाद की काव्य भाषा का आरंभिक रूप: संधि कालीन स्थिति का अध्ययन', 'नयी कविता की भाषा: समस्या पूर्ति और कथानक रूढ़ियाँ', 'नई कहानी और सरल भाषा का आग्रह', आदि लेखों में भाषा का अन्य विधाओं के साथ जो संबंध दिखाया गया है उनमें भाषा का व्यावहारिक अध्ययन किया गया है। अन्य लेखों का भाषा संबंधी अध्ययन से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

आरंभिक वक्तव्य में लेखक ने यह बताने का प्रयास किया है कि प्रत्येक संवेदनशील रचनाकार भाषा से संघर्ष और असंतोष का अनुभव गहरे स्तरों पर करता है। यह सही है कि भाषा के बिना कोई भी व्यक्ति अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। यदि उसकी भाषा सबल होगी तो उसकी अभिव्यक्ति भी पूर्ण हो पाएगी। इसलिए लेखक कहता है कि भाषा का अधूरापन किसी सीमा तक मानवीय व्यक्तित्व के केंद्रीय तत्वों की अपूर्णता का द्योतक है। इसी बात को लेकर लेखक ने रचनाकार के आंतरिक संघर्ष का सूक्ष्म अध्ययन भाषा के माध्यम से ही करने की बात कही है।

लेखक ने इस अध्ययन में विषयवस्तु का प्रस्तुतीकरण एक निरपेक्ष तत्व चिंतक की मुद्रा में किया है और इसी में उनकी अपनी कुछ मान्यताएं मिल जाती हैं, चाहे उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर्याप्त मात्रा में न भी मिले।

'भाषा जितनी सृजनात्मक होगी, कलाकृति उतनी ही विशुद्ध और प्रामाणिक होगी' (पृष्ठ 9)। इसी बात के आधार पर लेखक ने अज्ञेय की भाषा की सराहना की है, जिन्होंने अपने साधारण और परिचित शब्दों में नई भंगिमाएं और अर्थ-छायाएं प्रदान की हैं। वस्तुतः रूढ़ एवं अकाव्यात्मक शब्दों को प्रतिभावान् कवि ही संदर्भानुसार जीवन प्रदान करता है।

'काव्य भाषा का स्वरूप' नामक अध्याय में लेखक ने काव्य-भाषा का सुंदर विवेचन करते हुए यह समझाने का प्रयास किया है कि कविता के आंतरिक संघटन को समझने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार काव्य-भाषा ही है। यह सत्य है कि काव्य की आंतरिक संघटना और उसके कार्य-फलन को समझने एवं परखने के लिए काव्य-भाषा एक ऐसे ठोस आधार का कार्य करती है जो काव्य के मर्म तक पहुंचने में सहायक सिद्ध होती है, क्योंकि सरसता एवं कल्पना के सम्मिलन से, शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग से और भावावेशपूर्ण हृदय से निःसृत सहज भाषा के घुलने-मिलने से लोकोत्तर सौंदर्य की अनुभूति होती है। अतः काव्य में निहित वाक्य और अर्थ की प्रतिपत्ति का सही अन्वेषण काव्य-भाषा से ही किया जा सकता है। इसीलिए लेखक ने कहा है कि इस अध्ययन में 'समीक्षक के अपने पूर्वाग्रह तथा व्यक्तिगत रुचि के अनपेक्षित तत्व कम से कम मात्रा में रह जाते हैं' (पृष्ठ 10)। लेखक के शब्दों के अनुसार 'प्रत्येक युग के काव्य-बोध को समझने के लिए कवि की भाषा-प्रयोग-विधि हमारे लिए शायद सबसे महत्त्वपूर्ण कुंजी सिद्ध हो सकती है' (पृष्ठ 11)। इस वाक्य में लेखक ने जिस भाषा-प्रयोग-विधि का प्रयोग किया है वह उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः काव्य का आंतरिक विश्लेषण करने के लिए 'कुंजी' काम नहीं करती। उसके लिए सौंदर्यविधायक शक्ति एवं प्रतिभा की भी आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए किसी भी काव्य के मर्म तक पहुंचने के लिए केवल बाह्य उपकरण ही काम नहीं करेंगे अपितु भाषा में निहित शक्ति ही उसके अंतस् में खोज कर सकेगी। भाषा-प्रयोग-विधि स्वयं में एक बाह्य उपकरण लगती है। अतः बाह्य उपकरण से भी एक व्यापक उपकरण 'शक्ति' है (जिसे शैली की संज्ञा दी जा सकती है) और जो काव्य का सही विश्लेषण करने में समर्थ एवं सबल है।

लेखक ने सही कहा है कि 'साहित्यिक-भाषा मूलतः बोलचाल की ही वह भाषा है जो विभिन्न रचनाकारों की सृजन-प्रक्रिया में समाहित होकर अपने स्वरूप को परिवर्तित कर लेती है'। (पृष्ठ 13)। यह बात अवश्य है कि कवि भाषा को काव्य का समर्थ एवं अभीप्सितार्थ साधक बनाने के लिए उसका संस्कार एवं परिमार्जन निरंतर करता रहता है। वह अपने विषय, प्रसंग तथा भावों के अनुकूल भाषा के शब्दों का चयन अथवा उनके मानकों का अतिक्रमण करता है। वास्तव में काव्य-भाषा के वाक्य-गठन और संरचना में जो विभिन्नता होती है वह कवि की अनुभूति, भाव,

विचार, सृजनात्मक शक्ति और अन्य बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव के कारण होती है। हम देखते हैं कि एक ही भाषा अवधी में तुलसी और जायसी ने, ब्रज में सूर और बिहारी ने, खड़ी बोली में प्रसाद, पंत, निराला, अज्ञेय आदि ने काव्य-सृजन किया है। किंतु इन कवियों की भाषा में कितना अंतर दृष्टिगोचर होता है। इसी बात को लेखक ने एक अन्य अध्याय 'भाषा और संवेदना' में कहा है कि "काव्य-भाषा एक निश्चित सीमा तक कवि के व्यक्तित्व के अनुकूल रूपाकार ग्रहण करती है पर अपनी आधार-भूत सामाजिक भाषा से वह पृथक् नहीं हो सकती है जो कि रचनाकार की संवेदना का माध्यम और स्रोत है" (पृष्ठ 98)। इस अध्ययन में लेखक ने 'घर' और 'चक्रव्यूह' शब्दों (पृष्ठ 22-23) का दैनिक बोलचाल के संदर्भ में और काव्य-भाषा के संदर्भ में जो विवेचन किया है वह सुंदर बन पड़ा है।

लेखक ने काव्य-भाषा के विवेचन में शब्द-चयन की बात भी की है। भाषा एक प्रकार से यथार्थ के प्रति हमारी सारी प्रतिक्रियाओं का योग है। इसीलिए शब्दों की सार्थकता में वैसा ही वैविध्य है जैसा मानव अनुभूतियों में (पृष्ठ 32)। वास्तव में भाषा की शक्ति मूलतः उसके शब्द-सामर्थ्य, शब्द-योजना और शब्द-व्यवस्था पर आधारित है। जिस वक्ता या लेखक को शब्द का पूर्ण ज्ञान होगा वह उसकी शक्ति तथा विविध प्रयोगों से उत्पन्न होने वाले विविध चमत्कारों से परिचित होगा और उसके शब्दों में जितनी अधिक संप्रेषण-शक्ति होगी उसकी भाषा उतनी ही समृद्ध एवं शक्तिशाली होगी। वस्तुतः काव्य में ये शब्द कोषगत अर्थों की सीमा को पार करते हुए लक्षणा और व्यंजना की भूमि में आ जाते हैं। यही साहित्यकार की सिद्धि है कि उसके शब्दों में साधारण अर्थ की अपेक्षा व्यापक अर्थ अधिक रहता है। शब्दों का साभिप्राय, सप्रसंग, स्वाभाविक, संदर्भानुसार और प्रकृत चयन ही काव्य-भाषा के रूप को निखार देता है। इसीलिए लेखक ने यह कहा है कि "शब्द एक विशेष अर्थ-व्यवस्था से संवद्ध रहते हैं" (पृष्ठ 33)। काव्य-भाषा की समृद्धि अधिक शब्दों के कारण न होकर बहुस्तरीय अर्थों के कारण ही होती है।

शब्द-चयन के संदर्भ में लेखक ने अनुवाद संबंधी कुछ बातें भी कही हैं। विश्व-जीवन और विश्व-साहित्य में अनुस्यूत एकता का बोध अनुवाद से ही हो सकता है। अनुवाद से भाषा की अभिव्यंजना शक्ति में वृद्धि होती है। उससे नए भाव, नए विचार मिलते हैं तथा शब्दों के अभाव में नए शब्दों की सर्जना होती है। इस प्रकार अर्थस्तर का ऐसा परिवर्तन विशिष्ट शब्द के अपने व्यक्तित्व के साथ-साथ आसपास के शब्दों के संपर्क पर भी निर्भर होता है। पहला शब्दों का निजी स्वरूप, और दूसरा उनका वातावरण और संपर्कगत प्रतिष्ठापन, भाषा-प्रयोग विधि का एक मुख्य सूत्र है (पृष्ठ 37)।

लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य का अंतर लेखक भाषा प्रयोग की विभिन्नता में मानता है। उनके शब्दों में 'लोक-साहित्य' में सामान्यतः भाषा का सृजनात्मक प्रयोग नहीं होता, लोक कवि (या गायक) भावचित्रों का संघटन नहीं कर पाता। लोकगीत में तो अधिकतर संगीत के सक्रिय

सहयोगमें दैनिक बोलचाल की भाषा रहती है ......यही कारण है लोकगीतों की सरसता गायक के कंठ में होती है, मुद्रित रूप में ये अपना प्रायः समूचा प्रभाव खो बैठते हैं (पृष्ठ 38-39) । ऐसा लगता है कि लेखक ने लोक साहित्य अथवा लोकगीत को पूर्ण रूप से समझा नहीं है । वस्तुतः गीत भावनाप्रधान होता है और जनता भी भाव-परिचालित होती है । अतः सदा ही जनता-जनार्दन की आवेशपूर्ण वाणी इसी रूप में स्पष्ट स्वरों में सुन पड़ती है । हमें ऐसे लोकगीत भी मिलते हैं जिनके सुनने व पढ़ने से मन द्रवित या गद्‌गद् हो उठता है । इसलिए यह कहना कि लोकगीत अधिकतर संगीत के कारण सरस लगते हैं और मुद्रित रूप में वे अपना प्रायः समूचा प्रभाव खो बैठते हैं, पूर्णतः सही नहीं है ।

कविता की मीमांसा प्राचीन काल से होती आ रही है। कविता के विभिन्न तत्वों के विषय में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मत दिए हैं किंतु मुख्यतः इसे वाणी का वैचित्र्य माना गया और इसमें रस-भाव की प्रतिष्ठा की गई । लेखक ने अज्ञेय की उक्ति को लेकर कविता की प्रमुख विशेषता उसकी भाषा-प्रयोग-विधि में मानी है (पृष्ठ 39) । यह सही है कि कविता भाषा की एक विशिष्ट विधा है किंतु भाषा-प्रयोग-विधि से यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती कि कविता की अपनी भी अलग सत्ता होती है । अतः हमारे विचार में यह कहना उचित होगा कि कविता एक ऐसी शाब्दिक कला है जो अपनी प्रकृति और संरचना में स्वनिष्ठ सत्ता रखे हुए होती है । इसमें कथ्य एक होता है किंतु अभिव्यक्तियाँ अनेक होती हैं । अतः कविता को जांचने के लिए अब काव्य-भाषा का ही प्रतिमान शेष रह गया है । इस बात को तो लेखक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है ।

अंत में लेखक ने भाषा और संस्कृति के पारस्परिक संबंध के विषय में भी कुछ चर्चा की है । यह सही है कि भाषा का संस्कृति और परंपरा से अटूट संबंध होता है । अतः कवि की भाषा में सांस्कृतिक चेतना का महत्व अधिक होगा क्योंकि वह स्वयं उसी संस्कृति और वातावरण में पला हुआ होता है । इस प्रकार यदि किसी देश का काव्य अथवा साहित्य उस देश की संस्कृति एवं परंपरा के साथ जुड़ा होता है तो निश्चय ही उस साहित्य अथवा काव्य की भाषा भी उस संस्कृति एवं परंपरा से संबंधित होगी ।

'भाषा और संवेदना' अध्याय में लेखक ने यह प्रश्न भी उठाया है कि भाषा को भावों की अनुगामिनी माना जाए अथवा नहीं । उनके शब्दों में 'भाषा को भावों की अनुगामिनी न मानकर भावों एवं संवेदनों की प्रकृति का भाषा द्‌वारा अनुशासित और निर्धारित होना माना जाए' (पृष्ठ 97) । वस्तुतः कवि जिन अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहता है उसके पूर्व रूप उसने भाषा के किसी रूप में ही सोचे होंगे । इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों स्थितियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । इसलिए भाषा में जितना अधिक अर्थ-बोध होगा, काव्य की

संवेदनात्मक गहनता उतनी ही अधिक होगी। यहीं से शैली विज्ञान का कार्य प्रारंभ होता है, यद्यपि लेखक ने इस बात का कोई संकेत नहीं किया है।

इस पुस्तक में काव्य-भाषा संबंधी कुछ व्यावहारिक लेख भी हैं, जैसे 'तुलसी की काव्य-भाषा,' 'प्रसाद की काव्य-भाषा का आरंभिक रूप,' 'नई कविता की भाषा' 'नई कहानी और सरल भाषा का आग्रह' आदि। इन लेखों में लेखक ने कवियों की काव्य-भाषा का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। किंतु यह विश्लेषण साहित्यशास्त्र के अधिक निकट जा पड़ता है। यदि शैलीविज्ञान की दृष्टि से इन पर विचार किया जाता तो शायद यह अधिक विश्वसनीय एवं वैज्ञानिक वन पाता। तथापि, हम यह कह सकते हैं कि यह पुस्तक शैलीविज्ञान का प्रथम अध्याय है और लेखक ने बड़ी ही सूझ-बूझ से इस विषय को उठाया है और प्रथम पुस्तक के रूप में उनका यह प्रयास काफ़ी सफल वन पड़ा है।

डा० श्रीवास्तव द्वारा लिखित 'शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका' हिंदी में पहली पुस्तक है जिसमें शैलीविज्ञान पर गंभीर और विद्वत्ता-पूर्ण चिंतन किया गया है। इस पुस्तक में शैलीविज्ञान के आधारभूत सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन किया गया है, जिससे हमारे विचार में आधुनिक हिंदी साहित्य के आलोचकों और हिंदी भाषाविज्ञानियों को नई दृष्टि एवं दिशा मिलेगी। यह पुस्तक वास्तव में डॉ० श्रीवास्तव द्वारा केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा में दिए गए व्याख्यानों का प्रतिफलन है। इसमें भूमिका के साथ तीन लेख हैं : 1 विज्ञान और साहित्य : सृजनात्मक प्रक्रिया की समानता, 2. विज्ञान और कविता : अभिव्यक्ति पद्धति की विशिष्टता, 3. शैलीविज्ञान आलोचना का भाषावादी दृष्टिकोण : स्वरूप एवं प्रकृति। इन लेखों के अतिरिक्त दो परिशिष्ट हैं जिनमें 'काव्य भाषा और शैलीविज्ञान' तथा 'भाषावैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका' नामक लेख प्रस्तुत किए गए हैं।

भूमिका में लेखक ने साहित्यिक आलोचना में आ रही वैज्ञानिकता की चर्चा करते हुए साहित्य में विज्ञान की क्या भूमिका संभव है, इसका गंभीर अध्ययन किया है। इसी चर्चा में लखक ने विज्ञान और कला में अंतर वताया है। और वह अंतर है अभिव्यक्ति पद्धति तथा कार्य-प्रणाली का। इसी के अनुसार लेखक ने यह कहा है कि अभिव्यक्ति पद्धति के इस आधार पर साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति ही शैलीविज्ञान का मूल आधार है (पृष्ठ 3)। अतः शैलीविज्ञान साहित्यिक-आलोचना का सिद्धांत भी हो जाता है और प्रणाली भी। सिद्धांत के रूप में इसकी दृष्टि भाषावादी होती है। शैलीविज्ञान साहित्य के संदर्भ में भाषा की प्रकृति एवं संरचना को स्पष्ट करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि अपनाता है। और यह दृष्टि उसे भाषाविज्ञान से मिलती है। किंतु वैज्ञानिक दृष्टि होते हुए भी इसका संबंध संवेदना और भाव-वोध के साथ अवश्य जुड़ा रहता है। यही कारण है कि शैलीविज्ञान को जहाँ साहित्यिक

निर्धारण का वैज्ञानिक दृष्टिकोण माना गया है वहाँ आलोचना की आधुनिक भूमिका भी । इसीलिए लेखक ने शैलीविज्ञान को सही रूप में लाने के लिए उसे वैज्ञानिक सिद्धांत, वैज्ञानिक प्रणाली और वैज्ञानिक प्रक्रिया के संदर्भ में प्रस्तुत करना अपना कर्तव्य समझा है ।

पहले अध्याय में लेखक ने विज्ञान और साहित्य की समानता और असमानता का बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन किया है । इस अध्ययन में लेखक ने यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि विज्ञान और साहित्य एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं । वस्तुतः विज्ञान अपनी प्रणाली को पर्यवेक्षण के आधार पर प्राप्त-तथ्य-सामग्री क संदर्भ में अपनाता है और साहित्यकार भी अपनी प्रणाली को उस संश्लेषणात्मक विधान के आधार पर अपनाता है जो वस्तुतः वैसी ही तथ्य-सामग्री के पर्यवेक्षण पर आधारित है जिसे वैज्ञानिक स्वीकार करता है । अंतर है तो इतना कि पर्यवेक्षित तथ्य-सामग्री द्वारा निर्मित साहित्यिक जगत एवं उसकी क्रियात्मक घटनाओं के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह यथार्थ में घटी ही हों (पृष्ठ 4) । इसका विश्लपण करते हुए लेखक ने रूसी उपन्यासकार दास्तायेवस्की की उपन्यास कला का दिग्दर्शन कराया है । इस विश्लेषण में यदि लेखक ने किसी भारतीय अथवा हिंदी उपन्यासकार की उपन्यास-कला का दिग्दर्शन कराया होता तो वह हिंदी पाठकों के लिए बड़ा उपयोगी होता ।

वैज्ञानिक पद्धति और साहित्यिक प्रक्रिया के संबंध में आज जो भ्रांत धारणाएं फैली हुई हैं, उनका उन्मूलन करने का लेखक ने सफल प्रयास किया है । वे कहते हैं कि विज्ञान और कविता दोनों ही वस्तुओं (विज्ञान, भौतिक वस्तुओं और कविता, काव्य वस्तुओं) को उनके खंडों की आंतरिक अन्विति के संदर्भ में पूर्णता प्रदान करते हैं । इनमें अंतर है तो अभिव्यक्ति पद्धति का (पृष्ठ 19) । इस विश्लेषण से यह पता चलता है कि वैज्ञानिक और कवि की जगत् अथवा यथार्थ के प्रति दृष्टि तो एक होती है किंतु उनकी अनुभव-रीतियां अलग-अलग होती हैं, जिसके परिणामस्वरूप अभिव्यक्ति पद्धति भी पृथक् हो जाती है ।

विज्ञान और कविता को लेखक ने लक्ष्य एवं प्रक्रिया में समान माना है । किंतु इन दोनों में भिन्नता भी दिखाई है । उनके शब्दों में "विज्ञान जिस निर्वचनात्मक प्रक्रिया का सहारा लेता है, कविता उससे भिन्न प्रस्तुतीकरण एवं अभिव्यक्तीकरण का रास्ता अपनाती है । विज्ञान और कविता का अंतर वस्तुतः अभिव्यक्ति पक्ष का अंतर है" (पृष्ठ 12) । यहाँ पर लेखक ने अभिव्यक्ति पक्ष को आधार मानकर साहित्य के अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति को शैलीविज्ञान कहा है ।

वास्तव में विज्ञान हो अथवा साहित्य, धर्म हो या दर्शन, सभी का कथ्य पक्ष 'यथार्थ' के किसी न किसी पक्ष की स्वीकृति अथवा खोज है । यथार्थ मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं। 1. भौतिक 2. आधिभौतिक 3. अमर्त 4. काव्यात्मक । ये चारों प्रकार अपने आप में स्वनिष्ठ , स्वतंत्र और पूर्ण

हैं । इन्हीं चारों प्रकारों का लेखक ने विज्ञान और साहित्य के संदर्भ में सुंदर विश्लेषण किया है । आगे चलकर लेखक ने यथार्थ प्रकार के विभिन्न संयोग को अपनी सृजनात्मक प्रक्रिया में समेटने वाले कवियों का वर्गीकरण कवि-आलोचक शैपिरो के अनुसार किया है । लेखक ने कहा है कि "उसके (शैपिरो के अनुसार यथार्थ प्रकार के विभिन्न आनुपातिक संयोग को समटने के कारण कवियों को 5 श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :— 1. महान कवि 2. प्रमुख कवि 3. ऐतिहासिक कवि 4. दार्शनिक कवि 5. गौण कवि (पृष्ठ 13) । इस वर्गीकरण में लेखक ने अपना मत नहीं दिया है, वल्कि शैपिरो के वर्गीकरण के अनुसार विभाजन करने की बात कही है । किंतु इस वर्गीकरण में कुछ भ्रांतियाँ द्रष्टव्य हैं । इस वर्गीकरण के अनुसार ऐतिहासिक कवि वह है जो साहित्यिक दृष्टि के साथ-साथ वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि अपनाने के कारण अपनी कृति में भौतिक एवं अमूर्त यथार्थ प्रकार को भी साधता है । यहाँ ऐतिहासिक कवि के स्थान पर यदि कोई और तर्कसंगत नाम दिया गया होता तो उचित होता; क्योंकि इस नाम से उसे ऐतिहासिक घटनाओं को साहित्य का अंग वनाने वाला समझा जाता है अथवा जिसने इतिहास को आधार बनाकर साहित्यिक रचना की हो वह ऐतिहासिक कवि माना जाता है । दूसरी ओर गौण कवि शब्द भी भ्रांति पूर्ण दिखाई देता है । वास्तव में अन्य वर्गीकरणों की भाँति कवियों का ऐसा वर्गीकरण नहीं किया जा सकता जिसमें किसी कवि को गौण माना जाए । वह कवि ही क्या जो गौण कहलाए ! गौण कवि को तो कवि कहना ही अनुचित है । इस वर्गीकरण से तो उस कवि के साथ न्याय नहीं हो पाता जो कलात्मक यथार्थ को अपनाता है, अर्थात् जिसकी दृष्टि शुद्ध साहित्यिक होती है और वृत्ति सृजनात्मक होती है । क्या निराला की 'जूही की कली' नामक कविता को गौण कविता कहेंगे, जिसमें निराला जी की शुद्ध साहित्यिक दृष्टि है और वृत्ति सृजनात्मक है । इन दोनों अर्थात् ऐतिहासिक कवि और गौण कवि पर यदि एक वार फिर गंभीर अध्ययन किया जाए तो बात और स्पष्ट हो सकती है ।

लेखक ने यथार्थ-प्रकार और अभिव्यक्ति-पद्धति के संवंध को कार्य-कारण संवंधों के आधार पर समझाने का सफल प्रयास किया है । उनके मतानुसार यथार्थ साध्य है और वैज्ञानिक, साहित्यकार, सामान्य व्यक्ति आदि सभी लोग इस साध्य तक पहुँचना चाहते हैं । जब वे इस यथार्थ को समझ लेते हैं तो इसे विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करते हैं । वस्तुत: विषयी की चेतना एक होती है किंतु उसकी दृष्टि मूलत: तीन प्रकार की— इंद्रियजन्य, वैज्ञानिक और सृजनात्मक होती है । तदनुरूप उसकी अनुभव-रीतियाँ होती हैं और इसी के माध्यम से वह कला-वस्तु को अभिव्यक्ति प्रदान करता है । वैज्ञानिक और सृजनात्मक दृष्टियाँ मूल्य-निरपेक्ष होती हैं, किंतु इंद्रियगत संवेदनाओं के साहचर्य से वे मूल्य का निर्माण करती हैं । इन तीनों में जव अन्विति हो जाती है तो महान साहित्य का निर्माण होता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "अभिव्यक्ति पद्धति का सीधा संवंध विषयी के अनुभव-गत संसार से है और इस अनुभव-गत संसार की प्रकृति अनुभव-रीतियों की अपनी विशिष्टता द्वारा वाधित और नियंत्रित होती रहती है" (पृष्ठ 17) ।

'विज्ञान और कविता : अभिव्यक्ति पक्ष की विशिष्टता' नामक अध्याय में लेखक ने अभिव्यक्ति पक्ष के कार्य-फलन का विवेचन किया है। सामान्यतः अभिव्यक्ति पक्ष प्रतीक का वह पक्ष है जो उसके प्रत्यय का माध्यम बनता है। पर भाषिक-प्रतीक प्रत्यय और अभिव्यक्ति पक्ष के एकीकरण के रूप में निबद्ध रहता है। "प्रत्यय के अभाव में अभिव्यक्ति पक्ष अथवा अभिव्यक्ति के अभाव में प्रत्यय पक्ष मात्र अपने आधार पर किसी भी प्रतीक को जन्म देने में असमर्थ है" (पृष्ठ 19)। उदाहरणार्थ जब हम 'कमल' शब्द का उच्चारण करते हैं तो उस समय हमारे मन में तत्काल ही उसका प्रत्यय उभर आता है और कमल-वस्तु का सामान्यीकृत प्रत्यय 'कमल' शब्द के अभाव में जन्म नहीं ले पाता। इस प्रकार वैज्ञानिकों और कवियों का प्रतीक एक ही है। किंतु इसके पक्ष दो हैं :—प्रत्यय (कथ्य) और अभिव्यक्ति। कथ्य के रूप में वैज्ञानिक और कवि दोनों ही सामान्य अमूर्त प्रकथन देना चाहते हैं और अभिव्यक्तीकरण प्रक्रिया द्वारा इसे विशिष्ट अमूर्त्त प्रकथन में रूपांतरित करते हैं। यही कारण है कि विज्ञान और कविता का अंतर अभिव्यक्ति पद्धति में ही दिखाई देता है जो सामान्य को विशिष्ट और अमूर्त्त को मूर्त्त रूप में रूपांतरित करता है। यदि कवि की अभिव्यक्ति-पद्धति प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया पर बल देती है तो वैज्ञानिक की पद्धति निर्वचनात्मक प्रक्रिया को अपनाती है। कविता की प्रस्तुतीकरण पद्धति में यद्यपि तर्क-पूर्ण बात नहीं होती किंतु उसे असत्य एवं अप्रभावी नहीं माना जा सकता; जबकि विज्ञान की निर्वचनात्मक पद्धति तर्क और विवेक पर आधारित होती है तो भी उसे असत्य एवं अप्रभावी सिद्ध किया जा सकता है। इसी प्रस्तुतीकरण प्रक्रिया के आधार पर लेखक ने केदारनाथ सिंह की कविता (अनागत) का बड़ा सटीक विश्लेषण किया है।

'शैलीविज्ञान आलोचना का भाषावादी दृष्टिकोण स्वरूप एवं प्रकृति' नामक तीसरे अध्याय में लेखक ने शैलीविज्ञान के फलस्वरूप एवं प्रकृति के विषय में चर्चा करते हुए काव्य-बिंब का जो विस्तृत विवेचन किया है, उसमें उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि विषय को मूर्त्त और रूप को दीप्त करने वाली बिंब-शक्ति का स्रोत शब्दों की अपनी संयोजना में निहित है (पृष्ठ 38)। इसीलिए लेखक ने काव्य-बिंब का विवेचन भाषावैज्ञानिक दृष्टि से किया है। बिंब की परिभाषा और विश्लेषण दो दृष्टियों से किया जा सकता है—एक भाववादी दृष्टि से और दूसरा भाषावादी दृष्टि से। यहाँ पर बिंब की परिभाषा भाषावादी दृष्टि से देते हुए लेखक ने यह कहा है कि बिंब दो या दो से अधिक कथ्य का वह संश्लिष्ट रूप है जो अर्थ के धरातल पर विरोधी होने के उपरांत भी वाक्य-संरचना के धरातल पर आपस में संबद्ध होता है (पृष्ठ 39)।

उपर्युक्त विवेचन को देखते हुए यहाँ यह कहना असमीचीन न होगा कि कविता को समझने का आधिकारिक माध्यम उसमें प्रयुक्त होने वाली भाषा की प्रतीक पद्धति ही हो सकती है। इसीलिए तर्क-भाषा और काव्य-भाषा का अंतर प्रतीक-पद्धति के अंतर से जाना जा सकता है।

कवि की अपनी दृष्टि और अनुभूति की प्रेरणा से अनुप्रमाणित होने के कारण काव्य-भाषा भावात्मक होती है और विज्ञान की तटस्थ दृष्टि और सिद्धांत-विशेष से बाधित होने के कारण तर्क-भाषा की प्रकृति संकेतात्मक होती है । इसी सिद्धांत के अनुसार लेखक ने तर्क-भाषा और काव्य-भाषा का अंतर स्पष्ट, विस्तृत और समुचित रूप में दिखाने का सफल प्रयास किया है ।

तर्क-भाषा और काव्य-भाषा के अंतर के संदर्भ में प्रतीक-पद्धति का भी सुंदर विवेचन किया गया है, जिसे वाह्य और आंतरिक पक्ष के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं को रिचर्ड्स ने संकेतार्थ पक्ष और भावात्मक पक्ष के रूप में देखा है । एक पक्ष है भाषा का तर्क पक्ष जो उसका विचारात्मक रूप होता है और दूसरा भाषा का वह भावात्मक रूप है जिसमें कवि की अपनी अनुभूति, भावना, अभिप्राय और दृष्टिकोण निहित रहते हैं और इसे पहले पक्ष की भाँति कथन की सत्यता-असत्यता के मापदंड द्वारा मापा नहीं जा सकता । इसी विश्लेषण के आधार पर आधुनिक विद्वान यह कहने लगे हैं कि कविता का सही विश्लेषण करते हुए हमें यह नहीं देखना चाहिए कि कवि क्या कहता है बल्कि यह देखना चाहिए कि कविता क्या कहती है । प्राचीन कवि-आलोचक अपनी रचनाओं में भाषा को एकमात्र उपकरण मानते हैं और वह भी कविता अथवा काव्य-भाषा के कार्यफलन का नहीं वरन् कविता के किसी विशेष पक्ष का विशेष साधन-रूप । किंतु आज का कवि भाषा को कविता का माध्यम न मानकर कविता को ही भाषा की एक विधा मानता है । वह कविता को भाषा की एक शैली-विशेष रूप में स्वीकार करता है और शली को मानक (norm) से अलग हटी हुई भाषा की स्थिति-विशेष मानता है ।

इसी विश्लेषण के आधार पर कविता को स्वनिष्ठ भी माना गया है अर्थात् कविता अपने आप में पूर्ण होती है और कवि द्वारा रचित होने के पश्चात् वह अपना निजी व्यक्तित्व ग्रहण कर लेती है । इसके अतिरिक्त कविता का न तो उस अभिप्राय के आधार पर परीक्षण किया जा सकता है जिसे लेकर कवि अपनी कृति की रचना करता है और न पाठकों पर पड़े प्रभाव के संदर्भ में ही उसकी व्याख्या की जा सकती है ।

तत्पश्चात्, लेखक ने अमरीकी भाषाविज्ञानी रोमन याकोब्सन की काव्य-भाषा संबंधी विवेचना का आधार लेकर यह दिखलाने का प्रयास किया है कि कार्यफलन के विभिन्न आयाम पर भाषा का अध्ययन होना चाहिए और भाषा के काव्यात्मक कार्यफलन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसके इस कार्यफलन को भाषा के अन्य कार्यफलनों के परिप्रेक्ष्य में रखकर उसकी विवेचना प्रस्तुत की जाए (पृष्ठ 44) ।

इसलिए कहा गया है कि यदि कविता भाषा की ही एक विधा है तो काव्यात्मकता का गहन संबंध भाषा की प्रतीक-पद्धति की अपनी संयोजना से है । इसी में शब्दों का चयन और संयोजन आते हैं और साथ में लक्षणा शक्ति की भी सत्ता माननी पड़ती है ।

इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि भारतीय काव्य-शास्त्र की मूल प्रकृति भाषावादी रही है। इसमें कृति को केंद्र मानकर उसकी भाषिक-संरचना के अध्ययन के आधार पर कलात्मकता की खोज करने का प्रयास किया जाता रहा है। किंतु बाद के हिंदी काव्यशास्त्रियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की वस्तुवादी परंपरा को या तो समझा नहीं है या समझने का प्रयत्न नहीं किया है अथवा उन्होंने स्वयं इसकी उपेक्षा की है। इसी संदर्भ में लेखक ने इस बात की पुष्टि करने का प्रयास किया है कि भारतीय साहित्यशास्त्र की दृष्टि भाषावादी रही है क्योंकि इसका मूल आधार शब्द और अर्थ रहा है। यही बात हमें शैलीविज्ञान में भी मिलती है। शैली-विज्ञान भाषावादी दृष्टि को अपनाते हुए वस्तुनिष्ठ एवं रूपवादी आधार को लेकर साहित्य का विवेचन एवं विश्लेषण करता है। किंतु यह बात अवश्य है कि शैलीविज्ञान भी कविता को पहले कविता के रूप में ग्रहण करता है और यह मानकर चलता है कि कविता सूखे काठ की चीज नहीं है अपितु मानव मन के मोम की अंतर्दीप्त प्रतिमा है जो उसके विविध अनुभवों की आँच मे पिघल कर नाना रूप धारण करती है (पृष्ठ 56)।

अंत में लेखक ने वाक्य-संरचना के तीन धरातलों का तीन स्तरों के आधार पर अर्थात् अंतर्वाक्य और पैराग्राफ स्तर, उपवाक्य और वाक्य स्तर तथा शब्द और पदबंधस्तर पर 'अनागत' कविता का जो शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण किया है वह वास्तव में बहुत सुंदर बन पड़ा है। यद्यपि यह विवेचन आज के हिंदी आलोचकों के लिए कठिन अवश्य है किंतु अर्थ-संप्रेषण की इस प्रक्रिया से यदि किसी कविता का विश्लेषण किया जाए तो हमारे इस कथन में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि इस प्रकार के विश्लेषण से कविता का सूक्ष्म, वस्तुवादी एवं स्पष्ट अध्ययन किया जा सकेगा।

परिशिष्ट में लेखक ने अपने दो लेख 'काव्य-भाषा और शैलीविज्ञान' तथा 'भाषावैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका' जोड़ दिए हैं। 'काव्य-भाषा और शैलीविज्ञान' में लेखक ने कविता को भाषा का विशेष रूप मानते हुए यह कहा है कि साहित्य एक शाब्दिक कला है और इसे समझने का माध्यम भाषा को ही स्वीकार करना होगा। यह माध्यम कला के अन्य क्षेत्रों के माध्यमों से भिन्न है—इस तथ्य का लेखक ने सविस्तार विवेचन किया है। बाद में लेखक ने कविता और भाषाविज्ञान के संबंधों को जोड़ते हुए शैलीविज्ञान की चर्चा उठाई है जो बड़ी सटीक बन पड़ी है। पहले की ही भाँति लेखक शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान का अंग मानते हुए कहता है कि शैलीविज्ञान की विश्लेषणात्मक प्रणाली तो भाषावैज्ञानिक है किंतु इसकी विश्लेषणात्मक सामग्री भाषा का सामान्य रूप न होकर उसका विशिष्ट साहित्यिक पक्ष होता है और यहाँ पर भाषा के उस विशेष कार्यफलन को केंद्र बनाया जाता है जिसके सहारे कवि शब्दों के साथ बंधे बौद्धिक प्रत्यय का रूपांतरण अबौद्धिक कथ्य में करने में समर्थ सिद्ध होता है (पृष्ठ 80)।

'भाषावैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका' में लेखक ने जोरदार शब्दों में यही बात कही है कि साहित्य के विश्लेषण में जिन आंतरिक

मूल्यों एवं रसानुभूति की चर्चा करनी है उसमें आम व्यक्ति की माध्यम भाषा को ही देखना पड़ेगा। वास्तव में भाषा ही साहित्य का आधार स्तंभ है। भाषा के बिना तो साहित्य टिक ही नहीं पाता। इसलिए सही एवं वस्तुपरक अलोचना में भाषावैज्ञानिक दृष्टि का होना आवश्यक है। आलोचक हो या भाषाविज्ञानी-दोनों ही 'पाठसामग्री' के भीतर निहित 'पैटर्न' और 'संघटना' को ढूंढने का प्रयास करते हैं (पृष्ठ 82)। इसीलिए इसमें कविता के वाक्य-गठन और संघटना को सामान्य भाषा के वाक्य-गठन और संघटना से भिन्न होकर देखना होगा और कविता के वाक्यगठन की विशेषता की ओर ध्यान देना होगा। इस प्रकार लेखक ने इसका विशद विवेचन कर यह समझाने का सफल प्रयास किया है कि साहित्यिक आलोचना करते समय वैज्ञानिक दृष्टि का होना आवश्यक है और इसी में साहित्य की वस्तुपरक एवं विश्वसनीय आलोचना हो सकती है और साहित्य के मर्म तक पहुंचा जा सकता है।

उपर्युक्त दोनों पुस्तकें सिद्धांत रूप में साहित्य के भाषापरक अध्ययन हेतु सामने आई हैं। पहली पुस्तक तो इस ओर संकेत भर ही देती है और दूसरी पुस्तक में इसका पूर्ण परिचय मिलता है। आजकल विश्वविद्यालयों में कवियों एवं साहित्यकारों के काव्य अथवा साहित्य का व्यवहारमूलक भाषापरक अध्ययन किया जा रहा है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्य को लेकर इस प्रकार का अध्ययन कर यह दिखाने का प्रयास किया है कि साहित्यकारों की भाषा का मात्र भाषावैज्ञानिक अध्ययन करने से कोई ठोस बात नहीं मिल पाएगी और न ही उनके साहित्य का वस्तुवादी एवं वैज्ञानिक विश्लेषण ही हो सकेगा, जबतक शैलीविज्ञान का सहारा न लिया जाए (आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाषा का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन —पी० एच० डी० शोध-प्रबंध)। आशा है कि भविष्य में भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक आलोचक इस ओर अपनी दृष्टि डालेंगे।

—कृष्णकुमार गोस्वामी

विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली

(हिंदी-अँग्रेजी)

अक्षर	Syllable
अधस्तल	Substratum
अधिक्रम	Hierarchy
अधिखंडात्मक	Suprasegmental
अनाधायक वाक्य	Unembedded sentence
अनुक्त कर्म	Indirect object
अनुक्रम	Sequence
अनुतान	Intonation
अनुनासिकता	Nasalisation
अनुप्रयोग	Application
अनुलेखन	Orthography
अनुस्वार	Nasal (phoneme)
अन्वयांतर	Paraphrase
अन्विति	Concordance/Agreement
अपर भाषा	Additional/Second language
अभिलक्षण	Feature
अर्थ/वृत्ति	Mood
अर्थविज्ञान/शब्दार्थविज्ञान	Semantics
अल्पतम युग्म	Minimal pair
अवगम सिद्धांत	Information theory
अवग्रह	Open juncture
असमापिका क्रिया	Non-finite verb
आगत/गृहीत शब्द	Borrowed word
आघात	Accent
आधात्री	Matrix
आधान	Embedding
आधायक वाक्य	Embedding sentence
आधायित वाक्य	Embedded sentence
आधारभूत नियम	Base rules

आभ्यंतर संरचना	Deep structure
आर्थी	Semantic
आश्रित परिवर्त	Conditional variant
उक्त कर्म	Direct object
उच्चार	Utterance
उत्कर्ष	Prominence
उद्दिष्ट भाषा/लक्ष्य भाषा	Target language
उपरूप	Allomorph
उपस्वन	Allophone
उपागम	Approach
कंठ नली	Trachea
कथन/वाक्यबंध	Discourse
कर्ता उत्थापन	Subject Raising
कारकबंध	Case frame
कालमात्रा	Duration
कोटि	Category
कोटीकरण	Grading
क्रियमाणता	Performance
क्रियापरक	Verbal (s)
क्रियार्थक संज्ञा	Infinitive
खंड	Segment
खंडात्मक	Segmental
गुच्छ	Cluster
घटक	Component
चाक्षुष बिंब	Visual image
जिह्वाफलकीय	Coronal
तम कोटि	Superlative degree
तर कोटि	Comparative degree
तान	Tone
तीव्रता	Intensity
तोलन-वर्णनात्मक/व्यतिरेकी विश्लेषण	Contrastive analysis
द्वि-आधारी रचनांतरण	Double base transformation

द्विचर	Binary
द्वित्व	Gemination
ध्वनिक	Acoustic
ध्वनिविज्ञान	Acoustics
नामिक	Nominal (s)
नासिक्य रंजन	Nasalisation
निजवाचक	Reflexive
निरुपाधिक	Independent/Autonomous
निर्गत माला	Output string
पक्ष	Aspect
पदबंध	Phrase
परस्पर अंतर्वर्ती	Overlapping
परिच्छेदक अभिलक्षण	Distinctive feature
परिवर्त	Variant
परिवेश सापेक्ष	Context sensitive
पर्व	Node
पहचान अभ्यास	Recognition exercise
पारण सिद्धांत	Crossover principle
पार्श्विक	lateral
पुनर्निवेश	Feed back
पूरकतासूचक	Complimentiser
पूरक वितरण	Complementary distribution
पूर्वानुमेय	Predictable
प्रकार्य	Function
प्रकार्यक	Functor
प्रकार्यविहीन	Non-functional
प्रजनक स्वनप्रक्रिया	Generative Phonology
प्रतिकृति	Replica
प्रत्यक्ष गृहीत इकाई	Perceptual Entity
प्रत्यय	Affix
प्रत्युपाय अभ्यास	Remedial Drill
प्रभावी भाषा	Filter language

प्रभेदक अभिलक्षण	Distinctive feature
प्रयोग बाहुल्य	Functional load
प्ररूपविज्ञान	Typology
प्रवाही	Continuant
बलाघात	Stress (accent)
बहि: विन्यासक्रमात्मक	Exosyntagmatic
बहि:स्थापन	Extraposition
बाह्य संरचना	Surface structure
भाषाकालक्रमविज्ञान	Glottochronology
भेदक अभ्यास	Discrimination exercise
भोक्ता	Experiencer
भौतिक स्वनविज्ञान	Acoustic Phonetics/Physical Phonetics
मुखरित	Sonorant
मोचन	Release
रंजक	Intensifier
रचनांग	Constituent
रचनांतरण व्याकरण	Transformational Grammar
रूप	Morph
रूपप्रक्रिया	Morphology
रूप-स्वनप्रक्रिया	Morpho-phonemics
रूपिम	Morpheme
उद्दिष्ट भाषा	Target language
लिप्यंकन	Transcription
लेखिम	Grapheme
वर्गीकी प्ररूप	Taxonomic model
वाक्यविन्यास (विज्ञान)	Syntax
वाक् स्वन	Speech sound
वाचक	Signifier
वाच्य	Signified
विजात	Non-cognate
वितरण	Distribution
विश्लिष्ट संहिता	Open juncture

विरोध/वैषम्य	**Oppsition/contrast**
विशेषीकरण	**Adjectivisation**
विधुस्वन	**Diaphone**
विसर्पी	**Glide**
वृक्ष छँटाई / लघुकरण	**Tree pruning**
वैषम्य	**Contrast**
व्यक्तिवृत्तात्मक	**Ontogenetic**
व्यतिरेकी	**Contrastive**
व्यवस्था	**System**
व्यावर्तक अभिलक्षण	**Distinctive feature**
व्युत्पादी प्रत्यय	**Productive affix**
शब्दपूर्व / पूर्वशाब्दिक	**Prelexical**
शीर्ष	**Peak/Head**
शैलीविज्ञान	**Stylistics**
श्रुति	**Glide**
संक्षेपन	**Reduction**
संक्रिया	**Operation**
संघर्षण	**Strident**
संघर्षी	**Fricative**
संबंधिम	**Syntagma**
संमिश्र वाक्य	**Complex sentence**
संरचना	**Structure**
संवादी	**Corresponding**
संवृत	**Closed**
संहिता	**Juncture**
सजात	**Cognate**
समधारण सिद्धांत	**Shared Retension (Grierson)**
समधिकता	**Redundancy**
समविकास	**Shared Innovation**
समापिका क्रिया	**Finite verb**
सन्दर्भ/संदर्भ	**Reference**
सर्वभाषानियम	**Linguistic Universal (s)**
सर्वविशेषीय	**Suppletive**

सह समनुदिष्ट	Co-referential
सुर	Pitch
सोपाधिक	Conditional
स्पर्श-संघर्षी	Affricate
स्वतंत्र परिवर्तन	Free variation
स्वन	1. Phone 2. Sound
स्वनप्रक्रिया	Phonology
स्वनविज्ञान	Phonetics
स्वनात्मक लिपि	Phonetic script
स्वनिक	Phonetic
स्वनिम	Phoneme
स्वनिमविज्ञान	Phonemics
स्वनिमिक	Phonemic
स्वभाषी	Native speaker
स्वर गुण	Vowel quality
स्वरतंत्री	Vocal Cord
स्वर रंजक	Co-vowel
स्वराघात	Pitch (accent)

लेखक-परिचय

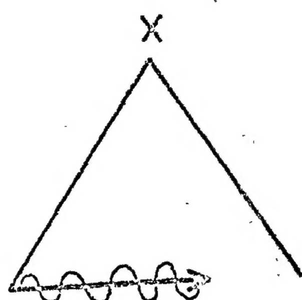
- रमेशचंद्र महरोत्रा (डॉ०), रीडर तथा अध्यक्ष, भाषाविज्ञान विभाग, रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर (म० प्र०)।
- शारदा जग्गी (कुमारी), केंद्रीय हिंदी संस्थान, के-118, हौजखास, नई दिल्ली-16।
- रमेशचंद्र गर्ग, प्राध्यापक, अंग्रेज़ी विभाग, दयाल सिंह कॉलेज, दिल्ली।
- सूरजभानसिंह, सहायक निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली।
- कैलाशचंद्र भाटिया, (डा०), प्रोफेसर, हिंदी तथा प्रादेशिक भाषाएँ, लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी।
- आर० एस० गुप्त, प्राध्यापक अँग्रेज़ी विभाग, दिल्ली कॉलेज, दिल्ली।
- मंजरी ओहाला (श्रीमती), द्वारा डॉ० जौन ओहाला, भाषाविज्ञान विभाग, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले, कैलिफोर्निया 94720।
- जौन ओहाला (डॉ०), भाषाविज्ञान विभाग, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले, कैलिफोर्निया 94720।
- कृपाशंकर सिंह (डॉ०), एफ० 4/6, मॉडल टाउन, दिल्ली-9।
- मालारविंदम् चतुर्वेदी (डॉ०), रीडर, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, अरविंद मार्ग, नई दिल्ली।
- अनूप चंदोला (डॉ०), डिपार्टमेंट ऑफ ओरिएंटल एंड अफ्रीकन लैंग्वेजिज एंड लिटरेचर्स, 2601, यूनिवर्सिटी एवेन्यु, युनिवर्सिटी ऑफ टैक्साज़, ऑस्टिन, टैक्साज़ 78712 (यू०एस०ए०)।
- वीना श्रीवास्तव (डॉ०), प्राध्यापक, हिंदी विभाग, सरस्वती कॉलेज, तीमारपुर, दिल्ली।
- अनिल विद्यालंकार (डॉ०), रीडर, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, अरविंद मार्ग, नई दिल्ली।
- जगदेव सिंह (डॉ०), अध्यक्ष, भाषाविज्ञान विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।
- लक्ष्मीनारायण मित्तल (डॉ०), रीडर, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।
- महावीरसरन जैन (डॉ०), अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिंदी एवं भाषाविज्ञान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।

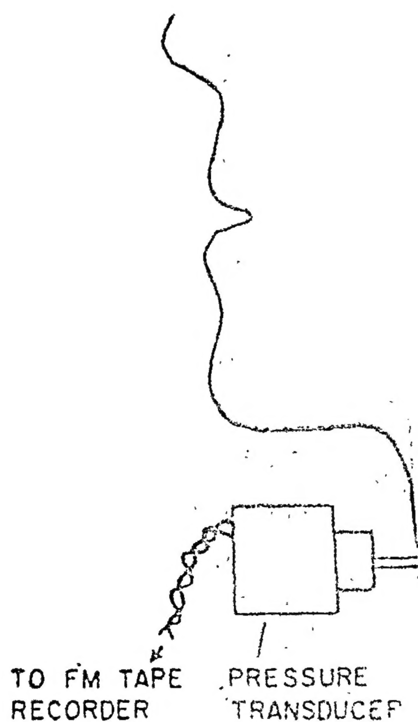
- महेंद्र (डॉ०), हिंदी विभाग, पी० जी० डी० ए० वी० कॉलेज, नेहरु नगर, नई दिल्ली ।
- देवीशंकर द्विवेदी (डॉ०), भाषाविज्ञान विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) ।
- वी० लक्ष्मीबाई (डॉ०), भाषाविज्ञान विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।
- कैलाशचंद्र अग्रवाल (डॉ०), प्राध्यापक, क०मुं० हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा ।
- यमुना काचरू (डॉ०), प्रोफेसर, भाषाविज्ञान तथा अंग्रेज़ी, इलिनॉय विश्व-विद्यालय, अरबाना, इलिनॉय 61801, यू० एस० ए० ।
- रवींद्रनाथ श्रीवास्तव (डॉ०) रीडर, भाषाविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय, दिल्ली ।
- सुधा कालरा (श्रीमती), मॉडर्न कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) साउथ एक्सटेंशन पार्ट I, नई दिल्ली ।
- भोलानाथ तिवारी (डॉ०), रीडर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
- धर्मपाल गांधी, प्राध्यापक, केंद्रीय हिंदी संस्थान, के०-118, हौजखास, नई दिल्ली ।
- विजय गंभीर (श्रीमती), साउथ एशिया रीजनल स्टडीज़, 820 विलियम्स हॉल, यूनिवर्सिटी ऑफ पेंसिलवानिया, फिलाडेल्फिया 19104, (यू. एस. ए.) ।
- कृष्णा चतुर्वेदी (डॉ०), तीमारपुर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
- चांदवाला, रोड नं० 42, मकान नं० 54, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-26 ।
- अशोक कालरा, प्राध्यापक, अंग्रेज़ी विभाग, खालसा कॉलेज, मालरोड, नई दिल्ली ।
- व्लादिमीर मिल्तनेर (डॉ०), ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, लैज़ेंस्का-4, प्राग-1 माला स्ट्राना, चेकोस्लोवाकिया ।
- शशिकुमार शर्मा (डॉ०), प्राध्यापक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, अरविंद मार्ग, नई दिल्ली ।
- वी० रा० जगन्नाथन (डॉ०), रीडर, केंद्रीय हिंदी संस्थान, के-118, हौज़खास, नई दिल्ली ।
- के० वी० सुब्बाराव, भाषाविज्ञान विभाग, यूनिवर्सिटी ऑफ इलिनाय, अरबाना, इलिनॉय 61801 (यू० एस० ए०) ।

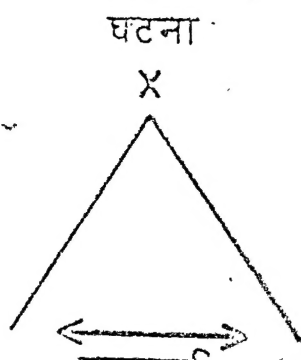
- शिवेंद्र किशोर वर्मा (डॉ०), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भाषाविज्ञान तथा अँग्रेज़ी विभाग, सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ इंग्लिश, हैदराबाद-7 ।
- कालीचरण बहल (डॉ०), भाषाविज्ञान तथा दक्षिण-एशियाई भाषा एवं संस्कृति विभाग, शिकागो विश्वविद्यालय, शिकागो (यू० एस० ए०) ।
- कृष्णगोपाल रस्तोगी (डॉ०), रीडर, राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान, नई दिल्ली ।
- शिवनंदन कपूर (डॉ०), 387, टपाल चाल, खंडवा (म० प्र०) ।
- गोपाल शर्मा (डॉ०), निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली ।
- विन्त्सेन्त्स पोर्ज़ीद्का (डॉ०), नोवोदवोर्स्का 157/1119 प्राहा-4-ब्रानिक, चेकोस्लोवाकिया ।
- अशोक रामचंद्र केळकर (डॉ०), प्रोफेसर, सेंटर ऑफ एडवांस्ड स्टडी इन लिंग्विस्टिक्स, डेकन कॉलेज, पूना-6 ।
- अमर बहादुर सिंह, रीडर, सेंटर ऑफ एडवांस्ड स्टडी इन लिंग्विस्टिक्स, डेकन कॉलेज पूना-6 ।
- कृष्णकुमार गोस्वामी (डॉ०), 87-बी, औट्रम, लाइंस, किंग्ज़वेदिल्ली-9 ।
- अजीतलाल गुलाटी, अनुसंधान सहायक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, रामकृष्ण-पुरम्, नई दिल्ली ।
- नरेंद्र देव वर्मा (डॉ०), भाषाविज्ञान विभाग, रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर (म०प्र०) ।
- ठाकुरदास, प्राध्यापक, केंद्रीय हिंदी संस्थान, के-118, हौज खास, नई दिल्ली ।
- विश्वजीत (डॉ०) प्राध्यापक, 16, गोपाल कुंज, बाग मुज़फ्फरखाँ, आगरा ।
- महेंद्र चतुर्वेदी, संयुक्त निदेशक, अनुवाद निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
- पूर्णसिंह डबास (डॉ०), हिंदी विभाग, देशबंधु कॉलेज, कालकाजी, नई दिल्ली ।
- वैश्ना जग्गी (कु०), शोध छात्र, भाषाविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

GIPN—S6—7 C. H. D. (N.D.)/72—17-1-74—2,015.




X


TO FM TAPE RECORDER
PRESSURE TRANSDUCER


घटना
X